णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

जैन साहित्य संशोधक

'पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि। सच्चस्साणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।'
'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।'
'दिट्ठं, सुयं, मयं, विण्णायं जं एत्थ परिकहिज्जइ।'

-निर्ग्रन्थ प्रवचन: (आचाराङ्ग सूत्र)।

भाग १ | महावीरजयन्ती; महावीर-निर्वाण संवत् २४४६ | अंक १

मङ्गल।

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं।

जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो।
जगनाहो जगबंधू जयइ जगप्पिआमहो भयवं॥
जयइ सुआणप्पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोयाणं जयइ महप्पा महावीरो॥

नन्दी सूत्र, देववाचक क्षमाश्रमण।

निर्ग्रन्थ प्रवचन।

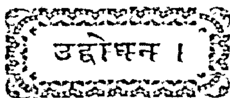
सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—' इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तं जहा–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि। दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं णो णायं भवइ ' अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।

से जं पुण जाणेज्जा सह सम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा; तं जहा–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं णायं भवइ, अत्थि मे आया उववाइए। जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो अणुसंचरइ सोऽहं। से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी।

[श्रमण भगवान् श्रीमहावीर देवके शासनके मुख्य प्रवर्तक पंचम गणधर आर्य सुधर्मस्वामीने अपने प्रधान शिष्य आर्य जम्बू अनगारसे कहा कि—]

' हे आयुष्मन् मैंने [ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर देवके मुखसे] सुना है; भगवानने इस प्रकार कहा है कि ' इस जगत्में किसी एक जीवात्माको यह ज्ञान नहीं होता है कि [मैं कौन भी दिशामेंसे यहां पर आया हूं; अर्थात्– जैसे कि, पूर्व दिशामेंसे आया हूं, या दक्षिण दिशामेंसे आया हूं; पश्चिम दिशामेंसे आया हूं, या उत्तर दिशामेंसे आया हूं; ऊर्ध्व दिशामेंसे आया हूं, या अधो दिशामेंसे आया हूं; [वैसे ही] अन्य किसी दिशा या विदिशामेंसे आया हूं। [इसी तरह] किसी एकको यह भी नहीं ज्ञात होता कि मेरा आत्मा पुनर्जन्मवाला है अथवा नहीं है? । मैं कौन हूं ? । यहांसे मरकर मैं परजन्ममें कौन होऊंगा ? । "

" जो पुनः [कोई एक जीवात्मा] अपनी सन्मतिसे या दूसरेके कथनसे, अथवा किसी अन्य-ज्ञानीके पाससे यह जान लेता है कि, मैं अमुक दिशामेंसे आया हूं; अर्थात् [जैसे कि मैं पूर्व दिशामेंसे आया हूं; यावत् अन्य दिशा-विदिशामेंसे आया हूं। [वैसे ही यह भी जान ले कि–] मेरा आत्मा पुनर्जन्मवाला है। जो इन दिशा-विदिशाओंमें से आता जाता है [अर्थात् ऊपर बतलाई हुई] सर्व दिशा-विदिशाओंमेंसे आता जाता है वही मैं हूं। [भगवान् कहते हैं ऐसा जो जानता है] वह आत्मवादी (आत्माको समझने वाला), लोकवादी (जगतको जानने वाला), कर्मवादी (कर्मके रहस्यको माननेवाला), और क्रियावादी (कर्तव्यको करनेवाला) कहलाता है। "



श्रमण भगवान श्री महावीर तीर्थंकर प्ररूपित 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' का जो आदिम उद्गार, इस 'उद्बोधन' के अग्रभागमें हमने उद्धृत किया है वह और खास दृष्टिसे इस प्रस्तुत प्रवचनमें-पत्रके प्रकाशनमें-प्रारंभिक मंगलाचरण स्वरूप है। ऐसेही और दृष्टिसे, प्रवचनगत मुख्य ध्येयका भी पूर्ण उद्बोधक है। ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ प्रभु महावीर देवका समग्र विचार 'द्रव्य' और 'भाव' दोनों नयोंकी अपेक्षासे युक्त हो कर प्रदर्शित है। उस अनेकान्तवादी अर्हतका प्रत्येक उद्गार व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियोंको साथ लेकर प्रकट हुआ है। इसलिये उपर्युक्त उद्गार भी, व्यवहार और

परमार्थ–द्रव्य और भाव–दोनों भावोंसे उपलक्षित है। व्यवहारसे, जैसे कोई 'संज्ञा' याने चैतन्य हीन–मूढात्मा यह नहीं जान सकता कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां जाऊंगा, ये सब दिखाइ देनेवाले लोग कौन हैं; मेरा क्या कर्तव्य–कर्म है और मैं क्या कर रहा हूं; इत्यादि। इस प्रकारके विचार–विहीन आत्माका कोई अभ्युदय नहीं हो सकता; वह अपने जीवनको प्रगतिमान् नहीं बना सकता। ऐसा मनुष्य, मनुष्य स्वरूप हो कर भी पशु ही की कोटिमें गिना जाता है। पशुके जीवनमें और ऐसे 'संज्ञा' हीन मनुष्यके जीवनमें कोई अंतर नहीं होता। ऐसा प्राणी अनात्मज्ञ, लोकस्वरूपानभिज्ञ, कर्तव्य विचार विहीन और प्रवृत्ति-शून्य कहा जाता है। वैसे ही परमार्थ भावसे, जो आत्मा अध्यात्मभाव पराङ्मुख और ऐहिक विषय-आसक्त है वह भी वास्तविकमें 'संज्ञा' याने 'सम्यग्ज्ञान' हीन ही है। ऐसा परमार्थ-ज्ञानशून्य आत्मा भी (वह फिर चाहे व्यवहार से कितना ही बुद्धिमान्, प्रयत्नशील, प्रपञ्चपटु और सतत उद्योगी हो) यह नहीं विचार सकता कि, यथार्थमें मैं कौन हूं, मेरे आत्माका क्या स्वरूप है, मैं किस लोकमेंसे यहां पर आया हूं, मेरा पुनर्जन्म होता है या नहीं, मैं इस जन्मसे मर कर कहां जाऊंगा; इत्यादि। इस प्रकारके विचार-शून्य आत्मा का भी उद्धार नहीं हो सकता। उसको मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वह अंध पुरुषकी तरह अज्ञात मार्गमें इधर उधर भटकता फिरता है—संसार परिभ्रमण करता रहता है। उसको इच्छित स्थानकी प्राप्ति नहीं हो सकती; और सिद्ध-स्वरूप नहीं बन सकता।

जो आत्मा अध्यात्मस्वरूपका जिज्ञासु है, अपने आंतरिक गमनागमनका विचार करता रहता है, आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझनेके लिये प्रयत्न करता रहता है, वही आपना उद्धार कर सकता है। वैसे जिज्ञासु अतएव विचारवान् मनुष्यको सत्यमार्ग मिल सकता है और उसके द्वारा वह इच्छित स्थानको प्राप्त कर सकता है। वह जन्म-मरण के बन्धनसे मुक्त हो कर सिद्ध-बुद्ध बन सकता है। निर्ग्रंथ तीर्थंकर ऐसे आत्मिक विचार करनेवाले पुरुष ही को 'आत्मवादी'—आत्मज्ञ कहते हैं। उनके मतसे, जो आत्मा 'आत्मवादी' याने अपने स्वरूपको जान सकता है वही 'लोकवादी' अर्थात् जगत्के सत्य स्वरूपको जाननेवाला होता है। क्यों कि जो अपने आंतर स्वरूपको नहीं जान सकता वह बाह्य स्वरूपको भी नहीं जान सकता। यह आंतर-बाह्य ज्ञान परस्पर सापेक्ष है। इसीलिये भगवान्ने आगे चलकर यह कहा है कि—

> जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ,
> जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।
>
> आचाराङ्गसूत्र १-७।

जो इसप्रकार लोकवादी होता है वही 'कर्मवादी' अर्थात् कर्मकी विचित्र शक्तियोंका—जगत्के कार्य कारण-भावका—ज्ञाता हो सकता है; और इसी तरह कर्मवादी बनने पर फिर वह 'क्रियावादी' अर्थात सम्यक् और असम्यक् प्रवृत्ति (कर्तव्याकर्तव्य) का स्वरूप और रहस्य समझनेवाला बन सकता है। क्रियावादी आत्मा आत्म-हितकर प्रवृत्तिका आचरण कर अंतमें कर्मसे मुक्त हो कर अमरत्व प्राप्त कर सकता है। प्रभु महावीर उपदिष्ट मोक्षमार्गका यही यथार्थ क्रम है। मोक्षशास्त्रके प्रणेता महर्षिने जो

> सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

इस प्रकार मोक्षमार्ग बतलाया है वह भी इसी क्रमको लक्ष्य कर है।

आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होना—अपने स्वरूप की प्रतीति होना—सम्यग्दर्शन है। इसीका नाम आत्म-श्रद्धा भी है। जिसको ऐसा साक्षात्कार–ऐसी प्रतीति–आत्मश्रद्धा होती है वही आत्मवादी कहलाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्माहीको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। जिसको यह दिव्य दर्शन हो जाता है, जो अपनी आत्मश्रद्धामें लीन हो जाता है, उसको फिर सर्व चराचर जगत्का ज्ञान हो जाता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि—

> श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।

दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिसने एक (आत्मा) को जान लिया उसने सब (जगत्) को जान लिया—

> जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।

इस प्रकारका सम्यग्ज्ञानवान् ही 'लोकवादी'

और 'कर्मवादी' कहा जाता है। ऐसा ही ज्ञानी सदाचारी-अर्थात् सम्यक् चारित्रका पालन करने वाला-होता है। सम्यग्दर्शनी और सम्यग्ज्ञानीका जो आचरण वही सम्यक् चारित्र है। ऐसे ही सम्यक् चारित्री को क्रियावादी कहते हैं।

एवं सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्रवान् अथवा आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, और क्रियावादी आत्मा ही इस जन्ममरणरूप तांतोंसे बनी हुई जगज्जंजाल स्वरूप जालसे छुटकारा पाकर मुक्त बन सकता है। वही आत्मा अजर, अमर, और अचल स्वरूपको प्राप्त कर सकता है—सच्चिदानन्द-पूर्ण बन सकता है।

* * *

जिस तरह निर्ग्रन्थ मुनीश्वरका यह प्रवचन परमार्थ-पारलौकिक रहस्यका उद्बोधक है, वैसे व्यावहारिक-इहलोक रहस्यका भी उद्बोधक है। इस प्रवचनमें कही गई बातें जैसे आत्माके आंतर स्वरूपका विकास-क्रम प्रकट करती हैं, वैसे इस जगत्के मनुष्य, समाज और देशकी व्यावहारिक दशाका भी विकास-क्रम बतलाती हैं।

जो कोई मनुष्य, समाज और राष्ट्र 'सञ्ज्ञा' (चैतन्य) हीन हो कर अपने गतागत याने भूत-भविष्यत्का विचार नहीं करता, वह यह नहीं जान सकता कि मेरा भूतकाल कैसा था, वर्तमानमें क्या हालत है और भविष्यमें कैसी दशा होगी। उसे यह नहीं मालूम हो सकता कि, वह किस दशामेंसे समुत्थित हुआ है, किस दशामें विद्यमान है और किस दशामें जा कर लीन होगा। इस प्रकारका 'सञ्ज्ञा'—शून्य मनुष्य, समाज और राष्ट्र भगवान्के मतसे अनात्मवादी है-अपनी हालतको न जानने वाला अज्ञान है। ऐसे अज्ञान मनुष्य, समाज या राष्ट्रको जगत् (लोक) की स्थितिका कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता और उसे कर्तव्याकर्तव्य (कर्म) का भी कुछ भान नहीं होता। इस तरह वह मनुष्य आदि फिर अन्तमें क्रियाशून्य -उद्यमहीन हो जाता है। वह अक्रियावादी बन जाता है। कर्तव्यशून्य मनुष्य कभी उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता। उसकी क्रमशः अवनति ही होती जाती है, और अन्तमें नष्ट दशाको प्राप्त होता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य, समाज और राष्ट्र 'सञ्ज्ञा' याने चैतन्यवाला है और जो अपनी पूर्वापर दशाका विचार करता रहता है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान अवस्थाको सोचे करता है-वह आत्मदर्शी (आत्मवादी) कहलाता है। ऐसे आत्मदर्शी मनुष्य आदिको जगत्की परिस्थितिका ठीक ठीक ज्ञान मिलता रहता है और कर्तव्यकर्मका भी उसे पूरा हाल मालूम होता रहता है। निर्ग्रन्थ प्रभु उसको लोकवादी और कर्मवादी कहते हैं। इस प्रकारके विचारवान् और ज्ञानवान् मनुष्य आदि अपनी उन्नतिके लिये क्रियाशील बनता है। क्रियाशील मनुष्य ही इच्छित सुख प्राप्त कर सकता है और दुःखोंसे मुक्त हो सकता है इसीलिये जैनधर्मका यह मुद्रालेख है कि-

ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः।

ज्ञान और क्रिया (चारित्र-आचरण) अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनोंके संयुक्त सामर्थ्यसे मोक्ष मिलता है।

* * *

भगवान् महावीर देवके प्रवचनका यह व्यावहारिक रहस्य जगत्के प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और धर्मके लिये विचारणीय है। जैनधर्मका तो यह स्वकीय आविष्कृत सिद्धान्त है, इसलिये उसके अनुयायी व्यक्ति और समाजको तो आवश्य ही इसकी विचारणा करनी चाहिए। जैन तत्वज्ञानके कथनानुसार कालका स्वरूप पदार्थमात्रके स्वरूप में परिवर्तन करनेका है। प्रत्येक वस्तुमें, कालके प्रभावसे प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है। इस नियमानुसार, व्यावहारिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और धर्मके स्वरूपमें भी सदैव परिवर्तन-रूपान्तर हुआ ही करता है। जैनधर्म और जैन समाज भी इसी सनातन नियमके स्वाधीन है। रूपान्तर या परिवर्तन जो होता रहता है वह अच्छा ही होता रहता है या बुरा ही होता रहता है, ऐसा कोई विशिष्ट नियम इस जगत्में नहीं देखा जाता। कभी अच्छेका रूपान्तर बुरेके रूपमें होता है, कभी बुरे का भले के रूपमें। कभी तदवस्थ याने जैसा का वैसा ही होता है। परिवर्तनके अच्छे-बुरेका आधार देश, काल, मनुष्योंका आचार,

[व्य]वहार, इत्यादि अनेक कारणोंके ऊपर निर्भर है। [जो] व्यक्ति आदि 'सही' याने विचारवान् है वह तो [इ]स देश-काल-कृत परिवर्तनकी दशाओंका निरं[त]र विचार किया करता है और समयानुसार उचित [प्र]वृत्ति कर उन्नत होनेकी-प्रगति करनेकी-चेष्टा [क]रता रहता है। इतिहास-शास्त्रका आविष्कार और अध्ययन-अध्यापन इसी लक्ष्यको लेकर प्रवर्तित हुआ है। इस शास्त्रके द्वारा जगत्के धर्म, समाज और राष्ट्रोंका भूतकालीन स्वरूप ज्ञात हो सकता है और उससे वर्तमानिक दशाकी तुलना कर भविष्यद् दशाका अनुमान किया जा सकता है। इतिहासके अध्ययनसे प्रत्येक समाज, धर्म और राष्ट्र अपनी उन्नति-अवनतिका विचार कर सकता है और उसके कार्य-कारण-भावको जान सकता है। इसीलिये जगत्का प्रत्येक सभ्य और शिक्षित जनसमूह अपने अपने इतिहासके अन्वेषण और अध्ययनमें विशेष रूप से प्रवर्तित है। भारतवर्षमें भी अब इस विषयकी ओर शिक्षित मनुष्योंका लक्ष्य खींचा जा रहा है और दिन-प्रतिदिन इस विषयकी गवेषणा करनेवाले विद्वान् संख्यामें बढते जाते हैं।

आज तक जो कुछ भारतवर्षके भूतकालके विषयमें लिखा हुआ है वह पश्चिमीय विद्वानोंहीके परिश्रमका फल है। इन विदेशी लेखकोंका एक तो ध्येय ही जुदा था और दूसरी बात यह है कि उन्हाने प्राचीन भारतका अवलोकन, वर्तमान भारतकी अवनत-दशाको आदर्श मानकर किया। इसलिये उनके लेखोंमें और विचारोंमें सत्यकी अपेक्षा संकुचितता अधिक है। सिवाय, उन्होंने भारतके इतिहासका आरंभ वहींसे माना है जहांसे उस के पतनकी शुरुआत हुई है। वास्तविकमें आर्यावर्तकी उन्नत अवस्था का इतिहास अभी तक अंधकारमें ही में विलुप्त है। इसके उद्धारके प्रयत्न अब कहीं कहीं होने लगे हैं।

जैन धर्म भारतवर्षका एक प्रधान धर्म है। इस लिये समुच्चय भारतके इतिहासमें इसका भी बहुत बडा हिस्सा है। अतः इसके स्वतंत्र इतिहास के अन्वेषणकी भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी वैदिक और बौद्ध धर्मके इतिहासकी है। जैन धर्मके इतिहासान्वेषणके विना भारतका इतिहास बहुत अंशमें अपूर्ण ही रहेगा।

जैन इतिहासके अन्वेषणके लिये मुख्य क्षेत्र दो हैं—एक साहित्य और दूसरा स्थापत्य। जैन साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कानडी, तामिल, तेलुगु, गुजराती, हिन्दी आदि जैसी भारतकी प्राचीन-अर्वाचीन सबही प्रधान प्रधान भाषाओंमें व्याप्त है, इसी तरह जैन स्थापत्य भी पंजाब, बंगाल, उडीसा, मद्रास, हैदराबाद, मन्हाड, कर्नाटक, मध्यभारत, युक्त प्रांत, मेवाड, मारवाड, मालवा, गुजरात, सिंध, कच्छ इत्यादि भारतके सब देशों और प्रदेशोंमें उपलब्ध है। इस प्रकार भारतवर्षीय बहु-भाषाव्यापी जैन साहित्य और बहु-प्रदेश-व्यापी जैन स्थापत्यको देखते हुए, इस बातका सहज अनुमान हो सकता है कि भूतकालमें जैन धर्मका भारत वर्ष में कितना प्रभाव रहा होगा और उसका इतिहास कितना उज्ज्वल होगा। यह हर्षकी बात है कि, भारत सरकारके पुरातत्त्व-विभागके द्वारा ब्राह्मण और बौद्ध स्थापत्यके साथ साथ जैन स्थापत्यका भी अन्वेषणसंरक्षणादि होता रहता है, और उक्त विभागके विवरणात्मक-पुस्तकों (रिपोर्टों) में तत्संबंधी ऐतिहासिक पर्यालोचन भी यथा समय प्रकट होता रहता है। इस प्रकार कितने एक अंशमें जैन स्थापत्यके उद्धारका तो उद्घाटन हो रहा है, परन्तु, जैन साहित्यके बारेमें अभीतक कोई ऐसी महत्त्ववाली प्रवृत्तिका प्रारंभ कहीं नहीं हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें कितने एक विद्याविलासी और निष्पक्ष-अभ्यासी जर्मन विद्वानोंने जैन साहित्यका कितनाक संशोधन-पर्यालोचन किया था, और उसके कारण जैन धर्मके विषयमें जो कितनीक भ्रान्तियां, कुछ पाश्चात्य और उनके अन्धभक्त एतद्देशीय विद्वानोंके बीचमें फैली हुई थीं, वे कई अंशोंमें निकल गई। परंतु, जैन समाजकी अज्ञानता और अकर्मण्यताके कारण न तो उन विद्वानोंको कुछ अपने कार्यमें उत्तेजक आश्वासन ही मिला और न प्राचीन और प्रतिष्ठित पुस्तकादि साधन ही मिले। इस लिये जैन साहित्यके विषयमें अभीतक विद्वानोंके न कोई भी महत्त्व-दर्शक विचार हीं प्रकट हुए हैं और न कोई जैन साहित्यके जिज्ञासु ही दिखाई देते हैं। सैंकडों ही विद्वानोंको तो अभीतक जैन साहित्य कितना और कैसा है इसकी कल्पना मात्र भी नहीं है।

भारतके भाग्याकाशमें अब सौभाग्यके सूर्यका उदय होने लगा है और हजारों वर्षोंसे छाई हुई जडता (अंधकार) का नाश होने जा रहा है। भारतके सेंकडों ही सपूत आलस्यका त्याग कर कार्यक्षेत्रमें ऊठ खडे हुए हैं और भावी अभ्युदयके साथ भूतकालीन गौरवके उद्घाटनमें भी कई दत्तचित्त हो रहे हैं। अनेक सज्जन भारतीय इतिहास और साहित्यके क्षेत्रमें उत्साहपूर्वक कार्य करने लगे हैं और इनमेंसे कोई कोई विद्वान् जैन साहित्यका परिचय प्राप्त करने के लिये भी उत्सुकता दिखाने लगे हैं।

इधर, जैन समाज भी कुछ कुछ जागृत हो रहा है और अपने साहित्यके संरक्षण और प्रकाशनकी तरफ लक्ष्य लगा रहा है। यद्यपि यह हर्षकी बात है, परंतु, जिनके नेतृत्वमें यह कार्य हो रहा है, उनमें एक तो विचार-संकुचितताकी मात्रा अधिक है और दूसरी बात यह है कि जैन के सिवाय बाहरके जगत्का उन्हें किंचित् भी परिचय नहीं है—अथवा बहुत ही कम है। इसलिये वर्तमान में जो कुछ साहित्य जैसे वैसे छपकर प्रकट भी हो रहा है—और परिमाणमें वह है भी बहुत कुछ—तो भी अन्य विद्वानोंको उसका दर्शनमात्र भी नहीं होने पाता है। और इस प्रकार विद्वानोंके लिये जैन साहित्यके परिचय करनेका द्वार अभी तक बिलकुल बन्ध ही सा है। ऐसी स्थिति होनेसे, अब ऐसे एक साधनकी बहुत आवश्यकता है कि, जिसके द्वारा जैन साहित्यका, जिज्ञासु विद्वानोंको यथेष्ट परिचय मिलने के साथ विस्तृत स्वरूपभी मालूम होता रहे। और जैन विद्वानोंको जगत् के अन्यान्य विद्वानोंके विचार, परिश्रम, अभ्यासादिकके साथ कर्तव्य की दिशाका उपयुक्त ज्ञान भी मिलता रहे। इसी आवश्यकताकी किञ्चित् पूर्तिके लिये इस 'जैन साहित्य संशोधक' को जन्म दिया गया है।

आशा है, कि विज्ञ लेखक और पाठकगण इस साहित्य, समाज और अंशतः देश-सेवाके पवित्र कार्यमें सहभागी बन कर सबही यथाशक्ति अपने अपने योग्य कर्तव्यका पालन करेंगे। तथास्तु।



सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र।

जैनधर्मके प्रमाणशास्त्रके मूल प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, और आप्तकी मीमांसा-द्वारा स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का समर्थन करनेवाले स्वामी समन्तभद्र,—दोनों जैनधर्मके महान् प्रभावक और समर्थ संरक्षक महात्मा हैं। इन दोनों महापुरुषोंकी कृतियोंके देखनेसे, इनके स्वभाव और प्रभावमें एक सविशेष समानता प्रतीत होती है। दोनोंहीने परमात्मा महावीरके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका उत्तम स्थिरीकरण किया और भविष्यमें होनेवाले प्रतिपक्षियोंके कर्कश तर्कप्रहारसे जैनदर्शनको अक्षुण्ण रखनेके लिये अमोघ-शक्तिशाली प्रमाण-शास्त्रका सुदृढ संकलन किया।

इन्हीं दोनों महावादियों द्वारा सुप्रतिष्ठित जैनतर्ककी मूल भित्तियों पर मल्लवादी, अजितयशा, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्र, अनन्तवीर्य, अभयदेव, शान्तिसूरि, जिनेश्वर, वादी देवसूरि, हेमचन्द्रसूरि, मल्लिषेण, गुणरत्न, धर्मभूषण और यशोविजय आदि समर्थ जैन नैयायिकोंने बडे बडे तर्कग्रन्थोंके विशाल और दुर्गम दुर्गोंका निर्माण कर जैनधर्मके तात्त्विक साम्राज्यको इतर वादीरूप परचक्रके लिये अजेय बनाया है।

हमें अभी तक यह पूर्णतया निश्चित ज्ञात नहीं हुआ है कि ये दोनों महापुरुष कब और किस संप्रदाय में हुए हैं, परंतु पूर्वपरंपरासे जो मान्यता चली आ रही है उसके आशयानुसार यह कह सकते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर तो श्वेताम्बर-संप्रदायमें, विक्रमराजाके समयमें, और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर-संप्रदायमें, विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए हैं।

सिद्धसेन दिवाकर।

दन्तकथाके कथनानुसार सिद्धसेन विक्रमराजाके—जिसके नामसे भारतवर्षका सुप्रसिद्ध संवत् चलता है—गुरु थे। ऐतिहासिकोंने भी इस कथनमें कुछ तथ्य स्वीकार किया है और 'ज्योतिर्विदाभरण' के

'धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥'

इस श्लोकमें क्षपणक नामसे जिस व्यक्तिको विक्रमराजाकी सभाके नौ रत्नोंमेंसे एक रत्न बतलाया है वह सिद्धसेन दिवाकर ही होना चाहिये, ऐसा अनुमान किया गया है —। यहां पर हमें इस कथनकी ऐतिहासिक सत्यासत्यताका विचार नहीं करना है, इसलिये इस विषयमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय प्रकट करना नहीं चाहते । हमारे इस लेखका उद्देश्य केवल सिद्धसेन और समन्तभद्रकी परस्पर कुछ तुलना और उनके सामर्थ्यके बारेमें किञ्चित् वक्तव्य प्रकट करना है ।

उपलब्ध जैनवाङ्मयका सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करनेसे पता लगता है कि सिद्धसेनसे पहले जैनदर्शनमें तर्कशास्त्रविषयक कोई स्वतंत्र सिद्धान्त प्रचलित नहीं था । उनके पूर्वमें प्रमाण-शास्त्रविषयक बातें केवल आगम-ग्रन्थोंहीमें, अस्पष्ट रूपसे संकलित थीं, और उस समयतक उन बातोंका कुछ अधिक प्रयोजन भी नहीं था। सिद्धसेनसूरिके पहलेका ज़माना तर्क-प्रधान नहीं था किन्तु आगम-प्रधान था । आप्त–पुरुषका कथन मात्र ही तबतक सर्वथा शिरोधार्य समझा जाता था । जैनधर्मके सहचर ब्राह्मण और बौद्धधर्मकी भी यही अवस्था थी । परंतु महर्षि गौतमके 'न्यायसूत्र' के संकलनके बाद धीरे धीरे तर्कका ज़ोर बढ़ने लगा और जुदा जुदा दर्शनोंके विचारोंका समर्थन करनेके लिये स्वतंत्र सिद्धान्तोंकी रचना होने लगी । लगभग उसी समयसे भगवान् गौतमबुद्धका साम्यवाद और मध्यममार्ग ब्राह्मणोंके कर्मजालसे संत्रस्त हुए साधारण लोगोंमें अधिक आदर पाने लगा था और थोड़ेही समयमें उसने सम्राट्के सिंहासन तकको भी अपना अनुयायी बना लेनेकी महत्ता प्राप्त कर ली थी ।

इस प्रकार बौद्धधर्मके बढ़ते जाते प्रभावको देखकर कुछ मनस्वी ब्राह्मणोंने बुद्धदेवके सरल और सीधे साधे वचनोंको युक्तिशून्य और प्राकृतजनप्रिय मात्र बतलानेके उद्योगका आरंभ किया । महर्षि गौतम उन्हीं मनस्वी ब्राह्मणोंके नेता थे । बुद्धिमान भिक्षुओं (बौद्धश्रमणों) को जब इस उद्योगके रहस्यका पता लग गया तब उन्होंने भी अपने आप्तके नामधारी गौतममुनिके तर्कजालके फंदेमें न फँसनेकी सावधानीका रास्ता ढूंढना शुरू किया । केवल लोकहितकी दृष्टिसे, प्रचलित लोकभाषामें, आबालगोपालको बोध करनेके लिये रचे गये पाली पिटकोंके पारायणसे भिक्षुकगणको जब, तार्किक ब्राह्मणोंके तर्कप्रपञ्चका समाधान करनेमें समर्थ होते न देखा तब, आर्य नागार्जुन नामक प्रतिभाशाली महाश्रमणने शून्यवादकी स्थापनाके लिये गूढ विचारगर्भित 'मध्यमावतार'का प्रणयन किया । जिस तर्कपद्धतिसे ब्राह्मण विद्वान् श्रमणोंके सरल विचारोंपर कठिन कटाक्ष किया करते थे, श्रमण विद्वान् भी अब उसी पद्धतिसे अपने 'मायावाद' के अदृश्य बाण ब्राह्मणोंके ऊपर चलाने लगे । इस प्रकार ब्राह्मण और बौद्ध विद्वानोंमें तर्कशास्त्रीय युद्ध बढ़ता गया, और शनैः शनैः श्रमणसमूह इस विषयमें अधिकाधिक उन्नति प्राप्त करता गया । उसमें आचार्य दिग्नाग आदि बड़े बड़े न्यायवित् श्रमण उत्पन्न हुए और उन्होंने शाक्यसुत भगवान् बुद्धके प्राकृतजनप्रिय सरल सिद्धान्तोंको विद्वानोंके लिये भी साधारणतः दुर्गम तथा गूढ बना दिये, और उनकी गुत्थी सुलझानेके लिये अपने प्रतिपक्षियोंको चिरकाल तक विवश किया ।

ब्राह्मणों और श्रमणोंके बीचमें होनेवाले इस वाग्युद्धकी शब्दध्वनि निर्जनवनोंमें घूमनेवाले जैन निर्ग्रन्थोंके कानोंतक भी जा पहुँची । ध्यानमग्न निर्ग्रन्थ इस ध्वनिके मतलबको समझनेका प्रयत्न कर ही रहे थे कि इतनेमें स्वयं ज्ञातपुत्र भगवान् महावीरके 'मोक्षमार्ग' का उपहास सूचित करनेवाले शब्द भी उन्हें अस्फुट रीतिसे सुनाई देने लगे । इस स्थितिका विचार कर, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके ज्ञाता 'क्षपणक' (जैन श्रमण या निर्ग्रन्थ) भी अपनी 'शासनरक्षा' का उपाय सोचने लगे । बौद्ध श्रमण 'शून्यवाद' के सिद्धान्तको जिस तर्कपद्धति द्वारा प्रबल और व्यवस्थित बनाते हुए बुद्धदेवके शासनको स्थिर

— देखो, डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणलिखित 'न्यायावतार' की भूमिका तथा 'मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास ।'

बनाते जा रहे थे, उसी पद्धतिका आश्रय ले कर निर्ग्रन्थ क्षपणकोंने भी 'स्याद्वाद' के सिद्धान्तको समर्थ और सुस्थित बनाकर महावीरदेवके शासनको अचल बनानेका निश्चय किया। उन्होंने सोचा कि पाली पिटकोंके पारायण मात्रसे जिस प्रकार बौद्ध श्रमण अपने शासनका संरक्षण करनेमें समर्थ नहीं हुए, उसी प्रकार प्राकृत आगमोंके प्रवचन मात्रसे जैन निर्ग्रन्थोंका 'मोक्षमार्ग' भी अब निर्भय नहीं रह सकता। इस लिये तर्कप्रधान प्रकरणग्रंथोंका प्रणयन करना अत्यावश्यक है।

इन्हीं निर्ग्रंथोंमेंसे, सबसे प्रथम आचार्य उमास्वाति (मी) ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी रचना कर समग्र जैनतत्त्वोंको एकत्र संगृहीत किया। अपने जीवनमें वे इस कार्यको पूर्ण करके पिछले प्रतिभाशाली क्षपणकोंके लिये ऐसी सूचना कर गये कि इन संगृहीत जैनतत्त्वोंके अर्थ प्रमाण और नयके द्वारा निश्चित करने चाहिएँ (–प्रमाण नयैरधिगमः)। 'मोक्षशास्त्र' के रचयिता महर्षिकी इस अर्थपूर्ण सूचनाके महत्त्वको समझ कर जिन पिछले महामति क्षपणकोंने इस दिशामें प्रयत्न करना शुरू किया और प्रमाण और नयकी व्यवस्था करनेके लिये नवीन शास्त्ररचना करनी शुरू की, सिद्धसेन दिवाकर उन्हीं सबके प्रधान अग्रणी हैं। उन्होंने ही सबसे पहले 'न्यायावतार' नामक तर्कप्रकरणकी रचना कर 'जैन प्रमाण' का पाया स्थिर किया और 'सम्मति प्रकरण' नामक महातर्कग्रन्थका प्रणयन कर 'नयवाद' का मूल दृढ किया।

सिद्धसेन दिवाकरकी कृतियोंके अवलोकनसे मालूम पड़ता है कि वे बड़े स्पष्टभाषी और स्वतंत्र विचारके उपासक थे। प्रकृतिसे वे बड़े तेजस्वी थे और मतिमासे 'श्रुतकेवली' थे। उनकी कृतियोंमें जो स्वतंत्र विचारकी झलक दिखाई दे रही है वह अन्य किसीकी भी कृतिमें नहीं। साक्षात् उनके ग्रन्थोंके देखनेसे, तथा पिछले ग्रंथकारोंने उनके विषयमें जो उल्लेख किये हैं उनके पढ़नेसे, ज्ञात होता है, कि जैनधर्मके कितने एक परंपरागत विचारोंसे सिद्धसेनके विचार भिन्नत्व रखते थे। पूर्वकालीन तथा समकालीन अन्यान्य जैन विद्वानोंके विचारोंमें और सिद्धसेनसूरिके विचारोंमें परस्पर बहुत कुछ उल्लेख-योग्य मतभेद था। दिवाकरजी साक्षात् जैनसूत्रोंके–जैनागमोंके–कथनको भी अपनी तर्कबुद्धिकी कसोटीपर कसकर तदनुकूल उसका अर्थ किया करते थे। केवल पूर्वपरंपरासे चले आने अथवा पूर्वाचार्योंको स्वीकृत होनेहीके कारण वे किसी सिद्धान्तको शिरोधार्य नहीं कर लेते थे। युक्तियुक्त बातहीका वे स्वीकार किया करते थे, चाहे वह पूर्वाचार्योंको सम्मत हो या न हो।

जिस तरह वर्तमानमें बहुधा देखा जाता है कि कोई भी स्वतंत्र विचारक किसी भी पूर्वपरंपरासे चली आती हुई बातमें कुछ 'ननु नच' करता है, या उसके प्रतिकूल कुछ अर्थ या अभिप्राय प्रदर्शित करता है, तो झट बहुतसे गतानुगतिक और लकीरके फकीर बने हुए पण्डितम्मन्य महाशय एकदम चिल्ला उठते हैं कि, 'यह बात तो शास्त्रविरुद्ध है, यह अभिप्राय तो परंपरा–प्रचलित अभिप्रायसे प्रतिकूल है;' उसीतरह शायद दिवाकरजीके जमानेमें भी चलता रहा होगा। उनके कितने ही उद्गारोंसे मालूम पडता है कि जब कभी वे कोई पूर्वपरंपरासे अथवा पूर्वाचार्योंके मतसे भिन्नार्थक विचार प्रदर्शित करते होंगे तब बहुतसे पुराणप्रिय पण्डित उनके नवीन विचारका प्रतिषेध करते हुए यही दलील देते होंगे कि–"महाराज, आपके विचार तो पूर्वाचार्योंके विचारसे विरुद्ध जाते हैं; क्या आप पूर्वपुरुषोंसे अधिक ज्ञानवान् हैं, जो उनके कथनमें शंका उपस्थित करते हैं? क्या आपके जैसी शंका उनको नहीं करनी आती थी?" इत्यादि। ऐसे ही 'मृतरूढगौरव' प्रिय पण्डितोंका मुख मुद्रित करने के लिये दिवाकरजीने एक द्वात्रिंशिका÷में बडी ही मार्मिकताके साथ अपने हृदयका जोश प्रकट करते हुए निम्न श्लोक कहा है—

÷ बत्तीस पद्योंका जो एक प्रकरण होता है उसे द्वात्रिंशिका कहते हैं। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकरने ३२-३२ पद्योंवाली ऐसी ३२ द्वात्रिंशिकायें बनाई थीं। प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्यायावतार' भी इन्हीं द्वात्रिंशद्–द्वात्रिंशिकाओंमेंसे एक द्वात्रिंशिकारूप है। वर्तमानमें ये सब ३२ ही द्वात्रिंशिकायें उपलब्ध नहीं होतीं। 'न्यायावतार' सहित कुल २१ द्वात्रिंशिकायें ही मिलती हैं। भावनगरकी 'जैनधर्मप्रसारक सभा' ने 'सिद्धसेन ग्रंथमाला' के नामसे इन द्वात्रिंशिकाओं और 'सम्मतिप्रकरण' को मूल रूपमें छपवा कर प्रकट कर दिया है। सिद्धसेनसूरिकी ये द्वात्रिंशिकायें बहुत ही गूढ और गंभीरार्थक हैं। इनको ऊपर ऊपरसे हमने कई

> जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः
> पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
> पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु
> कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत ॥

इसका भावार्थ यह है। दिवाकरजी पुरातन-प्रियों को उद्दिष्ट करके कहते हैं कि, पुरातन पुरातन क्या पुकारा करते हो, यह (मैं) जन भी मरने बाद, कुछ काल अनन्तर पुरातन हो जायगा और फिर अन्य पुरातनोंहीके समान इसकी भी गणना होने लगेगी।

चार पढकर देखा परंतु सबका आशय स्पष्ट रीतिसे बहुत कम समझमें आता है। अफसोस तो इस बातका है कि जैनधर्ममें हजारों ही बडे बडे ग्रंथकार और टीकाकार हो गये हैं, परन्तु किसीने भी इन द्वात्रिंशिकाओंका अर्थ स्फुट करनेके लिये 'शब्दार्थमात्र प्रकाशिका' व्याख्या भी लिखी हो ऐसा ज्ञात नहीं होता ! इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता। इन द्वात्रिंशिकाओंकी अपूर्वार्थता और कर्ताकी महत्ताका खयाल करते हैं, तब तो यह विचार आता है कि इनके ऊपर अनेक वार्तिक और बडे बडे व्याख्यान लिखे जाने चाहिएँ थे। और, 'न्यायावतार' के ऊपर ऐसे अनेक वार्तिक और व्याख्यान लिखे भी गये हैं। फिर नहीं मालूम, क्यों इन सबके लिये ऐसे नहीं किया गया। शायद अतिगूढार्थक होनेहीके कारण इनका रहस्य प्रकट करनेके लिये किसीकी हिम्मत न चली हो। योग्य और बहुश्रुत विद्वानोंके प्रति हमारा निवेदन है कि वे इनका अर्थ स्फुट करनेके लिये अवश्य परिश्रम करें। इन कृतियोंमें बहुत ही अपूर्व विचार भरे हुए हैं। हमारे विचारमें जैनसाहित्य भरमें ऐसी अन्य अपूर्व कृतियां नहीं हैं।

सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्रने 'अन्ययोगव्यवच्छेद' और 'अयोगव्यवच्छेद' नामकी दो द्वात्रिंशिकायें बनाई हैं (जिनमेंसे एकके ऊपर मल्लिषेणसूरिने 'स्याद्वादमंजरी' नामक विद्वत्प्रिय उत्तम व्याख्या लिखी है), वे इन्हींकी अनुकरण हैं। स्वयं हेमचंद्रसूरिने अपनी प्रथम द्वात्रिंशिकाके प्रारंभहीमें सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंका महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि—

> 'क सिद्धसेनस्तुतयो महार्था
> अशिक्षितालापकला क चैषा।'

अर्थात्—सिद्धसेनसूरिकी बनाई हुई महान् अर्थवाली स्तुतियाँ कहाँ और अशिक्षित मनुष्यके आलाप जैसी मेरी यह रचना कहाँ। इसी कथनसे ज्ञात हो जायगा कि सिद्धसेनसूरिकी ये स्तुतियाँ कैसी महत्त्ववाली हैं। इन बत्तीसों द्वात्रिंशिकाओंमें मुख्य कर अर्हन् महावीरकी अनेक प्रकारसे स्तवना की गई है, इस लिये इनको स्तुतियाँ कहते हैं, और अतएव बहुतसी जगह 'आह च स्तुतिकारः' ऐसा उल्लेख सिद्धसेनसूरिके लिये किया गया है।

अर्थात् मेरे बाद सब ही पुरातन माने जाते हैं। भला, ऐसी अनवस्थित पुरातनताके कारण कौन बुद्धिमान मनुष्य किसी प्रकारकी परीक्षा किये बिना, आँख मूंद कर, केवल पुरातनोंके नामहीसे चाहे जिस सिद्धान्तका स्वीकार कर लेगा ?

इसी तरह एक जगह और भी दिवाकरजीने पुराणप्रियोंके प्रति इस प्रकार स्पष्ट कहा है:—

> 'यदेव किञ्चिद्विषमप्रकल्पितं
> पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
> विनिश्चिताऽप्यद्यमनुष्यवाक्कृति-
> र्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥

अर्थात् पुरातनोंने चाहे अयुक्त भी कहा हो तो भी उनके कथनकी तो प्रशंसा ही करते रहना और आजकलके-वर्तमानकालीन-मनुष्योंकी युक्तिद्वारा सुनिश्चित विचारवाली भी वाणी (कृति) को पढना तक नहीं! यह केवल मुग्ध मनुष्योंका स्मृतिमोह है; अन्य कुछ भी नहीं।

उनके ऐसे ही और भी अनेक चुभनेवाले उद्गार यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। मालूम पडता है कि दिवाकरजीके ऐसे कोरे परंतु युक्तियुक्त जवाबोंको सुनकर उनके विरोधी निरुत्तरित हो कर मन ही मनमें खूब चिढते रहते होंगे; और जिस तरह आजकलके पुराणप्रिय मनुष्य, जब स्वतंत्र विचारवाले किसी बुद्धिमान् विचारकके विचारोंका समाधान नहीं कर सकते तब, अपने भक्तोंके सामने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिये, नवीन विचारोंपर नास्तिकताका आरोप करके उनकी उपेक्षा करने-करानेका नाटक करते-

१ सिद्धसेनसूरिका यह उद्गार उनके समकालीन और सहवासी महाकवि कालिदासके मालविकाग्निमित्रमेंके—

> 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
> मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥'

इस उद्गारके साथ कितनी अर्थसमता रखता है ! महाकवि कालिदास और सिद्धसेन दिवाकर दोनों महाराज वीरविक्रमादित्यकी राजसभाके उज्ज्वल रत्न थे। मालूम पडता है दोनोंकी अलौकिक प्रतिभा और लोकोत्तर कृतियोंने उस समयके पुराणप्रिय पण्डितोंको ईर्ष्यालुहृदय बना दिये होंगे, और अतएव वे सर्व साधारणमें पुरातनताके बहाने इनके गौरवमें न्यूनता लानेकी व्यर्थ चेष्टायें किया करते होंगे। शायद ऐसे ही ईर्ष्यादग्ध विदग्धोंको मौनव्रत दिलानेके लिये इन समर्थ पुरुषोंको ये उद्गार निकालने पडे होंगे।

कराते दिखाई देते हैं, इसी तरह, उस पुराणे जमानेमें भी यही हाल चलता रहा होगा और अत एव, शायद दिवाकरजीने निम्नलिखित मर्मवचन बडे मजाकके साथ कहा होगाः—

‘ परेव जातस्य किलाय युक्तिमद्
पुरातनानां किल दोपवद्वचः ।
किमेव जाल्मः कृत इत्युपेक्षितुं
प्रपञ्चनायास्य जनस्य सेत्स्यति ॥ ’

अर्थात्–‘ कलके जन्मे हुएके वचन तो आज युक्तिमद् बतलाये जाते हैं और पुरातन पुरुषोंके दोषवाले माने जाते हैं ! अफसोस, इससे अधिक और क्या मूर्खता हो सकता है? ऐसे बोलनेवाले जालिम मनुष्योंकी तो उपेक्षा ही करनी चाहिये। उनके सुधारनेके लिये और कोई दूसरा उपाय नहीं है।’ इस प्रकारके उद्गार निकालकर ‘ उपेक्षा करनेका ’ ढोंग रचनेवाले पुराणप्रेमियोंको दिवाकरजी कहते हैं कि, बडी खुशीकी बात है–आपकी इस उपेक्षासे हमको तो लाभ ही होगा। क्यों कि हमारे विचारोंका प्रतिरोध करनेवाला कोई न निकलनसे उनका तो और खूब प्रसार ही होगा !

विज्ञ पाठक दिवाकरजीके इन उद्गारों को पढ कर उनकी विचारस्वतंत्रता और तर्कप्रवणता का बहुत कुछ अनुमान कर सकेंगे। ऐसे स्वतंत्र और निर्भीक उद्गार जैनसाहित्यमें तो क्या समग्र संस्कृत–साहित्यमें भी मिलने मुश्किल हैं।

* * *

सिद्धसेन दिवाकरका जैनागमोंके रूढ अभिप्राय से भिन्न–विचारवाला एक सिद्धान्त जैन–(श्वेताम्बर) साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध और बहु-विवेचित है। यह सिद्धान्त केवलज्ञान और केवलदर्शनके स्वरूपके साथ सम्बन्ध रखता है। पाठकोंको इस सिद्धान्तका पूरा परिचय करानेके लिये यहां पर अवकाश नहीं हैं, तो भी संक्षेपसे सूचनमात्र अवश्य कर देना चाहते हैं।

श्वेताम्बर संप्रदायमें जो सिद्धान्त ग्रन्थ (सूत्रग्रन्थ) विद्यमान हैं, उनमें, केवली (सर्वज्ञ) को केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों, युगपत् यानि एक साथ नहीं होते परंतु क्रमशः—एक दफह केवलज्ञान और एक दफह केवलदर्शन, इस प्रकार बारी बारी से-होनेका उल्लेख किया हुआ है। अर्थात्; एक क्षण (जैन पारिभाषिक शब्द समय) में केवलज्ञान रहता है और दूसरे क्षणमें केवलदर्शन। इसी तरह प्रतिक्षण क्रमशः केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप केवलीका उपयोग परिवर्तित हुआ करता है। सिद्धसेनसूरिको यह विचार सम्मत नहीं है। वे इस विचारमें युक्ति-संगतता नहीं समझते। तर्क और युक्ति से वे इस मान्यताको अयुक्त सिद्ध करते हैं। उनके विचारसे केवलीको केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों युगपत्–एक ही साथ होना युक्तिसंगत है। और वास्तविक में, अन्तमें वे फिर इन दोनोंमें परस्पर कोई भेद ही नहीं मानते–दोनोंको एक ही बतलाते हैं। इस विचारका उन्होंने अपने ‘ सम्मतिप्रकरण ’ में खूब ऊहापोह किया है। सिद्धसेनजीके इस विचारभेदके कारण उस समयके सिद्धान्त-ग्रन्थ-पाठी और आगमभक्ति-प्रवण आचार्यगण उनको ‘तर्कम्मन्य’ जैसे तिरस्कार-व्यञ्जक विशेषणोंसे अलंकृत कर, उनके प्रति अपना सामान्य अनादर–भाव प्रकट किया करते थे। सिद्धसेनजीके बाद सिद्धान्तग्रन्थपाठी आचार्योंमें जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण नामके एक बहुत समर्थ प्रतिभावान् आचार्य हुए। उन्हने जैनसूत्रोंके विस्कलित रहस्यको संकलित करनेके लिये ‘ विशेषावश्यकभाष्य’[१] नामक महान् ग्रन्थकी रचना की। इस भाष्य में क्षमाश्रमणजीने दिवाकरजीके उक्त विचारभेदका खूब ही खण्डन किया है और उनको आगम–विरुद्ध-भाषी बतला कर उनके सिद्धान्तको अमान्य बतलाया है। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ ऊपर बृहद्व्याख्या[२] लिखनेवाले दिवाकरजी ही के नामधारी सिद्धसेन गणीने भी

‘ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ १-३१ ॥ ’

इस सूत्रकी व्याख्यामें दिवाकरजीके विचारभेद ऊपर अपने ठीक वाग्बाण चलाये हैं। गणीजीके कुछ वाक्य देखिए—

१ यह भाष्य, मलधारी आचार्य हेमचंद्र विरचित बृहद्व्याख्याके साथ काशीकी यशोविजयग्रंथमालामें मुद्रित हुआ है।

२ श्वेताम्बर संप्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रपर यही एक प्रसिद्ध और प्रौढ टीका है। यह टीका भाष्यके ऊपर लिखी गई है। ऐतिहासिक दृष्टिसे, तत्त्वार्थसूत्रकी दिगम्बर श्वेताम्बर संप्रदायकी अन्य सब टीकाओंसे इस टीकाका महत्त्व अधिक है। इस विषयमें हम कभी विस्तारके साथ लिखेंगे।

" यद्यपि केचित् पण्डितम्मन्याः सूत्राण्यन्यथाकारमर्थमाचक्षते तर्कबलानुविद्धबुद्धयो वारंवारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः, यत आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपादयन्ति । "

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और सिद्धसेनगणी आदि दिवाकरजीके विचारभेदमें केवल आगम-प्रामाण्यकी दलीलके सिवा और कुछ नहीं कह सके। युक्तिसे वे भी दिवाकरजीके विचारके कायल होते थे, परंतु अन्तमें यही कह कर वे छूट जाते थे कि युक्ति और तर्कसे चाहे जो सिद्ध होता हो परंतु आगम-लिखित उल्लेखोंके विरुद्ध-विचारको हम कभी नहीं आदर दे सकते । सिद्धसेनगणी लिखते हैं कि–

स्वमनीषिका सिद्धान्तविरोधिनी न प्रमाणम्, ...अभ्युपेयते। '...' न चान्यथा जिनवचनं कर्तुं शक्यते सुधियाभीति । '

मालूम पडता है इस प्रकारकी तर्क प्रियताके कारण ही पिछले जैन साहित्यमें दिवाकरजी ' तार्किक' के नामसे प्रसिद्ध रहे हैं।

[बहुतसे पाठक यह नहीं जानते होंगे कि श्वेताम्बर आचार्योंके इस विशिष्ट मतभेदके बारेमें दिगम्बर आचार्योंका क्या मत है ? उनके लिये हम यहां पर यह नोट कर देते हैं कि, दिगम्बर साहित्यमें इस बारेमें एक ही सिद्धान्त उल्लिखित है और वह सिद्धसेन दिवाकरका सिद्धान्त है। अर्थात् दिगम्बराचार्योंको दिवाकरजी ही का मत मान्य है । दिगम्बर ग्रन्थोंमें सर्वत्र केवलज्ञानीको ज्ञान और दर्शन दोनों युगपत् लिखे हुए हैं । उनमें श्वेताम्बर-आगमोंके मुताबिक

' जुगवं दो णत्थि ओगा '

अर्थात्–एक साथ दो उपयोग नहीं होते–यह विचार कहीं देखनेमें नहीं आता । इतना ही नहीं बल्कि 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भट्ट अकलंकदेवने

' केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ' (६-१२) इस सूत्रकी व्याख्यामें

' पिण्डाभ्यवहारजीविनः, कवलाभ्यवहारिणः, अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः, केवलिनः इत्यादि वचनं केवलिष्ववर्णवादः । '

ऐसा उल्लेख कर, श्वेताम्बरोंकी, केवलीको कवलाहार माननेकी जो दिगम्बर-मत-विरुद्ध दूसरी प्रसिद्ध मान्यता है, उसीकी तरह, इस क्रमोपयोगवादकी मान्यताको भी, केवलज्ञानीके अवर्णवाद स्वरूप बतलाकर दर्शनमोह कर्मके बन्धका कारण बतलाया है । अकलंकदेवके इस कथनके विरुद्ध श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेनगणीने इसी सूत्रकी व्याख्यामें ।

"दिगम्बरत्वाद्विगतत्रपाः, क्रमोपयोगभाजः", समवसरणभूमावष्कोपभूम्यारम्भानुमोदिनः, सर्वोपायनिपुणा अप्याति दुष्करदुरपचरमार्गोपदेशिनः इत्याद्यवर्णोद्भासनम् ।'

इस प्रकार उल्लेख कर, केवलज्ञानीको क्रमशः ज्ञान दर्शन होनेवाले मत (विचार) में युक्ति–रहितता मानने या प्रतिपादन करनेवालोंके विचारको दर्शन मोहकर्मके बन्धका कारण बतलाया है ! !]

सिद्धसेनसूरिके लिये एक यह भी किम्वदन्ती प्रचलित है कि, इन्होंने एक दफह जैन श्रमणसंघके सामने यह विचार प्रदर्शित किया था कि, ' जैनागम ग्रंथ' जो प्राकृतभाषामें बने हुए हैं इसलिये विद्वानोंका उनके प्रति विशेष आदर नहीं होता–विदग्धगण उन्हें ग्रामीण भाषाके ग्रन्थ समझकर उनका अवलोकन नहीं करते–इस लिये यदि श्रमण-गण अनुमति दें तो मैं उन्हें संस्कृतभाषामें परिवर्तित कर देना चाहता हूं । दिवाकरजीके इन विचारोंको सुन कर श्रमण-संघ एकदम चौंक उठा और ' मिच्छामि दुक्कडं ' का उच्चारण करता हुआ, इनसे कहने लगा कि, ' महाराज, इस अकर्तव्य विचारको अपने हृदयमें स्थान देकर आपने तीर्थंकर, गणधर और जिन-प्रवचन की महती ' आशातना ' (अवज्ञा) की है। ऐसा कलुषित विचार करनेके, और श्रमण-संघ के सामने ऐसे उद्गार निकालनेके कारण, जैन शास्त्रानुसार, आप ' संघबाह्य ' के मूर्दण्डकी शिक्षा पानेके अधिकारी हुए हैं।' दिवाकरजी संघके इस कथनको सुनकर चकित हो गये और अपने सरल विचारसे भी संघको इतनी अप्रीति हुई इसलिये उनको बडा खेद हुआ । संघसे तुरन्त उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की और जो प्रायश्चित्त दिये जाने योग्य हो उसे देनेकी विज्ञप्ति की । कहा जाता है कि संघने उन्हें शास्त्रानुसार बारह वर्षतक 'बहिष्कृत' रूपमें रहनेका 'पाराञ्चित ' नामक प्रायश्चित्त दिया, जिसे दिवाकरजीने सादर स्वीकार कर संघाज्ञाका पालन किया । प्रायश्चित्तकी मर्यादा पूर्ण हो जाने पर संघने उनको पुनः

अपने अंदर सामिलकर पूर्ववत् उनका सत्कार किया। इस किम्वदन्तीमें कितना तथ्यांश है उसका विचार हम यहां पर नहीं करना चाहते, केवल इतना कह देना चाहते हैं कि इस रूपकमें कुछ न कुछ ऐतिहासिक सत्य गर्भित अवश्य है। ऊपर जो हमने थोडासा इनके विचार-स्वातंत्र्य और स्पष्ट-भाषित्वका परिचय दिया है, उससे यह जाना जा सकता है कि, यदि जैनागमोंके सम्बन्धमें इन्होंने ऐसी कोई बात श्रमणसंघके सामने प्रदर्शित की हो अथवा कृतिरूपसे उपस्थित कर दी हो कि जिससे पुराणप्रिय और आगमप्रवण श्रमण-वर्गको बडा असंतोष हुआ हो, तो, उसमें कोई असंभवता नहीं है।

तत्कालीन श्रमणसंघमें अथवा कुछ काल तक पीछे भी आगमाभ्यासी सैद्धान्तिकोंमें सिद्धसेनसूरिके प्रति आदरभाव अल्परूपमें भले ही जागृत रहा हो; परंतु परवादियोंके किये जानेवाले प्रचण्ड आक्रमणसे जैनशासनकी रक्षा करनेके लिये प्रमाण और नय-वादके प्रबलयुक्तिपूर्ण सिद्धान्तोंकी स्थापनारूप जिस दुर्गम-दुर्गके मूलको वे दृढ बना गये, इस लिये उनके अनुगामी और पश्चाद्वर्ती सब ही समर्थ जैन विद्वानोंने उनका बडे गौरवके साथ स्मरण किया है। महातार्किक आचार्य मल्लवादीने सम्मतिप्रकरण उपर टीका[1] लिख कर उनके प्रति अपनी उत्तम भक्ति प्रकट की। जैनधर्मके अनन्यसाधारण और अन्तिम तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्रने तो उन्हें साक्षात् 'श्रुतकेवली' लिख कर उनका अनुपम आदर किया है[2]। तत्पश्चात् महात्मा सिद्धर्षिने न्यायावतार ऊपर व्याख्या[3] लिख कर, तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरिने 'सम्मतिप्रकरण' पर २५ हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत और प्रौढ टीका[1] बना कर, शान्त्याचार्य और जिनेश्वरसूरिने 'न्यायावतार' के सटीक वार्तिक[2] रच कर, सिद्धसेनसूरिके, जैनतर्कशास्त्र विषयक सूत्रधारत्वका सगौरव समर्थन किया है। प्रचण्ड तार्किक वादी देवसूरिने उन्हें अपना मार्गदर्शक बतलाया है[3]; और सर्वतंत्रस्वतंत्र आचार्य हेमचंद्रने उनकी कृतियोंके सामने अपनी विद्वन्मनोरंजक कृतियोंको भी 'अशिक्षितालापकला' वाली बतलाई हैं।

* * *

जिस तरह श्वेताम्बर संप्रदायके प्रसिद्ध आचार्योंने सिद्धसेन दिवाकरकी प्रशंसा की है वैसे दिगम्बर संप्रदायके सूरिवरोंने भी उनके विषयमें स्तुतिपरक उद्गार प्रकट कर, समुचित गौरव किया है।

हरिवंश पुराणके कर्ता महाकवि जिनसेन सूरि (प्रथम) ने, अपने पुराण-रूप महाकाव्य की प्रस्तावनामें समन्तभद्रादि बडे बडे प्रभावक आचार्यों का स्मरणीय उल्लेख करते हुए सिद्धसेनसूरिका भी—उनकी सूक्तियों की प्रशंसा द्वारा—सादर स्मरण किया है। यथा—

---

1 यह टीका अभीतक कहीं उपलब्ध नहीं हुई है। ४-५ सौ वर्ष पहले की बनी हुई एक ग्रन्थसूचि हमारे पास है उसमें इस टीकाका नाम लिखा हुआ मौजूद है।

2 देखो, 'पञ्चवस्तु' ग्रन्थका निम्न लिखित गाथा-युगल

> भण्णइ एगंतेणं अम्हाण कम्मवायो णो इट्ठो।
> 'णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणिअं॥
> आयरिय-सिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअ-जसेण।
> दूसमणिसादिवागर-कप्पत्तणओ तदक्खेण॥

डेक्कनकालेज संगृहीत हस्तलिखित पु. पृ. १३१.

3 यह व्याख्या पाटणकी 'हेमचन्द्राचार्य जैनसभा' की ओरसे छपकर प्रकाशित हुई है। इस व्याख्याके ऊपर राजशेखर सूरिका बनाया हुआ संक्षिप्त 'टिप्पनक' भी है'

1 इस टीकाका थोडासा प्रारंभिक भाग काशीकी 'यशोविजयजैनग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है। संपूर्ण ग्रंथ अभीतक नहीं छपा।

2 जिनेश्वरसूरिके वार्तिकका नाम 'प्रमालक्षण' है और यह केवल न्यायावतार सूत्रके आदिम श्लोकका विस्तार स्वरूप है। इस ग्रन्थके विषयमें विशेष जाननेके लिये, देखो जैनहितैषी मासिक पत्र के भाग १२, संख्या १, में मुद्रित हमारा 'प्रमालक्षण' शीर्षक लेख। यह ग्रंथ अमदाबादके सेठ मनसुखभाई भगुभाई ने छपवा कर प्रकट किया है।

3 शान्त्याचार्यका वार्तिक भी जिनेश्वर सूरिके वार्तिक की तरह न्यायावतारके प्रथम श्लोककी व्याख्यारूप है। इसका नाम 'प्रमाण कलिका' है। यह काशी दे[?] पंडित पत्रमें पं. विठ्ठलशास्त्री द्वारा संशोधित हो कर प्रकाशित हुआ है, परंतु इतना अशुद्ध छपा है कि जिसमें एक पृष्ठ भी शुद्ध पढना-समझना कठिन है।

4 देखो; 'स्याद्वादरत्नाकर' के प्रारंभमें निम्न गत श्लोक

> श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा-
> स्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः।
> येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान्
> शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक्॥

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

इसी तरह आदिपुराणके कर्ता महाकवि जिनसेनाचार्य (द्वितीय) ने भी अपने महापुराणके प्रारंभमें निम्न लिखित श्लोक द्वारा सिद्धसेन सूरिके पाण्डित्यकी प्रभुताका उल्लेख कर उनके प्रति अपना आदर-भाव प्रकाशित किया है।—

प्रवादिकरियूथानां केशरी नयकेशरः ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद् विकल्पनखराङ्कुरः ॥

भट्ट-अकलंक देवके ग्रन्थोंमें भी सिद्धसेन सूरिके वचन प्रमाणतया उद्धृत किये हुए दिखाई देते हैं[1]। इससे उनकी प्रामाणिकताका पूरा परिचय मिल जाता है और जैन धर्मके दोनों संप्रदायोंमें उनकी प्रतिष्ठा एकरूपसे स्वीकृत की गई है यह स्पष्ट जाना जा सकता है।

लक्ष्मीभद्र नामक दिगम्बर विद्वानके बनाये हुए एकान्त खण्डन नामक ग्रन्थमें

अनेकान्तलक्ष्मीविलासाऽऽवासाः सिद्धसेनाचार्या असिद्धिं प्रत्यपादयन्

'असिद्धं सिद्धसेनस्य..........'
'नित्याद्येकान्तहेतोर्बुधततिमहितः
सिद्धसेनो ह्यसिद्धम्।

इत्यादि प्रकारके उल्लेखों द्वारा, सिद्धसेनसूरिका समन्तभद्रादिक आचार्योंके साथ हेतुके स्वरूप-विषयक विचार-विरोधका आदर युक्त वर्णन किया हुआ है, और इस प्रकार समन्तभद्रादिकके समान ही उनकी प्रामाणिकता स्वीकृत की गई है[1]।

सिद्धसेनसूरिके बारेमें लिखे गये इन उपर्युक्त विचारोंके अवलोकनसे विज्ञ पाठक जान सकेंगे कि जैन धर्मके समर्थक आचार्योंमें उनका कितना ऊंचा आसन है और पिछले लेखकों द्वारा वे कितने सत्कृत हुए हैं।

स्वामी समन्तभद्र ।

अब हम कुछ हाल सिद्धसेनसूरि ही के समानासनासीन स्वामी समन्तभद्रके बारेमें निवेदन करना चाहते हैं।

श्वेताम्बर साहित्यमें जो स्थान सिद्धसेन दिवाकरको मिला है वही स्थान दिगम्बर साहित्यमें स्वामी समन्तभद्रको प्राप्त है। श्वेताम्बर संप्रदायके तर्कशास्त्र-विषयक साहित्य ऊपर जितना प्रभाव सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंका पड़ा है, उतना ही प्रभाव दिगम्बर संप्रदायके तद्विषयक वाङ्मय ऊपर स्वामी समन्तभद्रकी कृतियोंका पड़ा है। जिस तरह श्वेताम्बर साहित्यमें सिद्धसेनके पूर्व कालीन कोई स्वतंत्र तर्क-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, वैसे ही दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्रके पूर्वका वैसा कोई ग्रंथ नहीं है। श्वेताम्बर संप्रदायमें संस्कृत भाषाके पद्यात्मक प्रौढ ग्रंथोंके प्रथम प्रणेता जैसे सिद्धसेन हैं, वैसे ही दिगम्बर संप्रदायमें समन्तभद्र हैं। इन दोनों विद्वानोंके पहले, दोनों संप्रदायोंमें संस्कृत भाषाका विशेष अभ्यास और आदर नहीं था। तब तक जैन श्रमणोंमें प्राकृत भाषा ही का प्रभुत्व था। श्रमणोंके अभ्यासके विषय भी बहुत नहीं थे। जिस तरह, वर्तमानमें श्वेताम्बर संप्रदायकी स्थानकवासी (ढूंढिया) नामक शाखाके साधुओंमें बहुधा देखा जाता है कि उनमें केवल मूल-सूत्रोंका पाठ कंठस्थ कर लेनेके तथा सारा दिन बैठे बैठे वह पाठ मात्र पढते-बांचते रहनेके सिवा, न कोई सूत्रोंके अर्थका विशेष

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिकके ८ वें अध्यायके १ म सूत्रके १७ वें वार्तिकमें, सिद्धसेन सूरिका, प्रथम द्वात्रिंशिकान्तर्गत निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पद्य उद्धृत किया हुआ है।

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

यह पद्य और भी अनेकानेक ग्रंथकारों द्वारा यत्र तत्र उद्धृत किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस पद्यगत विचार सिद्धसेनसूरिके मौलिक विचार हैं।

१ इस विचार-विरोधके स्पष्टीकरणके लिये किसी अगले अंकमें हम एक आधा छोटासा लेख लिखना चाहते हैं। पाठक तब ही ध्यान पूर्वक इस विषयको पढें। यहां पर तो सिर्फ सूचन मात्र कर दिया गया है।

विचार किया जाता है और न कोई व्याकरण, काव्य कोषादिका अभ्यास किया जाता है; उसी तरह शायद उस पुराणे जमानेके बहुतसे श्रमणोंका हाल रहा होगा सम्मतितर्कके अन्तमें, सिद्धसेनसूरिने

' तम्हा आहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइअव्वं । '

इत्यादि प्रकारका जो उल्लेख किया है और सूत्र (मूलपाठ) के साथ अर्थसंपादन करनेमें भी यतियोंको यत्न करना चाहिए, ऐसा जो उपदेश दिया है, उससे हमारे इस विचारकी पुष्टि होती है । अर्थ-परिज्ञानके सिवाय, और व्याकरण, काव्य, कोष, आदिक सर्व-साधारण ज्ञानके सिवाय मनुष्यको न तत्त्वबोध हो सकता है और न वह दूसरोंको करा सकता है । सर्व-साधारण परिज्ञानके उक्त सब साधन भारतवर्षमें प्राचीन कालसे एक मात्र संस्कृत भाषा ही में उपलब्ध होते हैं । वर्तमानमें अंग्रेजीकी तरह प्राचीनकालमें संस्कृत ही विद्वानोंके व्यवहारकी मुख्य भाषा थी । इस लिये जैनश्रमणोंको बहुश्रुत और विशिष्ट विद्वान् बनानेके लिये संस्कृत भाषाके अध्ययन-अध्यापनकी आवश्यकता थी । यह आवश्यकता तब ही पूरी हो सकती है जब उत्तम और प्रौढ विचारके ग्रंथ इस भाषामें बनाये गये हों और जिनके सीखनेकी श्रमणोंको खास जरूरत मालूम देती हो । इस लिये सिद्धसेन दिवाकरने संस्कृत ही में अपने प्रौढ और गभीर विचार लिपिबद्ध करने शुरू किये । परंतु, जैन श्रमणोंमें संस्कृतका नया ही प्रवेश था, इस लिये, जैसे वर्तमानमें इंग्रेजी भाषाके देशी विद्वानोंको अपने विशिष्ट विचार इंग्रेजी ही में व्यक्त करना अधिक पसंद होने पर भी, स्वदेशनिवासी सर्वसाधारण जनसमूहको, अपने विचारोंका परिचय करानेके लिये मातृभाषामें भी कुछ थोडा-बहुत लिखना पडता है; वैसे ही शायद सिद्धसेनसूरिको, (यहां पर सिद्धसेनको लक्ष्य कर यह कथन लिख रहे हैं, इसलिये प्रधानतः उनका ही जिकर करना पडता है, परंतु यह बात इस प्रकारके अन्य विद्वानोंके लिये भी समझ लेनी चाहिए) संस्कृत भाषा ही में लिखना विशेष प्रिय होने पर भी; सभी श्रमणोंको अपने मौलिक अतएव नवीन विचारोंका परिचय कराने के लिये, श्रमण-समूहकी साधारण और प्रिय भाषा जो उस समय प्राकृत थी, उसमें भी कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी । 'सम्मतिप्रकरण' का प्राकृत भाषा में होना हमारे इस अनुमान का विशिष्ट कारण है । ऐसा न होता तो फिर, वैसा प्रौढ और तर्क-प्रवण ग्रंथ संस्कृत भाषाके अत्यंत अनुरागी और महाकवि हो कर भी वे प्राकृत जैसी सरल और साधारण भाषामें क्यों लिखते ? ।

समन्तभद्र स्वामीने प्राकृत भाषामें कोई ग्रंथ-रचना की है या नहीं, इस का कुछ पता नहीं लग सकता । परन्तु उनके नामसे जितने ग्रंथ वर्तमानमें प्रचलित और प्रसिद्ध हैं—और उन को उन्हीं की कृति माननेमें कोई विशेष सन्देह-जनक कारण भी नहीं है—उनके विषयका विचार करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राकृतमें कोई रचना नहीं की होगी । 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' का विषय प्राकृतमें गूंथे जानेके योग्य था । ऐसे धर्मतत्त्व-प्रतिपादक ग्रंथ, जैन साहित्यमें संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृत ही में अधिक उपलब्ध हैं, और समाजको प्रिय भी इसी भाषाके ग्रंथ अधिक हो सकते हैं । क्यों कि अज्ञान-बालक-बालिकायें और मन्दमति स्त्रियें भी उन्हें सरलतापूर्वक पढ सकती हैं । श्वेताम्बर संप्रदायमें तो बहुत अर्वाचीन कालतक भी ऐसे ग्रंथ प्राकृत ही में लिखे गये हैं । रत्नकरण्डकका दिगम्बर संप्रदायमें सभी स्त्री-पुरुष पाठ पढते-सुनते रहते हैं, इस लिये संस्कृतकी अपेक्षा यह ग्रंथ प्राकृत में होता तो लोगोंको और भी अधिक सुगम और सरल पडता । परंतु हमारे विचारसे, दिगम्बराचार्योंमें, स्वामी कुन्दकुन्दके बाद, प्राकृत भाषा ऊपरसे बिलकुल प्रेम ऊठ गया था । और उसके ऊठ जानेमें मुख्य कारण स्वामी समन्तभद्रका संस्कृत-प्रेम और उनकी उसीमें रची गई सब कृतियें हैं । समन्तभद्रकी देखादेखी पिछले प्रायः सब ही दिगम्बर विद्वान्, विशेष कर संस्कृत ही में ग्रंथ-रचना करते रहे हैं । अस्तु ।

हमारे इस लिखनेका मतलब यही है कि, सिद्ध-

सेन और समन्तभद्र दोनों जैन समाजमें संस्कृत-भाषा के विशिष्ट लेखक और प्रचारक थे।

हम ऊपर सूचित कर आये हैं कि सिद्धसेनके पूर्व ही में बौद्ध और ब्राह्मणों के बीचमें तर्क युद्ध की शुरूआत हो चुकी थी, और इसलिये बौद्ध श्रमणों को पाली भाषाके प्रवाहमेंसे निकलकर संस्कृतके स्रोतमें दाखल होना पड़ा था और ब्राह्मणोंके समान ही तर्क-विषयक साहित्यका संगठन कर भगवान् गौतम बुद्धके शासनका संरक्षण करनेमेंवे कटिबद्ध हो रहे थे। उन बौद्ध श्रमणोंका प्रभाव जैन निर्ग्रन्थों पर बहुत असर कारक पड़ा और उनको अपने कार्य में सफल होते देख जैन निर्ग्रन्थोंने भी उसी मार्गका अनुसरण करना शुरू किया।

बौद्धोंके साथ वाद-विवाद करते हुए ब्राह्मणों की दृष्टि, शनैः शनैः बौद्धों ही के समान बहुतसे आचार-विचार रखनेवाले और अतएव ब्राह्मण-वर्चस्व का विनिपात करनेवाले जैन निर्ग्रन्थोंके, शान्त परंतु स्थिर भावसे बढ़ते जाते सामर्थ्य और लोकप्रियत्व ऊपर भी पड़ने लगी। यद्यपि जैन निर्ग्रन्थ उस समय अपना प्रशमरसपरिपूर्ण जीवन केवल निर्जन-वनोंमें घूमते और धर्मध्यानमें मग्न रहते ही बिताते थे। उन्हें अपना अनुरक्त-वर्ग बढ़ानेका या सम्राटोंके गुरु बननेका कोई लोभ नहीं था। जनसमूहके विशेष संसर्गसे वे दूर दूर रहते थे। इसलिये ब्राह्मणोंको अपनी आजीविका और लोकप्रतिष्ठामें उनकी तरफसे किसी विशेष आघात के आनेकी आशंका करनेका अधिक कारण नहीं था। तथापि, बौद्ध श्रमणोंकी जनहितकर प्रवृत्ति और सेवाभावनासे आकर्षित हो कर लोकमत दिन प्रतिदिन जो उनका अनुरक्त होता जाता था और ब्राह्मणोंके प्रति जो शिथिलादर होता जाता था, इसके कारण मनस्वी ब्राह्मणोंकी सात्त्विक वृत्ति तमःप्रधान बन गई थी। इस कारणसे, उन्होंने अनात्मवादी बुद्धानुरागियोंके साथ साथ परम आत्मवादी निर्ग्रन्थानुयायियोंको भी 'नास्तिक' 'नास्तिक' कह कह कर परमात्म भगवान् महावीर के मोक्षमार्गका तिरस्कार करना शुरू कर दिया था। और इस प्रकार मुमुक्षु आत्माओंके कल्याणके मार्गमें काँटे बिछा कर उन्हें मार्ग भ्रष्ट करनेके प्रयत्नका प्रारंभ किया गया था। समाधिशील निर्ग्रन्थोंको, अपने मौनधर्मका इस प्रकार विपर्यास और दुरुपयोग होते देख जगत्के कल्याणार्थ और परमपुरुष महावीरके मोक्षमार्गका सत्यत्व स्थापनार्थ, मौनधर्मका त्याग करना पड़ा; और फिर बौद्ध भिक्षुओंकी तरह वे भी जन सहवासमें आ कर, वाद-विवादके युद्ध-क्षेत्रमें उपस्थित हो कर, अपने प्रतिपक्षियोंका मुकाबला करने लगे। ऐसे ही एक विवाद-क्षेत्रमें, वृद्धवादी नामक निर्ग्रन्थाचार्यके साथ वाद करते हुए चतुर्दशविद्यापारंगत ब्राह्मणकुल-भूषण सिद्धसेन पराजित हुए थे, और 'जो मुझे शास्त्रवादमें पराजित करे उसका मैं शिष्य बनूंगा,' ऐसी गर्विष्ठ प्रतिज्ञा करनेवाले विद्योन्मत्त परंतु कृत-प्रतिज्ञाका पूर्ण निर्वाह करने जितना दृढ मनोबल रखनेके कारण सत्य-प्रतिज्ञ सिद्धसेनको अपने विजेता आचार्यके पास निर्ग्रन्थ-दीक्षा ले कर 'ब्राह्मणवर' से 'श्रमणवर' होना पड़ा था।

सिद्धसेनके उद्‌गारोंसे पता लगता है कि उस समय निर्ग्रन्थोंकी सरल वाद-पद्धति और आकर्षक शांतवृत्तिका लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। निर्ग्रन्थ अकेले-दुकेले ही ऐसे स्थलों पर जा पहुंचते थे, और ब्राह्मणादि परवादी विस्तृत-शिष्य समूह और जनसमुदायके सहित राजसी ठाट-माठ के साथ पेश आते थे, तो भी जो यश निर्ग्रन्थोंको मिलता था वह उन प्रतिवादियोंको अप्राप्य था। यह बात स्वयं सिद्धसेनसूरिने, महावीर स्तुतिरूप प्रथम द्वात्रिंशिकामें इस प्रकार प्रकट की है:—

> अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतस–
> स्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
> न तावदप्येकसमूहसंहताः
> प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥

इस कथनसे उस समयकी लोकरुचिका भी पता लगता है कि लोक ब्राह्मणोंके जल्पवितण्डा परिपूर्ण शुष्कवाद और कर्मकाण्डके प्रपंचसे कितने

ऊब गये थे और शांतिपूर्ण सात्त्विक मार्गके कितने उत्सुक बन गये थे। अस्तु।

सिद्धसेन निर्ग्रन्थ-दीक्षा लेनेके पहले सर्व-शास्त्र-पारंगत विद्वान् ब्राह्मण थे यह बात ऊपर सूचित की जा चुकी है। इस लिये निर्ग्रन्थ बनते ही उन्होंने अपनी सर्वज्ञकल्प शास्त्र-ज्ञताका, जैन तत्त्वोंको न्यायसंगत बनानेमें और स्याद्वादके सिद्धान्तको नय और प्रमाण द्वारा सुव्यवस्थित बनाने में, पूरा उपयोग किया। ब्राह्मणवर्ग अपने प्रतिपक्षियों पर जो 'नास्तिकता' का कुत्सित आरोप कर सर्व साधारण-में मिथ्याभ्रान्ति फैलानेका उद्योग किये करता था उसका प्रतिवाद और निराकरण करनेके लिये; तथा यथार्थमें आप्त-पुरुष कौन है, और किसका सिद्धान्त स्वीकरणीय होना चाहिए, इस विषयका उद्घाटन करनेके लिये, सिद्धसेनने बडे गभीर और उच्च विचारवाले भिन्न भिन्न दृष्टिसे अनेक प्रकरण लिखे। ये वेही प्रकरण हैं जिनका जिकर हम ऊपर द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिकाओंके नामसे कर आये हैं। इन प्रकरणोंमें उन्होंने अपने पक्षका समर्थन और परपक्षका निरसन इतनी उत्तमता, इतनी मार्मिकता और इतनी गभीरता के साथ किया है कि जिनको पढ कर सहृदय विद्वानोंको काव्यका, तर्कशास्त्रका और सत्यके साक्षात्कारका एक साथ ही आनंद आ सकता है। यह एक विचारणीय और ऐतिहासिक सत्य है कि, ब्राह्मणों के सर्वस्वका और कर्ममार्गका विरोध करनेवाले कृष्ण, महावीर, गौतमबुद्ध आदि क्षत्रिय-वीर ही हैं और अध्यात्म मार्गकी गवेषणा कर जगत्को उसका उपदेश देनेवाले भी एक मात्र वे ही हैं; परन्तु इन क्षत्रिय धर्म-प्रवर्तकोंके सिद्धान्तोंको संगत, सुस्थित और सुप्रचलित करनेवाले फिर वेही ब्राह्मण ही हैं। भागवत, जैन और बौद्ध धर्मके समर्थ लेखक और आचार्योंकी जातिकी तरफ दृष्टि करते हैं तो अधिकांश ब्राह्मण जाति ही के ऐसे सरस्वती-वर-लब्ध पुत्र उत्पन्न किये हुए दिखाई देते हैं। निःसंशय ब्राह्मण जातिने जगत्के अज्ञानका नाश करनेमें सर्वाधिक श्रेष्ठ कार्य किया है। और इसी कार्यके लिये यदि वह जगत्के ऊपर अपने पूज्यत्वका अधिकार सदैवके लिये रखे तो उसमें उसकी कोई अनुचितता नहीं है।

सिद्धसेन सूरिके बाद, दिगम्बर संप्रदायमें, उनके ही जैसे प्रतिभाशाली और प्रतापवान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र हुए। समन्तभद्रके समयका अनुमान किया जाय ऐसा कोई भी विशिष्ट प्रमाण अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है, और न कोई वैसी विश्वसनीय जीवनकथा ही उनके बारेमें दृष्टिगोचर होती है। इस लिये वे कब हुए इस बारे में कुछ भी नहीं कह सकते। दिगम्बर पट्टावलियोंकी गणनानुसार विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें उनका अस्तित्व बताया जाता है। हमने इस विषयमें अभीतक कुछ भी विशेष विचार नहीं किया है। हम जो कुछ ऊपर ऊपरसे अनुमान कर सके हैं उसका सार इतना ही है कि सिद्धसेनके बाद थोडे ही समयमें समन्तभद्र हुए होंगे। इन दोनों की लेखशैली, विचारशैली और भाषाशैली बहुत कुछ मिलती जुलती है। भेद है तो केवल इतना ही है कि सिद्धसेनकी कृतियोंमें गूढार्थता अधिक है और समन्तभद्रकी कृतियों में स्पष्टार्थता।

इन दोनों आचार्योंके जीवनवृत्तांत-संबंधमें जो दंतकथायें पिछले जैनग्रंथोंमें देखी जाती हैं उनमें भी लगभग एक ही बात, कुछ थोडेसे फेरफारके साथ, कही हुई है। सिद्धसेनके बारेमें लिखा हुआ है कि, उन्होंने अवन्ती (उज्जैनी) के राजा विक्रमादित्यके अत्याग्रह करनेसे, वहांके जगत्प्रसिद्ध महाकालेश्वरकी स्तुति करनी शुरू की जिसके प्रभावको महाकालेश्वरका महालिंग सहन न कर सकनेके कारण उसके टुकडे टुकडे हो गये और फिर उसमेंसे जिन तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्ति प्रकट हुई। इससे राजा बडा आश्चर्य चकित हुआ और सिद्धसेनके पादतलमें मस्तक रख कर उनको अपना गुरु बनाया।

इधर, समन्तभद्रकी कथामें भी इसके जैसी ही बात लिखी मिलती है। उन्होंने वाराणसी (काशी) के राजा शिवकोटिके आग्रह करने पर वहां के विश्वविख्यात विश्वेश्वर महादेवकी जब स्तवना करनी

प्रारंभ की तो उसके सामर्थ्यसे विश्वेश्वरका महा-लिंग फट कर उसमेंसे चतुर्मुख जैनमूर्ति प्रकट हुई! समन्तभद्रके इस प्रभावसे मुग्ध हो कर वह राजा उनका शिष्य बन गया!।

मालूम नहीं इन दंतकथाओंमें कितना तथ्य है। इनके आकार-प्रकारसे तो विद्वानोंको ऐसाही भास हो सकता है कि केवल इन आचार्योंकी महिमा बढाने के लिये ये कथायें मनगढन्त बना ली गई हैं, और सिद्धसेनकी कथा ही में कुछ नाम परिवर्तन कर समन्तभद्रको भी लागू कर दी गई है। परन्तु संभव है कि इनमें कुछ ऐतिहासिक सत्यांश भी हो। सिद्धसेनने अवन्तीकी और समन्तभद्रने काशीकी ब्राह्मण-परिषद्में—जिस तरह न्यायाचार्य यशोविजयजीने काशीकी विद्वत्सभामें विजय प्राप्त किया था वैसे—दार्शनिक वाद-विवाद कर विजय प्राप्त किया हो, और उसके स्मरणार्थ उन उन स्थानोंमें जैन मंदिरोंकी प्रतिष्ठा करवा कर जैन धर्मका खूब जयजयकार करवाया हो। ऐसी बातें समय समय पर अनेक जगह होती रही हैं, इस लिये सिद्धसेन और समन्तभद्रके समयमें भी ऐसी ही कोई बात बनी हो और उसीको लेकर उपर्युक्त दंतकथा—अर्द्धसत्य-मिश्रित होकर—प्रचलित हो गई हो, तो उसमें कोई असंभवनीयता नहीं है। अवन्ती और वाराणसी ये दोनों नगरियां प्राचीन कालसे ब्राह्मणोंकी राज-धानियांसी बनी हुई हैं। उस समयमें जितने बडे बडे दिग्गज विद्वान् हुआ करते थे वे अवश्य इन क्षेत्रोंकी यात्रा किया करते थे और वहांके विद्वत्समाजोंमें भिन्न भिन्न विषयोंपर शास्त्रार्थ कर अपने पाण्डि-त्यका प्रमाण-पत्र तथा विजयपताका प्राप्त कर कृत-कृत्य होते थे। सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों बडे प्रखर वाग्मी और प्रचण्ड वादी थे इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उनकी ऐसी प्रसिद्धि तब ही हो सकी होगी जब उन्होंने अवन्ती और वारा-णसी जैसी सरस्वतीके वरपुत्रोंकी वासभूमीमें जा कर वहांके दिग्गज विद्वानोंके साथ शा-स्त्रार्थ कर महती प्रतिष्ठा प्राप्त की होगी। इसलिये इन दन्तकथाओंमें कुछ सत्यांश अवश्य होना चाहिए, ऐसा अनुमान करनेकी तरफ हमारी चित्तवृत्ति सहज खींची जाती है।

सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों महाकवि और महावादी थे। उनका महाकवित्व तो उनकी चिरं-जीव कृतियोंमें स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है और महावादित्वका अनुमान उनकी कृतियोंमें कूट कूट कर भरे हुए पाण्डित्यको देख कर सहज किया जा सकता है। इन प्रवादि-करि-केशरियोंने अपने जीवनमें कहां कहां पर किन किन विद्वानोंके साथ वाद-विवाद कर दिग्विजयिपना प्राप्त किया था इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। सिद्ध-सेनकी कथाओंमें, उनके मालव देशमें विचरण के साथ दक्षिण देशमें विचरण करनेका भी उल्लेख किया हुआ है, इस लिये इन देशोंमें तो उनके पाण्डित्यके प्रकाश-किरण सर्वत्र अवश्य फैले ही होंगे। अन्य देशोंके विषयमें कुछ नहीं कह सकते। समन्तभद्रके दिग्विजयका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दक्षिणके प्रसिद्ध दिगम्बर जैन तीर्थस्थल श्रवणबेल गोलाके विन्ध्यगिरि पर्वत ऊपर एक मन्दिरमें 'मल्लिषेण प्रशस्ति' नामका एक बहुत बडा शिला-लेख है। इस लेखमें समन्तभद्रके परिचायक कुछ प्राचीन पद्य उत्कीर्तित हैं जिनमेंसे निम्न लिखित पद्यमें उनके दिग्विजय-क्षेत्रका अच्छा उल्लेख किया हुआ है।—

> पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
> पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटम्
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

इस पद्यमें समन्तभद्र को स्वयं अपने मुखसे किसी एक राजाकी सभामें यह बात कहते हुए ब-ताये गये हैं कि, उन्होंने कौनसे कौनसे दे-शोंमें वाद-विवाद कर विजयपताका प्राप्त की है। पद्यका अर्थ इस प्रकार है:—

[1] आजकल जैसे निरक्षर भट्टाचार्य भी 'शास्त्रविशारद' और 'व्याख्यानवाचस्पति' अपने आपको बडे धाष्टर्य के साथ कहलाते फिरते हैं, वैसे धृष्ट उस जमानेमें नहीं होते थे। और यदि कोई मूर्ख वैसा करनेका साहस कर भी लेता तो तीसरे ही दिन लोग उसके दंड-कमंडलु छीन कर, लंगोटी-भर बहिष्कृत कर देते थे।

"पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर (पटना) में वादकी भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु देश, ढक्क (ढाका—बंगाल), कांचीपुर और वैदिश (भिलसेके आसपासका देश) में भेरी बजाई। और अब बडे विद्वान् वीरोंसे भरे हुए इस करहाटक (कराड, जिला सतारा) नगरको प्राप्त हुआ हूं। इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद करनेके लिये सिंहके समान इतस्ततः क्रीडा करता फिरता हूं।"

इस उल्लेखसे जाना जाता है कि समन्तभद्र स्वामी भारतके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण; सब ही खण्डोंमें घूमे थे और सब देशोंके विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ कर जैनधर्मकी विजय-दुन्दुभि बजवाई थी।

समन्तभद्र स्वामीकी कृतियोंके देखनेसे पता लगता है कि सिद्धसेनसूरिने अपनी कृतियोंमें जो बात संक्षेपसे सूचित की है, समन्तभद्रने उसीको व्यवस्थितरूपमें विस्तारके साथ वर्णन की है। सिद्धसेन अपने ग्रंथमें प्रमाण और नयके लक्षण स्थिर मात्र कर गये थे; समन्तभद्रने अपने ग्रंथमें उनके अनुसार मीमांसा कर उन्हें सफल, संगत और सिद्ध कर दिखाये। सिद्धसेनने आप्त-पुरुषके बारेमें संक्षिप्त और प्रकीर्ण विचार प्रदर्शित किये थे; समन्तभद्रने उन्हीं विचारोंको विस्तृत और क्रमबद्ध रूपमें ग्रथित कर संपूर्णरूपसे आप्तकी मीमांसा की। इस प्रकार, सिद्धसेनने *जैन धर्मके तत्त्वज्ञानको अंकुरित होनेमें जलसिंचनका काम किया; तो समन्तभद्रने* उसको स्वच्छंद और निर्भय रीतिसे ऊंचे बढनेमें कांटोंकी वाडका काम किया। इन्हीं दो महापुरुषोंके सुप्रयत्न और स्तुत्य जीवनसे जैनदर्शन सजीवन रहा और इन्हीं के बताये हुए मार्गका अवलंबन कर, पिछले समर्थ आचार्योंने (जिनमेंसे कितने एकके नाम हम इस लेखके प्रारंभहीमें लिख आये हैं) उसे खूब पल्लवित किया।

सिद्धसेनसूरिकी कृतियोंके समान समन्तभद्राचार्यकी कृतियोंका भी, पिछले आचार्योंने बडा गौरव किया। उनपर संक्षिप्त और विस्तृत ऐसे अनेक भाष्य-टीका आदि लिख कर उनकी खूब प्रतिष्ठा बढाई। समन्तभद्रकी कृतियोंमें सबसे अधिक मान 'आप्तमीमांसाको' मिला है। यह दिखनेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रंथ मालूम देता है, पर इसका गांभीर्य इतना है कि, इसपर सैंकडों-हजारों श्लोकोंवाले बडे बडे गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है।

सबसे पहले इसपर महान् तार्किक भट्ट अकलंक देवने अष्टशती (आठ सौ श्लोक परिमाणवाला) नामका अल्पाक्षर और बह्वर्थवाला गंभीर भाष्य लिखा। इस भाष्यके ऊपर प्रचण्ड विद्वान् आचार्य विद्यानन्दीने अष्टसहस्री (आठ हजार श्लोक प्रमाण) नामक विशद व्याख्या बनाई। समुच्चय संस्कृत साहित्यमें, भिन्न भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों-विचारोंकी आलोचना-प्रत्यालोचना करनेवाला यह एक महान् और प्रौढ ग्रंथरत्न है। इसमें ब्राह्मण और बौद्ध धर्मके सब ही सात्त्विक संप्रदायोंके तत्त्व-विचारोंका बडा मार्मिक और युक्तिपूर्ण पद्धतिसे खण्डन-मण्डन किया गया है। और अन्तमें जैन धर्मका स्याद्वाद-सिद्धान्त कितना प्रमाणयुक्त और अखण्डनीय है, यह विचार बडे गौरवके साथ सिद्ध किया गया है।

इस ग्रंथकी महत्ताका पता इतने ही से लग जायगा कि, श्वेताम्बर संप्रदायके महान् नैयायिक *और समर्थ ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजय जैसे पूर्ण सांप्रदायिक विद्वान्ने भी*, इस कृतिके गांभीर्यसे मुग्ध हो कर, इस पर, मूल ग्रंथके जितनी ही श्लोक प्रमाण (अर्थात् आठ हजार श्लोकवाली) और उतनी ही प्रौढ टिप्पणी लिखी है[१]। और इस

१ विद्वद्रत्नमाला (श्रीनाथूरामप्रेमी लिखित), पृ. १६९

१ आकलूज निवासी सेठ नाथारंगजी गान्धीने पं. वंशीधरजी शास्त्रीद्वारा संशोधित करवा कर जो अष्टसहस्री छपवाई है उसके साथ यदि यशोविजयजीकी यह टिप्पणी भी (टिप्पणी क्या टीकाकी भी टीका) छपवा दी जाती तो 'सोनेमें सुगन्ध' आ जाती। हमें इस बातका पता नहीं लगा कि शास्त्री वंशीधरजीने अपनी अष्टसहस्रीकी भूमिकामें इस महती टिप्पणीका नामोल्लेख तक क्यों नहीं किया। क्या उन्हें इसका अस्तित्व मालूम नहीं था अथवा अन्य किसी कारणसे ऐसा नहीं कर सके ?।

प्रकार 'अष्टसहस्री' को 'षोडशसहस्री' बना कर उसके महत्त्वको द्विगुणित कर दिया है। संपूर्ण जैन साहित्यमें यही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर, दूसरे संप्रदायके एक ऐसे विद्वान्ने व्याख्या लिखी है, जो योग्यतामें मूल कर्तासे रत्तीभर भी न्यून नहीं हो कर, सर्वथा सांप्रदायिक-भावका पूर्ण समर्थक था।

समन्तभद्र स्वामीके इन महान् टीकाकारोंके सिवा जिनसेन, वादीभसिंह, वीरनन्दी, शुभचन्द्राचार्य इत्यादि अन्यान्य सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध दिगम्बर ग्रंथकारोंने भी उनके कवित्व, वाग्मित्व और पाण्डित्यकी भूरि भूरि प्रशंसा और स्तुति की है। और सभीने उनको जैन धर्मका एक महान् संरक्षक और समर्थक रूपमें स्वीकृत किया है।

राष्ट्रकूट वंशीय प्रतापी नृपति महाराजा अमोघवर्षके परमगुरु और सुप्रसिद्ध महापुराण आदिपुराणके कर्ता महाकवि जिनसेनने अपने पुराणकी प्रस्तावनामें स्वामी समन्तभद्रकी प्रशंसा करते हुए निम्नगत उद्गार प्रकट किये हैं--

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥
कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥

हरिवंश महापुराणके प्रणेता जिनसेन (प्रथम) ने भी स्वकीय पुराणके प्रारंभमें समन्तभद्रके वचनको भगवान् महावीरके वचनतुल्य लिखा है। यथा-

जीवसिद्धि विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥

गद्यचिन्तामणि नामक सुप्रसिद्ध गद्यकाव्यके रचयिता महाकवि वादीभसिंहने समन्तभद्रके वचनस्वरूप वज्रपातके कारण परवादीरूप करोडों पर्वत चूरचूर हो गये बतलाये हैं। यथा--

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः
समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्तु वाग्वज्रनिपातपाटित-
प्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः॥

अध्यात्मज्ञानके समुद्रस्वरूप ज्ञानार्णव ग्रन्थके निर्माता आत्मज्ञानी शुभचन्द्रने समन्तभद्रके कृतिस्वरूप सूर्यके सम्मुख अपनी कृतिको खद्योततुल्य उपहासपात्र लिख कर समन्तभद्रके वचनोंकी महत्ता प्रकट की है --

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥

चन्द्रप्रभचरितके कर्ता महाकवि वीरनन्दीने, मोतियोंके बने हुए हारसे कंठको विभूषित करना दुर्लभ नहीं है, परन्तु समन्तभद्रके वचनरूप मुक्ताफलसे गुंथे हुए काव्यस्वरूप हारसे कंठको अलंकृत करना परम दुर्लभ बतलाया है--

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका
नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा
समन्तभद्रादिभवा च भारती॥

इसी प्रकार और भी अनेकानेक ग्रन्थकारोंने विविध प्रकारसे समन्तभद्र स्वामीकी स्तवना और प्रशंसा की है। इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो।

* * *

दिगम्बर विद्वानोंने तो समन्तभद्र स्वामीको इस प्रकार आपना प्रमाणभूत पुरुष माना ही है परंतु श्वेतांबर विद्वानोंने भी उनकी प्रामाणिकाप्रगण्यताका खुले दिलसे स्वीकार किया है। हरिभद्र, वादी देव, हेमचन्द्र और मलयगिरि जैसे श्वेताम्बरशिरोमणि सूरियोंने भी प्रसंगोपात्त उनकी कृतिका उल्लेख या अवतरण कर उन्हें एक प्रमाणभूत पुरुषकी कोटिमें स्थान दिया है। हरिभद्रसूरिने उनको 'वादिमुख्य' के महत्त्व-सूचक विशेषणसे सम्बोधित किया है और अनेकान्तजयपताकामें निम्न लिखित दो श्लोक इनके नामसे उद्धृत किये हैं। यथा--

आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः[1]—

' बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।
यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥
न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।
शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवत्* ' ॥

अनेकान्तजयपताका पृ. ४१ (अमदाबाद) ।

आचार्यवर्य हेमचंद्रने अपने सिद्धहैमशब्दानुशासन नामक व्याकरणके प्रारंभमें, दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें ' स्तुतिकारोऽप्याह ' ऐसा उल्लेख कर निम्न गत स्तुतिपद्य उद्धृत किया है जो इन्हीं समन्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ है और वृहत्स्वयम्भू स्तोत्रमें उपलब्ध होता है । पद्य यह है—

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे
रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥

यही पद्य मलयगिरिसूरिने आवश्यकसूत्रकी अपनी अपूर्ण टीकामें, ' आद्यस्तुतिकारोऽप्याह '— आद्य—प्रथम स्तुतिकार भी कहते हैं-ऐसा उल्लेख कर, उद्धृत किया है । इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि ये प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे इतना ही नहीं परंतु आद्य—सबसे पहले होने वाले—स्तुतिकारका मान प्राप्त थे। हरिभद्रादि *श्वेताम्बराग्रणी आचार्योंने सिद्धसेन दिवाकरको भी वादिमुख्य* और स्तुतिकारके विशेषणोंसे उल्लिखित किया है; और उपर्युक्त प्रमाणानुसार समन्तभद्र स्वामिको भी इन्हीं विशेषणोंसे अलंकृत किया है । इससे यही अनुमान हो सकता है कि श्वेताम्बरोंकी दृष्टिमें सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों समान पूज्य और समान सत्कारास्पद हैं । इधर, सिद्धसेन सूरिको भी जिस प्रकार श्वेताम्बराचार्योंने अपना श्रद्धास्पद और प्रमाणभूत पुरुष माना है, वैसे, जैसा कि हम ऊपर सप्रमाण लिख आये हैं, दिगम्बराचार्योंने भी उन्हें अपना स्तुतिपात्र और शिरसावंद्य माना है; अतः दिगम्बरोंकी दृष्टिमें भी सिद्धसेन और समन्तभद्र दोनों समान गुणगणालंकृत हैं । इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि, समग्र जैनसमाज और जैन साहित्यमें इन दोनों महापुरुषोंका ज्ञानप्रभान्वित, सत्त्वपरिपूर्ण और निर्ग्रन्थगणवन्द्य सिंहासन, समान स्थान और समान रूपमें संस्थापित है ।



---

[1] ' समन्तभद्र ' यह नाम टीकामें लिखा है, जो स्वयं ग्रंथकार ही की बनाई हुई है । मूलमें केवल ' वादिमुख्य ' विशेषण ही का उल्लेख है ।

* शान्त्याचार्य विरचित प्रमाणकलिका और वादी देवसूरि रचित स्याद्वादरत्नाकरमें भी ये दोनों श्लोक समन्तभद्रके नामसे अवतारित हैं । जहां तक हम जान सके, समन्तभद्रकी उपलब्ध कृतियोंमेंसे किसीमें भी ये श्लोक नहीं पाये जाते । इस लिये, यह स्पष्ट मालूम पडता है कि स्वामीकी केवल इतनी ही कृतियें नहीं है जो अभीतक जानी गई हैं । इनके सिवा, और भी कृतियें होनी चाहिए जो अद्यापि अज्ञात या अप्राप्य हैं ।

॥ अर्हम् ॥

हरिभद्रसूरिका समय-निर्णय।

जैन धर्मके श्वेताम्बर संप्रदायमें हरिभद्र नामके एक बहुत प्रसिद्ध और महान् विद्वान् आचार्य हो गये हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषामें धर्म-विचार और दर्शनिक विषयके अनेक उत्तमोत्तम और गभीरतत्त्व-प्रतिपादक ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रंथोंमें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि सब ही दर्शनों और मतोंकी उन्होंने अनेक तरहसे आलोचना—प्रत्यालोचना की है। इस प्रकारके भिन्न भिन्न मतोंके सिद्धान्तोंकी विवेचना करते समय, अपने विरोधिमतवाले विचारकोंका भी गौरवपूर्वक नामोल्लेख करनेवाले और समभावपूर्वक मृदु और मधुर शब्दों द्वारा विचार-मीमांसा करनेवाले ऐसे जो कोई विद्वान् भारतीय साहित्यके इतिहासमें उल्लेख किये जाने योग्य हों तो उनमें हरिभद्रका नाम सबसे पहले लिखने योग्य है।

यों तो जैन इतिहासके पुरातन साधनोंको देखनेसे, उनमें हरिभद्र नामके अनेक आचार्योंके हो जानेका पता मिलता है; परंतु जिनको उद्देश्य करके हमने इस निबन्धके लिखनेका प्रारंभ किया है, उन्हें सबसे पहले होनेवाले—अर्थात् प्रथम हरिभद्र समझना चाहिए। हमारे आजके इस लेखका उद्देश्य इन्हीं प्रथम हरिभद्र सूरिके अस्तित्व-समयका विचार और निर्णय करना है।

हरिभद्र-सूरिका प्रादुर्भाव जैन इतिहासमें बडे महत्त्वका स्थान रखता है। जैन धर्मके—जिसमें मुख्य.कर श्वेताम्बर संप्रदायके—उत्तरकालीन (आधुनिक) स्वरूपके संगठन-कार्यमें उनके जीवनने बहुत बडा भाग लिया है। उत्तरकालीन जैन साहित्यके इतिहासमें ये प्रथम लेखक माने जाने योग्य हैं, और जैन समाजके इतिहासमें, नवीन संगठनके एक प्रधान व्यवस्थापक कहलाने योग्य हैं। इस प्रकार, ये जैनधर्मके पूर्वकालीन और उत्तरकालीन इतिहासके मध्यवर्ती सीमास्तंभ समान हैं। उनके समयका यथार्थ निर्णय हो जाने पर, समुच्चय जैन इतिहासके सूत्र-पुंजकी एक बहुत बडी गांठ सुलझ सकेगी। केवल जैन साहित्य और समाजके इतिहास ही की दृष्टिसे हरिभद्रके जीवन-समयके निर्णयकी उपयोगिता है, यह बात नहीं है; परंतु भारतवर्षके कई जैनेतर धर्मधुरन्धर आचार्यों तथा गीर्वाणगिराके कई प्रतिष्ठित लेखकोंके समय-विचारकी दृष्टिसे भी उसकी बहुत उपयोगिता है।

जैसा कि हमने प्रारंभ ही में सूचित किया है, हरिभद्र एक बहुत बडे दार्शनिक विद्वान् थे और इस विषयके उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रंथोंमें उन्होंने भारतके वैदिक, बौद्ध और चार्वाक आदि सभी मतोंके पुरातन और प्रसिद्ध प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताओंके तात्त्विक विचारोंकी जगह जगह आलोचना प्रत्यालोचना की है। इस कारण, हरिभद्रके समय-निर्णयसे उनके पूर्ववर्ती उन अन्य दार्शनिकोंके समयके बारेमें भी बहुतसी ज्ञातव्य और निर्णायक बातें मिल सकती हैं; और आजतक जो कितनीएक परस्पर विरुद्ध ऐसी आनुमानिक बातें पुरातत्त्वज्ञोंके मनको शंकाशील और चिन्तापूर्ण बनाए रहीं हैं, उनके लिये, एक और नई दिशामें प्रयत्न कर सन्दिग्ध सिद्धान्तोंके पुनर्विचारका नया मार्ग मिल सकता है।

युरोपियन स्कॉलरोंमेंसे शायद सबसे पहले प्रो. पिटर्सनने अपनी ४ थी रिपोर्टमें[२] 'उपमितिभव-

१ देखो, प्रोफेसर पिटर्सन साहबकी, बंबई इलाखेमें हस्तलिखित पुस्तकोंके शोधके बारेमें लिखी हुई, ४ थी रिपोर्ट, पृष्ठ (परिशिष्ट), १२५; तथा पं. हरगोविन्ददास लिखित; संस्कृत 'हरिभद्रसूरिचरित्रम्,' पृष्ठ ११।

२ देखो, रिपोर्ट, पृष्ठ ५; तथा परिशिष्ट (Index of Authors) पृष्ठ ७१.

प्रपञ्चा कथा ' नामक धार्मिक नीतिके स्वरूपको अनुपम रीतिसे प्रदर्शित करनेवाले संस्कृत साहित्यके एक सर्वोत्तम ग्रंथके रचयिता जैन साधु सिद्धर्षिका परिचय लिखते हुए, साथमें इन हरिभद्र सूरिके समयका भी उल्लेख किया था। इसके बाद डॉ. क्लाट (Klatt), प्रो० ल्युमन् (Leumann) जेकोबी (Jacobi), बेलिनी (Ballini) और मिरोनी (Mironov) आदि अन्य विद्वानोंने भी प्रसंगवशात् अपने अपने लेखोंमें इस विषयका यथासमय थोडा बहुत विचार किया हुआ दिखाई देता है। परंतु इन सबमें जैनधर्मके विशिष्ट अभ्यासी डॉ. जेकोबीका परिश्रम विशेष उल्लेखके योग्य है। उन्हों ही ने सबसे पहले हरिभद्रके समयका निर्देश करनेवाले पुरातन कथनके सत्य होनेमें सन्देह प्रकट किया था। सन् १९०५ में भावनगर (हाल बाम्बई) निवासी जैन गृहस्थ मि. एम्. जी. कापडिया, सोलीसिटर, के कुछ प्रश्न करने पर उक्त डॉ. साहबने, इस विषयमें फिर विशेष ऊहापोह करना शुरू किया, और अन्तमें अपने शोधके परिणाममें जो कुछ निष्कर्ष मालूम हुआ, उसको, उन्होंने 'बिब्लीओथिका इंडिका' में प्रकाशित उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी प्रस्तावनामें लिपिबद्ध कर प्रकट किया। इसी बीचमें डॉ. सतीशचंद्र विद्याभूषण महाशयकी 'मध्यकालीन भारतीय नामक उपयुक्त पुस्तक प्रकट हुई। इस पुस्तकमें अन्यान्य प्रसिद्ध जैन नैयायिकोंके समान हरिभद्रके समयके विषयमें भी विद्याभूषणजीने अपना विचार प्रदर्शित किया है। परंतु १२ वीं शताब्दीमें होने वाले इसी नामके एक दूसरे आचार्यके साथ इनकी कुछ कृतियोंका सम्बन्ध लगा कर इस विषयमें कुछ और उलटी गडबड फैलानेकी चेष्टाके सिवा अन्य अधिक वे कुछ नहीं कर सके। प्रस्तुत हरिभद्र के उन प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथोंका, जिनका निर्देश आगे पर किया जायगा, नामोल्लेख तक भी विद्याभूषणजी अपनी इस पुस्तकमें नहीं कर सके। इससे यह ज्ञात होता है कि उनको हरिभद्रके विशाल साहित्यका कुछ भी हाल मालूम नहीं हो सका। तदनन्तर रशियन विद्वान् डॉ. मीरोनो ने भी अपने 'दिग्नागका न्यायप्रवेश और उसपर हरिभद्र की टीका' इस शीर्षक लेख में, (जो बनारसके जैनशासन नामक एक सामयिक पत्रके विशेषांकमें छपा है) प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्धमें कुछ मीमांसा की है।

यद्यपि डॉ. जेकोबीने, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, इस विषयमें कुछ विशेष ऊहपोह कर महत्त्वके मुद्दोंका विचार किया है, तथापि हरिभद्रके सब ही

लिये प्रथम हम यहां पर, उनके कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध ग्रंथोंकी नामावली दे देते हैं। हरिभद्रसूरिने अपने जीवनमें जैन साहित्यको जितना पुष्ट किया है उतना अन्य किसीने नहीं किया। उनके बनाये हुए ग्रंथोंकी संख्या बहुत ही बडी है। पूर्वपरंपराके कथनानुसार, वे १४०० या १४४० अथवा १४४४ ग्रंथोंके प्रणेता बतलाये जाते हैं।[८] यह संख्या हमारे जैसे आजकलके मनुष्योंको बहुत ही अधिक और अतएव अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम देती है; परंतु साथमें यह बात भी अवश्य खयालमें रखने लायक है, कि इस संख्याके सूचक उल्लेख ८ सौ ९ सौ जितने वर्षोंसे भी अधिक पुराणे मिलते हैं। इस संख्याका अर्थ चाहे जैसा हो; परंतु इतनी बात तो पूर्ण सत्य है कि वर्तमानमें जितने ग्रंथ जैन साहित्यमें हरिभद्रके नामसे प्रचलित और प्रसिद्ध हैं, उतने अन्य किसीके नामसे नहीं। और यही एक बात उनके अपारमित ग्रंथकर्तृत्वकी पुष्टिमें स्पष्ट प्रमाण-स्वरूप है। वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाले उनके ग्रंथोंमेंसे विशेष प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रौढ ग्रंथोंके नाम इस प्रकार हैं:—[९]

१ अनेकान्तवाद प्रवेश।
२ अनेकान्तजयपताका स्वोपज्ञवृत्ति सहित।
३ अनुयोगद्वार सूत्रवृत्ति।
४ अष्टकप्रकरण।
५ आवश्यकसूत्रबृहद्वृत्ति।
६ उपदेशपदप्रकरण।
७ दशवैकालिकसूत्रवृत्ति।
८ दिग्नागकृत न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति।
९ धर्मबिन्दुप्रकरण।
१० धर्मसंग्रहणीप्रकरण।
११ नन्दीसूत्रलघुवृत्ति।
१२ पंचाशकप्रकरण।
१३ पंचवस्तुप्रकरणटीका।
१४ पंचसूत्रप्रकरणटीका।
१५ प्रज्ञापनासूत्रप्रदेशव्याख्या।
१६ योगदृष्टिसमुच्चय।
१७ योगबिन्दु।
१८ ललितविस्तरा नामक चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति।
१९ लोकतत्त्वनिर्णय।
२० विंशतिकाप्रकरण।
२१ षड्दर्शनसमुच्चय।
२२ शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्वकृतव्याख्यासहित।
२३ श्रावकप्रज्ञप्ति।
२४ समराइच्चकहा।
२५ सम्बोधप्रकरण।
२६ सम्बोधसप्ततिकाप्रकरण।

हरिभद्रसूरिके बनाये हुए ग्रंथोंकी संख्या इतनी विशाल होने पर भी, उसमें कहीं पर, उनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी विशेष बात लिखी हुई नहीं मिलती। भारतके अन्यान्य प्रसिद्ध विद्वानोंकी तरह उन्होंने भी अपने ग्रंथोंमें, अपने जीवनसंबंधी किसी प्रकारका उल्लेख नहीं किया। लिखनेमें मात्र अपने संप्रदायका, गच्छका, गुरुका और एक विदुषी धर्मजननी आर्याका नाम कई जगह लिखा है। यह भी एक सौभाग्यकी बात है। क्यों कि दूसरे ऐसे अनेक विद्वानोंके बारेमें तो इतना भी उल्लेख नहीं मिलता। हरिभद्रके किये हुए इन गुर्वादिके नामोंके उल्लेखानुसार, उनका संप्रदाय श्वेताम्बर था। गच्छका नाम विद्याधर, गच्छपति आचार्यका नाम जिनभट, दीक्षाप्रदायक गुरुका नाम जिनदत्त, और धर्मजननी साध्वीका नाम याकिनी महत्तरा था। इन सब बातोंका उल्लेख, उन्होंने एक ही जगह, आवश्यकसूत्रकी टीकाके अंतमें इस प्रकार किया है:—

" समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका। कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य[१०]। "

[८] इस विषयके उल्लेखोंके लिये देखो पं. श्रीहरगोविन्ददास लिखित संस्कृत 'हरिभद्रसूरिचरित्रम्।' पृष्ठ १६-२०।

[९] हरिभद्रसूरिके उपलब्ध सब ही ग्रंथोंके नामसंग्रहके लिये, देखो, जैन ग्रंथावली, पृ. ..९८–१०३; तथा उक्त पंडित लिखित हरिभद्रसूरिचरित्र, पृ. २०–३०।

[१०] देखो, पिटर्सन साहबकी ३ री रिपोर्ट, पृष्ठ २०२; तथा ४ थी रिपोर्ट, परिशिष्ट, पृष्ठ ८७। वेबर साहबकी बर्लिनकी रिपोर्ट, पुस्तक २, पृष्ठ ७८६।

[टिप्पणी—हरिभद्रसूरिके गुरुके नामके सम्बन्धमें डॉ. जेकोबी और अन्य कई विद्वानोंको एक खास भ्रम हो रहा है। वे हरिभद्रके गुरुका नाम जिनभद्र या जिनभट समझते है। डॉ. जेकोबीने, जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटीके, ४० वें जर्नल (पुस्तक) में, पृ. ९४ पर, यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि, आचाराङ्गसूत्रकी टीका बनानेवाले आचार्य शीलाङ्क और हरिभद्र दोनों गुरुबन्धु थे—एक ही गुरुके शिष्य थे। क्यों कि दोनोंके गुरुका नाम जिनभद्र या जिनभट है। और इसी लिये वे दोनों समकालीन भी थे। परंतु उनका यह कथन ठीक नहीं है। क्यों कि इस आवश्यक सूत्रकी टीकाके अन्तिम वाक्यसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि हरिभद्रके दीक्षाप्रदायक गुरु तो विद्याधर गच्छीय आचार्य जिनदत्त थे। जिनभट सूरि या तो हरिभद्रके विद्यागुरु होंगे या अन्य किसी कारणसे उन्हें वे अपने विशेष पूज्य समझते होंगे। इसी लिये, इस उपर्युक्त वाक्यमें उन्होंने प्रथम जिनभटका नामोल्लेख किया है और अपनेको उनका आज्ञाधारक (–निगदानुसारिणो) बतलाया है। इस प्रकार जिनभट और जिनदत्त दोनों हरिभद्रके समान पूज्य होनेके कारण कहीं तो उन्होंने जिनदत्त सूरिका (जैसा कि समराइच्चकहाके अंतमें) उल्लेख किया है और कहीं जिनभट सूरिका। (देखो, प्रज्ञापनासूत्रवृत्तिका आन्तिम पद्य; किल्होर्न साहबकी रिपोर्ट, पृ. ३१)। प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथोंमें यद्यपि हरिभद्रके गुरुका नाम मात्र जिनभट ही लिखा हुआ मिलता है, परंतु उनके कथनकी अपेक्षा साक्षात् ग्रंथकारका यह उपर्युक्त कथन विशेष प्रामाणिक होना चाहिए। डॉ. जेकोबीने जो उनके गुरुका नाम जिनभद्र बतलाया है वह इस उल्लेखसे भ्रान्तिमूलक सिद्ध हो जाता है। जिनभट और जिनभद्र शब्दके बोलने और लिखनेमें प्रायः समानता ही होनेके कारण, इस भ्रान्तिका होना बहुत स्वाभाविक है। रही बात, शीलाङ्क और हरिभद्रके समकालीन होनेकी, सो उसका निर्णय तो इस निबन्धका अगला भाग पूर्ण पढ लेने पर अपने आप हो जायगा।]

आवश्यकसूत्रकी टीकाके उपर्युद्धृत अंतिम उल्लेखसे अधिक कोई बात हरिभद्रने अपने किसी ग्रंथमें नहीं लिखी। इस लिये उनके जीवनके बारेमें इससे अधिक कोई बात, उन्हींके शब्दोंमें मिल सके, ऐसी आशा रखनी तो सर्वथा निरर्थक है। परंतु पिछले कई ग्रंथोंमें—चाहे किम्वदन्ती ही के रूपमें क्यों न हो—उनके विषयमें कई प्रकारकी भिन्न भिन्न बातें लिखी हुई अवश्य मिलती हैं। हमारे इस लेखका उद्देश्य हरिभद्रके चरितवर्णन करनेका नहीं है, इस लिये, इस बारेमें हम कोई विशेष बात नहीं लिखना चाहते। परंतु, पाठकोंके सूचनार्थ, मुख्य कर जिन जिन ग्रंथोंमें ह ने हरिभद्रके जीवनसम्बन्धी छोटे बडे उल्लेख देखे हैं उनके नाम यहां प निर्दिष्ट किये देते हैं।

इन ग्रंथोंमें सबसे विशेष उल्लेख योग्य प्रभाचन्द्र रचित प्रभावक चरित्र है। यह ग्रंथ विक्रमसंवत् १३३ में बना है। इस ग्रंथके ९ वें प्रबन्धमें, उत्तम प्रकारकी काव्यशैलीमें, विस्तारपूर्वक हरिभद्रका चरित वर्णित किया हुआ है (–इस चरितमें कही गई बातें कहां तक सत्य हैं उसके बारेमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय यहां पर नहीं दे सकते)। इस ग्रंथके बाद राजशेखरसूरिके (वि. सं. १४०५ में) बनाये हुए प्रबन्धकोष नामक ऐतिहासिक और किम्वदन्ती स्वरूप कितनेएक प्रबन्धोंके संग्रहात्मक ग्रंथमें भी इनके विषयमें कितनाएक वर्णन किया हुआ मिलता है। हरिभद्रसूरिके जीवनसम्बन्धमें कुछ विस्तारके साथ बातें इन्हीं दो पुस्तकोंमें लिखी हुई मिलती हैं। संक्षेपमें तो कुछ उल्लेख, इन ग्रंथोंके पूर्व बने हुए ग्रंथोंमें भी कहीं कहीं मिल आते हैं। ऐसे ग्रंथोंमें, काल-क्रमकी दृष्टिसे, प्रथम ग्रन्थ मुनिचंद्रसूरिरचित उपदेशपद (जो हरिभद्र ही का बनाया हुआ एक प्रकरण ग्रंथ है) की टीका[11] है। इस टीकाके अंतमें, बहुत ही संक्षेपमें,–परंतु प्रभावक चरित्रकारने अपने प्रबन्धमें जितना चरित वर्णित किया है उसका बहुत कुछ सार बतलानेवाला–हरिभद्रके जीवनका सूचन किया है। दूसरा ग्रंथ, भद्रेश्वरसूरिका बनाया हुआ प्राकृतभाषामय कथावली नामक है[12]। इसमें चौवीस ही तीर्-

११ यह टीका वि. सं. ११७४ में समाप्त हुई थी।

१२ यह ग्रंथ कब बना इसका कोई उल्लेख नहीं मिला। रचनाशैली और कर्ताके नामसे अनुमान होता है कि १२ वीं शताब्दीमें इसका प्रणयन हुआ होगा। इस शताब्दीमें भद्रेश्वर नामके दो तीन विद्वानोंके हो जानेके उल्लेख मिलते हैं।

र्थंकरोंके चरित्रोंके साथ अंतमें भद्रबाहु, वज्रस्वामी सिद्धसेन आदि आचार्योंकी कथायें भी लिखी हुई हैं, जिनमें अंतमें हरिभद्रकी जीवनकथा भी सम्मिलित है। इसी तरह थोडासा हाल गणधरसार्द्ध-शतककी सुमतिगणीकी बनाई हुई बृहत् टीकामें भी उल्लिखित है।[13]

इन सब ग्रंथोंमें लिखे हुए वर्णनोंपरसे जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि हरिभद्र पूर्वावस्थामें एक बडे विद्वान् और वैदिक ब्राह्मण थे। चित्रकूट (मेवाडकी इतिहास प्रसिद्ध वीरभूमि चित्ताड गढ) इनका निवास-स्थान था। याकिनी महत्तरा नामक एक विदुषी जैन आर्या (श्रमणी = साध्वी) के समागमसे उनको जैनधर्मपर श्रद्धा हो गई थी और उसी साध्वीके उपदेशानुसार उन्होंने जैनशास्त्र-प्रतिपादित-संन्यासधर्म-श्रमणव्रतका स्वीकार कर लिया था। इस संन्यासावस्थामें जनसमाजको निरंतर सद्बोध देनेके सिवा उन्होंने अपना समग्र जीवन सतत साहित्यसेवामें व्यतीत किया था। धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयके अनेकानेक उत्तमोत्तम मौलिक ग्रंथ और ग्रंथविवरण लिखकर उन्होंने जैनसाहित्यका-और उसके द्वारा समुच्चय भारतीय साहित्यका भी-बडा भारी उपकार किया है। जैनधर्मके पवित्र पुस्तक जो आगम कहे जाते हैं, वे प्राकृत भाषामें बने हुए होनेके कारण विद्वानोंको और साथमें अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको भी अल्प उपकारी हो रहे थे इस लिये उन पर सरल संस्कृत टीकायें लिख कर उन्हें सबके लिये सुबोध बना देनेके पुण्यकार्यका प्रारंभ इन्हीं महात्माने किया था। इनके पहले आगम ग्रंथों पर शायद संस्कृत टीकायें नहीं लिखी गई थीं। उस समय तक प्राकृतभाषामय चूर्णियें ही लिखी जाती थीं। निदान वर्तमानमें तो इनके पूर्वकी किसी सूत्रकी कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है। अस्तु।

इनके बनाये हुए आध्यात्मिक और तात्त्विक ग्रंथोंका स्वाध्याय करनेसे मालूम पडता है कि, ये प्रकृतिसे बडे सरल, आकृतिसे बडे सौम्य, और वृत्तिसे बडे उदार थे। इनका स्वभाव सर्वथा गुणानुरागी था। जैनधर्म ऊपर अनन्य श्रद्धा रखने पर, और इस धर्मके एक महान् समर्थक होने पर भी, इनका हृदय निष्पक्षपातपूर्ण था। सत्यका आदर करनेमें ये सदैव तत्पर रहते थे। धर्म और तत्त्वके विचारोंका ऊहापोह करते समय ये अपनी मध्यस्थता और गुणानुरागिताकी किञ्चित् भी उपेक्षा नहीं करते थे। जिस किसी भी धर्म या संप्रदायका जो कोई भी विचार इनकी बुद्धिमें सत्य प्रतीत होता था उसे ये तुरन्त स्वीकार कर लेते थे। केवल धर्म-भेद या संप्रदाय-भेद ही के कारण ये किसी पर कटाक्ष नहीं करते थे-जैसे कि भारतके अन्यान्य बहुतसे प्रसिद्ध आचार्यों और दार्शनिकोंने किये हैं। बुद्धदेव, कपिल, व्यास, पतञ्जलि, आदि विभिन्न धर्मप्रवर्तकों और मतपोषकोंका उल्लेख करते समय इन्होंने उनके लिये, भगवान्, महामुनि, महर्षि, इत्यादि प्रकारके बडे गौरवसूचक विशेषणोंका प्रयोग किया है— जो बात हमें इस प्रकारके दूसरे ग्रन्थकारोंकी लेखनशैलीमें बहुत कमदृष्टिगोचर होती है। कहनेका तात्पर्य यही है कि ये एक बडे उदारचेता साधु पुरुष थे। सत्यके उपासक थे। भारतवर्षके समुचित धर्माचार्योंके पुण्यश्लोक इतिहासमें ये एक उच्च श्रेणिमें विराजमान होने योग्य संविग्नहृदयी जैनाचार्य थे।

हरिभद्रके जीवनके विषयमें उपर्युक्त थोडीसी प्रासंगिक बातें लिख कर, अब हम, प्रस्तुत निबन्धके मुख्य विषयकी विवेचना करना चाहते हैं।

हरिभद्रसूरिके जीवन-वृत्तान्तके विषयमें अल्प-स्वल्प उल्लेख करनेवाले जिन ग्रंथोंके नाम हमने ऊपर सूचित किये हैं, उनमें इस बातका कोई उल्लेख या सूचन नहीं है कि ये सूरि किस समयमें हुए हैं। इस लिये, प्रस्तुत विचारविवेचनमें उन ग्रंथोंसे हमें किसी प्रकार की साक्षात् सहायता के मिलनेकी तो बिल्कुल आशा नहीं है। यदि, उन ग्रंथोंमें जीवनवृत्तांतके साथ हरिभद्रके समयका सूचक भी कोई उल्लेख किया हुआ होता, तो उनके दिये हुए वर्णनोंमें कुछ और विशेष महत्ता और विश्वसनीयता आ जाती। परंतु, वास्तवमें, उन

१३ इस वृत्तिकी रचना-समाप्ति वि. सं. १२९५ में हुई थी।

ग्रंथकारोंका उद्देश्य कोई सन्-संवत्वार अन्वेषणात्मक इतिहास लिखनेका नहीं था। उनका उद्देश्य तो मात्र अपने धर्मके समर्थक और प्रभावक आचार्यों तथा विद्वानोंने, धर्मकी प्रभावनाके लिये, किस प्रकारके लोगोंको चमत्कार बतलाये अथवा किस प्रकार परवादियोंके पाण्डित्यका पराभव किया; इत्यादि प्रकारकी जो जनमनरंजन बातें पूर्वपरंपरासे कंठस्थ चली आती थीं, उनको पुस्तकारूढ कर शाश्वत बनानेका; और इस प्रकारसे सर्वसाधारणमें धर्मप्रभावकी महत्ता प्रदर्शित करनेका था। हां, इस उद्देश्यकी दृष्टिसे प्रबन्धादि लिखते समय प्रबन्धलेखकको यदि प्रबन्धनायकके विषयमें किसी विशेष घटनासूचक संवतादिका कहींसे उल्लेख जो प्राप्त हो जाता था, तो उसे वह अपने निबन्धमें कभी कभी ग्रथित भी कर देता था। परंतु, जिस अतुरताके साथ आज कल हम सन् संवतादिकी प्राप्तिके लिये उत्सुक रहते हैं और उसके अन्वेषणके लिये दीर्घ परिश्रम करते रहते हैं, वैसी प्रकृति भारतवर्षके पुराणे प्रबन्धलेखकोंकी नहीं दिखाई देती।

यद्यपि हमारा यह उपर्युक्त कथन भारतवासी विद्वानोंके लिये सर्वसाधारण है; तथापि, हमें लिखते हुए एक प्रकारसे हर्ष होता है कि, जैनधर्मके जुने विद्वानोंमें कुछ ऐसी प्रकृतिवाले विद्वान् भी हो गये हैं, जो इस कथनके अपवाद-स्वरूप हैं। इन विद्वानोंके बनाए हुए निबन्धोंमेंसे दो चार ऐसे निबन्ध भी जैनसाहित्यकी शोभा बढा रहे हैं, जिन्हें हम निस्सन्देह रीतिसे—उनके कर्ताके समयमें उपलब्ध हो सकने वाली तद्विषयक साधन-सामग्रीकी अपेक्षासे—आधुनिक अन्वेपणात्मक पद्धतिसे लिखे जानेका सम्मान दे सकते हैं"। यह बात अलग है कि, कदाचित् इन प्रबन्धोंमेंका ऐतिहासिक निष्कर्ष, हमारी आधुनिक अन्वेपणाके निष्कर्षके मुकाबले, किसी अंशमें, सत्य नहीं प्रतीत हो (और ऐसा निर्विवाद सत्य तो आज कल भी सभी ऐतिहासिक सिद्धान्तोंमें कहां स्वीकृत है) । क्यों कि हमारी आधुनिक साधन-सामग्री और उस पुराणे जमानेकी साधन-सामग्रीमें आकाश-पाताल जितना अन्तर है। अस्तु।

यद्यपि, उक्त कथनानुसार, हरिभद्रके जीवन-वृत्तान्तका सूचन करनेवाले ग्रंथोंमें, उनके समयका कोई निर्देश किया हुआ नहीं मिलता; तथापि जैन गुरुपरंपरा-सम्बन्धी जो कितनेएक कालगणनात्मक प्रबन्धादि उपलब्ध हैं, उनमेंसे किसी किसीमें, इनके समयका उल्लेख किया हुआ अवश्य विद्यमान है। इस प्रकारके कालगणनात्मक प्रबन्धोंमें, प्रथम और प्रधानतया जो प्रबन्ध उल्लेखयोग्य है, वह अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुङ्गका बनाया हुआ विचारश्रेणि नामक है। मेरुतुङ्गाचार्यने अपना प्रबन्धचिन्तामणि नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ वि. सं. १३६० में समाप्त किया था। प्रस्तुत विचारश्रेणि-

१४ मेरुतुङ्गाचार्य विरचित–विचारश्रेणि; किसी अज्ञातनामा विद्वान्की बनाई हुई—गुर्वावलीविशुद्धि; धर्मसागरोपाध्यायकृत—प्रवचनपरीक्षान्तर्गत कुछ भाग; समयसुन्दररचित—सामाचारीप्रकरणगत कुछ विभाग; इत्यादि प्रकारके प्रबन्ध हमारे इस कथनके उदाहरण स्वरूप हैं।

१५ यह प्रबन्ध पुरातत्त्वज्ञोंको सुपरिचित है। महावीर निर्वाण और विक्रम संवत् के विषयकी आलोचनामें इतिहासज्ञोंको मुख्य कर यही प्रबन्ध विषयभूत हो रहा है (देखो, डॉ. जेकोबीकी कल्पसूत्रकी प्रस्तावना; और, जार्लचा पेंटियरका महावीर समयनिर्णय नामक निबन्ध; इण्डियन एंटिक्वेरी, पु. ४३)। शायद, सबसे पहले, प्रसिद्ध शोधक डॉ. भाऊ दाजीने, सन १८७२ में, बम्बईकी रायल एशियाटिक सोसाइटिकी शाखाके सभ्योंके सम्मुख इस प्रबन्ध पर एक निबन्ध पढा था। (यह निबन्ध, इसी सोसायटिके वृत्तपत्र (जर्नल) के ९ वें भागमें, पृ. १४७–१५७ पर प्रकट हुआ है) डॉ. बुल्हरने इसको इंग्रेजी नाम " Catena of Enquiries " दिया है (–इं. ऐ. पु. २; पृ. ३६२) । आश्चर्य है कि यह ऐसा विवेचनीय प्रबन्ध अभी तक मूलरूपमें कहीं प्रकट नहीं हुआ। पाठकोंको जान कर खुशी होगी कि थोडे ही समयमें हम इसे छपवा कर प्रकट करना चाहते हैं।

१६ यह ग्रंथ गुजराती भाषांतर सहित, अमदाबादके रामचंद्र दीनानाथ शास्त्रीने, सन १८८८ में छपवा कर प्रकट किया है। इसका इंग्रेजी अनुवाद भी बंगालकी रायल एशियाटिक सोसाइटिने प्रकट किया है।

में वि. सं. १३७१ में, समरासाहने[17] शत्रुंजयका जो उद्धार किया था, उसका उल्लेख किया हुआ है। इस लिये विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके पिछले पादमें इस प्रबन्धकी रचना हुई, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रबन्धमें एक पुराणी प्राकृत गाथा उद्धृत की हुई है, जिसमें लिखा है कि, विक्रम संवत् ५८५ में हरिभद्रसूरिका स्वर्गवास हुआ था। गाथा इस प्रकार है—

पंचसए पणसीए[18] विक्कम कालाउ झत्ति अत्थमिओ ।
हरिभद्दसूरि-सूरो भवियाणं दिसउ कल्लाणं ॥

अर्थात्—' विक्रम संवत् ५८५ में अस्त (स्वर्गस्थ) होने वाले हरिभद्रसूरिरूप सूर्य भव्यजनोंको कल्याण प्रदान करें । '

यहां पर यह बात खास ध्यानमें रख लेनेकी है कि यह गाथा मेरुतुंगने 'उक्तं च—' कह कर अपने प्रबन्धमें उद्धृत की है—नई नहीं बनाई है। मेरुतुङ्गाचार्यके, निश्चितरूपसे पहलेके बने हुए किसी ग्रंथमें यह गाथा अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आई। इस लिये यह कुछ भी नहीं कह सकते कि यह गाथा कितनी प्राचीन है। परन्तु मेरुतुङ्गसे तो निश्चित ही १०० २०० वर्ष पुराणी अवश्य होनी चाहिए। विचारश्रेणिमें ' जं रयणिं कालगओ ' इत्यादि वाक्यसे प्रारंभ होने वाली, और महावीर निर्वाण और विक्रम संवत्के बीचके राजवंशोंका समयनिरूपण करने वाली जो तीन प्राकृत गाथाएं हैं, प्रायः वैसी ही गाथाएं तो ' तित्थोग्गालियपइण्णा ' नामक प्राकृत ग्रंथमें भी मिलती हैं; परंतु हरिभद्रके मृत्यु-समयका विधान करनेवाली प्रस्तुत गाथा वहां पर नहीं दिखाई देती। इस लिये यह भी नहीं कह सकते कि मेरुतुंगने कौनसे ग्रन्थमेंसे इसे उद्धृत की है। खैर, कुछ भी हो, परंतु इतनी बात तो सत्य है कि १४ वीं शताब्दीसे तो यह गाथा अवश्य पूर्वकी बनी हुई है।

इसी गाथाको प्रद्युम्नसूरिने[19] अपने 'विचारसार

---

[17] इस उद्धारका विशेष उल्लेख, हमारी शत्रुंजयतीर्थोद्धार प्रबन्ध नामक पुस्तकके उपोद्घात, पृ. ३१–३३ में किया हुआ है।

[18] प्रो. पिटर्सनने अपनी ३री रिपोर्टके पृ. २७२ पर, प्रद्युम्नसूरिविरचित 'विचारसारप्रकरण' के, और पृ. २८४ पर, समयसुंदर गणिके ' गाथासहस्री ' नामक ग्रंथके, जो अवतरण दिये हैं उनमें यह प्रकृत गाथा भी सम्मिलित है। वहां पर, ' पणसीए ' के स्थान पर ' पणतीए ' ऐसा पाठ मुद्रित है। इस पाठ-भेदके कारण, कई विद्वान् ५८५ के बदले ५३५ के वर्षमें हरिभद्रकी मृत्यु हुई मानते हैं; परंतु, वास्तविकमें यह पाठ अशुद्ध है। क्योंकि प्राकृत भाषाके नियमानुसार ३५ के अंकके लिये ' पणतीसे ' शब्द होता है, 'पणतीए' नहीं। यद्यपि, लेखक—पुस्तककी नकल उतारने-वाले—के प्रमादसे 'पणतीसे' की जगह 'पणतीए' पाठका लिखा जाना बहुत सहज है, और इस लिये 'पणतीए' के बदले ' पणतीसे ' के शुद्ध पाठकी कल्पना कर ८५ के स्थान पर ३५ की संख्या गिन लेनेमें, भाषा–विज्ञानकी दृष्टिसे कोई अनुचितता नहीं कही जा सकती; परंतु, प्रकृत विषयके कालसूचक अन्यान्य उल्लेखोंके संवादानुसार यहां पर ' पणसीए ' पाठका होना ही युक्तिसंगत और प्रमाणविहित है। बहुतसी हस्तलिखित प्रतियोंमें भी यही पाठ उपलब्ध होता है। प्रो. वेबरने, बर्लिनके राजकीय पुस्तकालयमें संरक्षित संस्कृत-प्राकृत पुस्तकोंकी रिपोर्टके, भाग २, पृ. ५२३ पर भी, 'पणसीए' पाठ ही को शुद्ध लिखा है और 'पणतीए' को अशुद्ध ।

[19] ये सूरि धर्मघोषसूरिके शिष्य, देवप्रभके शिष्य थे। इनका निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ। संभव है कि कदाचित् ये मेरुतुंगके पूर्ववर्ती हों, और 'विचारश्रेणि' में की बहुतसी प्राकृत गाथायें इन्हींके 'विचारसार प्रकरण' मेंसे ली गई हों—यद्यपि इसमें भी वे सब गाथायें संगृहीत मात्र ही हैं, नवीन रचित नहीं। यदि विशेष खोज करने पर, इन संग्रहकारके समयका पता लग गया और ये मेरुतुंगसे पूर्ववर्ती निश्चित हुए, तो फिर हरिभद्रकी मृत्युसंवत्सूचक प्रकृत गाथाके प्रथम अवतरणका मान, इन्हींके इस 'विचारसार प्रकरण'को देना होगा। इस प्रकरणमें, एक दूसरी बात यह भी है कि, प्रकृत गाथाके साथ, प्रकरणकारने 'अह्व वा' (सं. अथ वा) लिख कर एक दूसरी भी प्राकृत गाथा लिखी—उध्दृत की—है, जिसमें वीर–निर्वाणसे १०५५ वर्षबाद हरिभद्र हुए, ऐसा कथन है। इस गाथाके उध्दृत करनेका मतलब, लेखकको इतना ही मालूम देता है कि हरिभद्रसूरिका स्वर्ग-समय प्रधान गाथामें जो वि. सं. ५८५ बतलाया है वह इस दूसरी गाथाके कथनसे भी समर्थित होता

प्रकरण ' में, और समयसुंदर गणिने[20] स्व-संगृहीत 'गाथासहस्री' नामक प्रबन्धमें भी उद्धृत की है। पुनः इसी गाथाके आशयको ले कर कुलमंडनसूरिने[21] 'विचारामृतसंग्रह' में, और धर्मसागर[22] उपाध्यायने तपागच्छगुर्वावली में, लिखा है कि, महावीर निर्वाणके पश्चात् १०५५ वें (वीर नि. ४७० अनन्तर विक्रम संवत्की शुरूआत, तदनन्तर ५८५; ४७०+५८५=१०५५) वर्षमें हरिभद्रसूरिका स्वर्गवास हुआ था। इन पिछले दोनों ग्रंथकारोंका कथन क्रमशः इस प्रकार है—

(१) 'श्रीवीरनिर्वाणात् सहस्रवर्षे पूर्वश्रुतव्यवच्छिन्नम्। श्रीहरिभद्रसूरयस्तदनु पञ्चपञ्चाशता वर्षैर्दिवं प्राप्ताः।' —विचारामृतसंग्रह।

(२) श्रीवीरात् पञ्चपञ्चाशदधिकसहस्रवर्षे विक्रमात् पञ्चाशीत्यधिकपञ्चशतवर्षे याकिनीसूनुः श्रीहरिभद्रसूरिः स्वर्गभाक्। —तपागच्छगुर्वावली।

मुनिसुन्दरसूरिने जो तपागच्छकी पद्यबद्ध गुर्वावली (संवत् १४६६) बनाई है उसमें हरिभद्रसूरिको मानदेवसूरि (द्वितीय) के मित्र बतलाये हैं। इन मानदेवका समय पट्टावलियोंकी गणना और मान्यता अनुसार विक्रमकी ६ ठी शताब्दी समझा जाता है। अतः यह उल्लेख भी हरिभद्रसूरिके गाथोक्त समयका संवादी गिना जाता है।

मुनिसुन्दरसूरिका उल्लेख इस प्रकार है—

> अभूद् गुरुः श्रीहरिभद्रमित्रं
> श्रीमानदेवः पुनरेव सूरिः।
> यो मान्द्यतो विस्मृतसूरिमन्त्रं
> लेभेऽम्बिकाऽऽस्यात्तपसोज्जयन्ते[23] ॥
>
> —गुर्वावली (यशोवि. ग्रं. काशी) पृ. ४।

इस प्रकार इन सब ग्रंथकारोंके मतसे हरिभद्रसूरिका सत्ता-समय विक्रमकी ६ ठी शताब्दी है और उनका स्वर्गवास सं. ५८५ (ई. स. ५२९) में हुआ था।

परंतु, इसी प्रकारके बाह्य-प्रमाणोंमें, कुछ ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके कारण इस गाथोक्त समयकी सत्यताके बारेमें विद्वानोंको बहुत समयसे संदेह उत्पन्न हो रहा है। इन प्रमाणोंमें, जो मुख्य उल्लेख योग्य है, वह बहुत महत्त्वका और उपर्युक्त समयसाधक प्रमाणोंसे भी बहुत प्राचीन है। यह प्रमाण महात्मा सिद्धर्षिके महान् ग्रन्थ उपमितिभवप्रपञ्चा कथामें उल्लिखित है। यह कथा संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, गुरुवारके दिन, जब चंद्रमा पुनर्वसु नक्षत्रमें स्थित था, तब समाप्त हुई थी। ऐसा स्पष्ट उल्लेख, इस कथाकी प्रशस्तिमें सिद्धर्षिने स्वयं किया है। यथा—

> संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलङ्घिते चास्याः।
> ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥

यद्यपि ग्रन्थकर्ताने यहां पर मात्र केवल 'संवत्' शब्द ही का प्रयोग किया है जिससे स्पष्टतया य

है। क्यों कि ५८५का विक्रम-वत्सर महावीर संवत् १०५५ के बराबर (४७०+५८५=१०५५) ही होता है। प्रद्युम्नसूरि संगृहीत दूसरी प्राकृत गाथा इस प्रकार है—

> पण पन्न-दस-सएहिं हरिसूरी आसि तत्थ पुव्वकई।
> तेरसवरिससएहिं अईएहिं वि बप्पभट्टिपहू ॥
>
> पिटर्सन, रिपोर्ट ३. पृ. २७२।

२० समयसुन्दरगणिने गाथासहस्री सं. १६८६ में बनाई है। देखो,—पि. रि. ३, पृ. २९०।

—विचारसार प्रकरण और गाथासहस्रीमें प्रस्तुत गाथाके चतुर्थ पादमें कुछ पाठ-भेद है, परंतु अर्थ-तात्पर्य एक ही होनेसे उसके उल्लेखकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

२१ ये आचार्य विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुए हैं।

२२ धर्मसागरजी १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे।

२३ धर्मसागरगणिने अपनी पट्टावलिमें इसी पद्यका समर्थक एक दूसरा पद्य उद्धृत किया है। यथा—

> विद्यासमुद्रहरिभद्रमुनीन्द्रमित्रं
> सूरिर्बभूव पुनरेव हि मानदेवः।
> मान्द्यात् प्रयातमपि योऽनघसूरिमन्त्रं
> लेभेऽम्बिकामुखगिरा तपसोज्जयन्ते ॥

यही पद्य पुनः पूर्णिमागच्छकी पट्टावलीमें भी मिल्ता है।—देखो, पं. हरगोविन्ददासका हरिभद्रचरित्र पृ. १८

नहीं ज्ञात हो सकता कि, वीर, विक्रम, शक, गुप्त आदि संवतोंमेंसे प्रस्तुतमें कौनसा संवत् कथाकारको विवक्षित है; तथापि, संवत्के साथ मास, तिथि, वार और नक्षत्रका भी स्पष्ट उल्लेख किया हुआ होनेसे, ज्योतिर्गणितके नियमानुसार गिनती करने पर, प्रकृतमें विक्रम संवत् ही का विधान किया गया है, यह बात स्पष्ट मालूम पड आती है। सिद्धर्षिके लिखे हुए इस संवत्, मास और तिथि आदिकी तुलना ई. स. के साथ की जाय तो, गणित करनेसे, ९०६ ई. के. मई महिनेकी १ ली तारिखके बराबर इसकी एकता होती है। इस तारीखको भी वारगुरु ही आता है और चन्द्रमा भी सूर्योदयसे लेकर मध्यान्ह कालके बाद तक पुनर्वसु नक्षत्र ही में रहता है।[24]

इस कथाकी प्रशस्तिमें सिद्धर्षिने प्रारंभमें ९ श्लोकों द्वारा अपनी मूल गुरुपरंपराका उल्लेख कर, फिर हरिभद्रसूरिकी विशिष्ट प्रशंसा की है और उन्हें अपना धर्मबोधकर गुरु बतलाये हैं। प्रशस्तिमें हरिभद्रकी प्रशंसावाले निम्नलिखित तीन पद्य मिलते हैं।—

(१५) आचार्यहरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः ॥

(१६) विषं विनिर्धूय कुवासनामयं
व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां
नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥

(१७) अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया।
मदर्थेव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥[26]

इन पद्योंका भावार्थ इस प्रकार है—

(१५) आचार्य हरिभद्र मेरे धर्मबोधकर—धर्मका बोध (उपदेश) करनेवाले—गुरु हैं। इस कथाके प्रथम प्रस्तावमें मैंने इन्हीं धर्मबोधकर गुरुका निवेदन किया है।

(१६) जिसने कृपा करके अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे मेरे हृदयमेंसे कुवासना-दुर्वि-

---

२४ किसी किसीकी कल्पना इस संवत्को वीर-निर्वाण-संवत् माननेकी होती है। अगर इस कल्पनाके मुताबिक गणित करके देखा जाय तो वी. सं. ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल ५ मीके दिन ई. स. ४३६ के मई मासकी ७ वी तारीख आती है। वार उस दिन भी गुरु ही मिलता है, परंतु चन्द्रमा उस दिन प्रातःकालमें २ घंटे तक पुष्य नक्षत्रमें रह कर फिर अश्लेषा नक्षत्रमें चला जाता है; इस लिये नक्षत्र उस दिन ग्रंथमें लिखे मुताबिक नहीं मिलता। इसके सिवा इस कल्पनामें एक बडा और प्रत्यक्ष विरोध भी है। उक्त प्राकृत गाथामें जो हरिभद्रका मृत्युसमय बतलाया गया है उससे, यह समय लगभग १०० वर्ष जितना उलटा पीछे चला जाता है—अर्थात् सिद्धर्षि हरिभद्रके भी शतवर्ष पूर्ववर्ती हो जाते हैं। सिद्धर्षिका, जैसा कि आगे चल कर बतलाया जायगा, हरिभद्रके पहले होना सर्वथा असिद्ध है। इस लिये सिद्धर्षिका लिखा हुआ यह संवत् विक्रम संवत् ही है।

प्रो. पिटर्सनने अपनी ४ थी रीपोर्टके ५ वें पृष्ठ ऊपर सिद्धर्षिके इस संवत्को वीरनिर्वाण संवत् मान कर, और उसके मुकाबलेमें विक्रम संवत् ४९२ के बदले ५९२ लिख कर गाथोक्त हरिभद्रके समयके साथ मेल मिलाना चाहा है। परंतु इस गिनतीमें तो प्रत्यक्ष रूप से ही १०० वर्ष की भद्दी भूल की गई है। क्यों कि ९६२ में से ४७० वर्ष निकाल देनेसे, शेष ४९२ रहते हैं, ५९२ नहीं। इस लिये पिटर्सन साहबकी कल्पनामें कुछ भी तथ्य नहीं है। डॉ. जेकोबीने भी इस कल्पनाको त्याज्य बतलाया है। देखो, उपमितिभवप्रपंचाकी प्रस्तावना—पृष्ठ ८ की पाद टीका।

२५ डॉ. जेकोबी, इन पद्योंके पहलेके और ३ (नं. १२-१३-१४ वाले) श्लोकोंको भी हरिभद्र ही की प्रशंसामें लिखे हुए समझते हैं और उनका भाषान्तर भी उन्होंने अपनी प्रस्तावना (पृ. ५) में दिया है। परंतु यह डॉ. साहबका भ्रम है। उन तीन पद्योंमें हरिभद्रकी प्रशंसा नहीं है परंतु सिद्धर्षिकी प्रशंसा है। इनके पूर्वके दूसरे दो (नं. १०-११) श्लोकोंमें भी सिद्धर्षि ही का जिकर है। वास्तवमें हमारे विचारसे नं. १० से १३ तकके ४ पद्य स्वयं सिद्धर्षिके बनाए हुए नहीं है, परन्तु उनके शिष्य या अन्य किसी दूसरे विद्वान्के बनाये हुए हैं। अतएव वे वहां पर प्रक्षिप्त हैं। सिद्धर्षि, स्वयं अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेवाले बहिर्मुख आत्मा नहीं थे। वे बडे नम्र, लघुताप्रिय और अध्यात्मस्वरूपमें लीन रहनेवाले सन्त पुरुष थे। वे अपने लिये 'सिद्धान्तनिधि' 'महाभाग' और 'गणधरतुल्य' जैसे मानभरे हुए विशेषणोंका प्रयोग कभी नहीं कर सकते।

२६ उपमितिभवप्रपञ्चा कथा, (बिब्लिओथिका इन्डिका,) पृ. १२४०।

चारूप विषको निकाल कर सुवासना-सद्विचार स्वरूप सुधा (अमृत) का सिंचन किया है, उस आचार्य हरिभद्रको नमस्कार हो।

(१७) उन्होंने (हरिभद्रसूरिने) अनागत याने भविष्यमें होनेवाले मुझको जानकर मानों मेरे ही लिये चैत्यवन्दनसूत्रका आश्रय लेकर ललित-विस्तरा नामक वृत्ति बनाई है।

इस अवतरणसे ज्ञात होता है कि सिद्धर्षि हरिभद्रको एक प्रकारसे अपने गुरु मानते हैं। वे उन्हींसे अपनेको धर्मप्राप्ति हुई कहते हैं, और ललित-विस्तरावृत्ति नामक ग्रन्थ, जो हरिभद्रके ग्रन्थोंमेंसे एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है उसे, अपने ही लिये बनाया गया बतलाते हैं। इस प्रकार, इस प्रशस्तिगत कथनके प्रथम दर्शनसे तो हरिभद्र और सिद्धर्षिके बीचमें गुरु-शिष्यभावका होना स्थापित होता है। और जब ऐसा गुरुशिष्यभावका सम्बन्ध उनमें रहा तो फिर वे प्रत्यक्ष ही दोनों समकालीन सिद्ध हुए, और वैसा होने पर हरिभद्रका उक्त गाथा-विहित सत्ता-समय असत्य साबित होगा।

इस प्रकार हरिभद्रसूरिके समय-विचारमें सिद्धर्षिका सम्बन्ध एक प्रधान स्थान रखता है। इस लिये प्रथम यहां पर इस बातका ऊहापोह करना आवश्यक है कि सिद्धर्षिके इस कथनके बारेमें उनके चरित्रलेखक जैन ग्रन्थकारोंका क्या अभिप्राय है।

सिद्धर्षिके जीवनवृत्तान्तकी तरफ दृष्टिपात करते हैं तो, उनके निजके ग्रन्थमें तो, इस उपर्युक्त प्रशस्तिके कथनके सिवा, और कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इस लिये उनके निजके ही शब्दोंसे तो अपनेको यह बात नहीं मालूम हो सकती, कि, हरिभद्रको वे अपने धर्मबोधकर गुरु किस कारणसे कहते हैं और ललितविस्तरावृत्तिको अपने ही लिये बनाई गई क्यों बतलाते हैं ?।

पिछले जैन लेखकोंके लेखों-ग्रन्थोंमें सिद्धर्षिके जीवन-वृत्तान्तके विषयमें जो कथा-प्रबन्धादि उपलब्ध होते हैं, उनमें कालक्रमकी दृष्टिसे सबसे प्राचीन, तथा वर्णनकी दृष्टिसे भी प्रधान, ऐसा प्रभावकचरित्रान्तर्गत सिद्धर्षि-प्रबन्ध है। इस प्रबन्धमें सिद्धर्षिका जो जीवन वर्णित है उसमें इस बातका किञ्चित् भी जिकर नहीं किया गया है कि, हरिभद्र, सिद्धर्षिके एक गुरु थे और उनसे उनको धर्मबोध मिला था। हरिभद्र और सिद्धर्षिके बीचमें एक प्रकारसे गुरुशिष्यका सम्बन्ध था, इस बातका सूचन प्रभावकचरित्रकारने न हरिभद्र हीके प्रबन्धमें किया है और न सिद्धर्षि ही के प्रबन्धमें। केवल इतना ही नहीं, परंतु इन दोनोंके चरित्र-प्रबन्ध पास पासमें भी वे नहीं रखते। उन्होंने हरिभद्रका चरित्र ९ वें प्रबन्धमें गुंथा है और सिद्धर्षिका १४ वें प्रबन्धमें। इस लिये प्रभावकचरित्रकारके मतसे तो हरिभद्र और सिद्धर्षिके बीचमें न किसी प्रकारका साक्षात् गुरुशिष्य जैसा सम्बन्ध था और न वे दोनों समकालीन थे।

परन्तु, सिद्धर्षिने अपनी कथाकी प्रशस्तिमें जो उक्त प्रकारसे हरिभद्रका उल्लेख किया है, उसे प्रभावकचरित्रकर्ता जानते ही नहीं है यह बात नहीं है। उन्होंने सिद्धर्षिका वह कथन केवल देखा ही नहीं है किंतु उसे अपने प्रबन्धमें यथावत् उद्धृत तक कर लिया है। परंतु, उस कथनका सम्बन्ध वे और ही तरहसे लगाते हैं। उनका कहना है कि, सिद्धर्षिने जैन शास्त्रोंका पूर्ण अभ्यास करके, फिर न्यायशास्त्रका विशिष्ट अभ्यास करनेके लिये किसी प्रान्तस्थ बौद्ध विद्यापीठमें जा कर रहनेका विचार किया। जानेके पहले उन्होंने जब अपने गुरु गर्गस्वामीके पास अनुमति मांगी तो गुरुजीने अपनी असम्मति प्रकट की और कहा कि वहां पर जानेसे तेरा धर्मविचार भ्रष्ट हो जायगा। सिद्धर्षिने गुरुजीके इस कथन पर दुर्लक्ष्य कर चल ही दिया और अपने इच्छित स्थान पर जा कर बौद्ध प्रमाण शास्त्रका अध्ययन करना शुरू किया। अध्ययन करते करते उनका विश्वास जैनधर्म उपरसे उठता गया और बौद्ध धर्म पर श्रद्धा बढती गई। अध्ययनकी समाप्ति हो जाने पर, उन्होंने बौद्धधर्मकी दीक्षा लेनेका विचार किया, परंतु, पहले ही से वचनबद्ध हो जानेके कारण, जैनधर्मका त्याग करनेके पहले वे एक बार अपने पूर्वगुरुके पास मिलनेके लिये आये। शान्तमूर्ति गर्गमुनिने सिद्धर्षि-

नि स्वधर्म ऊपरसे चलित-चित्तताको देख कर अपने मुखसे किसी प्रकारका उन्हें उपदेश देना मुनासब नहीं समझा । उन्होंने ऊठ कर पहले सिद्धर्षिका स्वागत किया और फिर उन्हें एक आसन पर बिठा कर, हरिभद्रसूरिकी बनाई हुई ललितविस्तारावृत्ति, जिसमें बौद्ध वगैरह सभी दर्शनोंके सिद्धान्तोंकी बहुत ही संक्षेपमें परंतु बडी मार्मिकताके साथ मीमांसा कर जैनतीर्थंकरकी परमाप्तता स्थापित की गई है, उसको पढनेके लिये दी । पुस्तक दे कर गर्गमुनि जिनचैत्यको वन्दन करनेके लिये चले गये और सिद्धर्षिको कह गये कि, जब तक मैं चैत्यवन्दन करके वापस आऊं तब तक तुम इस ग्रन्थको वाचते रहो । सिद्धर्षि गुरुजीके चले जाने पर ललितविस्तराको ध्यानपूर्वक पढने लगे । ज्यों ज्यों वे हरिभद्रके निष्पक्ष, युक्तिपूर्ण, प्रौढ और प्राञ्जल विचार पढते जाते थे त्यों त्यों उनके विचारोंमें बडी तीव्रताके साथ क्रांति होती जाती थी। सारा ग्रंथ पढ लेने पर उनका विश्वास जो बौद्ध संसर्गके कारण जैनधर्म ऊपरसे ऊठ गया था वह फिर पूर्ववत् दृढ हो गया, और बौद्ध धर्मपरसे उनकी रुचि सर्वथा हट गई । इतनेमें गर्गमुनिजी चैत्यवन्दन करके उपाश्रयमें वापस आ पहुंचे । सिद्धर्षि गुरुजीको आते देख एक दम आसन ऊपरसे ऊठ खडे हुए और उनके पैरोंमें अपना मस्तक रख कर, स्वधर्म परसे जो इस प्रकार अपना चित्तभ्रंश हुआ उसके लिये पश्चात्ताप करने लगे । गुरुजीने मिष्टवचनोंसे उन्हें शान्त कर उनके मनको संतुष्ट किया । अन्तमें वे फिर जैनधर्मके महान् प्रभावक हुए। इत्यादि । इस प्रकार हरिभद्रके बनाये हुए ग्रन्थके अवलोकनसे सिद्धर्षिकी मिथ्याभ्रान्ति नष्ट हुई और सद्धर्मकी प्राप्ति हुई इस लिये उन्होंने हरिभद्रसूरिको अपना धर्मबोधकर गुरु माना और ललितविस्तराको मानों अपने ही लिये बनाई गई समझी । इसके सिवा प्रभावकचरित्रके कर्ता इन दोनोंमें परस्पर और किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं मानते ।

परन्तु, दूसरे कितने एक ग्रन्थकार प्रभावकचरित्रके इस कथनके साथ पूर्ण मतैक्य नहीं रखते । उनके कथनानुसार तो सिद्धर्षि और हरिभद्र दोनों समकालीन थे और सिद्धर्षिको बौद्ध संसर्गके कारण स्वधर्मसे भ्रष्ट होते देख कर उनको प्रतिबोध करनेके लिये ही हरिभद्र सूरिने ललितविस्तरा वृत्ति बनाई थी । इन ग्रन्थकारोंमें मुख्यकर राजशेखरसूरिका (सं. १४०५ में बना हुआ) प्रबन्धकोष अथवा चतुर्विंशतिप्रबन्ध है । इस ग्रन्थमें हरिभद्रसूरिका जो चरित-प्रबन्ध है उसमें साथमें सिद्धर्षिका भी वर्णन किया हुआ है । इस प्रबन्धमें तो सिद्धर्षिको साक्षात् हरिभद्र ही के दीक्षित शिष्य बतलाये हैं । गर्गमुनि वगैरहका नामनिर्देश तक नहीं है । प्रकृत बातके विषयका बाकी सब हाल प्रायः ऊपर (प्रभावकचरित्र) के जैसा ही है । मात्र इतनी विशेषता है कि, बौद्ध गुरुके पाससे जब सिद्धर्षि अपनी प्रतिज्ञानुसार, हरिभद्रसूरिको मिलनेके लिये आये तब बौद्ध गुरुने भी उन्हें पुनर्मीलनके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कर लिये थे । हरिभद्रसूरिने उनको सद्बोध दिया जिससे उनका मन फिर जैन धर्म ऊपर श्रद्धावान् हो गया । परंतु प्रतिज्ञानिर्वाहके कारण वे पुनः एक बार बौद्ध गुरुके पास गये । वहां उसने फिर उनको बहकाया और वे फिर हरिभद्रसे मिलने आये । हरिभद्रने पुनः समझाये और पुनः बौद्धाचार्यके पास गये । इस प्रकार २१ दफह उन्होंने गमनागमन किया । आखिरमें हरिभद्रने उन पर दया लाकर प्रबलतर्कपूर्ण ललितविस्तरा वृत्ति बनाई, जिसे पढ कर उनका मन सर्वथा निर्भ्रान्त हुआ और वे जैनधर्म ऊपर स्थिरचित्त हुए । इसके बाद उन्होंने १६ हजार श्लोक प्रमाण उपमितिभवप्रपञ्चा कथा बनाई और उसके अन्तमें उक्त प्रकारसे हरिभद्रसूरिकी प्रशंसा की ।[२७]

इसी वृत्तान्तका यथावत् सूचक संक्षिप्त उल्लेख मुनिसुन्दरसूरिने उपदेशरत्नाकरमें, और रत्नशेखरसूरिने श्राद्धप्रतिक्रमणार्थदीपिका टीका (सं. १४९६) में किया है । दोनों उल्लेख क्रमशः इस प्रकार हैं:—

२७ देखो, प्रोफेसर मणिलाल नभुभाई द्विवेदीका किया हुआ और बडौदा राज्यकी ओरसे छपाया हुआ 'चतुर्विंशति प्रबन्ध ' का गुजराती भाषान्तर, पृ. ४७-४८ ।

(१) 'ये पुनः कुगुर्वादिसङ्गत्या सम्यग्दर्शनचारित्राणि वमन्ति ते शुभधर्मवासं प्रतीत्य वाम्याः। बौद्धसङ्गत्यैकविंशतिकृत्वोऽर्हद्धर्मत्यागिश्रीहरिभद्रसूरिशिष्यपश्चाद्‌दुपज्ञललितविस्तराप्रतिबुद्धश्रीसिद्धवत्।'

—उपदेशरत्नाकर, पृ० १८

(२) 'मिथ्यादृष्टिसंस्तवे हरिभद्रसूरिशिष्यसिद्धसाधुर्ज्ञातम्, स सौगतमतरहस्यमर्मग्रहणार्थं गतः। ततस्तैर्भावितो गुरुदत्तवचनत्वान्मुत्कलापनायागतो गुरुभिर्बोधितो बौद्धानामपि दत्तवचनत्वान्मुत्कलापनार्थं गतः। एवमेकविंशतिवारान् गतागतमकारीति। तत्प्रतिबोधनार्थं गुरुकृतललितविस्तराख्यशक्रस्तववृत्त्या दृढं प्रतिबुद्धः श्रीगुरुपार्श्वे तस्थौ।'

—श्राद्धप्रतिक्रमणार्थ दीपिका।

इस प्रकार इन ग्रन्थकारोंके मतसे तो सिद्धर्षि साक्षात् हरिभद्रसूरि ही के हस्त-दीक्षित शिष्य थे। इनके मतको कहां तक प्रामाणिक समझना चाहिए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्यों कि ये तो सिद्धर्षिके दीक्षागुरु, जो गर्गमुनि हैं और जिनकी पूर्व-गुरुपरंपरा तकका उल्लेख सिद्धर्षिने स्वयं अपनी कथाकी प्रशस्तिमें किया है, उनका सूचन तक बिल्कुल नहीं करते और खुद हरिभद्र ही के पास इनका दीक्षा लेना बतलाते हैं। सो यह कथन स्पष्टतया प्रमाण विरुद्ध दिखाई दे रहा है। सिवा सिद्धर्षि जैसे अपूर्व प्रतिभाशाली पुरुषको इस तरह २१ बार इधर उधर भटके मिलाकर एक बिल्कुल भोंदूके जैसा चित्रित किया है इस लिये इनके कथनकी किंमत बहुत कम आंकी जा सकती है।

सिद्धर्षिके जीवन सम्बन्धी, प्रभावक चरित्र और प्रबन्धकोषके लेखकोंके उक्त मतोंसे कुछ भिन्न एक तीसरा मत भी है जो पडिवाल गच्छकी एक प्राकृत पट्टावलीमें मिलता है। यह पट्टावली कबकी बनी हुई है और कैसी विश्वसनीय है, सो तो उसे पूरी देखे बिना नहीं कह सकते। मुनि धनविजयजीने चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार नामक पुस्तकमें, इस पट्टावलीमेंसे प्रस्तुत विषयका जो पाठ उद्धृत किया है उसी परसे हम यहां पर यह तीसरा मत उल्लिखित कर रहे हैं। इस पट्टावलीके लेखकके मतसे सिद्धर्षिके मूल दीक्षागुरु तो गर्गाचार्य या गर्गमुनि ही थे-हरिभद्र नहीं। हरिभद्र और सिद्धर्षिके गुरुशिष्यभावके सम्बन्धमें पट्टावलीकारका कथन इस प्रकार हैः—पूर्वोक्त कथानुसार, बौद्ध-संसर्गके कारण जब सिद्धर्षिके विचारोंमें वारंवार परिवर्तन होने लगा तब उनके गुरु गर्गर्षिने हरिभद्रसूरीको, जो बौद्धमतके बडे भारी ज्ञाता थे, विज्ञप्ति की कि कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे सिद्धर्षिका मन स्वधर्ममें स्थिर हो जाय। फिर सिद्धर्षि जब अपने गुरुके पास पुनर्मीलनके लिये आये तब हरिभद्रने उनको बहुत कुछ समझाया परन्तु वे सन्तुष्ट न हुए और वापस बौद्धमठमें चले गये। इससे फिर हरिभद्रने तर्कपूर्ण ऐसी ललितविस्तरा वृत्ति बनाई। इसके बाद हरिभद्रका मृत्यु हो गया। मरते समय वे गर्गाचार्यको वह वृत्ति सौंपते गये और कहते गये कि अब जो सिद्धर्षि आवें तो उन्हें यह वृत्ति पढनेको देना। गर्गाचार्यने बादमें ऐसा ही किया और अन्तमें उस वृत्तिके अवलोकनसे सिद्धर्षिका मन स्थिर हुआ। इसी लिये उन्होंने हरिभद्रको अपना गुरु माना और उस वृत्तिको 'मदर्थे निर्मिता' बतलाई।[२४]

---

२४ इस पट्टावलीमें, सिद्धर्षिके गुरु गर्गाचार्य और इनके गुरु दुर्गस्वामीके स्वर्गगमनकी साल भी लिखी हुई है। यथा 'अह दुग्गसामी विक्कमओ ९०२ वरिसे देवलोयं गतो। तस्सीसो सिरिसेणो आयरियपए ठिओ। गग्गायरियावि विक्कमओ ९१२ वरिसे कालं गया तप्पए सिद्धायरिओ। एवं दो आयरिया विदरई।' अर्थात्-दुर्गस्वामी विक्रमसंवत् ९०२ में स्वर्ग गये। उनके शिष्य श्रीषेण आचार्य पद ऊपर बैठे। गर्गाचार्य भी विक्रम संवत् ९१२ में मरणशरण हुए। उनके पद पर सिद्धर्षि बैठे। इस प्रकार श्रीषेण और सिद्धर्षि दोनों आचार्य एक साथ रहते थे। यदि यह कथन सत्य है तो इसके ऊपरसे सिद्धर्षिके दीर्घायु होनेका अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि उनके गुरु गर्गस्वामी जब ९१२ में मृत्यु प्राप्त हुए थे, तो कमसे कम १०-१२ वर्ष पहले तो सिद्धर्षिने उनके पास दीक्षा अवश्य ही लीं।

इस प्रकार हरिभद्र और सिद्धर्षिके सम्बन्धके विषयमें जैन ग्रन्थकारोंके तीन भिन्न भिन्न मत उपलब्ध होते हैं। तीनों मतोंमें यह एक बात तो समान रूपमें उपलब्ध होती है कि सिद्धर्षिका चित्त बौद्ध संसर्गके कारण स्वधर्म ऊपरसे चलायमान हो गया था और वह फिर हरिभद्रसूरिकी बनाई हुई ललितविस्तरा वृत्तिके अवलोकनसे पुनः दृढ हुआ था। इस कथनसे, सिद्धर्षिने ललितविस्तरा वृत्तिके लिये जो ' मदर्थे निर्मिता ' ऐसा उल्लेख किया है, उसकी संगति तो एक प्रकारसे लग जाती है; परंतु मुख्य बात जो हरिभद्र और सिद्धर्षिके बीचमें गुरुशिष्यभावके विषयकी है, उसके बारेमें इन ग्रन्थकारोंमें, उक्त प्रकारसे, परस्पर बहुत कुछ मत-भेद है। और इस लिये सिद्धर्षिके

' आचार्यहरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः। '

इस उल्लेखकी संगति, उनके जीवनकथा-लेखकोंके लेखोंके आधार ऊपरसे ठीक ठीक नहीं लगाई जा सकती।

सिद्धर्षिके चरित्रलेखकोंके मतोंका एकंदर सार इस प्रकार है:—

(१) प्रभावकचरित्रके मतसे सिद्धर्षि गर्गर्षि या गर्गमुनिके शिष्य थे। हरिभद्रका उन्हें कभी साक्षात् समागम नहीं हुआ था। केवल उनकी बनाई हुई ललितविस्तरा वृत्तिके पढनेसे उन्हें स्वधर्मपर पुनः श्रद्धा हुई थी, इस लिये कृतज्ञता ज्ञापन करनेके लिये उन्होंने हरिभद्रसूरिको अपना धर्मबोधकर गुरु लिखा है।

(२) प्रबन्धकोषके मतसे सिद्धर्षि स्वयं हरिभद्र ही के हस्त दीक्षित शिष्य थे। गर्गमुनि वगैरहका कोई सम्बन्ध नहीं था। हरिभद्रके शिष्य होनेके कारण अर्थात् वे उनके समकालीन ही थे।

(३) पाडिवालगच्छीय पट्टावलिके मतसे सिद्धर्षिके दीक्षागुरु तो गर्गस्वामी ही थे। परंतु हरिभद्रसूरिका समागम भी उनको हुआ था। इस लिये वे दोनों कुछ कालतक समकालीन अवश्य थे।

सिद्धर्षिके विषयमें एक और उल्लेख हमारे देखनेमें आया है जिसे हम प्रमाणकी दृष्टिसे नहीं किन्तु विचित्रताकी दृष्टिसे यहां पर सूचित किये देते हैं। जैन श्वे० कॉन्फरन्स हेरल्ड नामक मासिक पत्रके सन् १९१५ के जुलाई-अक्टोबर मासके संयुक्त अंकमें, एक गुजराती भाषामें लिखी हुई तपागच्छकी अपूर्ण पट्टावली छपी है। इस पट्टावलीमें हरिभद्रसूरिका भी वर्णन दिया गया है। इस वर्णनके अंतमें लिखा है कि, सिद्धर्षि हरिभद्रके भाणेज (भागिनेय) थे और उन्होंने उपमितिभवप्रपञ्चा कथा, श्रीचंद्रकेवलीचरित्र तथा विजयचंद्रकेवली चरित्र नामके ग्रन्थ बनाये थे (—देखो उक्त पत्र, पृ० ३५१)।

प्रभावक चरित्रमें सिद्धर्षिके सम्बन्धमें जो जो बातें लिखी हैं उनमें दो बातें और भी ऐसी हैं जो उनके समयका विचार करते समय उल्लित कर दी जाने योग्य हैं। पहली बात यह है कि, सिद्धर्षिको सुप्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य शिशुपालवधके कर्ता कवीश्वर माघके चचेराभाई (पितृव्यपुत्र) लिखे हैं;[29] और दूसरी बात यह है कि, कुवलयमाला कथाके कर्ता दाक्षिण्यचिन्ह सूरिको सिद्धर्षिके गुरुभ्राता बतलाये हैं[30]। परंतु महाकवि माघका समय ईस्वीकी ७ वीं शताब्दीका मध्य भाग निश्चित किया गया है;[31] और कुवलयमाला कथाके कर्ता दाक्षिण्यचिन्हसूरिका समय जैसा कि हम बतलायेंगे ई. स. की ८ वीं शताब्दीका अंतिम भाग निर्णीत है। इस कारणसे, जब तक सिद्धर्षिका लिखा हुआ उक्त ९६२ का वर्ष, एक तो प्रक्षिप्त या झूटा नहीं सिद्ध होता; और दूसरा यह विक्रम संवत्के

होगी। इधर ९६२ में उन्होंने अपनी कथा समाप्त की है। दीक्षा लेनेके पूर्वमें भी कमसे कम १५–२० वर्षकी उम्र होनी चाहिए। इस हिसाबसे उनकी आयु न्यूनसे न्यून भी ६० वर्षकी तो अवश्य होनी चाहिए।

२९ देखो, प्रभावकचरित्र-सिद्धर्षिप्रबन्ध, श्लो. ३-२०।

३० " " " ८९।

३१ देखो, डॉ. जेकोबीकी उप०की प्रस्तावना, पृ. १३; तथा, श्रीयुत केशवलाल हर्षदराय ध्रुवका गुजराती अमरुशतक, प्रस्तावना, पृ. ९ (४ थी आवृत्ति)।

सिवा और किसी संवत्‌का साबित नहीं किया जाता, तब तक प्रभावकचरित्रकी ये दोनों बातें कपोलकल्पित ही माननी पडेंगीं।

डॉ. मिरोनौ (Dr. N. Mironow) ने Bulletin de l'Acade'mie Imperiale des Sciences de St.-Petersburg, 19 " में सिद्धर्षि ऊपर एक लेख प्रकाशित किया है जिसमें श्रीचंद्रकेवली-चरित्र नामक ग्रंथमें से निम्न लिखित दो श्लोक उद्धृत किये हैं[12]।

वस्वङ्केषु (५९८) मिते वर्षे श्रीसिद्धर्षिरिदं महत्।
प्राक् प्राकृतचरित्राद्धि चरित्रं संस्कृतं व्यधात्॥

तस्मान्नानार्थसन्दोहादुद्धृतेयं कथात्र च।
न्यूनाधिकान्यथायुक्तैर्मिथ्यादुष्कृतमस्तु मे॥

इन श्लोकोंका सार मात्र इतना ही है कि— सिद्धर्षिने संवत् ५९८ में, प्राकृत भाषामें बने हुए पूर्वके श्रीचंद्रकेवलीचरित्र ऊपरसे संस्कृतमें नया चरित्र बनाया था। सिद्धर्षि अपनी उपमि० कथाके बननेका संवत्सर ९६२ लिखते हैं और इस चरित्रमें ५९८ वर्षका उल्लेख किया हुआ है। इस प्रकार इन दोनों वर्षोंके बीचमें ३६४ वर्षका अन्तर रहता है। इस लिये डॉ. मिरोनौका कथन है कि यदि इस ५९८ वें वर्षको गुप्त संवत् मान लिया जाय तो इस विरोधका सर्वथा परिहार हो जाता है। क्यों कि ५९८ गुप्त संवत्‌में ३७६ वर्ष सामिल कर देने पर विक्रम संवत् ९७४ हो जाता है और यह समय सिद्धर्षिके उपमि० कथावाले संवत्सर ९६२ के समीपमें आ पहुंचता है।

इस प्रकार सिद्धर्षिके समयादिके बारेमें जितने उल्लेख हमारे देखनेमें आये हैं उन सबका सार हमने यहां पर दे दिया है। हरिभद्रसूरिके समय-विचारके साथ सिद्धर्षिके समय-विचारका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे हमें यहां पर इस विषयका इतना विस्तार करनेकी आवश्यकता पडी है।

सिद्धर्षि-विषयक इन उपर्युक्त उल्लेखोंसे पाठक यह जान सकेंगे कि हरिभद्रसूरि और सिद्धर्षिके गुरुशिष्यभावके सम्बन्धमें, और इसी कारणसे इन दोनोंके सत्ता-समयके विषयमें जैन ग्रन्थकारोंके परस्पर कितने विरुद्ध विचार उपलब्ध होते हैं। परंतु आश्चर्य यह है कि इन इतने विचारोंमेंभी कोई ऐसा निश्चित और विश्वसनीय विचार हमें नहीं मालूम देता, जिसके द्वारा इस प्रश्नका निराकरण किया जा सके कि हरिभद्र और सिद्धर्षिके बीचके गुरुशिष्यभावका क्या अर्थ है?–वे दोनों समकालीन थे या नहीं?। इस लिये अब हमको, इन सब उल्लेखोंको यहीं छोड कर, खुद सिद्धर्षि और हरिभद्र ही के ग्रन्थोक्त आन्तर प्रमाणोंका ऊहापोह करके; तथा अन्य ग्रंथोंमें मिलते हुए इसी विषयके संवादी उल्लेखोंके पूर्वापरभावका यथासाधन विचार करके, उनके द्वारा इन दोनों महात्माओंके सम्बन्ध और समयकी मीमांसा करनेकी आवश्यकता है। उसके सिवा, इस विषयका निराकरण होना अशक्य है।

इस विषयके विचारके लिये हमने जितने प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी विस्तृत विवेचना करनेके पहले, हम यहां पर जैनदर्शनदिवाकर डॉ. हर्मन जेकोबीने बडे परिश्रमके साथ, प्रकृत विषयमें कितनेएक साधकबाधक प्रमाणोंका सूक्ष्मबुद्धिपूर्वक ऊहापोह करके, स्वसंपादित उपमितिभवप्रपञ्चाकी प्रस्तावनामें जो विचार प्रकाशित किये हैं उनका उल्लेख करना मुनासब समझते हैं।

डॉ. साहब अपनी प्रस्तावनामें सिद्धर्षिके जीवनचरित्रके बारेमें उल्लेख करते हुए, प्रारंभमें उपमितिकी प्रशस्तिमें जो गुरुपरंपरा लिखी हुई है उसका सार दे कर हरिभद्रकी प्रशंसावाले पद्योंका अनुवाद देते हैं। और फिर लिखते हैं कि—

"मेरा विश्वास है कि हरिभद्र और सिद्धर्षि विषयक इन उपर्युक्त श्लोकोंके पढनेसे सभी निष्पक्षपात पाठकोंको निश्चय हो जायगा कि इनमें शिष्यने अपने साक्षात् गुरुका वर्णन किया है परंतु 'परंपरागत' का नहीं। जिन प्रथम युरोपीय विद्वान् प्रो. ल्युमनने (जर्मन ओरियन्टल सोसायटिका जर्नल, पु. ४३ पृ. ३४८ पर) इन श्लोकोंका अर्थ किया है उनका भी यही मंतव्य था, और हमारे

[12] डॉ. जेकोबीने भी अपनी उप० की प्रस्तावनाके अंतमें, सारांश टिप्पणके साथ इन श्लोकोंको छपवा दिये हैं।

इस अनुमानकी, उपमितिभवप्रपंचाके प्रथम प्रस्तावमें सिद्धर्षिने जो हकीकत लिखी है उससे, पुष्टि भी होती है। वहां पर, भिक्षुक निष्पुण्यक आत्मसुधारके प्रारंभसे ले कर अन्तमें जब वह अपना कुत्सित भोजन फेंक देता है और पात्रको धोकर स्वच्छ कर डालता है; अर्थात् आलंकारिक भाषाको छोड कर सीधे शब्दोंमें कहें तो, जब वह दीक्षा ले लेता है तब तक उस भिक्षुकको-इस सारे समय में-धर्मबोधकर गुरु उपदेश देने वाले और रास्ता बतानेवाले वर्णित किये गये हैं। सिद्धर्षि स्वयं कहते हैं कि इस रूपककथामें वर्णित धर्मबोधकर गुरु आचार्य हरिभद्र ही है, और भिक्षुक निष्पुण्यक स्वयं मैं ही हूं। इससे स्पष्टतया जाना जाता है कि सिद्धर्षिको दीक्षा लेने तक सद्बोध देनेवाले और सन्मार्ग पर लानेवाले साक्षात् हरिभद्र ही थे।

"यद्यपि सिद्धर्षिके स्वकीय कथनानुसार वे हरिभद्रके समकालीन ही थे, परंतु जैनग्रन्थोक्त दन्तकथा, इन दोनों प्रसिद्ध ग्रन्थकारोंके बीचमें ४ शताब्दी जितना अन्तर बतलाती है। जैन परंपरा मुताबिक हरिभद्रका मृत्यु संवत् ५८५ में हुआ था और उपमितिभवप्रपञ्चाकी रचना, रचयिताके उल्लेखानुसार ९६२ में हुई थी। हरिभद्र और सिद्धर्षिके बीचमें समय-व्यवधान बतलानेवाली दन्तकथा १३ वें शतकमें भी प्रचलित थी, ऐसा मालूम देता है। क्यों कि प्रभावकचारित्रकार हरिभद्र और सिद्धर्षिके चरित्रोंमें, इन दोनोंके साक्षात्कारके विषयमें कुछ भी नहीं लिखते। यद्यपि, वे इनके समयके सूचक चर्चाका उल्लेख नहीं करते हैं, तथापि, इन दोनोंको वे समकालीन मानते हों ऐसा बिलकुल मालूम नहीं देता। क्यों कि वैसा मानते तो इनके चरित्रोंमें इस बातका अवश्य उल्लेख करते। तथा इन दोनोंके चरित्र जो दूर दूर पर दिये हैं, -हरिभद्रका चरित्र ९ वें सर्गमें और सिद्धर्षिका १४ वें सर्ग दिया है-वैसा न करके पासपासमें देते। प्रस्तुत विषयमें इस दन्तकथाके वास्तविक मूल्यका निर्णय करनेके लिये हरिभद्र और सिद्धर्षिके समय विचारकी, और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे विषयोंकी पर्यालोचना करनी आवश्यक है।

"कथाकी प्रशस्तिके अन्तमें सिद्धर्षि लिखते हैं कि, यह ग्रन्थ, संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल ५मी गुरुवारके दिन जब चन्द्र पुनर्वसु नक्षत्रमें विद्यमान था, तब समाप्त हुआ। इसमें यह नहीं लिखा हुआ है कि, यह ९६२ का वर्ष वीर, विक्रम, गुप्त, शक आदिमेंसे कौनसे संवत्सरका है"। यदि यह वर्ष विक्रम संवत्का मान लिया जाय तो उस दिनके विषयमें लिखे गये वार आदि सब ठीक ठीक मिल जाते हैं। विक्रम संवत् ९६२ के ज्येष्ठ शुक्ल ५मी के दिन ईस्वी सन् ९०६के मई मासकी १ली तारीख आती है। उस दिन चन्द्रमा सूर्योदयसे लेकर मध्यान्हकालके बाद तक पुनर्वसु नक्षत्र में था। वार भी गुरु ही था। परंतु इस वर्षको वीर संवत मानें तो उस दिन ई. स. ४३६ के मई मासकी ७ वीं तारीख आती है। वार उस दिन भी गुरु ही आता है, परंतु चंद्रमा सूर्योदयके समय पुष्य नक्षत्रमें रह कर फिर दो घंटे बाद अश्लेषा नक्षत्रमें चला जाता है। इस लिये नक्षत्र बराबर नहीं मिलता। अतः प्रस्तुत संवत् वीरसंवत् नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि, यदि इसे वीरसंवत् माना जाय तो वह विक्रम संवत् ४९२ होता है और इससे तो सिद्धर्षि अपने गुरु हरिभद्र, जो दंतकथाके कथनानुसार विक्रम संवत् ५८५ में स्वर्गस्थ हुए, उनसे भी पूर्वमें हो जानेवाले सिद्ध होते हैं। इस लिये सिद्धर्षिका संवत् निस्सन्देह विक्रम संवत् ही है और वह ई. स. ९०६ बराबर है।

"जैन परंपरा प्रचलित दन्तकथा मुजब हरिभद्रका मृत्यु समय विक्रम संवत् ५८५ (ई. स. ५२९) अर्थात् वीर संवत् १०५५ है। यह समय हरिभद्रके ग्रन्थोंमें लिखी हुई कितनीएक बातोंके साथ सम्बद्ध नहीं होता। षड्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थमें हरिभद्र दिग्नाग शाखाके बौद्धन्यायका संक्षिप्त सार देते हैं, उसमें प्रत्यक्षकी व्याख्या 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं' ऐसी दी हुई है। यह व्याख्या न्यायबिन्दुके प्रथम परिच्छेदमें धर्मकीर्तिकी दी हुई व्याख्याके साथ शब्दशः मिलती है। दिग्नागकी व्याख्यामें 'अभ्रान्त' शब्द नहीं मिलता उनकी

व्याख्या इस प्रकार है—' प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ।' (देखो, न्यायवार्तिक, पृ. ४४; तात्पर्य टीका, पृ. १०२; तथा सतीशचन्द्र विद्याभूषण लिखित—मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास, पृ. ८५, नोट २.) हरिभद्रसूरिकी दी हुई व्याख्यामें आवश्यकीय 'अभ्रान्त' शब्दकी वृद्धि हुई है, इस लिये जाना जाता है कि उन्होंने धर्मकीर्तिका अनुकरण किया है। धर्मकीर्तिका समय जैन दन्तकथामें बतलाये गये हरिभद्रके मृत्युसमयसे १०० वर्ष पीछे माना जाता है। इस लिये हरिभद्रका यह संवत् सत्य नहीं होना चाहिए। पुनः षड्दर्शनसमुच्चयके ११ वें श्लोकमें हरिभद्रसूरि बौद्धन्याय सम्मत लिंग (हेतु) के तीन रूप इस प्रकार लिखते हैं—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि विभाव्यताम् ॥

यह बौद्ध न्यायका सुज्ञात सिद्धान्त है, परंतु हरिभद्र प्रयुक्त पक्षधर्मत्व पद खास ध्यान खींचने लायक है। क्यों कि न्यायशास्त्रके पुराणे ग्रन्थोंमें यह पद दृष्टिगोचर नहीं होता। प्राचीन न्यायग्रन्थोंमें इस पदवाच्य भावको दूसरे शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। यह पद न्यायग्रन्थोंमें पीछेसे प्रयुक्त होने लगा है। इससे जाना जाता है कि हरिभद्रसूरि, कहे जानेवाले समयसे बादमें हुए होने चाहिए। अष्टक प्रकरण नामक अपने ग्रन्थके ४ थे अष्टकमें हरिभद्र सूरिने शिवधर्मोत्तरका उल्लेख किया है। इससे भी यही बात जानी जाती है; क्यों कि अज्ञात समयका यह ग्रन्थ बहुत पुरातन हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। शंकरकी श्वेताश्वतर उपनिषद्की टीकामें इस ग्रंथका नाम मिलता है। यदि, हरिभद्रसूरिके ग्रन्थोंका ठीक ठीक अभ्यास किया जाय, और उनका बराबर शोध लगाया जाय तो, दन्तकथामें बतलाये हुए समयसे वे अर्वाचीन समयमें हुए थे, इसका प्रायः निर्णय हो जायगा।

" हरिभद्रसूरिके स्वर्गगमनकी साल (जो विक्रम संवत् ५८५ और वीर संवत् १०५५ है) ईसाकी [illegible] शताब्दीसे प्राचीन नहीं ऐसे ग्रन्थोमेंसे मिल आती है। पिछले ग्रन्थकारोंने यह साल मनगढन्त खडी कर दी है, ऐसा कहनेका मेरा आशय नहीं है, परंतु वास्तविक बातका भ्रान्त अर्थ करनेके कारण यह भूल उत्पन्न हुई हैं, ऐसा मैं समजता हूं। अन्तिम नोटमें (—देखो नीचे* दी हुई टिप्पणी) दिखलाये हुए मेरे अनुमानका स्वीकार करके प्रो० ल्युमन लिखते हैं (जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटिका जर्नल पु. ४३ पृ. ३४८.) कि ' अन्यान्य सालोंके (वही जर्नल पु. ३७, पृ. ५४० नोट.) समान हरिभद्रके स्वर्गगमनकी सालके बारेमें भी संवत् लिखनेमें ग्रंथकारोंको भ्रान्ति हुई है। ५८५ की जो साल है वह वीर या विक्रम संवत् की नहीं है परंतु गुप्त संवत् की है। गुप्त संवत् ईस्वी सन् ३१९ मे शुरू हुआ था। इस हिसाबसे हरिभद्रके स्वर्गगमनकी साल ई. स. ९०४ आती है; अर्थात् उपमितिभवप्रपञ्चाकी रचनासमाप्तिके २ वर्ष पहले आती है। यह कथन सच हो सकता है; परन्तु, दन्तकथामें प्रचलित वीर संवत् की १०५५ वाली साल ली जाय और भ्रान्ति (भूल) उसमेंसे उत्पन्न हुई है ऐसा माना जाय तो इस दन्तकथावाली सालमें होनेवाली भ्रान्तिका खुलासा एक दूसरी तरह से भी किया जा सकता है। इस कल्पनाके करनेमें मुझे निम्न लिखित कारण मिलता है। ' पउमचरियं ' नामक ग्रन्थके अन्तमें, उसके कर्ता विमलसूरि कहते हैं कि, यह ग्रन्थ उन्होंने वीर निर्वाण बाद ५३० (दूसरी पुस्तकमें ५२०) वे वर्षमें बनाया है। ग्रन्थकर्ताके इस कथनको नहीं माननेमें कोई कारण नहीं है। परंतु वह ग्रंथ ईस्वीसन्‌के ४ थे वर्षमें बना था, यह मानना कठिन लगता है। मेरे अभिप्रायके मुताबिक ' पउमचरियं ' ईस्वीसन्‌की ३ री या ४ थी शताब्दीमें बना हुआ होना चाहिए। चाहे जैसा हो; परन्तु पूर्वकालमें महावीर निर्वाण काल-

*जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटिके जर्नलकी ४० वी जिल्दमें, पृ. ९४ पर, मैंने लिखा है कि—हरिभद्रसूरि और शीलाङ्काचार्य दोनोंके गुरु जिनभद्र या जिनभट थे, इस लिये वे दोनों समकालीन थे। शीलाङ्कने आचाराङ्गसूत्र ऊपर ७९८, ई. स. ८७६ में टीका लिखी है।

की गणना वर्तमान गणनाकी तरह एक ही प्रकारसे नहीं होती थी। ऐसा सन्देह लानेमें कारण मिलते हैं; और अगर ऐसा न हो तो भी प्राचीन कालमें निर्वाण समयकी गणनामें भूल अवश्य चली आती थी, जो पीछेसे सुधार ली गई है।"

—डॉ. जेकोबीकी उपमि० प्रस्तावना, पृ. ६–१०।

डॉ. साहबके इस सब कथनका एकंदर सार इतना ही है कि वे हरिभद्र और सिद्धर्षि—दोनोंको समकालीन मानते हैं और उनका समय सिद्धर्षिके लेखानुसार विक्रमकी १० वीं शताब्दी स्वीकरणीय बतलाते हैं। हरिभद्रकी मृत्यु-संवत् सूचक गाथामें जो ५८५ वर्षका जिकर है वह वर्ष विक्रम संवत्सरका नहीं परंतु गुप्त संवत्सरका समझना चाहिए। गुप्त संवत् और विक्रम संवत्के बीचमें ३७६ वर्ष का अन्तर रहता है। इस लिये ५८५ में ३७६ मिलानेसे ९६१ होते हैं। इधर सिद्धर्षिकी कथाके ९६२ में समाप्त होनेका स्पष्ट उल्लेख है ही। अतः वे दोनों बराबर समकालीन सिद्ध हो जाते हैं। हरिभद्रके मृत्यु संवत् ५८५ को विक्रमीय न माननेमें मुख्य कारण, एक तो सिद्धर्षि जो उनको अपना गुरु बतलाते हैं वह है, और दूसरा यह है कि हरिभद्रके निजके ग्रन्थोंमें ऐसे ग्रन्थकारोंका उल्लेख अथवा सूचन है, जो विक्रमीय ६ ठी शताब्दीके बाद हुए हैं। इस लिये उनका उतने पुराणे समयमें होना दोनों तरहसे असंगत है।

सामान्य रीतिसे एक मनुष्यके व्यावहारिक जीवनके २० वर्ष गिनते हैं और इस प्रकार एक शताब्दीमें पांच पुरुष-परंपराके हो जानेका साधारण सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। इस लिये ४ पटके ज्यादहसे ज्यादह सौ सवासौ वर्ष बाद कर, हरिभद्रको सीधे सिद्धर्षिके समकालीन मान लेनेमें अधिक युक्ति संगतता है।)

दूसरा प्रमाण धनविजयजीने यह दिया है कि–रत्नसंचय प्रकरणमें, निम्न लिखित गाथार्धमें हरिभद्रका समय वीर संवत् १२५५ लिखा है। यथा—

'पणपण्णबारससए हरिभद्दो सूरि आसि पुव्वकए'

इस गाथाके 'टबार्थ' में लिखा है कि—'वीरथी बारसें पंचावन वर्षे श्रीहरिभद्रसूरि थया। पूर्वसंघ (?) ना करनार।' इस पर धनविजयजी अपनी टिप्पणी करते हैं कि, वीर संवत् १२५५ मेंसे ४७० वर्ष निकाल देनेपर विक्रम संवत् ७८५ आते हैं। संभव है कि, हरिभद्र सूरिका आयुष्य सौ वर्ष जितना दीर्घ हो और इस कारणसे वे सिद्धर्षिके, निदान बाल्यावस्थामें तो, समकालीन हो सकते हैं (!)।

तीसरा प्रमाण उन्होंने यह लिखा है:–दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रकी टीकाके कर्ता ब्रह्मर्षिने 'सुमतिनागिलचतुष्पदी' में लिखा है कि, महानिशीथसूत्रके उद्धारकर्ता हरिभद्रसूरि वीरनिर्वाणबाद १४०० वर्षमें हुए। यथा—

'वरस चउदसे वीरह पछे,
ए ग्रंथ लखिओ तेणे अं छे
दसपूर्वलग सूत्र कहाय,

पने अनेकान्तजयपताकादि दूसरे ग्रन्थोंमें उन महान् बौद्ध तार्किकके हेतुबिन्दु आदि ग्रन्थोंमेंसे अनेक अवतरण भी दिये हैं और पचासों वार साक्षात् उनका स्पष्ट नामोल्लेख तक भी किया है। इस लिये डॉ. साहबका यह अनुमान निःसन्देहरूपसे सत्य है कि धर्मकीर्ति हरिभद्रके पुरोयायी थे। परंतु इस प्रमाण और कथनसे हरिभद्रका सिद्धर्षिके साथ एक कालमें होना हम नहीं स्वीकार सकते। यदि डॉ. जेकोबीके कथनके विरुद्ध जानेवाला कोई निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिलता, तब तो उनके उक्त निर्णयमें भी अविश्वास लानेकी हमें कोई जरूरत नहीं होती और नाही इस विषयके पुनर्विचारकी आवश्यकता होती। परंतु हमारे सम्मुख एक ऐसा असन्दिग्ध प्रमाण उपस्थित है जो स्पष्टरूपसे डॉ. साहबके निर्णयके विरुद्ध जाता है। इसी विरुद्ध प्रमाणकी उपलब्धिके कारण इस विषयकी हमें फिरसे जांच करने की जरूरत मालूम पडी और तदनुसार प्रकृत उपक्रम किया गया है।

अपनी इस जांचके परिणाममें हमें जो जो नये प्रमाण मिले हैं उनको क्रमशः उल्लिखित करनेके पहले और उन प्रमाणोंके आधार पर जो सिद्धान्त हमने स्थिर किया है उसका विस्तृत स्वरूप बतलानेके पहले, पाठकोंके ज्ञानसौकर्यार्थ, अपने निर्णयका सारांश हम प्रथम यहीं पर कह देते हैं कि, हमारे शोधके मुताबिक हरिभद्रसूरि न तो उक्त प्राकृत गाथा आदि लेखोंमें बतलाये मुजिब ६ ठी शताब्दी में विद्यमान थे; और न डॉ. जेकोबी साहब आदि लेखकोंके कथनानुसार, सिद्धर्षिके समान १० वीं शताब्दीमें मौजूद थे। परंतु श्रमण भगवान् श्रीमहावीरदेव प्ररूपित आर्हत दर्शनके अजरामर सिद्धान्तस्वरूप 'अनेकान्तवाद' की 'जयपताका' को भारतवर्षके आध्यात्मिक आकाशमें उन्नत उन्नततर रूपसे उडाने वाले ये 'श्वेतभिक्षु' महात्मा अपने उज्ज्वल और आदर्श जीवनसे, आठवीं शताब्दीके सौभाग्यको अलंकृत करते थे।

अपने ईस निर्णयको प्रमाणित करनेके लिये हमें केवल दो ही बातोंका समाधान करना होगा। एक तो सिद्धर्षिने जो हरिभद्र सूरिको अपने धर्मबोधकर गुरु बतलाये हैं, उसका क्या तात्पर्य है, इस बातका; और दूसरा, प्राकृत गाथामें और उसके अनुसार अन्यान्य पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें हरिभद्रका स्वर्गगमन जो विक्रम संवत्के ५८५ वें वर्षमें लिखा है उसका स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, इस बातका। इसमें पहली बातका-सिद्धर्षिके लिखे हुए हरिभद्रपरक गुरुत्वका-समाधान इस प्रकार है—

उपमितिभवप्रपञ्चा कथामें लिखे हुए सिद्धर्षिके एतद्विषयक वाक्योंका सूक्ष्मबुद्धिपूर्वक विचार किया जाय और उनका पूर्वापर सम्बन्ध लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि, सिद्धर्षि हरिभद्रको अपने सांक्षात् (प्रत्यक्ष) गुरु नहीं मानते परंतु परोक्षगुरु-अर्थात् आरोपितरूपसे गुरु-मानते हैं! उपमि० की प्रशस्तिमें जो उन्होंने अपनी गुरुपरंपरा दी है, उसका विचार यहां अवश्य कर्तव्य है! इस प्रशस्तिके पाठसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिद्धर्षिके दीक्षाप्रदायक गुरु गर्गर्षि थे-अर्थात् उन्होंने गर्गर्षिके हाथसे दीक्षा ली थी। प्रशस्तिके सातवें पद्यमें यह बात स्पष्ट लिखी हुई है। यथा—

सद्दीक्षादायकं तस्य स्वस्य चाहं गुरूत्तमम् ।
नमस्यामि महाभागं गर्गर्षिमुनिपुङ्गवम् ॥

प्रशस्तिके पाठसे यह भी ज्ञात होता है कि, गर्गर्षि मात्र सिद्धर्षिके ' दीक्षा गुरु ' थे, बाकी और सब प्रकारका गुरुभाव उन्होंने दुर्गस्वामीमें स्थापित किया है। क्यों कि दुर्गस्वामीकी प्रशंसामें जब उन्होंने ५-६ श्लोक लिखे हैं और अपनेको उनका ' चरणरेणुकल्प ' लिखा है, तब गर्गर्षिको केवल एक श्लोकमें नमस्कार मात्र किया है। साथमें इस उपर्युद्धृत श्लोकमें दुर्गस्वामीको भी दीक्षा देने वाले गर्गर्षि ही बतलाये हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि, शायद, गर्गर्षि मूल सूराचार्यके शिष्य और देल्लमहत्तरके गुरुबन्धु होंगे।[३३] उन्होंने

[३३] ऊपरका कथन लिखे बाद पीछेसे जब प्रभावकचरित्र में देखा तो उसमें वही बात लिखी मिली जो हमने अनुमानित की है। अर्थात् प्रभा० कारने गर्गर्षिको सूराचार्य ही के ' विनेय ' (शिष्य) लिखे हैं। यथा—

'आसीन्निर्वृत्तिगच्छे च सूराचार्यो धियां निधिः।
तद्विनेयश्च गर्गर्षिरहं दीक्षागुरुस्तव ॥'

प्रभावकचरित्र, पृ० २०१, श्लो. ८५।

दुर्गस्वामीको दीक्षा अपने हाथसे दी होगी, परंतु गुरुतया देल्लमहत्तरका नाम प्रकट किया होगा (-ऐसा प्रकार आज भी देखा जाता है और दूसरे जुने ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उदाहरणोंके अनेक उल्लेख भी मिल आते हैं) । सिद्धर्षिको भी उन्होंने या तो दुर्गस्वामीके ही नामसे दीक्षा दी होगी, अथवा अपने नामसे दीक्षा देकर भी उनको दुर्गस्वामीके स्वाधीन कर दिये होंगे, जिससे शास्त्राभ्यास आदि सब कार्य उन्होंने उन्हींके पास किया होगा। और इस कारणसे सिद्धर्षिने मुख्य कर उन्हींको गुरुतया स्वीकृत किये होंगे । यह चाहे जैसे हो: परंतु कहनेका तात्पर्य यह है कि सिद्धर्षिकी प्रशस्तिके पाठसे तो उनके गुरु दुर्गस्वामी और साथमें गर्गर्षि ज्ञात होते हैं । ऐसी दशामें यहां पर, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डॉ. जेकोबीके कथनानुसार सिद्धर्षिको धर्मबोध करनेवाले सूरि यदि साक्षात्रूपसे आचार्य हरिभद्र ही होते तो फिर वे उन्हींके पास दीक्षा ले कर उनके हस्तदीक्षित शिष्य क्यों नहीं होते ? गर्गर्षि और दुर्गस्वामीके शिष्य बननेका क्या कारण ? इसके समाधानके

श्लोकमें सिद्धर्षि 'अनागतं परिज्ञाय' ऐसा वाक्य-प्रयोग करते हैं । 'अनागतं' शब्दका यहां पर दो तरहसे अर्थ लिया जा सकता है — एक तो, यह शब्द सिद्धर्षिका विशेषण हो सकता है; और इसका विशेष्य 'मां(मुझको)' यह अध्याहृत रहता है; इस विचारसे, इसका अर्थ 'अनागत यानि भविष्यमें होनेवाले ऐसे मुझको जानकर' ऐसा होता है । दूसरा यह शब्द क्रियाविशेषण भी बन सकता है, और उसका व्याकरणशास्त्रकी पद्धति अनुसार 'अनागतं यथा स्यात् तथा परिज्ञाय' ऐसा शाब्दबोध होता है । इसका अर्थ 'अनागत यानि भाविष्यमें जैसा होगा वैसा जान कर' ऐसा होता है । दोनों तरहके अर्थका तात्पर्य एक ही है और वह यह है कि सिद्धर्षिके विचारसे हरिभद्रका ललितविस्तरारूप बनानेवाला कार्य भविष्यत्कालीन उपकारकी दृष्टिसे है । इससे यह स्वतः स्पष्ट है कि हरिभद्रने ललितविस्तरा किसी अपने समानकालीन शिष्यके विशिष्ट बोधके लिये नहीं बनाई थी। और जब ऐसा है तो, तर्कसरणिके अनुसार यह

स्वयंसिद्ध हो गया कि, उस वृत्तिको अपने ही विशिष्ट बोधके लिये रची गई माननेवाला शिष्य, उन आचार्यसे अवश्य पीछे ही के कालमें हुआ था। हमारे विचारसे, प्रस्तुत श्लोकके उत्तरार्धमें ललितविस्तराके विशेषणरूपमें 'मदर्थेव कृता—(मेरे ही लिये की गई)' ऐसा जो पाठ है उसकी जगह 'मदर्थेव कृता—(मानों मेरे लिये की गई), ऐसा होना चाहिए। क्यों कि उक्त रीतिसे जब सिद्धर्षि अपना अस्तित्व हरिभद्रके बाद-किसी समयमें-होना सूचित करते हैं तो फिर उनकी कृतिको निश्चयरूपसे (एवकार शब्दका प्रयोग कर) अपने ही लिये बनाई गई कैसे कह सकते हैं? इस लिये यहां पर 'इव' जैसे उपमावाचक (आरोपित अर्थसूचक) शब्दका प्रयोग ही अर्थ संगत है। बहुत संभव है कि उपमि० की दूसरी हस्तलिखित पुस्तकोंमें इस प्रकारका पाठभेद मिल भी जाये।

ललितविस्तरा वृत्ति सिद्धर्षिको किस रूपमें उपकारक हो पडी थी, अथवा किस कारणसे उन्होंने उसका स्मरण किया है, इस बातका पता उनके लेखसे बिल्कुल नहीं लगता। उनके चरित्रलेखक, जो, बौद्धधर्मके संसर्गके कारण जैनधर्मपरसे उनका चित्तभ्रंश होना और फिर इस वृत्तिके अवलोकनसे पुनः स्थिर होना, इत्यादि प्रकारकी बातें लिखते हैं, वे कहां तक सत्य हैं इसका कोई निर्णय नहीं हो सकता। ललितविस्तराकी पञ्जिका लिखनेवाले मुनिचंद्रसूरि, जो सिद्धर्षिसे मात्र २०० वर्ष बाद हुए हैं वे भी. इस प्रवादकी पुष्टिमें प्रमाणरूप गिना जाय, ऐसा ही अपना अभिप्राय लिखते हैं[37]।

परंतु, इधर जब हम एक तरफ ललितविस्तरामें चर्चित विषयका विचार करते हैं और दूसरी तरफ उपमितिमें वर्णित सिद्धर्षिके आन्तर जीवनका अभ्यास करते हैं तब, इन दोनों ग्रन्थोंमें, इस प्रचलित प्रवादकी सत्यताका निश्चायक ऐसा कोई भी प्रमाण हमारी दृष्टिमें नहीं आता। ललितविस्तरामें यद्यपि अर्हद्देवकी आप्तता और पूज्यता बडी गंभीर और हृदयङ्गमरीतिसे स्थापित की गई है, तथापि उसमें ऐसा कोई विशेष विचार नहीं है जिसके अवलोकनसे, बौद्धन्यायशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासके कारण सिद्धर्षि जैसे प्रतिभाशाली और जैनशास्त्रके पारदर्शी विद्वान्का स्वधर्मसे चलायमान हो जानेवाला मन सहजमें पुनः स्थिर हो जाय। हां, यदि हरिभद्र ही के बनाये हुए अनेकान्तजयपताकादि ग्रंथोंके लिये ऐसा विधान किया हुआ होता तो उसमें अवश्य सत्य माननेकी श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। क्यों कि उन ग्रन्थोंमें बौद्ध शास्त्रके समग्र कुतर्कोंका बडी अकाट्य युक्तियों द्वारा संपूर्ण निराकरण किया गया है। दूसरी बात यह है कि, यदि सिद्धर्षिका उक्त प्रवादानुसार वैसा जो विश्वविश्रुत धर्मभ्रंश हुआ होता तो उसका जिकर वे उपमिति०के प्रथम प्रस्तावमें अपने 'स्वसंवेदन' में अवश्य करते। क्यों कि सांसारिक कुवासनाजन्य धर्मभ्रंशका वर्णन विस्तारके साथ उन्होंने दो तीन जगह किया है (देखो, उप० पृ. ९३,-९४) परंतु दार्शनिक कुसंस्कारजन्य धर्मभ्रंशका उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। यद्यपि एक जगह, कुतर्कवाले ग्रन्थ और उनके प्रणेता कुतीर्थिक, मुग्ध जनको किस प्रकार भ्रान्त करते हैं और तत्त्वाभिमुखतासे किस प्रकार पराङ्मुख बनाते हैं, उसका उल्लेख आया है (देखो, उप० पृ० ४६); तथापि वह सर्वसाधारण और निष्पुण्यककी भगवद्धर्मप्राप्तिके पूर्वका वर्णन होनेसे उस परसे सिद्धर्षिके प्रावादिक धर्मभ्रंशका कुछ भी सूचन नहीं होता। अतः इस बातका हम कुछ निर्णय नहीं कर सके कि ललितविस्तरा वृत्तिका स्मरण सिद्धर्षिने क्यों किया है। हां, इतनी बात तो जानी जाती है कि यह वृत्ति उन्हें अभ्यस्त अवश्य थी और इस पर उनकी

---

३६ प्रभावक चरित्रमें 'मदर्थे निर्मिता येन' ऐसा पाठ मुद्रित है। इसी तरह दूसरी पुस्तकोंमें उक्त प्रकारका दूसरा पाठ भी मिलना बहुत संभवित है।

३७ मुनिचन्द्रसूरिने पञ्जिकामें ललितविस्तरा वृत्तिकी विवृति करनेके लिये अपनी असमर्थता बताते हुए निम्न लिखित पद्य लिखा है।—

'यां बुद्ध्वा किल सिद्धसाधुरखिलव्याख्यातृचूडामणिः
सम्बुद्धः सुगतप्रणीतसमयाभ्यासाचलच्चेतनः।
यत्कर्तुः हरिभद्रसूरिगुरुतया चक्रे नमस्यामसौ
को ह्येनां विवृणोतु नाम विवृतिं स्मृत्वैव तां प्याममः॥'

भक्ति थी। क्यों कि इस वृत्तिकी वाक्यशैलीका उन्होंने अपने महान् ग्रन्थमें उत्तम अनुकरण किया है, इतना मात्र ही नहीं है परंतु इसमें जितने उत्तम उत्तम धार्मिक भावनावाले वाक्य हैं वे सब एक दूसरी जगह ज्यों के त्यों अन्तर्हित भी कर लिये हैं। उदाहरणके लिये चतुर्थ प्रस्तावमें जहां पर, नरवाहन राजा विचक्षण नामके सूरिके पास आ कर बैठता है, तब सूरिने जो उपदेशात्मक वाक्य उसे कहे हैं वे सब सिद्धर्षिने ललितविस्तरा ही मेंसे ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं (देखो, उपमि. पृ. ४७७, और ललित० पृ.४६-७)। इसी तरह, सातवें प्रस्तावमें भी एक जगह बहुतसा उपदेशात्मक अवतरण यथावत् उद्धृत (अन्तर्हित) किया हुआ है (उपमि. पृ १०९२ और ललित. पृ. १६६)। इससे यह निश्चित ज्ञात होता है कि सिद्धर्षिको यह ग्रन्थ बहुत प्रिय था और इस प्रियतामें कारणभूत, किसी प्रकारका इस ग्रन्थका, उनके ऊपर विशिष्ट उपकारकत्व ही होगा। विना ऐसे विशिष्ट उपकारकत्वके, उक्त रीतिसे, इस ग्रन्थका सिद्धर्षिद्वारा बहुमान किया जाना संभवित और संगत नहीं लगता। जिस ग्रन्थके अध्ययन या मननसे अपना आत्मा उपकृत होता है, उस ग्रन्थके प्रणेता महानुभावको भी अपना उपकारी मानना-समजना और तदर्थ उसको नमस्कारादि करना, यह एक कृतज्ञ और सज्जनका प्रसिद्ध लक्षण है, और यह सर्वानुभव सिद्ध ही है। अतः हरिभद्रके समकालीन न होने पर भी सिद्धर्षिका, उनको गुरुतया पूज्य मान कर नमस्कारादि करना और उन्हें अपना परमोपकारी बतलाना तथा उनकी बनाई हुई ललितविस्तरा वृत्तिके लिये ' मदर्थेव कृता--मानों मेरे लिये की गई ' की भावनात्मक कल्पना करना सर्वथा युक्तिसंगत है।

उपर्युक्त कथनानुसार सिद्धर्षि हरिभद्रसूरिकी अपेक्षासे अनागत याने भविष्यकालवर्ती थे, यह बात निश्चित सिद्ध होती है। इसी बातका विशिष्ट उल्लेख उन्होंने, उपमिति० के प्रथम प्रस्तावमें और भी स्पष्ट रूपसे कर दिया है। इस प्रस्तावमें, सिद्धर्षिने, निष्पुण्यक भिखारीके राजमन्दिरके चौकमें प्रविष्ट होने पर उस पर महाराजकी दयार्द्र दृष्टिके पडनेका, और उस दृष्टिपातको देख कर, महाराजकी पाकशालाके धर्मबोधकर नामक अधिकारीके मनमें, उसके कारणका विचार करनेका, जो रूपकात्मक वर्णन दिया है, उस वर्णनको फिर अपने अन्तरङ्ग जीवन ऊपर घटाते हुए तथा रूपकका अर्थ स्फुट करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

' यथा च तां महाराजदृष्टिं तत्र रोरे निपतन्तीं धर्मबोधकराभिधानो महानसनियुक्तो निरीक्षितवानित्युक्तम्, तथा परमेश्वरावलोकनां मज्जीवे भवन्तीं धर्मबोधकरणशीलो ' धर्मबोधकरः ' इति यथार्थाभिधानो मन्मार्गोपदेशकः ' सूरिः ' स निरीक्षते स्म,

(उपमिति. पृ. ८०)

अर्थात्--' पहले जो भोजनशालाके अधिकारी धर्मबोधकरने उस भिखारीपर पडती हुई महाराजकी दृष्टि देखी ' ऐसा कहा गया है, उसका भावार्थ ' धर्मका बोध (उपदेश) करनेमें तत्पर होनेके कारण 'धर्मबोधकर' के यथार्थ नामको धारण करनेवाले ऐसे जो मेरे मार्गोपदेशक सूरि हैं, उन्होंने मेरे जीवन ऊपर पडती हुई परमेश्वरकी अवलोकना (ज्ञानदृष्टि) को देखी, ऐसा समझना चाहिए। '

इस रूपकको अपने जीवनपर इस प्रकार उपमित करते हुए सिद्धर्षिके मनमें यह स्वाभाविक शंका उत्पन्न हुई होगी कि, ' रूपकमें जो धर्मबोधकरका, भिखारीपर पडती हुई दृष्टिके देखनेका वर्णन दिया गया है वह तो साक्षात्रूपमें है। अर्थात्, जब भिखारी ऊपर महाराजकी दृष्टि पडती थी तब धर्मबोधकर (पाकशालाधिपति) वहां पर प्रत्यक्ष रूपसे हाजर था। परंतु इस उपमितार्थमें तो यह बात पूर्णरूपसे घट नहीं सकती। क्यों कि, परमेश्वर तो सर्वज्ञ होनेसे उनकी दृष्टिका पडना तो मेरे ऊपर वर्तमानमें भी सुघटित है, परंतु जिनको मैंने अपना धर्मबोधकर गुरु माना हैं, वे (हरिभद्र) सूरि तो मेरे इस वर्तमान जीवनमें विद्यमान हैं ही नहीं और न वे परमेश्वरकी तरह सर्वज्ञ ही माने जा सकते हैं, इस लिये इस उपमानकी अर्थ-

संगति कैसे लगाई जाय ? [पाठक यहां पर यह बात ध्यानमें रक्खें कि सिद्धर्षिने इस सारे प्रसङ्गमें जिस धर्मबोधकर गुरु का वर्णन दिया है वह हरिभद्रसूरिको ही लक्ष्य कर है। क्यों कि, प्रशस्तिमें यह बात खास तौरसे, उन्होंने लिख दी है। देखो ऊपर पृष्ठ ८९ पर, हरिभद्रकी प्रशंसामें लिखे गये तीन श्लोकोंमें का पहला श्लोक।]

इस शङ्काका उन्मूलन करनेके लिये और प्रकृत उपमानकी अर्थ सङ्गति लगानेके लिये उस क्रान्तदर्शी महर्षिने अपने अनुपम प्रातिभ कौशलसे निम्न लिखित कल्पनाका निर्माण कर अपूर्व बुद्धि-चातुर्य बतलाया है। वे लिखते हैं कि—

' सद्ध्यानबलेन विमलीभूतात्मानः परहितैकनिरतचित्ता भगवन्तो ये योगिनः पश्यन्त्येव देशकालव्यवहितानामपि जन्तूनां छद्मस्थावस्थायामपि वर्तमाना दत्तोपयोगा भगवदवलोकनाया योग्यताम्। पुरोवर्तिनां पुनः प्राणिनां भगवदागमपरिकर्मितमतयोऽपि योग्यतां लक्षयन्ति, तिष्ठन्तु विशिष्टज्ञाना इति। ये च मम सदुपदेशदायिनो भगवन्तः सूरयस्ते विशिष्टज्ञाना एव, यतः कालव्यवहितैरनागतमेव तैर्ज्ञातः समस्तोऽपि मदीयो वृत्तान्तः। स्वसंवेदनसिद्धमेतदस्माकामिति। '

उ० पृ० ८०।

अर्थात्—' सद्ध्यानके बलसे जिनका आत्मा निर्मल हो गया है और जो परहितमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे योगी महात्मा, छद्मस्थावस्था यानि असर्वज्ञदशामें भी विद्यमान हो कर, अपने उपयोग (ज्ञान) द्वारा, देशान्तर और कालांतरमें होनेवाले प्राणियोंकी, भगवान्‌के दृष्टिपातके योग्य ऐसी, योग्यताको जान लेते हैं। तथा इसी तरह जिनकी मति भगवान्‌के आगमोंके अध्ययनसे विशुद्ध हो गई है ऐसे आगमाभ्यासी पुरुष भी इस प्रकारकी योग्यताको जान सकते हैं तो फिर विशिष्टज्ञानियों (श्रुतज्ञानियों) की तो बात ही क्या है ? । और जो मेरेको सदुपदेश देनेवाले आचार्य महाराज हैं वे तो विशिष्टज्ञानी ही हैं। इस लिये ' कालसे व्यवहित ' याने कालांतरमें (पूर्वकालमें) होने पर भी, उन्होंने ' अनागत, याने भविष्यकालमें होनेवाला मेरा समग्र वृत्त जान लिया था। यह बात हमारी स्वसंवेदन (स्व नुभव) सिद्ध है। '

इस उल्लेख पर किसी प्रकारकी टीकाकी जरू त नहीं है। स्पष्टरूपसे सिद्धर्षि कहते हैं कि, मेरे कालव्यवहित अर्थात् पूर्वकालमें हो जानेवाले धर्म बोधकर सूरि (जो स्वयं हरिभद्र ही हैं) ने अनागत याने भविष्यकालमें होनेवाला मेरा सम वृत्तान्त जान लिया था उसका कारण यह है वे विशिष्टज्ञानी थे। हरिभद्र सूरि सचमुन सिद्धर्षिके जीवनके बारेमें कोई भविष्यलेख लि गये थे या कथागत उपमितार्थकी संगतिके लि सिद्धर्षिकी यह स्वोत्प्रेक्षित कल्पना मात्र है, इ बातके विचारनेकी यहां पर कोई आवश्यकता नहं है। यहां पर इस उल्लेखकी उपयोगिता इसी दृष्टि से है कि, इसके द्वारा हम यह स्पष्ट जान सके कि हरिभद्रसूरि सिद्धर्षिके समकालीन नहीं किन्तु पूर्वकालीन हैं।

इस प्रकार सिद्धर्षिके निजके उल्लेखसे तो हरि भद्रसूरिकी पूर्वकालीनता सिद्ध होती ही है, परं इस पूर्वकालीनताका विशेष साधक और अधि स्पष्ट प्रमाण प्राकृत साहित्यके एक मुकुटमणिसमा ' कुवलयमाला ' नामक कथाग्रन्थमेंसे भी मिल ता है। यह कथा दाक्षिण्यचिन्हके उपनामवाले उद्योतनसूरिने बनाई है। इसकी रचना-समाप्ति शक संवत् सात सौ के समाप्त होनेमें जब एक दि न्यून था तब,–अर्थात् शक संवत् ६९९ के चैत्रकृष्ण १४ के दिन—[३८] हुई थी। यह उल्लेख कर्ताने, स्व प्रशस्तिमें निम्न प्रकारसे किया है—

'....... अह चोद्दसीए चित्तस्स किण्हपक्खम्मि। निम्मविया बोहकरी भव्वाणं होउ सव्वाणं ॥ '

× × × ×

[३८] राजपूताना और उत्तर भारतमें पूर्णिमान्त मास माना जाता है। इस लिये यहां पर इसी पूर्णिमान्त मासकी अपेक्षासे चैत्रकृष्णका उल्लेख किया हुआ है। दक्षिण भारत की अपेक्षासे फाल्गुनकृष्ण समझना चाहिए। क्यों कि वहां पर अमान्त मास प्रचलित है। गुजरातमें भी यही अमान्त मास प्रचलित है।

'सगकाले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एगदिणे णूणेहिं एस समत्ता वरण्हम्मि ॥'

[टिप्पणी:-यह कथा प्राकृत साहित्यमें एक अमूल्य रत्न-स्थान है। खेदकी बात है कि ऐसे उत्तम और महत्त्वके ग्रन्थ आज तक किसी शोधक विद्वानकी दृष्टितक नहीं पड़ी। इसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति, डेक्कनकालेजमें संरक्षित, गवर्नमेंटके सुप्रसिद्ध पुस्तकालयमें संगृहीत है। यह कथा चम्पू के ढंग पर बनी हुई है। इसकी रचनाशैली बाणकी कादम्बरी, हर्षाख्यायिका या त्रिविक्रमकी नलचम्पू के जैसी है। काव्य-प्रकृति उत्तम प्रकारकी और भाषा बहुत मनोरम है। प्राकृतभाषाके अभ्यासियोंके लिये यह एक अनुपम ग्रन्थ है। इस कथामें कविने कौतुक और विनोदके वशीभूत हो कर मुख्य प्राकृत भाषाके सिवा अपभ्रंश और पैशाची भाषामें भी कितनेएक वर्णन लिखे हैं, जिनकी उपयोगिता भाषाशास्त्रियोंकी दृष्टिसे और भी अत्यधिक है। अपभ्रंश भाषामें लिखे गए इतने प्राचीन वर्णन अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हुए हैं। इस लिये, इस दृष्टिसे विद्वानोंके लिये यह एक बहुत महत्त्वकी चीज है। इस कथाका विस्तृत परिचय हम एक स्वतंत्र लेख द्वारा देना चाहते हैं। सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्र सूरिके गुरुवर श्रीदेवचन्द्रसूरिने 'संतिनाह चरियं' के उपोद्घात में, पूर्व कवियों और उनके उत्तम ग्रंथोंकी प्रशंसा करते हुए इस कथाके कर्ताकी भी इस प्रकार प्रशंसा की है--

दक्खिन्नइंदसूरिं नमामि वरवण्णभासिया सगुणा।
कुवलयमाल व्व महा कुवलयमाला कहा जस्स ॥

इस कथाका संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर १४ वीं शताब्दीमें होनेवाले रत्नप्रभसूरि नामके एक विद्वान्ने किया है जिसे भावनगरकी जैन आत्मानन्द सभाने छपवा कर प्रकट किया है।

इस कथा और इसके कर्ताका उल्लेख प्रभावक चरित्रके सिद्धर्षि प्रबन्धमें आया हुआ है। वहीं पर ऐसा वर्णन किया है कि-'दाक्षिण्यचन्द्र नामके सिद्धर्षिके एक गुरु भ्राता थे। उन्होंने शृंगाररससे भरी हुई ऐसी कुवलयमाला कथा बनाई थी। सिद्धर्षिने जब 'उपदेशमाला' नामक ग्रंथ ऊपर बालावबोधिनी टीका लिखी तब दाक्षिण्यचन्द्रने उनका उपहास करते हुए कहा कि पुराणे ग्रंथोंके अक्षरों को कुछ उलटा पुलटा कर नया ग्रंथ बनानेमें क्या महत्त्व है? शास्त्र तो 'समरादित्यचरित' जैसा कहा जा सकता है जिसके पढनेसे मनुष्य भूख-प्यासको भी भूल जाते हैं। अथवा मेरी बनाई हुई कुवलयमाला कथा भी कुछ वैसी ही कही जा सकती है, जिसके बांचनेसे मनुष्यको उत्तरोत्तर रसाल्हाद आता रहता है। तुमारी रचना तो लेखक (लिपिकर=लिखे हुए पुस्तककी नकल करनेवाला)की तरह मात्र नकल बनाने जैसी है। अपने गुरुभ्राता के ऐसे उपहासात्मक वचन सिद्धर्षिके दिलमें चुभ गये और फिर उन्होंने अष्ट प्रस्ताववाली सुप्रसिद्ध उपमितिभवप्रपंचा कथाकी अपूर्व रचना की। इस सुबोध ग्रंथके आल्हादक व्याख्यानको सुन कर जैन समाज (संघ) ने सिद्धर्षिको मानप्रद ऐसी 'व्याख्याता' की पदवी समर्पित की। इत्यादि। (देखो, प्रभावकचरित्र, निर्णयसागर, पृष्ठ २०१-२०२ श्लोक ८८-१०७)

(डॉ. जेकोबी, प्रभावकचरित्रके इस वर्णनको बराबर समझ नहीं सके इस लिये उन्होंने 'कुवलयमाला कथा' को सिद्धर्षि ही की कृति समझ कर असम्बद्ध अर्थ लिख दिया है। (देखो, जेकोबी साहबकी उपमितिभव० की प्रस्तावना, पृष्ठ०१२, तथा परिशिष्ट, पृष्ठ० १०५)

कुवलयमाला कथाकी प्रशस्तिके देखनेसे मालूम पडता है कि प्रभावक चरित्रके कर्ताका उपर्युक्त कथन बिल्कुल असत्य है। क्यों कि कुवलयमालाकी रचना उपमितिभवप्रपंचाकी रचनासे १२७ वर्ष पूर्व हुई है, इस लिये दाक्षिण्यचन्द्र (चिन्ह)का सिद्धर्षिके गुरुभ्राता होनेका और उक्त रीतिसे उपहासात्मक वाक्योंके कहनेका कोई भी सम्बन्ध सत्य नहीं हो सकता।]

इस कथाके प्रारंभमें बाणभट्टकी 'हर्षाख्यायिका' और धनपाल कविकी 'तिलकमञ्जरी' आदि कथाओंकी तरह, कितनेएक प्राचीन कवि और उनके ग्रन्थोंकी प्रशंसा की हुई है। इस कविप्रशंसामें, अन्तमें, हरिभद्रसूरिकी भी--उनकी बनाई हुई प्रशमरस परिपूर्ण प्राकृत भाषात्मक 'समराइच्चकहा' के उल्लेख पूर्वक--इस प्रकार प्रशंसा की गई है--

जो इच्छइ भवविरहं भवविरहं को न वंदए सुयणो।
समयसयसत्थगुरुणो समरमियंका[३९] कहा जस्स ॥

— डेक्कनका० संगृहीत पुस्तक, पृ. २।

---

३९ हरिभद्रसूरिने तो स्वयं अपने इस ग्रंथका नाम 'समराइच्चकहा' अथवा 'समराइच्चचरियं' (चरियं समराइच्चस्स, पृ० ५, पं. १२) लिखा है, परंतु यहां पर 'समरमियंका' (सं० समरमृगाङ्का) ऐसा नाम उल्लिखित है सो इस पाठभेदका कारण समझमें नहीं आता।

हरिभद्रसूरिने प्रायः अपने सभी ग्रन्थोंके अंतमें, किसी न किसी तरह अर्थ-सम्बन्ध घटा करके 'भवविरह' अथवा 'विरह' इस शब्दका प्रयोग अवश्य किया है। इस लिये वे 'विरहाङ्क' कवि या ग्रन्थकार कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थोंके सबसे पहले टीकाकार जिनेश्वरसूरिने (वि. सं. १०८०) अष्टक प्रकरणकी टीकामें, अन्तमें जहां पर 'विरह' शब्द आया है वहां पर, इस बारेमें स्पष्ट लिखा भी है कि--

'विरह' शब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यावेदितम्, विरहाङ्कत्वात् हरिभद्रसूरेरिति।'

ऐसा ही उल्लेख अभयदेवसूरि (पंचाशकप्रकरणकी टीकामें) और मुनिचन्द्रसूरि(ललितविस्तरापंजिकामें) आदिने भी किया है। इसी आशयसे, कुवलयमालाके कर्ताने भी यहां पर श्लेषके रूपमें 'भव-विरह' शब्दका युगल प्रयोग कर हरिभद्रसूरिका स्मरण किया है। साथमें उनकी 'समराइच्चकहा' का भी उल्लेख है, इससे, इस कुशङ्का के लिये तो यहां पर, किञ्चित् भी अवकाश नहीं है कि, इन हरिभद्रके सिवा और किसी ग्रंथकारका इस उल्लेखमें स्मरण हो। अस्तु।

इसी तरह, इस कथाकी प्रशस्तिमें भी हरिभद्रसूरिका उल्लेख मिलता है, जिसका विचार आगे चल कर किया जायगा। इससे स्पष्ट है कि, हरिभद्रको, शक संवत् ७००, अर्थात् विक्रम संवत् ८३५=ई. स. ७७८ से तो अर्वाचीन किसी तरह अब यहां पर, यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब हरिभद्र इस प्रकार सिद्धर्षिके समकालीन नहीं माने जा सकते, तब फिर पूर्वोक्त गाथाके कथनानुसार उन्हें विक्रम की ६ ठी शताब्दीमें मान लेनेमें क्या आपत्ति है? क्यों कि उस समयका बाधक मुख्य कर जो सिद्धर्षिका उल्लेख समझा जाता है वह तो उपर्युक्त रीतिसे निर्मूल सिद्ध होता है।

इस प्रश्नके समाधानके लिये विशेष गवेषणाकी जरूरत होनेसे, जब हमने हरिभद्रके प्रसिद्ध प्रसिद्ध सब ही उपलब्ध ग्रंथोंका, इस दृष्टि से, ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया, तो उनमें अनेक ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिल आये कि जिनकी ऐतिहासिक पूर्वापरताका विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि 'गाथा' में बतलाये मुजब हरिभद्रका स्वर्गमन वि. सं. ५८५ में—एवं ६ ठी शताब्दीमें उनका होना सत्य नहीं माना जा सकता।

जैसा कि हम प्रारंभ ही में सूचित कर आये हैं, हरिभद्रसूरिने अपने दार्शनिक और तात्त्विक ग्रंथोंमें कितनेएक ब्राह्मण, बौद्ध आदि दार्शनिक विद्वानोंके —नामोल्लेख पूर्वक—विचारों और सिद्धान्तों की आलोचना-प्रत्यालोचना की है। इस कारणसे उन उन विद्वानोंके सत्ता-समयका विचार करनेसे हरिभद्रके समयका भी ठीक ठीक विचार और निर्णय किया जा सकता है। अतः अब हम इसी बातका विचार करना शुरू करते हैं।

हरिभद्रसूरिके ग्रंथोंमें मुख्य कर निम्न लिखित दार्शनिकों और शास्त्रकारोंके नाम मिल आते हैं:—

लिये, इन विद्वानोंके समयका विचार, हरिभद्रके समय-विचारमें बडा उपयोगी हो कर उसके द्वारा हम ठीक ठीक यह जान सकेंगे कि हरिभद्र किस समयमें हुए होने चाहिए।

ऊपर जो आचार्यनामावली दी है उसमें वैयाकरण भर्तृहरिका भी नाम सम्मिलित है। अनेकान्तजयपताकाके चतुर्थ अधिकारमें, शब्द ब्रह्मकी मीमांसा करते हुए दो तीन स्थलपर हरिभद्रने इनका नामोल्लेख किया है और इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीयमेंसे कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। यथा—

(१) आह च शब्दार्थतत्त्वविद् (भर्तृहरिः)—[४४]

'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन जायते॥[४५]

(२) उक्तं च (भर्तृहरिणा)—

'यथानुवाकः श्लोको वेति।'[४६]

(अनेकान्तजयपताका, अमदाबाद पृष्ठ. ४१.)

चीनदेश निवासी प्रसिद्ध प्रवासी इत्सींग[४७] ई. स. की ७ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें भारतमें भ्रमण करनेको आया था। उसने अपने देशमें जा कर ई. स. ६९५ में अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखा। इसमें, उसने, उस समय भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन जिस रीतिसे प्रचलित था उसका वर्णन लिखा है और साथ में मुख्य मुख्य वैयाकरणोंके नाम भी लिखे हैं। भर्तृहरिके विषयमें भी उसने लिखा है कि—ये एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे, और इन्होंने ७०० श्लोककी संख्या वाले वाक्यपदीय ग्रंथकी रचना की है। इस ग्रंथका जिकर करके उस प्रवासीने यह भी लिखा है कि इसके कर्ताकी ई. सं. ६५० में मृत्यु हो गई है। इत्सींगके इस उल्लेखके विरुद्धमें आज तक कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ; इस लिये इसे सत्य मान लेनेमें कोई हरकत नहीं है।

महान् मीमांसक कुमारिलने 'तंत्रवार्तिक' के प्रथम प्रकरणमें शब्दशास्त्रियोंकी खूब खबर ली है। उसमें पाणिनि, कात्यायन और पतंजलीके साथ साथ भर्तृहरिके ऊपर भी आक्षेप किये गये हैं। 'वाक्यपदीय' मेंसे अनेक श्लोकोंको उद्धृत कर

---

४४ अनेकान्तजयपताका ऊपर हरिभद्रने स्वयं एक संक्षिप्त परंतु शब्दार्थको परिस्फुट करने वाली टीका लिखी है। [इस टीका के अन्तमें ऐसा उल्लेख है—'कृतिर्धर्मतो जा (या) -किनीमहत्तरासूनोराचार्यश्रीहरिभद्रस्य। टीकाप्येषाऽ यचूर्णिका प्राय। भाचार्थमात्रावेदिनी नाम तस्यैवेति'] इस टीकामें मूलग्रंथमें जिन जिन विद्वानोंके विचारोंका—अवतरणोंका संग्रह किया गया है उन सबके प्रायः नाम लिख दिये हैं। मूल ग्रंथमें उन्होंने कहीं पर भी किसी के मुख्य नाम का उल्लेख न कर के जिस शास्त्रका जो पारंगत ज्ञाता है उसके सूचक किसी विशेषणसे अथवा और किसी प्रसिद्ध उपनामसे उस उस विद्वान का स्मरण किया है। फिर टीकामें उन सबका स्पष्ट नामोल्लेख भी कर दिया है। कहीं पर मूल ग्रन्थमें 'उक्तं च' मात्र कह कर ही अन्योक्त अवतरण उद्धृत कर दिया है और फिर टिकामें उसी तरह नाम लिख दिया है। यही क्रम 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' की स्वोपज्ञ टीकामें भी उपलब्ध होता है। इस क्रमानुसार, ऊपर जो 'शब्दार्थतत्त्वविद्' विशेषण है उसका परिस्फुट टीकामें 'शब्दार्थतत्त्वविद् भर्तृहरिः' ऐसा किया है। अर्थात् इससे 'शब्दार्थतत्त्वविद्' यह विशेषण भर्तृहरि का है, ऐसा समझना चाहिए। आगे पर जहां कहीं हम टीकामें से ऐसे मुख्य नामोंको उद्धृत करें वहां पर पाठक इस नोटको लक्ष्यमें रक्खें।

४५ काशीमें मुद्रित वाक्यपदीयके प्रथमकाण्डमें ये दोनों श्लोक (पृष्ठ ४६–७) पूर्वापर के क्रमसे अर्थात् आगे पीछे लिखे हुए मिलते हैं। पिछले श्लोकके ४ थे पादमें 'सर्वं शब्देन भासते' ऐसा पाठ भेद भी उपलब्ध है। प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान् विद्यानन्दी ने 'अष्टसहस्री' [पृ. १३०] में और प्रभाचंद्रने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' [पृ. ११] में भी इन दोनों श्लोकोंको वाक्य, पदीयके क्रमसे उद्धृत किये हैं। वादी देवसूरिने भी 'स्याद्वादरत्नाकर' (पृ. ४३) में इन को दिया है।

४६ वाक्यपदीय, पृ. ४३ में यह पूरा श्लोक इस प्रकार है
यथानुवाकः श्लोको वा सोऽत्वमुपगच्छति।
आवृत्त्या, न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्त्या निरूप्यते॥

४७ देखो, प्रो. मॅक्स मुलर लिखित India: what it can teach us ?, पृष्ठ २१०।

उनकी तीक्ष्ण समालोचना की है। उदाहरणके लिये 'वाक्यपदीय' और 'तन्त्रवार्तिक' मेंसे निम्न लिखित स्थल ले लीये जाँय।

वाक्यपदीयके (पृ० १३२) दूसरे प्रकरणमें १२१ वां श्लोक इस प्रकार हैः—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥

कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिकमें इस श्लोकको दो जगह (बनारस की आवृत्ति पृ. २५१–२५४) उद्धृत किया है। यथा—

'यथाहुः—

'अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥' इति।

यत्तु 'अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुः।' इति, तत्राभिधीयते।

वाक्यपदीयके प्रथम प्रकरणमेंके ७ वें श्लोकका उत्तरार्द्ध, तन्त्रवार्तिक (पृष्ठ २०९–१०) में कुमारिलने उद्धृत किया है और उसमें शब्दपरावर्तन कर भर्तृहरिके विचारका अवस्कन्दन किया हैः—

यदपि केनचिदुक्तम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।' इति

तद्रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि वक्तव्यमासीत्।
को हि प्रत्यक्षगम्यार्थे शास्त्रात्तत्त्वावधारणम्।
शास्त्रलोकस्वभावज्ञ ईदृशं वक्तुमर्हति ?॥

अत एव श्लोकस्योत्तरार्द्धं वक्तव्यम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते।'
न ह्यत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते बधिरेष्वेवमदृष्टत्वात्।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो. का. बा. पाठकने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामक निबन्धमें इस ऊपर लिखे गये प्रमाणाधारसे निर्णीत किया है कि कुमारिल ई.स.की ८ वीं शताब्दीके पूर्व भागमें हुए होंगे। अध्यापक पाठक लिखते हैं कि—"मेरे विचारसे यह तो स्पष्ट है कि कुमारिलके समयमें व्याकरणशास्त्रके ज्ञाताओंमें भर्तृहरि भी एक विशिष्ट प्रमाणभूत विद्वान् माने जाते थे। भर्तृहरि अपने जीवनकालमें तो इतने प्रसिद्ध हुएही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनि-संप्रदायके अनुयायी, उन्हें अपने संप्रदायका एक आप्त पुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतंजलिके साथ वे भी महान् मीमांसककी समालोचनाके निशान बने हों। इसी कारणसे हुएनत्सांग, जिसने ई. स. ६२९-६४५ के बीचमें भारत-भ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा; परंतु इत्सींग, जिसने उक्त समयसे आधी शताब्दी बाद अपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारत-वर्ष के पांचों खण्डोंमें भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरणके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस विवेचनसे हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्षमें तन्त्रवार्तिककी रचना हुई उसके और भर्तृहरिके मृत्युवाले ई.स.६५०के बीचमें आधी शताब्दी बीत चुकी होगी। अतएव कुमारिल ई. स. की ८ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान होने चाहिए।"

हरिभद्रने अपने अनेक ग्रन्थोंमें मीमांसा-दर्शनकी आलोचना-प्रत्यालोचना की है। शास्त्रवार्ता-समुच्चयके १०वें प्रकरणमें मीमांसक प्रतिपादित 'सर्वज्ञ-निषेध' पर विचार किया गया है। उसमें पूर्वपक्षमें कुमारिल भट्टके मीमांसा-श्लोकवार्तिकके-

'प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥'

इस श्लोकका, 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' (उक्त प्रकरणमें के ४ थे श्लोक)के

'प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तिस्तत्राभाव प्रमाणता।'

इस श्लोकार्द्धमें केवल अर्थशः ही नहीं परंतु शब्दशः अनुकरण किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है।

इसी तरह, मीमांसा-श्लोकवार्तिकके चोदना-सूत्र वाले प्रकरणमें-जहां पर वेदोंकी स्वतः प्रमाणता स्थापित करनेकी मीमांसा की हुई है- निम्न लिखित श्लोकार्द्ध कुमारिलने लिखा हैः—

'तस्मादालोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति।'
मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ. ७४।

---

४७ जर्नल आव दि बॉम्बे ब्रेंच रोयल एसियाटिक सोसायटी, पु. १८, पृ. २१३-२३८।

४९ मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४७३।

५० शास्त्रवार्तासमुच्चय, (देवचंद ला. पुस्तकोद्धार फंडसे मुद्रित) पृष्ठ १४९।

उनकी तीक्ष्ण समालोचना की है। उदाहरणके लिये 'वाक्यपदीय' और 'तन्त्रवार्तिक' मेंसे निम्न लिखित स्थल ले लीये जाँय।

वाक्यपदीयके (पृ० १३२) दूसरे प्रकरणमें १२१ वां श्लोक इस प्रकार है:—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥

कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिकमें इस श्लोकको दो जगह (बनारस की आवृत्ति पृ. २५१–२५४) उद्धृत किया है। यथा—

'यथाहुः—

'अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥' इति।

यत्तु 'अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुः।' इति, तत्राभिधीयते।

वाक्यपदीयके प्रथम प्रकरणमेंके ७ वें श्लोकका उत्तरार्द्ध, तन्त्रवार्तिक (पृष्ठ २०९–१०) में कुमारिलने उद्धृत किया है और उसमें शब्दपरावर्तन कर भर्तृहरिके विचारका अवस्कन्दन किया है:—

यदपि केनचिदुक्तम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।' इति

तद्रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि वक्तव्यमासीत्।
को हि प्रत्यक्षगम्यार्थे शास्त्रात्तत्त्वावधारणम्।
शास्त्रलोकस्वभावज्ञ ईदृशं वक्तुमर्हति?॥

अत एव श्लोकस्योत्तरार्द्धं वक्तव्यम्—

'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते।'

न ह्यत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते बधिरेष्वेवमदृष्टत्वात्।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो. का. बा. पाठकने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामक निबन्धमें इस ऊपर लिखे गये प्रमाणाधारसे निर्णीत किया है कि कुमारिल ई.स.की ८ वीं शताब्दीके पूर्व भागमें हुए होंगे। अध्यापक पाठक लिखते हैं कि—"मेरे विचारसे यह तो स्पष्ट है कि कुमारिलके समयमें व्याकरणशास्त्रके ज्ञाताओंमें भर्तृहरि भी एक विशिष्ट प्रमाणभूत विद्वान् माने जाते थे। भर्तृहरि अपने जीवनकालमें तो इतने प्रसिद्ध हुएही नहीं होंगे कि जिससे पाणिनि-संप्रदायके अनुयायी, उन्हें अपने संप्रदायका एक आप्त पुरुष समझने लगे हों और अतएव पाणिनि और पतंजलिके साथ वे भी महान् मीमांसककी समालोचनाके निशान बने हों। इसी कारणसे हुएनत्सांग, जिसने ई. स. ६२९-६४५ के बीचमें भारत-भ्रमण किया था, उसने इनका नाम तक नहीं लिखा; परंतु इत्सींग, जिसने उक्त समयसे आधी शताब्दी बाद आपना प्रवास-वृत्त लिखा है, वह लिखता है कि भारत-वर्ष के पांचों खण्डोंमें भर्तृहरि एक प्रख्यात वैयाकरणके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस विवेचनसे हम ऐसा निर्णय कर सकते हैं कि जिस वर्षमें तन्त्रवार्तिककी रचना हुई उसके और भर्तृहरिके मृत्युवाले ई.स.६५०के बीचमें आधी शताब्दी बीत चुकी होगी। अतएव कुमारिल ई. स. की ८ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान होने चाहिए।"

हरिभद्रने अपने अनेक ग्रन्थोंमें मीमांसा-दर्शनकी आलोचना-प्रत्यालोचना की है। शास्त्रवार्ता-समुच्चयके १०वें प्रकरणमें मीमांसक प्रतिपादित 'सर्वज्ञ-निषेध' पर विचार किया गया है। उसमें पूर्वपक्षमें कुमारिल भट्टके मीमांसा-श्लोकवार्तिकके—

'प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥'

इस श्लोकका, 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' (उक्त प्रकरणमें के ४ थे श्लोक)के

'प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तिस्तत्राभाव प्रमाणता।'

इस श्लोकार्द्धमें केवल अर्थशः ही नहीं परंतु शब्दशः अनुकरण किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है।

इसी तरह, मीमांसा-श्लोकवार्तिकके चोदना-सूत्र वाले प्रकरणमें–जहां पर वेदोंको स्वतः प्रमाणता स्थापित करनेकी मीमांसा की हुई है– निम्न लिखित श्लोकार्द्ध कुमारिलने लिखा है:—

'तस्मादालोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति।'

मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृ. ७४।

४७ जर्नल आव दि बॉम्बे ब्रँच रोयल एसियाटिक सोसायटी, पु. १८, पृ. २१३–२३८।

४९ मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४०३।

५० शास्त्रवार्तासमुच्चय, (देवचंद ला. पुस्तकोद्धार फंडसे मुद्रित) पृष्ठ ३४९।

इसी श्लोकार्द्धको शास्त्रवार्ता-समुच्चयके उक्त प्रकरणमें हरिभद्रने भी निम्नलिखित श्लोकमें तद्वत्-फक्त प्रारंभके एक शब्दका परिवर्तन कर-उद्धृत किया है। यथाः—

आह चालोकवद्वेदे सर्वसाधारणे सति।
धर्माधर्मपरिज्ञाता किमर्थं कल्प्यते नरः॥ ५१

और फिर इस श्लोककी स्वोपज्ञ-व्याख्यामें 'आह च कुमारिलादिः' इस प्रकार स्वयं ग्रंथकर्त्ताने साथमें साक्षात् कुमारिलका नामोल्लेख भी कर दिया है।

इस प्रमाणसे यह ज्ञात हो गया कि हरिभद्रने जैसे वैयाकरण भर्तृहरिकी आलोचना की है वैसे ही भर्तृहरिके आलोचक मीमांसक कुमारिलकी भी समालोचना की है।

ऊपर लिखे मुताबिक प्रो. पाठकके निर्णयानुसार कुमारिलका समय जो ई. स. की ८ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध मान लिया जाय तो फिर हरिभद्रका समय भी वही मानना चाहिए। क्यों कि इस शताब्दीके उत्तरार्द्धके मध्य-भागमें-ई. स. ७७८ में-समाप्त होनेवाली कुवलयमाला कथामें पूर्वोक्त उल्लेखानुसार स्पष्ट रूपसे हरिभद्रका नामस्मरण किया हुआ विद्यमान है। ऐसी दशामें उल्लिखित कुमारिल-समय और यह हरिभद्र समय दोनों एक ही हो जाते हैं। अतएव इन दोनों आचार्योंको समकालीन मान लेनेके सिवा दूसरा कोई मत दिखाई नहीं देता।

इस मतकी पुष्टिमें अन्य प्रमाण भी यथेष्ट उपलब्ध होते हैं, सो भी बतलाते हैं।

हरिभद्रके ग्रंथोंमें जिन जिन बौद्ध विद्वानोंके नाम मिलते हैं उनकी सूचि ऊपर दी गई है। इन विद्वानोंमेंसे आचार्य वसुबन्धु और महामति दिग्नाग तो प्राकृत गाथामें उल्लिखित हरिभद्रके मृत्यु-समयसे निर्विवाद रीतिसे पूर्वकाल ही में हो चुके हैं, इस लिये उनके जिकरकी तो यहां पर कोई अपेक्षा नहीं है, परंतु धर्मपाल, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर और शांतरक्षित आदि विद्वान् गाथोक्त हरिभद्रके मृत्युसमयसे अर्वाचीन कालमें हुए हैं; ऐसा ऐतिहासिकोंका बहुमत है। इस लिये हरिभद्रका समय भी गाथोक्त समयसे अवश्य अर्वाचीन मानना पडेगा। यहां पर प्रथम हम हरिभद्रके ग्रंथोंमेंसे उन कुछ अवतरणोंको उद्धृत कर देते हैं जिनमें धर्मपालादि बौद्ध विद्वानोंका जिकर पाया जाता है। फिर उनके समयका विचार करेंगे।

अनेकान्तजयपताकाके ४ थे परिच्छेदमें, जहां पर पदार्थोंमें अनेकधर्मोंके अस्तित्वका स्थापन किया गया है, वहां पर एक प्रतिपक्षी बौद्धके मुखः से निम्न लिखित पंक्तियोंका उच्चारण ग्रंथकारने करवाया है—

'स्यादेतत्सिद्धसाधनम्, एतदुक्तमेव नः पूर्वाचार्यैः-द्विविधा हि रूपादीनां शक्तिः— सामान्या प्रतिनियता च। तत्र सामान्या यथा घटसन्निवेशिभामुदकाद्याहरणादिकार्यकरणशक्तिः। प्रतिनियता यथा चक्षुर्विज्ञानादिकार्यकरणशक्तिरिति।'

(अनेकान्तजयपताका, अमदावाद, पृ. ५०)

इस अवतरणके पूर्वभागमें जो 'नः पूर्वाचार्यैः-' यह वाक्यांश है, इसकी स्फुट व्याख्या स्वयं ग्रंथकार ने इस प्रकार की है—

'नः—अस्माकंपूर्वाचार्यैः—धर्मपाल-धर्मकीर्त्यादिभिः।'

इससे स्पष्ट है कि उद्धृत अवतरणको हरिभद्रने धर्मपाल और धर्मकीर्तिके विचारोंका सूचक बतलाया है। धर्मपालका स्पष्ट नामोल्लेख तो फक्त इसी एक ही जगह हमारे देखनेमें आया है, परंतु धर्मकीर्तिका नाम तो पचासों जगह और भी लिखा हुआ दिखाई देता है। 'अनेकान्तजयपताका' ग्रंथ खास कर, भिन्न भिन्न बौद्धाचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें जैनधर्मके अनेकान्तवादका जो खण्डन किया था उसका समर्पक उत्तर देने ही के लिये रचा गया था। तार्किकचक्रचूडामणि आचार्य धर्मकीर्तिको प्रखर प्रतिमा और प्राञ्जल लेखिनीने भारतके तत्कालीन सब ही दर्शनोंके साथ जैनधर्मके ऊपर भी प्रचण्ड आक्रमण किया था। इस लिये हरिभद्रने, जहां कहीं थोडासा भी मौका मिल गया वहीं पर धर्म-

५१ शास्त्रवार्तासमुच्चय, बम्बई (दे. ला. जैनपुस्तकोद्धार फंड) पृ. १५४.

५२ अनेकान्तजयपताकाकी तरह इस ग्रंथपर भी हरिभद्रने स्वयं एक संक्षिप्त व्याख्या लिखि है—जो उपलब्ध है।

कीर्तिके भिन्न भिन्न विचारोंकी सौम्यभाव पूर्वक परंतु मर्मान्तक रीतिसे चिकित्सा कर, जैनधर्म पर किये गये उनके आक्रमणोंका सूद सहित बदला चुकवा लेनेकी सफल चेष्टा की है। हरिभद्रने धर्मकीर्तिका विशेष कर 'न्यायवादी' के पाण्डित्यप्रदर्शक विशेषणसे उल्लेख किया है और कहीं कहीं पर उनके बनाए हुए 'हेतुबिन्दु' और 'वार्तिक' आदि ग्रंथोंका भी नामस्मरण किया है। यथा—

(१) उक्तं च धर्मकीर्तिना 'न तत्र किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवल' मिति वार्तिके।

(अनेकां. यशोविजय जैनग्रंथमाला, पृ. १०)

(२) आह च न्यायवादी (धर्मकीर्तिर्वार्तिके)—[५३]

न प्रत्यक्षं कस्यचित् निश्चायकं, तद् यमपि गृह्णाति तत्र निश्चयेन, किं तर्हि? तत्प्रतिभासेन।

(पृ. १७७.)

यदाह न्यायवादी (धर्मकीर्तिर्वार्तिके)—

(३) 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नाम संश्रयः॥
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः॥
पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीद् मे कल्पनेदृशी।
इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद् गतौ॥

इत्यादि, तदपाकृतमवसेयम्। (पृष्ठ. २०७)।

(४) आह च न्यायवादी (धर्मकीर्तिः)—

अर्थानां यच्च सामान्यमन्यव्यावृत्तिलक्षणम्।
यन्निष्ठास्त इमे शब्दा न रूपं तस्य किञ्चन॥'

(अनेकां. अमदाबाद, पृ. ३७)

(५) उक्तं च न्यायवादिना (धर्मकीर्तिना)—

पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः॥
तया संवृतनानात्वाः संवृत्या भेदिनः स्वयम्।
अभेदिन इवाभान्ति भावा रूपेण केनचित्॥
तस्या अभिप्रायवशात्सामान्यं सत् प्रकीर्तितम्।
तदसत् परमार्थेन यथा सङ्कल्पितं तथा॥

(वही प्रति पृ. ३९)

(६) तथा चोक्तम् (न्यायविदा वार्तिके)—

नीलपीतादियज्ज्ञानाद् बहिर्वदवभासते।
तत्र सत्यमतो नास्ति विज्ञेयं तत्त्वतो बहिः॥
तदपेक्षया (क्षा?) च संवित्तेर्मता या कर्तृरूपता।
साऽप्यतत्त्वमतः संविदद्वयेति विभाव्यते॥

(वही प्रति पृ. ५४)

(७) एवं च यदाह न्यायवादी—(धर्मकीर्तिः)—

बीजादङ्कुरजन्माग्नेर्धूमात्सिद्धिरितीदृशी।
बाह्यार्थाश्रयिणी यापि कारकज्ञापकस्थितिः॥
सापि तद्रूपनिर्भासास्तथा नियतसङ्गमाः।
बुद्धीराश्रित्य कल्प्येत यदि किंवा विरुद्ध्यते॥

इत्यादि तदसांप्रतमिति दर्शितं भवति।

(वही प्रति पृ. ५७)

(८) ग्राह्यग्राहकभावलक्षणएव तयोः प्रतिबन्ध इति चेत्, न, अस्य धर्मकीर्तिना—(भवत्तार्किकचूडामणिना)—अनङ्गीकृतत्वात्।'

(वही प्रति पृ. ६०)

(९) यच्चोक्तमेतेन कारणानां भिन्नेभ्यः स्वभावेभ्यः कार्यस्य भिन्ना एव विशेषा इत्येतदपि प्रत्युक्तमिति। एतदप्ययुक्तं, कारणानां भिन्नेभ्यः स्वभावेभ्यः कार्यस्य तस्य तदविरोधात्, तदेकानेकस्वभावत्वात् तथोपलब्धेः, धर्मकीर्तिनाप्यभ्युपगमत्वात्, 'हेतुबिन्दौ' भिन्नस्वभावेभ्यश्चक्षुरादिभ्यः सहकारिभ्य एककार्योत्पत्तौ न कारणभेदात्कार्यभेदः स्यात्' इत्याशङ्क्य 'न यथास्वं स्वभावभेदेन तद्विशेषोपयोगतस्तदुपयोगकार्यस्वभाव विशेषासङ्करात्' इत्यादेः (ग्रन्थात्) स्वयमेवाभिधानात्।

(वही प्रति, पृ. ६६)

आचार्य धर्मपाल और न्यायवादी धर्मकीर्ति इन दोनोंमें गुरुशिष्यका सम्बन्ध था और ये ई. स. की ७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे। चीनी प्रवासी हुएनत्सांग जब ई. स. ६३५में नालन्दाके विद्यापीठ

---

५३ कोषमें लिखा हुआ पाठ टीकामें उपलब्ध है।

में पहुंचा था तब उसे मालूम हुआ कि उसके आनेके कुछ ही समय पहले, आचार्य धर्मपाल जो विद्यापीठके अध्यक्षस्थान पर नियुक्त थे, निवृत्त हो गये थे । हुएनत्सांगके समय धर्मपाल-के शिष्य आचार्य शीलभद्र अपने गुरुके स्थान पर प्रतिष्ठित थे । उन्हींके पाससे हुएनत्सांगने विद्या-लाभ किया था । इस वृत्तान्तसे यह ज्ञात होता है कि धर्मपाल ई. स. ६०० से ६३५ के बीचमें विद्यमान थे ।

महामति धर्मकीर्ति भी धर्मपालके शिष्य थे इस-लिये उनके बादके २५ वर्ष धर्मकीर्तिके अस्तित्वके मानने चाहिए । अर्थात् ई. स. ६३५ से ६५० तक वे विद्यमान होंगे । इस विचारकी पुष्टिमें दूसरा भी प्रमाण मिलता है । तिब्बतीय इतिहास लेखक तारानाथने लिखा है कि टिबेटके राजा स्रोत्संगम्पो जो ई. स. ६१७ में जन्मा था और जिसने ६२९-०९८ तक राज्य किया था, उसके समयमें आचार्य धर्म-कीर्ति तिब्बतमें आये थे । इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि हुएनत्सांग जब नालंदाके विद्यापीठमें अभ्यास करता था तब धर्मकीर्ति बहुत छोटी उम्रके होंगे । इस लिये उसने अपने प्रवास-वृत्तांतमें उनका नामोल्लेख नहीं किया । परंतु हुएनत्सांगके बादके चीनी यात्री इत्सींगने-जिसने ई. स. ६७१-६९५ तक भारतमें भ्रमण किया था-अपने यात्रावर्णनमें लिखा है कि दिग्नागाचार्यके पीछे धर्मकीर्तिने न्यायशास्त्रको खूब पल्लवित किया है । इससे जाना जाता है कि इत्सींगके समयमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि खूब हो चुकी थी । अतः इन सब कथनोंके मेलसे

> अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
> ग्राह्य-ग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिलने दि-ग्नाग और धर्मकीर्ति-दोनों के विचारोंकी समालो-चना की है । अतः यह सिद्ध होता है कि कुमारिल धर्मकीर्तिके बाद हुए । धर्मकीर्ति जब ईस्वीकी ७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे तब कुमारिल कमसे कम उसी शताब्दीके अंतमें होने चाहिए । कुमारिलका नामोल्लेख, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, हरिभद्रने किया है: और हरिभद्रका नामस्म-रण कुवलयमालाकथाके लिखनेवाले दाक्षिण्यचि-न्हने । दाक्षिण्यचिन्हका समय ई. स. की ८ वीं शताब्दीका तृतीय भाग निश्चित है । अतः हरिभद्रका अस्तित्व उसके प्रथमार्धमें या मध्यम-भाग में मानना पडेगा । इस प्रकार, भर्तृहरि और कुमारिल-के कालक्रमसे विचारा जाय: अथवा धर्मकीर्ति और कुमारिलके कालक्रमसे विचारा जाय-दोनों गणनासे हरिभद्रका ८ वीं शताब्दी ही में-फिर चाहे उसके आरंभमें या मध्यमें-होना निश्चित होता है ।

इसी तरहका, परंतु इनसे भी विशिष्ट, और एक प्रमाण है । नन्दीसूत्र नामक जैन आगम ग्रंथ ऊपर हरिभद्र सूरिने ३३३६ श्लोक प्रमाण संस्कृत टीका लिखी है । इस टीकामें, (जिस तरह आवश्यकसू-त्रकी टीकामें, आवश्यकचूर्णिमेंसे शतशः प्राकृत पाठ उद्धृत किये हैं वैसे) उन्होंने बहुतसी जगह, इसी सूत्र पर जिनदास महत्तरकी बनाई हुई चूर्णि नामक प्राकृत भाषामय पुरातन व्याख्यामेंसे अंशके

उदाहरणके लिये, हरिभद्रसूरिने नन्दीचूर्णिमेंसे जो पाठ अपनी टीकामें उद्धृत किये हैं उनमेंसे एक दो पाठ यहां पर लिख देते हैं।

इस सूत्रके प्रारंभमें जो स्थविरावली प्रकरण है उसकी ३६ वीं गाथा की, जिसमें 'खंदिलायरिय' की प्रशंसा है, व्याख्या हरिभद्रने इस प्रकार लेखी है॥

मूल गाथा—)

जेसि इमो ऽणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए॥'

व्याख्या—येषांमनुयोगः प्रचरति, अद्यापि अर्धभरते वैताढ्यादारतः। बहुनगरेषु निर्गतं प्रसृतं प्रसिद्धं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः, तान् वन्दे। सिङ्घ (सिंह) वाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान्। 'कहं पुण तेसिं अणुओगो? उच्यते—बारससंवच्छरिए महंते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णतो हिंडियाणं गहणगुणणणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुब्भिक्खे काले जाए महुराए महंते साधुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो जं संभरइ त्ति एवं संघडियं कालियसुयं। जम्हा एयं महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ। सा य खंदिलायरियसम्मत त्ति काउं तस्संतिओ अणुओगो भण्णइ। अन्ने भणंति जहा, सुयं ण णट्ठं। तम्मि दुब्भिक्खे काले जे अन्ने पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा। एगे खंदिलायरिए संधिरे (?), तेण महुराए पुणो अणुओगो पवत्तिओ त्ति माहुरी वायणा भण्णइ। तस्संतिओ अ अणुओगो भण्णइ।'

(नन्दी टीका, डेक्क० पु० पृ० १३)

इस अवतरणमें जितना प्राकृत पाठ है वह सारा हरिभद्रसूरिने चूर्णिमें ही से लिया है। क्यों कि चूर्णिमें अक्षरशः यही पाठ विद्यमान है। (देखो, डेकन कालेज संगृहीत, नन्दीचूर्णिकी हस्तलिखित पुस्तक, नं. ११९७, सन् १८८४-८७ पृष्ठ ४.)

नन्दीसूत्रकी बृहट्टीकामें, आचाराङ्गसूत्र विषयक व्याख्यानमें, मलयगिरि सूरिने 'तथा चाह चूर्णिकृत्-' लिखकर, निम्न लिखित पाठ, नन्दीचूर्णिमेंसे उद्धृत किया है—

'दो सुयक्खंधा पणवीसं अज्झयणाणि एयं आयारग्गसहियस्स आयारस्स पमाणं भणियं, अठारसपयसहस्सा पुण पढमसुयक्खंधस्स नवबंभचेरमइयस्स पमाणं, विचित्तअत्थनिबद्धाणि य सुत्ताणि, गुरूवएसओ तेसिं अत्थो जाणियव्वो त्ति।'

नन्दीटीका, (मुद्रित पृ. २११)

यही पाठ, हरिभद्रसूरिने भी अपनी टीकामें अविकलरूपसे उद्धृत किया हुआ है। (देखो, डे. पु. पृ. ७६)। ऐसे ही और भी कई जगह इस प्रकारके पाठ उद्धृत हैं। इससे यह बात निश्चित हुई कि हरिभद्रसूरि, शाक संवत् ५९८ (वि. सं. ७३३=ई. स. ६७६) से बाद ही में किसी समयमें हुए हैं। गाथामें बतलाये मुताबिक विक्रम संवत् ५८५ में, अथवा, दूसरे उल्लेखोंमें लिखे मुजब, वी० सं० १०५५ में नहीं हुए। चूर्णिके बने बाद कमसे कम ५० वर्ष अनंतर ही हरिभद्रने अपनी टीका लिखी होनी चाहिए। और इस लिये, इस हिसाबसे भी उनका समय वही ईस्वीकी ८ वीं शताब्दी निश्चित होता है।

इस प्रकार, भिन्न भिन्न प्रमाणोंसे हमने यह तो सिद्ध कर दिखाया है, कि हरिभद्रसूरि प्राकृत गाथा आदिके लेखानुसार, विक्रमकी छठी शताब्दीमें नहीं हुए परंतु आठवीं शताब्दीमें हुए हैं। परंतु इससे यह निश्चित नहीं हुआ कि, इस शताब्दीके कौनसे भागमें—कबसे कब तक—वे विद्यमान थे?। कुवलयमाला कथाके अन्तिम (प्रशस्ति-) लेखका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करनेसे इस प्रश्नका भी यथार्थ समाधान हो जाता है।

जैन इतिहासके रसिक अभ्यासियोंको यह सुन कर आनंदके साथ आश्चर्य होगा कि, कुवलयमालाके कर्ता उद्द्योतनसूरि उर्फ दाक्षिण्यचिन्ह खुद हरिभद्रके एक प्रकारसे साक्षात् शिष्य थे! इस कथा

'बृहट्टिप्पणिका' नामकी संस्कृतमें एक जैनग्रन्थसूचि बनाई है जिसमें भी, इस चूर्णीका रचना-काल वि. सं. ७३३ (अर्थात् शक संवत् ५९८) लिखा हुआ है। यथा—'नन्दीसूत्रं ७०० [श्लोक प्रमाण] चूर्णिः ७३३ वर्षे कृता। स्तंभ० विना नास्ति।'

की प्रशस्तिका वह महत्त्वका भाग, जिसमें कर्ताने स्वकीय गुरुपरंपरा आदिका परिचय दिया है, कुछ विस्तृत होने पर भी उसे यहां पर उद्धृत कर देनेके लोभको हम संवरण नहीं कर सकते। प्रशस्ति इस प्रकार है—

अत्थि पयडा पुरीणं पव्वइया नाम रयणसोहिल्ला।
तत्थट्ठिएण भुत्ता पुहई सिरितोरराणेण ॥
तस्स गुरू हरियत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसीओ।
तीए नयरीए दिन्नो जिणनिवेसो तहिं काले ॥
[तस्स] बहुकलाकुसलो सिद्धन्तवियाणओ कई दक्खो।
आयरियदेवगुत्तो अज्जवि विज्जरए कित्ती (?) ॥
सिवचन्दगणी अह मयहरो त्ति सो एत्थ आगओ देसा।
सिरिभिल्लमालनयरम्मि संठिओ कप्परुक्खो व्व ॥
तस्स खमासमणगुणो नामेणं जक्खदत्तगणिनामो।
सिस्सो महइमहप्पा आसि तिलोए वि पयडजसो॥५॥
तस्स य सीसा बहुया तववीरियलद्धचरणसंपण्णा।
रम्मो गुज्जरदेसो जेहिं कओ देवहरएहिं ॥
आगासवप्पनयरे वडेसरो आसि जो खमासमणो।
तस्स मुहदंसणे च्चिय अवि पसमइ जो अहव्वोवि ॥
तस्स य आयारधरो तत्तायरिओ त्ति नाम सारगुणो।
आसि तवतेयनिज्जियपावतमोहो दिणयरो व्व ॥
जो दूसमसलिलपवाहवेगहीरन्तगुणसहस्साण।
सीलंगविउलसालो लग्गणखंभो व्व निक्कंपो ॥
सीसेण तस्स एसा हिरिदेवीदिन्नदंसणमणेण।
रइया कुवलयमाला विलसिरदक्खिन्नइंधेण ॥ १० ॥
दिन्नजहिच्छियफलओ बहुकित्तीकुसुमरेहिरामोओ।
आयरियवीरभद्दो अवा (हा) वरो कप्परुक्खो व्व ॥
सो सिद्धन्त[म्मि] गुरू, पमाण नाएण (अ)जस्स हरिभद्दो
बहुगन्थसत्थवित्थरपयड [समत्तसुअ] सच्चत्थो ॥
राया [य] खत्तियाणं वंसे जाओ वडेसरो नाम।
तस्सुज्जोयणनामो तणओ अह विरइया तेण ॥

इन गाथाओंमेंसे, प्रथमकी १० गाथाओंमें कथाकर्ताने अपनी मूल गुरुपरंपराका वर्णन दिया है जिसका तात्पर्य यह है:—पहले हरिदत्त नामके एक गुप्त वंशीय आचार्य हुए। ये पव्वइया पुरी के तोरराण नामक राजाके गुरु थे और उनके उपदेशसे उस नगरीमें, उस राजाने एक जिनमंदिर बनवाया था। उनके शिष्य देवगुप्त नामके हुए जो सिद्धान्तोंके ज्ञाता और कुशल कवि थे। उनकी कीर्ति आज भी जगत्में फैल रही है। उनके बाद सिवचन्द्र गणी महत्तर नामके आचार्य हुए। उन्होंने देशमेंसे (पव्वइया नगरीवाले प्रदेशमेंसे !) आकर भिल्लमाल (जिसे श्रीमाल भी कहते हैं) नगरमें निवास किया। उनके यक्षदत्त गणी नामक क्षमाश्रमण गुणधारक प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनके अनेक शिष्योंने गुजरात देशमें देवमंदिर (जिनमंदिर) बनवा कर उसकी शोभा बढाई। इनके शिष्य आगासवप्प नगरमें रहनेवाले वडेसर नामक क्षमाश्रमण हुए जिनके मुखका दर्शन करके अभव्य जीव भी प्रशान्त हो जाता था। वडेसरके तत्तायरिय नामके बडे तपस्वी और आचारधारक शिष्य हुए। इन्हीं तत्तायरियके शिष्य दाक्षिण्यचिन्ह हुए, जिन्होंने ह्रीदेवीके दर्शनसे प्रसन्न हो कर इस कुवलयमाला कथाकी रचना की।

इस प्रकार इन गाथाओंमें, अपनी मूल पूर्व गुरुपरंपराका जिकर करके कथाकारने फिर अनन्तरकी ३ (११-१३) गाथाओंमें अपने विशिष्ट उपकारी गुरुओं-पूज्योंका सविशेष उल्लेख कर, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। इस गाथा-कुलकका अर्थ इस प्रकार है—

'इच्छित फलके देनेवाले, और कीर्तिरूप कुसुमोंसे अलंकृत होनेके कारण नवीन कल्पवृक्षके समान दीखाई देनेवाले, आचार्य वीरभद्र तो जिसके सिद्धान्तोंके पढानेवाले गुरु हैं; और जिन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर समस्त श्रुत (आगमों) का सत्यार्थ प्रकट किया है वे आचार्य हरिभद्र जिसके प्रमाण और न्यायशास्त्रके सिखानेवाले गुरु हैं। तथा, क्षत्रियवंशोत्पन्न वडेसर नामक राजाका जो पुत्र है और उद्द्योतन जिसका मूल नाम है उसने यह कथा निर्मित की है।'

इस गाथाकुलकमें हरिभद्रसूरिके लिये 'बहुग्रन्थ प्रणेतृत्व' और 'प्रमाण न्यायशास्त्रविषयक गुरुत्व' के विशेषण जो साभिप्राय प्रयुक्त किये गये हैं उनसे विचारवान् विद्वान् स्पष्ट जान सकते हैं कि, कथाकर्ता यहां पर जिन हरिभद्रका स्मरण

करते हैं, थे, वे ही हरिभद्र सूरि हैं जिनको लक्ष्य कर प्रस्तुत प्रबन्धके लिखनेका परिश्रम किया गया है। क्यों कि इनके सिवा 'अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर समस्त श्रुतका सत्यार्थ प्रकट करनेवाले' दूसरे कोई हरिभद्र जैन साहित्य या जैन इतिहासमें उपलब्ध नहीं होते।

अतः इससे यह अंतिम निर्णय हो जाता है कि महान् तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्र और कुवलयमाला कथाके कर्ता उद्योतनसूरि उर्फ दाक्षिण्यचिन्ह दोनों (कुछ समय तक तो अवश्यही) समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रन्थराशि लिखनेवाले महापुरुषकी कमसे कम ६०-७० वर्ष जितनी आयु तो अवश्य होगी। इस कारणसे, लगभग ईसीकी ८ वीं शताब्दीके प्रथम दशकमें हरिभद्रका जन्म और अष्टम दशकमें मृत्यु मान लिया जाय तो यह कोई असंगत नहीं मालूम देता। इस लिये, हम ई. स. ७०० से ७७० (विक्रम संवत् ७५७ से ८२७) तक हरिभद्र सूरिका सत्ता-समय स्थिर करते हैं।

परिशिष्ट ।

—:o:—

१
हरिभद्र और शांतिरक्षित ।

शास्त्रवार्तासमुच्चयके चतुर्थ स्तवकके निम्न लिखित श्लोकमें हरिभद्रने बौद्ध पण्डित शान्तिरक्षितके एक विचारका प्रतिक्षेप किया है। यथा—

एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना ।
'नासतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरं न सः'॥[1]

इस श्लोककी स्वोपज्ञ टीकामें 'सूक्ष्मबुद्धिना—शान्तिरक्षितेन' ऐसा निर्देश कर स्पष्टरूपसे शान्तिरक्षितका नामोल्लेख किया है। डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने अपनी 'मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास' नामक पुस्तकमें (पृ. १२४) आचार्य शान्ति(न्त) रक्षितका समय ई. स. ७४९ के आसपास स्थिर किया है। इन शान्तिरक्षितने, हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चयके समान दार्शनिक विषयोंकी आलोचना करनेवाला 'तत्त्वसंग्रह' नामक एक प्रौढ ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ पर पञ्जिका नामकी एक टीका भी उन्हींके समकालीन नालन्दा—विद्यापीठके तंत्रशास्त्राध्यापक आचार्य कमलशीलने उसी समयमें लिखी है। इस सटीक ग्रंथका प्राचीन हस्तलेख हमने गुजरातकी पुरातन राजधानी पाटनके प्रसिद्ध जैन-पुस्तकभांडागारमें देखा है।[2] प्रस्तुत निबन्ध लिखनेके समय यह ग्रंथ हमारे सम्मुख न होनेसे यह तो हम नहीं कह सकते कि हरिभद्रने जो शान्तिरक्षितका उल्लिखित श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है वह इसी तत्त्वसंग्रहका है या अन्य किसी दूसरे ग्रन्थका। परन्तु इतना तो हमें विश्वास होता है कि यह श्लोकार्द्ध होना चाहिए इन्हीं शान्तिरक्षितकी किसी कृतिमेंका। ऐसी स्थितिमें, डॉ. सतीशचन्द्र वि. का लिखा हुआ शान्तिरक्षितका समय यदि ठीक है तो हरिभद्र और शान्तिरक्षित दोनों समकालीन साबित होते हैं।

कुछ विद्वान् ऐसे समकालीन पुरुषोंको लक्ष्य कर ऐसी शंका किया करते हैं कि—उस पुरातन समयमें, आधुनिक कालकी तरह मुद्रायंत्र, समाचारपत्र और रेल्वे आदि अतिशीघ्रगामी वाहनो वगैरह जैसे साधन नहीं थे कि जिनके द्वारा कोई व्यक्ति तथा उसका लेख या विचार तत्काल सारे देशमें परिचित हो जाय। उस समय लिये किसी विद्वान्का अथवा उसके बनाये हुए ग्रंथका अन्यान्य विद्वानोंको परिचय मिलनेमें कुछ न कुछ कालावधि अवश्य अपेक्षित होती थी। इस विचारसे, यदि शान्तिरक्षित उक्तरीत्या ठीक हरिभद्रके समकालीन ही थे तो फिर हरिभद्र द्वारा उनके ग्रंथोक्त विचारोंका प्रतिक्षेप किया जाना कैसे संभव माना जा सकता है? इस विषयमें हमारा अभिप्राय यह है कि—यह कोई नियम नहीं है, कि, उस समयमें समकालीन विद्वानोंका एक दूसरे संप्रदायवालोंमें तुरन्त परिचय हो ही नहीं सकता था। यह बात अवश्य है कि आजकल जैसे कोई

---

[1] देखो, शास्त्रवार्तासमुच्चय, (दे.ला.पु. मुद्रित.) पृ १४०

[2] यह ग्रंथ बडोदाराज्यकी ओरसे प्रकाशित होनेवाली संस्कृतग्रन्थमालामें छपनेके लिये तैयार हो रहा है।

व्यक्ति या विचार चार छह महिनेहीमें मुद्रालयों और समाचारपत्रोंके द्वारा सर्वविश्रुत हो जाता है, उतनी शीघ्रताके साथ उस समयमें नहीं हो पाता था। परंतु ५-१० वर्ष जितनी कालावधिमें तो उस समयमें भी उत्तम विद्वान् यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता था। इसका कारण यह है कि उस समय जब कोई ऐसा असाधारण पण्डित तैयार होता था तो फिर वह अपने पाण्डित्यका परिचय देनेके लिये और दिग्विजय करनेके निमित्त देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करता था और इस तरह अनेक राजसभाओंमें और पण्डित-परिषदोंमें उपस्थित हो कर वहांके अन्यान्य विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ या वादविवाद किये करता था। इसी तरह जब कोई विद्वान् किसी विषयका कोई खास नवीन और अपूर्व ग्रंथ लिखता था तो उसकी अनेक प्रतियां लिखवा कर प्रसिद्ध पुस्तकभंडागारों, राजमन्दिरों और धर्मस्थानोंमें तथा स्वतंत्र विद्वानोंके पास भेंट रूपसे या अवलोकनार्थ भेजा करता था। इस लिये प्रख्यात विद्वानको अपने जीवन काल ही में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर लेनेमें और उसके बनाये हुए ग्रंथोंका, दूसरोंके द्वारा आलोचन-प्रत्यालोचनके किये जानेमें कोई आपत्ति नहीं है।

२

हरिभद्र और धर्मोत्तर।

दिग्नागाचार्य रचित 'न्यायप्रवेश-प्रकरण' ऊपर हरिभद्रने शिष्यहिता नामकी एक संक्षिप्त और स्फुट व्याख्या लिखी है[1]। इस व्याख्याके प्रारंभके भागमें जहां 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति और उसका लक्षण लिखा है वहां एक उल्लेख खास ध्यान खींचने लायक है। वह उल्लेख इस प्रकार हैः—

मीयतेऽनेनेति मानं परिच्छिद्यत इत्यर्थः। अनुशब्दः पश्चादर्थे, पश्चान्मानमनुमानम्। पक्षधर्मग्रहणसम्बन्धस्मरणपूर्वकमित्यर्थः। वक्ष्यति च "त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि [ज्ञान] मनुमानम्।"

इस अवतरणके अन्तमें जो 'वक्ष्यति' क्रिया लिख कर "त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्।" यह सूत्र लिखा है उस पर किसी एक पुरातन पण्डितने निम्न लिखित टिप्पणी लिखी हैः—

नन्वेतत्सूत्रं धर्मोत्तरीयं न तु प्रकृतशास्त्रसत्कम्। एतच्छास्त्रसत्कमेतत्सूत्रम्—'लिङ्गं पुनरित्यादि।' तत्कथं 'वक्ष्यति च' इति प्रोच्यते? । सत्यमेतत्। यद्यत्रैवं विधं सूत्रं नास्ति तथा [पि] धर्मोत्तरीयसूत्रमप्यत्र सूत्रोक्तानुमानलक्षणाभिधायिकमेवेत्यर्थतोऽत्रत्यधर्मोत्तरीयसूत्रयोः साम्यमेवेत्यर्थापेक्षया'वक्ष्यति' इति व्याख्येयमिति न विरोधः[2]।

इस टिप्पणीका आशय यह है कि व्याख्याकारने जो ऊपरके अवतरणमें "त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्।" यह सूत्र लिखा है उसके स्थान में लिङ्गपुनस्त्रिरूपम्' यह सूत्र लिखना चाहिए। क्यों कि यह सूत्र तो धर्मोत्तर आचार्यका बनाया हुआ है; दिग्नागका नहीं। दिग्नागका तो यही पिछला सूत्र है। ऐसी स्थिति होने पर, यहां पर जो धर्मोत्तरीय सूत्र लिखा गया है उसका समाधान यों कर लेना चाहिए, कि धर्मोत्तरका सूत्र भी प्रकृत सूत्रानुरूप ही अनुमानका लक्षण प्रदर्शित करता है, इस लिये इन दोनोंमें परस्पर अर्थसाम्य होनेसे हरिभद्रने जो (कदाचित् विस्मृतिके कारण?) धर्मोत्तरका सूत्र लिख दिया है तो उसमें कोई ऐसा विशेष विरोध नहीं दिखाई देता।

टिप्पणीकारके इस समाधानसे न्यायशास्त्रके अभ्यासियोंका तो समाधान हो जायगा परंतु इतिहासशास्त्रके अभ्यासियोंका नहीं। ऐतिहासिकोंके लिये तो इससे एक नया ही प्रश्न उठ खडा

---

1 यह व्याख्या सेंटपीटर्सबर्ग (अब, पेट्रोग्राड) से प्रकट होनेवाली Bibliotheca Buddhica में छप रही है। इसके बारेमें विशेष वृत्तान्त जाननेके लिये, 'जैनशासन' नामक पत्रके दीपावलीके खास अंकमें छपा हुआ डा. मिरोनोका Dignaga's Nyayapravesa and Haribhadra's Commentary on it नामक निबन्ध देखना चाहिए।

2 डेक्कनकालेज पुस्तकालयमें की हस्तलिखित प्रति, नं. ७३८, १८७५-७६, पृ. २.

होता है । टिप्पणीलेखकके कथनानुसार यदि " त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं " यह सूत्र धर्मोत्तरके बनाये हुए किसी ग्रंथमेंका है तो यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह धर्मोत्तर कौन और कब हुए। धर्मकीर्तिके बनाये हुए न्यायबिन्दु नामक ग्रंथ ऊपर टीका लिखनेवाले धर्मोत्तरका नाम विद्वानोंमें प्रसिद्ध है। प्रमाणपरीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि और प्रमाण ?] विनिश्चय-व्याख्या आदि ग्रंथ भी उनके बनाये हुए कहे जाते हैं। म. म. सतीशचन्द्र वि०ने अपने पूर्वोक्त इतिहास में (पृ. १३१) इन धर्मोत्तरका समय ई. स. ८४७ के आसपास स्थिर किया है। यदि यह समय ठीक है तो फिर हरिभद्र लिखित उक्त सूत्रके रचयिता धर्मोत्तर, इन प्रसिद्ध धर्मोत्तरसे भिन्न-कोई दूसरे ही प्राचीन धर्मोत्तर--होने चाहिए। क्यों कि हरिभद्रका देहविलय ८ ई० की वीं शताब्दीके तीसरे पादमें हो चुका होगा यह हमने सप्रमाण सिद्ध करही दिया है।

बौद्ध मतमें धर्मोत्तर नामसे प्रसिद्ध दो आचार्य हो गये हैं ऐसा प्रमाण महान् जैन तार्किक विद्वान् वादी देवसूरिके स्याद्वादरत्नाकर नामक प्रतिष्ठित तर्कग्रंथमेंसे मिलता है। इस ग्रंथके प्रथम परिच्छेदके " स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । " इस दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें ' लक्ष्यलक्षणभाववाचक ' शब्दोंके विधानाविधानकी मीमांसा करते हुए शुरू ही में धर्मोत्तरके तद्विषयक विचारोंकी आलोचना की है। ग्रंथकर्ताने स्वयं इन धर्मोत्तरको, धर्मकीर्तिके 'न्यायविनिश्चय' और 'न्यायबिन्दु ' नामक प्रमाण-ग्रंथोंके व्याख्याता बतलाये हैं और उनकी की हुई उन व्याख्याओंमेंसे कुछ अवतरण भी उद्धृत किये हैं। फिर इन धर्मोत्तर को ' वृद्धधर्मोत्तरानुसारी ' (वृद्ध धर्मोत्तरके विचारोंका अनुसरण करने वाले) तथा ' वृद्धसेवाप्रसिद्ध ' (वृद्ध [धर्मोत्तर] की सेवा करनेसे प्रसिद्धि पाने वाले) ऐसे विशेषणों से सम्बोधित कर इन्हें किसी वृद्ध धर्मोत्तरके अनुयायी बतलाये हैं; और अन्तमें इनके विचार-विधानसे उन वृद्ध धर्मोत्तरके तद्विषयक विचारोंका खण्डित होना बतला कर, इनके कथनको स्वमत-विरोधी सिद्ध किया गया है। वादी देवसूरीके तद्विषयक सब लेखांश इस प्रकार हैं:—

(१) अत्राह धर्मोत्तरः—लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये लक्ष्यमनूद्य लक्षणमेव विधीयते । लक्ष्यं हि प्रसिद्धं भवति ततस्तदनुवाद्यम्, लक्षणं पुनरप्रसिद्धमिति तद्विधेयम् । अज्ञातज्ञापनं विधिरित्यभिधानात् । सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे लक्षणमनूद्य लक्ष्यमेव विधीयते इति । (स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १०,)

(२) साधो ! सौगत ! भूभर्तुर्धर्मकीर्तेर्निकेतने ।
व्यवस्थां कुरुषे नूनमस्थापितमहत्तमः ॥
स हि महात्मा (धर्मकीर्तिः) विनिश्चये (न्यायविनिश्चये) प्रत्यक्षमेकं, न्यायबिन्दौ तु प्रत्यक्षानुमाने द्वे अप्यप्रसाध्यैव तल्लक्षणानि प्रणयति स्म । किञ्च शब्दानित्यत्वसिद्धये कृतकत्वमसिद्धमपि सर्वमुपन्यस्य पश्चात् तत्सिद्धिमभिदधानोऽपि न लक्षणस्य तामनुमन्यसे इति स्वाभिमानमात्रम् । अपि च प्रत्यक्षलक्षणव्याख्यालक्षणे ' लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये ' इत्यादिना लक्षणस्यैव विधिमभिधित्से विधेरेवापराधात्र बुद्धेः, यतो न्यायविनिश्चयटीकायां स्वार्थानुमानस्य लक्षणे ' तत्कथं त्रिरूपलिङ्गग्राहिण एव दर्शनस्य नानुमानत्वप्रसङ्गः ' इति पर्यनुयुञ्जान ' एतदेव सामर्थ्यप्राप्तं दर्शयति यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानं तत्स्वार्थमिति ' इत्यनुमन्यमानश्चानुमापयसि स्वयमेव लक्ष्यस्यापि विधिम् । स्पष्टमेवाभिदधासि च न्यायबिन्दुवृत्तौ एतस्यैव लक्षणे, ' त्रिरूपाच्च लिङ्गाद्यदनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति ।'(देखो, न्यायबिन्दुटीका,पिटर्सनसम्पादित, पृ. २१) विनिश्चयटीकायामेव च परार्थानुमानलक्षणे ' त्रिरूपस्य लिङ्गस्य यदाख्यानं तत्परार्थमनुमानमिति । ' च व्याचक्षाण इत्यक्षुण्णं ते वैचक्षण्यमिति ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १०)

(३) अपि च भवद्वचनसूत्रणासूत्रधारो धर्मकीर्तिरपि ' न्यायविनिश्चयस्याद्य—द्वितीय—तृतीय—परिच्छेदेषु—' प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति ॥ १ ॥ '

' तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृगिति ॥ २ ॥ ' ' परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनमिति ॥ ३ ॥ ' त्रीणि लक्षणानि; ' तिमिराशुभ्रमणनौयानसङ्क्षोभाद्यनाहितविभ्रममविकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति ॥ १॥' त्रिलक्षणाल्लिङ्गाद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानं तत्स्वार्थमनुमानमिति ॥ २ ॥ ' ' यथैव हि स्वयं त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिनि ज्ञानमुत्पन्नं तथैव परत्र लिङ्गिज्ञानोत्पिपादयिषया त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानमिति ।३।' च व्याचक्षाणो लक्ष्यस्यैव विधिमकीर्तयत्, तथा ' लक्ष्यलक्षणभावविधानवाक्ये ' इत्युपक्रम्य लक्षणमेव विधीयत इत्यभिदधानः कथं न स्ववचनविरोधमवबुध्यसे ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ११.)

(४) बलदेवबलं स्वीयं दर्शयन्ननिदर्शनम् ।
वृद्धधर्मोत्तरस्यैवं भावमत्र न्यरूपयत् ॥

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ११.)

(५) वृद्धमेवाप्रसिद्धोऽपि ब्रुवन्नेवं विशङ्कितः ।
बालवत्स्यादुपालभ्यस्तेनैवं विदुषामयम् ॥

तथाहि—सोऽयं वृद्धधर्मोत्तरानुसार्यप्यलीकवाचालतया तुल्यस्वरूपयोरपि व्युत्पत्तिव्यवहारकालयोरतुल्यतामुपकल्पयन् बाल इवैकामप्यङ्गुलिं वेगवत्तया चचलयन् द्वयीकृत्य दर्शयतीत्येवमुपालभ्यते त्रैविद्यकोविदैः ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १२.)

(६) यच्चावाचि ' अत एवेत्यादि ' तत्रायमाशयः, लक्ष्यं हि प्रसिद्धमनुवाद्यं भवतीत्यस्माद् भूतविभक्तयो द्वितीयाद्याः समुपादीयन्ते लक्षणं पुनरप्रसिद्धं विधेयमित्यतो भव्यविभक्तिः प्रथमैव प्रयुज्यत इति । सोऽयं साहित्यज्ञताभिमानात् तत्र वृद्धधर्मोत्तरमधरयति, स्वयं त्वेवं व्याचष्ट इति किमन्यदस्य देवानां प्रियस्य श्लाघनीयता प्रज्ञायाः ।

(स्याद्वादरत्नाकर, पृ. १३)

इन अवतरणोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्मोत्तर नामके दो आचार्य हो गये हैं। अतः हरिभद्रने उक्त जिस धर्मोत्तरीयसूत्रको उद्धृत किया है उसके कर्ता, न्यायबिन्दु आदि धर्मकीर्तिकृत ग्रंथोंके टीकाकार धर्मोत्तर नहीं परंतु उनके पूर्वज वृद्धधर्मोत्तर होने चाहिए। नहीं तो फिर इन अर्वाचीन धर्मोत्तरका समय कमसे कम १०० वर्ष जितना पीछे हटाना चाहिए।

परंतु इन प्रसिद्ध धर्मोत्तरके, हरिभद्रके पूर्वग न होनेमें एक इतर प्रमाण भी प्राप्त होता है। धर्मोत्तर रचित न्यायबिन्दुटीकाके ऊपर मल्लवादी नाम के एक जैन विद्वान् की टिप्पणी लिखी हुई उपलब्ध है। इस टिप्पणीके देखनेसे ज्ञात होता है कि धर्मोत्तरने अपनी टीकामें कई जगह न्यायबिन्दुके पूर्वटीकाकार विनीतदेवकी (और साथमें शांन्तिभद्रकी भी) की हुई टीकाको दूषित बतलाई है और उसका खण्डन किया है। टिप्पणी लेखकके इस बातके सूचक वाक्य कुछ ये हैं*—

१— सम्यग्ज्ञानेत्यादिना (१. ५) विनीतदेवव्याख्यां दूषयति । (पृ. ३)

२— हेयोऽर्थ इत्यादिना विनीतदेवस्य व्याख्या दूषिता । (पृ. १३).

३— उत्तरेण ग्रन्थेन सर्वशब्द (५. २) इत्यादिना टीकाकृतां व्याख्यां दूषयति । विनीतदेवशान्तभद्राभ्यामेवमाशङ्क्य व्याख्यातम् । (पृ. १३).

४— अर्थाविनाभावेत्यादिना (६. १३) अनेन विनीतदेवशान्तभद्रयोर्व्याख्या च दूषिता । (पृ. १६).

५— अनेन लक्ष्यलक्षणभाव दर्शयता विनीतदेवव्याख्यानं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूपं प्रत्युक्तम् । (पृ. १७).

६— तेन यद्विनीतदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचकभावमङ्गीकृत्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य प्रतिपादितं तद्दूषितं भङ्ग्या । (पृ. २३–४).

ये विनीतदेव‡ राजा ललितचन्द्रके समकालीन

* बिब्लिओथेका बुद्धिका (सेंटपिटर्सबर्ग, रशिया) में प्रकाशित ।

‡ देखो सतीशचन्द्र वि. लिखित ' मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास । पृ. ११९ ।

थे। राजा ललितचन्द्रका समय अन्यान्य अनुमानोंके द्वारा ई. स. ७०८ के लगभग माना जाता है, अतएव विनीतदेवका भी वही समय मानना चाहिए। इस गणनासे, मल्लवादीके लेखानुसार विनीतदेवकी व्याख्या पर आक्षेप करनेवाले धर्मोत्तरका अस्तित्व या तो हरिभद्रके समयमें स्वीकारना चाहिए या उसके अनन्तर। ऐसी दशामें तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाथके इस कथनको कि, आचार्य धर्मोत्तर, काश्मीरके राजा वनपालके, जो ई. स. ८४७ के आसपास राज्य करता था, समकालीन थे, असत्य माननेमें कोई कारण नहीं है।

३

...भद्र और मल्लवादी.

हरिभद्र और मल्लवादी आचार्यके सम्बन्धमें भी रस्पर इसी तरहकी एक उलझन है। मल्लवादी ामसे प्रसिद्ध एक बहुत बडे तार्किक विद्वान् जैनर्मके श्वेतांबर संप्रदायमें हो गये हैं। उन्होंने, जैधर्मका सबसे गूढ और गंभीर सिद्धान्त जो नयाद कहलाता है, उस पर द्वादशारनयचक्र नामक क विशाल और प्रौढ ग्रंथकी रचना की है। हरिद्रसूरिने अपने अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथ में ो-तीन स्थान पर उनका नामस्मरण किया है और उन्हें 'वादिमुख्य' बतला कर सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत 'सम्मति महातर्क' के टीका लिखनेवाले लिखे हैं। यथा—

(१) उक्तं च वादिमुख्येन (टिका—मल्लवादिना सम्मतौ)— स्वपरसत्त्वव्युदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्, अतो यद्यपि सन्न भवतीत्यसत्, तथापि परद्रव्यादिरूपेण सतः प्रतिषेधात् तस्य च तत्रासत्त्वात् तत्स्वरूपसत्त्वानुबन्धात् न निरुपाख्यमेव तत्। इति प्रसज्यप्रतिषेधपक्षोदितदोषाभावः (अनेकान्तजयपताका, काशी, पृ० ४७.)

(२) उक्तं च वादिमुख्येन (श्रीमल्लवादिना सम्मतौ)—' न विषयग्रहणपरिणामादृतेऽपरः संवेदने विषयप्रतिभासो युज्यते युक्त्ययोगात्। (अनेकान्तजयपताका, पृ० ९८)

जैन दन्तकथा मुजिब इन मल्लवादीका अस्तित्व ईस्वीकी चौथी शताब्दीमें माना जाता है। परंतु, इधर उपर्युक्त वर्णनानुसार धर्मोत्तररचित न्यायबिन्दु-टीकाके ऊपरकी टिप्पणीके कर्ता भी मल्लवादी नामक जैनाचार्य ही ज्ञात होते हैं। आज तक जैनसाहित्यमें केवल एक ही मल्लवादीके होनेका उल्लेख देख गया है, इस लिये धर्मोत्तरटीका-टिप्पणीके कर्ता मल्लवादी और 'द्वादशारनयचक्र'के कर्ता प्रसिद्ध मल्लवादी दोनों एक ही समझे जायँ तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। और इसी कारणसे डॉ. सतीशचन्द्र वि. ने अपने निबन्धमें मल्लवादीका सत्तासमय समुचितरूपसे वही लिखा है जो धर्मोत्तरके लिये स्थिर किया गया है। ❀

परंतु हरिभद्रके ग्रंथमें मल्लवादीका उक्त प्रकार स्पष्ट नामोल्लेख होनेसे, वे 'वादीमुख्य' और सुप्रसिद्ध मल्लवादी तो निःसन्देह रीतिसे हरिभद्रके अस्तित्व-समयसे-अर्थात् इस्वीकी ८ वीं शताब्दीसे-पूर्व ही में हो चुके हैं। इस लिये धर्मोत्तरटीकाकी टिप्पणी लिखनेवाले मल्लवादीको दूसरे मल्लवादी समझने चाहिए और वे धर्मोत्तरके बाद किसी समयमें हुए होने चाहिए। एवं हरिभद्रके ग्रंथोंसे हमें एक नये धर्मोत्तर और नये मल्लवादीका पता लगता है।

४

हरिभद्र सूरि और शंकराचार्य।

वेदान्तमतप्रस्थापक आदि शंकराचार्यके सत्ता-समयके विषयमें भी हरिभद्रके समयनिर्णयसे कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। शंकराचार्यके समयके बारेमें अनेक विद्वानोंके अनेक विचार हैं। कोई तो उन्हें ठेठ महात्मा गौतमबुद्धके समकालीन और कोई महाकवि कालिदास और नृपति विक्रमादित्यके समकालीन बतलाते हैं। कोई ईस्वीकी पहली

❀ देखो, पूर्वोक्त, मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रका इतिहास. पृ. ३४-३५।

शताब्दीमें, कोई चौथीमें, कोई पांचवींमें, कोई छठी-में, कोई ७ वीं में, कोई आठवींमें, कोई नववींमें और यहां तक कि कोई १४ वीं जैसे बिल्कुल अर्वाचीन काल तकमें भी उनका होना मानते हैं। परंतु इन सब विचारोंमेंसे हमें, हरिभद्रके साहित्यका अवलोकन करनेके बाद, प्रो. काशीनाथ बापू पाठकका विचार युक्तिसंगत मालूम देता है। उनके विचारानुसार शंकराचार्य ईस्वीकी ८ वीं शताब्दीके अंतमें और नववींके प्रारंभमें हुए होने चाहिए। उन्होंने एक पुरातन सांप्रदायिक श्लोकके आधार परसे शक ७१० (ई. स. ७८८) में शंकराचार्यका जन्म होना बतलाया है। इसी समयके सम्बन्धमें अन्यान्य विद्वानोंके अनेक अनुकूल-प्रतिकूल अभिप्राय जो आज तक प्रकट हुए हैं उनमें सबसे पिछला अभिप्राय प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत बाल गंगाधर तिलकका, उनके 'गीतारहस्य में प्रकट हुआ है। श्रीयुत तिलक महाशयके मतसे "इस कालको सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिए। क्यों कि महानुभाव पन्थके दर्शनप्रकाश नामक ग्रंथमें यह कहा है कि 'युग्मपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक संवत् ६४२ (विक्रमी संवत् ७७०) में श्रीशंकराचार्यने गुहामें प्रवेश किया, और उस समय उनकी आयु ३२ वर्षकी थी। अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक ६१० (वि. सं. ७४५) में हुआ।" (*गीतारहस्य, हिन्दी आवृत्ति, पृ. ५६४*). हमारे विचारसे तिलक महाशयका यह कथन विशेष प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। क्यों कि शंकराचार्य यदि ७ वीं शताब्दीमें, अर्थात् हरिभद्रके पहले हुए होते तो उनका उल्लेख हरिभद्रके ग्रंथोंमें कहीं न कहीं अवश्य मिलता। हरिभद्र उल्लिखित विद्वानोंकी दीर्घ नामावलि जो हमने इस लेखमें ऊपर लिखी है उसके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि, उन्होंने अपने पूर्वमें जितने प्रसिद्ध मत और संप्रदाय प्रचलित थे उन प्रत्येकमें हो जाने वाले सभी बडे बडे तत्त्वज्ञोंके विचारों पर कुछ न कुछ अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया है। शंकराचार्य भी यदि उनके पूर्वमें हो गये होते तो उनके विचारोंकी अलोचना किये विना हरिभद्र कभी नहीं चुप रह सकते। शंकराचार्यके विचारोंकी मीमांसा करनेका तो हरिभद्रको खास असाधारण कारण भी हो सकता था। क्यों कि, शारीरिक भाष्यके दूसरे अध्यायके द्वितीय पादमें बादरायणके

'नैकस्मिन्नसम्भवात् ।३३। एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्।३४

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः । ३५

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः । ३६ ।'

इन ४ सूत्रों पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्यने जैनधर्मका मूल और मुख्य सिद्धान्त जो 'स्याद्वाद (अनेकान्तवाद), है उसके ऊपर अनेक असदाक्षेप किये हैं। हरिभद्रने 'अनेकान्तजयपताका' में अनेकान्तवाद ऊपर किये जानेवाले सब ही आक्षेपोंका विस्तृत रीतिसे निरसन किया है। इस ग्रंथमें, तथा और और ग्रंथोंमें भी उन्होंने ब्रह्माद्वैत मतकी अनेक वार मीमांसा की है। ऐसी दशामें शंकराचार्य जैसे अद्वितीय अद्वैतवादीके विचारोंका यदि हरिभद्रके समयमें अस्तित्व होता (और तिलक महाशयके कथनानुसार होना ही चाहिए था) तो, फिर उनमें सङ्कलित अनेकान्तवादपरक आक्षेपोंका उत्तर दिये विना हरिभद्र कभी नहीं मौन रहते। इस लिये हमारे विचारसे शंकराचार्यका जन्म हरिभद्रके देहविलयके बाद, अर्थात् प्रो. पाठकके विचारानुसार शक ७१० में होना विशेष युक्तिसंगत मालूम देता है।

हरिषेणकृत कथाकोश ।



[लेखक—श्रीयुत पं. नाथूरामजी प्रेमी, भूतपूर्वसंपादक, जैन हितैषी ।]

दिगम्बर और श्वेताम्बरसम्प्रदायके विद्वानों द्वारा अनेक कथाकोश रचे गये हैं; परंतु अभी तक जितने कथाकोश उपलब्ध हुए हैं, वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं—ग्यारहवीं शताब्दीके पहलेका अभी तक कोई कथाकोश प्राप्त नहीं हुआ है। इस लेखमें हम जिस कथाकोशका परिचय देना चाहते हैं वह शक संवत् ८५३, विक्रम संवत् ९८९ और खर नामक वर्तमान संवत् के २४ वें वर्षका बना हुआ है और इसलिए इस समय हम उसे सबसे प्राचीन जैन कथाकोश कह सकते हैं।

इस कथाकोशकी एक प्रति पूनेके " भाण्डारकर-प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर " में मौजूद है जो वि० सं० १८६८ की लिखी हुई है। यह जयपुरके गोधाजीके मन्दिरमें लिखी गई थी और संभवतः वहींसे गवर्नमेण्टके लिए खरीदी गई है। इसकी श्लोकसंख्या १२५००, पत्रसंख्या ३५० और कथासंख्या १५७ है। प्रायः सारा ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्दोंमें रचा गया है। रचना बहुत प्रौढ और सुन्दर तो नहीं है; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके अन्य कथाकोशोंसे अच्छी है।

इसके कर्ता हरिषेण नामक आचार्य हैं जो अपनी गुरुपरम्परा इस भांति बतलाते हैं—१ मौनि भट्टारक, २ श्रीहरिषेण, ३ भरतसेन और ४ हरिषेण। हरिषेण पुन्नाट संघके आचार्य थे। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने इस संघको पांच जैनाभासोंमें[1] एक बतलाया है; परन्तु फिर भी यह दिगम्बर सम्प्रदायका ही भेद था। यह द्राविडसंघका नामान्तर जान पडता है। द्रविडदेशीय होनेके कारण इसका द्रविडसंघ[2] नाम हुआ है। पुन्नाट[3] भी संभवतः द्रविड देशका ही नामान्तर है। इस कथाकोशमें ही भद्रबाहु-कथानकमें लिखा है:—

> अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः ।
> दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ ॥४०॥

इससे सिद्ध है कि पुन्नाट दक्षिणापथका ही एक देश है और उसे द्रविड देश मानना कुछ असंगत नहीं हो सकता। उस समय शायद कर्नाटक देश भी द्रविड देशमें गिना जाता था। इस संघका एक और नाम द्रमिल संघ भी है। न्यायविनिश्चयालंकार और पार्श्वनाथचरित आदिके कर्ता सुप्रसिद्ध तार्किक वादिराजने अपनेको द्रमिलसंघीय लिखा है। द्रविड देशको द्रमिल देश भी कहते हैं।

सुप्रसिद्ध हरिवंशपुराणके कर्ता प्रथम जिनसेन भी इसी पुन्नाट संघके आचार्य थे:—

" व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये— "

हरिवंश-प्रशस्ति ।

यह कथाकोश भी उसी वर्द्धमाननगरमें बनाया गया है जहाँ कि जिनसेनसूरिने हरिवंशपुराणकी रचना की थी। और जब कि जिनसेन पुन्नाट संघके ही आचार्य हैं तब संभव है कि हरिषेण आचार्य जिनसेनकी ही शिष्यपरम्परामें हों। यदि मौनिभट्टारककी गुरुपरम्पराका पता लग जाय तो इस बातका निर्णय सहज ही हो जाय।

वर्द्धमानपुर कर्नाटक देशका ही कोई प्रसिद्ध नगर है। मालूम नहीं, इस समय वह किस नामसे प्रसिद्ध है। जिनसेनसूरि लिखते हैं:—

" कल्याणैः परिवर्द्धमानविपुलश्रीवर्द्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः × ×"

इसी प्रकार इस कथाकोशके कर्ता लिखते हैं:—

" जैनालयव्रातविराजिताते
चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले ।

---

१ मेरे द्वारा सम्पादित और जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वारा प्रकाशित ' दर्शनसार ' में जैनाभासोंका विस्तृत विवेचन देखिए।

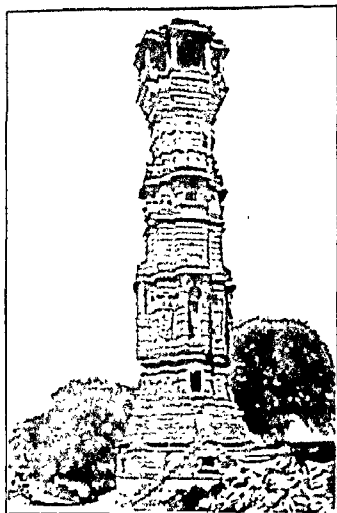
२ दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो। ॥ २८ ॥ देवसेन।

३ आपटेकी संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरीमें पुन्नाटका अर्थ ' कर्नाटक देश' लिखा है।

लक्षणलक्षविधानविहीनः छन्दसापि रहितः प्रमया च ।
तस्य शुभ्रयशसो हि विनेयः संबभूव विनयी हरिषेणः ॥ ७
आराधनोद्धृतः पथ्यो भव्यानां भावितात्मनां । हरिषेणकृतो भाति कथाकोशो महीतले ॥ ८
हीनाधिकं चारुकथाप्रबन्धाख्यातं यदस्माभिरतिप्रमुग्धैः ।
मात्सर्यहीनाः कवयो धरण्यां तच्छोधयन्तु स्फुटमादरेण ॥ ९
भद्रं भूयाज्जिनानां निरुपमयशसां शासनाय प्रकामं,
जैनो धर्मोपि जीयाज्जगति हिततमो देहभाजां समस्तं ।
राजानोऽवन्तु लोकं सकलमतितरां चारुवातोऽनुकूलः,
सर्वे शाम्यन्तु सत्त्वाः जिनवरवृषभाः सन्तु मोक्षप्रदा नः ॥ १०
नवाष्टनवकेष्वेषु स्थानेषु त्रिषु जायतः । विक्रमादित्यकालस्य परिमाणमिदं स्फुटम् ॥ ११
शतेष्वष्टसु विस्पष्टं पंचाशत्व्याधिकेषु च । शककालस्य सत्यस्य परिमाणमिदं भवेत् ॥ १२
संवत्सरे चतुर्विंशे वर्तमाने खराभिधे । विनयादिकपालस्य राज्ये शक्रोपमानके ॥ १३
एवं यथाक्रमोक्तेषु कालराज्येषु सत्सु कौ । कथाकोशः कृतोऽस्माभिर्भव्यानां हितकाम्यया ॥ १४
कथाकोशोऽयमीदृक्षो भव्यानां मलनाशनः । पठतां शृण्वतां नित्यं व्याख्यातॄणां च सर्वदा ॥ १६
सहस्रैर्द्वादशैर्बद्धो नूनं पंचशतान्वितैः । जिनधर्मश्रुतोद्युक्तैरस्माभिर्मतिवर्जितैः ॥ १७

इति श्रीहरिषेणाचार्यकृतं बृहत्कथाकोशं समाप्तं । ग्रन्थसंख्या १२५०० । श्रीरस्तु । कल्याणमस्तु

संवत् १८६८ का मासोत्तममासे जेठमास शुक्लपक्ष चतुर्थ्यां तिथौ सूर्यवारे श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकजी श्रीमहेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकजी श्रीक्षेमेन्द्र कीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकजी श्रीसुरेन्द्रकीर्तिजी तत्पट्टे भट्टारकशिरोमणी भट्टारकजी श्रीसुखेन्द्रकीर्तिजी तदाम्नाये सवाई जयनगरे श्रीमन्नेमिनाथचैत्यालये गोधाख्यमन्दिरे पंडितोत्तमपंडितजी श्रीसंतोष-रामजी तत्सिस्यपंडित वषतरामजी तच्छिष्य हरिवंशदासजी तत्सिष्य कृष्णचन्द्रः तेषां मध्ये वषतराम-कृष्णचंद्राभ्यां ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं बृहदाराधनाकथाकोशाख्यं ग्रन्थं लेखयेत .लिखितं [illegible] शास्त्रं मंगलं भवतु । "



अति प्राचीन जैन कीर्तिस्तंभ, चितोडगढ, मेवाड ।

|| अर्हम् ||

जैन साहित्य संशोधक

भाग १] गुजराती लेख विभाग [अंक १

डॉ. हर्मन जेकोबीनी कल्पसूत्रनी प्रस्तावना.

[अनुवादक–श्रीयुत अंबालाल चतुरभाई शाहा, बी. ए.]

[नोटः—लीप्झीग (जर्मनी) मां प्रकट थती 'Abandlungen fur die Kunde des Morgenlandes' नामनी ग्रंथमालामां, ई० स० १८७९ मां डॉ. हर्मन जेकोबीए रोमन लिपिमां, विस्तृत प्रस्तावना, उपयोगी टिप्पण, विविध पाठांतरो, अने प्राकृत-संस्कृत शब्दकोष साथे भद्रबाहुस्वामी विरचित कल्पसूत्र प्रकट कराव्युं हतुं. ए पुस्तकनी, प्रस्तावनामां ए विद्वान् जैन स्कॉलरे कल्पसूत्र साथे संबंध धरावनारी बाबतो सिवाय बीजी पण घणीक बाबतो लंबाणथी चर्चेली छे, अने तेमां, तेमनी पहेलांना जे केटलाक प्रसिद्ध यूरोपीय स्कॉलरोए जैनधर्मनी ऐतिहासिकता अने स्वतंत्रताना संबंधमां जुदा जुदा भ्रांतिवाळा विचारो प्रकट करेला हता, तेमनुं संक्षेपमां निरसन कर्युं छे. डॉ. जेकोबीनुं ए अमूल्य अने प्रारंभिक पुस्तक आजे दुर्लभ थई गयुं छे, तेमज जैनसमाजना मोटा भागने–इंग्रेजी केळवणी लीधेला ग्रेज्युएटो सुद्धांने–ए वातनी खबर नथी के उक्त विद्वाने पोताना ए उपयोगी पुस्तकमां जैनधर्मना विषयमां केवा केवा विचारो प्रदर्शित कर्या छे. तेथी ए पुस्तकनी प्रस्तावनानो सरल अनुवाद अत्र आपवामां आवे छे.

आ ठेकाणे एटलुं सूचवी देवुं जरूरनुं छे के आ लेखमां जणावेला, तथा एवा बीजा लेखो, के जे हमेशां आ पत्रमां प्रकट थता रहेशे तेमां जणवेला बधा विचारो साथे संपादक संमत छे, एम समजी लेवानी कोईए भूल न करवी. संपादक हमेशां पोताना स्वतंत्र लेखोक्त विचारो माटेज जवाबदार होय छे. तेमज अन्य लेखकोना विचारो पण हमेशां एक सरखाज रहे छे, एम पण कोईए दृढ धारणा न करी लेवी. ज्ञान अने साधनोना अनुसारे मोटा मोटा लेखकोना विचारोमां पण परिवर्तन थतुं रहे छे, ए, सर्वानुमतसिद्ध हकिकत छे. एज नियमानुसार डॉ. जेकोबीना विचारोमां पण आ प्रस्तुत प्रस्तावना लख्या बाद, पाछळथी, केटलीक बाबतोमां संशोधन--परिवर्तन थयुं छे, एम तेमना पाछळना लखाएला केटलाक लेखो उपरथी समजाय छे. हवे पछीना अंकोमां 'पूर्वना पवित्र पुस्तको' (Sacred Books of the East) नामनी सुप्रसिद्ध ग्रंथमाळामां डॉ. जेकोबी द्वारा अनुवादित जैन-सूत्रोना जे बे पुस्तको प्रसिद्ध थयां छे तेमनी प्रस्तावनानो अनुवाद पण क्रमथी आपवानी इच्छा

महावीर निर्वाणना समयनुं निरूपण करतां पहेलां आपणे शरूआतमां ए तपास करीए के जैनधर्म अने बौद्धधर्म बन्ने परस्पर स्वतंत्र धर्मो छे के एक बीजामांथी नीकळेला छे. जे यूरोपीय विद्वानोए आ विषय उपर आज सुधीमां लख्युं छे, ते सघळा सामान्य रीते उपर दर्शावेला बीजा मतने स्वीकारवानुं पोतानुं वलण बतावे छे. कोलब्रूक (Colebrooke) महावीरने गौतम बुद्धाना गुरु तरीके माने छे. अने ते प्रमाणे माननवानुं कारण ते ए बतावे छे के महावीरनो एक इन्द्रभूति नामनो शिष्य घणीवार गौतमस्वामी अथवा गौतम नामे ओळखाय छे. प्रिन्सेप (Prinsep) अने स्टीवन्सन (Stevenson) ए बे विद्वानो तेनाज अभिप्रायने स्वीकारे छे, अने थोडाज समय अगाउ, मि. एडवर्ड थॅामस (Mr. Ed. Thomas) पण तेज मतनुं पुनः प्रतिपादन कर्युं छे. प्रो. वेबर (Prof. Webor) पोताना शत्रुंजय माहात्म्य ('Ueber das Catrunjaya mahatmya') उपरना निबंधमां कोलब्रुकनी कल्पनाने भ्रांतिपूर्ण सिद्ध करे छे अने लखे छे के, इन्द्रभूति ते गौतमबुद्धनी माफक क्षत्रिय नहीं पण ब्राह्मण जातिनो हतो. तेनुं गोत्र गौतम होवाथी ते ए नामे पण ओळखाय छे. परंतु आटला उपरथी तेनी गौतमबुद्धनी साथे एकता करवी ते प्रकट भूल छे. जो इन्द्रभूतिए विरोधी मत स्थापवाने वर्धमानना धर्ममार्गनो त्याग कर्यो होत, तो, महावीर-निर्वाण बाद थोडा वखत पछी रचाएला जैनसूत्रोमां वारंवार तेना संबंधमां जे आदर भरेला उल्लेखो करवामां आव्या छे ते कदापि न करवामां आवत. बल्के तेथी उलटुं, महावीरनो प्रिय शिष्य होवा छतां बने तेटली रीते तेनी निंदाज करवामां आवी होत * कारण के सूत्रोमां स्पष्ट रीते कथन छे के महावीरना जमालि नामना भाणेजे धर्मभेद कर्यो हतो; तेमज भगवती सूत्र (सय १७ मां महावीरना बीजा शिष्य मक्खलिपुत्त गोसालना उपर पण स्फुट रीते आक्षेपो करेल जोवामां आवेछे. (साथे साथे कही जाउं छुं के आ मक्खलिपुत्त गोसाल ते पालिसूत्रोमां निर्दिष्ट मक्खलिगोसालज छे. तेने ते स्थळे छ तैर्थिकोमांनो—पाखंडमतावलंबिओमांनो—एक तथा बुद्धमतना विरोधी तरीके गणाव्यो छे.

प्रो. एच्. विल्सन (Prof. H. Wilson) 'हिंदुओना धार्मिक संप्रदायो' नामना पोताना निबंधमां कोलब्रूकथी तद्दन विरुद्ध मत उपस्थित करे छे. ते कहे छे के जैनधर्म ए बौद्ध धर्मनी शाखा छे अने ते ई० स० नी दसमी सताब्दिना अरसामां बुद्धधर्मनी पडतीमांथी उत्पन्न थयो छे, प्रो. ए. वेबर पोताना उपरोक्त पुस्तकमां जो के जैनधर्मनी आना करतां वधारे प्राचीनता स्वीकारे छे परंतु साथे ते बौद्धधर्मनी पूर्वकालिकता पण, एच्. विल्सनना कहेवा मुजब कबुल राखे छे. प्रो. लेसन (Prof. Lassen) एकंदर वेबरना अभिप्रायनेज मळतो थाय छे (Ind. Alterth. IV 755 Sqq). उपर उपरथी जोतां केटलांक कारणो प्रो. विल्सनना मतने पुष्टि आपतां मालुम पडे छे. कारण जैनसूत्रोमां जणाव्या प्रमाणे महावीर विहारना—के जे बुद्धनी पण जन्म अने उपदेशनी भूमि हती, त्यांना—निवासी मात्र हता, एटलुंज नहीं पण ते बन्ने समकालीन अने एकज राजाओना राज्योमां विचरता हता, एवुं पण वर्णन मळी आवे छे. अलबत श्रेणिक अने कुणिक (अथवा

* इन्द्रभूतिना संबंधमां जे एक दंतकथा प्रचलित छे ते उपरथी इन्द्रभूति तेमना गुरु उपर केटला अनुरक्त हता ते स्पष्ट थाय छे. महावीरना देहत्याग वखते तेओ गेरहाजर हता; ज्यारे तेमणे स्थान तरफ पाछा फरतां पोताना पूज्य गुरुना अणधार्या अवसानना समाचार सांभळ्या त्यारे तेओ अत्यंत शोकग्रस्त बन्या हता. पछीथी तेमणे प्रबुद्ध थई जोयुं के, एक अंतिम अवशिष्ट बंधन, के जेनाथी तेओ संसारबद्ध हता, ते बीजुं कांई नहीं पण तेमना गुरु प्रत्येनो तेमनो प्रबल प्रेमभाव हतो. पश्चात् तेमणे ते बंधनने सर्वथा छेदी केवलज्ञान प्राप्त कर्युं हतुं.

कोणिक—आवां नामो बौद्धसूत्रोमां जोवामां आवतां नथी, तथापि श्रेण्य या श्रेणिक एवा शब्दो बिम्बिसारना बिरुद तरीके जोवामां आवे छे; अने तेनो पुत्र कुणिक, के जे औपपातिकसूत्रमां बिंभिसारपुत्रतरीके पण ओळखाय छे, ते स्पष्ट रीते बिम्बिसारनो पुत्र अजातशत्रुज होवो जोइए. कारण के जैन अने बौद्धसूत्रोमां अनुक्रमे ते बन्नेने पोताना पितानी हत्या करनार तरीके वर्णवेला जोवाय छे. कुणिकनो पुत्र उदायिन्, के जेणे जैनपरंपरागत कथानुसार पाटलिपुत्र वसाव्युं हतुं, ते अजातशत्रुनो पुत्र उदयि भद्दक छे; एम सहेलाईथी साबित करी शकाय एवुं छे.* कारण के, बौद्धोनुं पण तेना संबंधमां एवुंज कथन छे. आ उपरथी एटलुं तो निःसंदेह जणाय छे के बिम्बिसार अने अजातशत्रु, जेओ बुद्धना समकालीन हता, तेओ पुनः जैन आगमोमां श्रेणिक अने कुणिकना नामे महावीरना समकालीन दृष्टिगोचर थाय छे. तेमनाथी केटलेक अंशे अल्पप्रतिष्ठित एवी बीजी व्यक्तिओना संबंधमां पण आवी हकिकत मळी आवे छे जेमके मंखलिनो पुत्र गोसाल (अथवा जैनानुसार—मक्खलि; मंखलि=मक्खलि; बिम्बिसार=बिंभिसार) अने लिच्छवि (जैन—लेच्छई) राजाओ. अन्य एक दलील प्रो. विल्सन पोताना पक्षमां ए रजु करे छे के, शाक्यसिंह अने वर्धमानना विशेषणो अथवा गुणनामो एक सरखां छे. उदाहरण तरीके—बुद्ध, जिन, अने महावीर (?) विगेरे. अने बीजुं पण एक प्रमाण ए छे के बन्नेनी पत्नीनुं नाम यशोदा हतुं. आ प्रमाणोथी, एच्. विल्सन बुद्ध अने महावीर बन्ने एकज व्यक्ति छे, एम जणावे छे. परंतु आ सिवाय ते बन्नेनी वच्चे बीजुं कोई प्रकारनुं साम्य नथी. कारण के आ सिवायनी जेटली हकिकतो बुद्धना संबंधमां लखवामां आवी छे, तेमांनी एके वर्धमाननी हकिकत साथे मळती आवती नथी. तेमज बन्ने महात्माओनां समानां नाम, जन्मभूमी, शिष्यपरिवार, आयुर्मर्यादा, तथा तेमना जीवनना अद्भुत बनावो अने आचार—विचारो के जे तेमना उपदेशो उपरथी तारवी शकाय छे—ते सघळां तद्दन भिन्न भिन्न छे. हुं आ स्थळे मात्र एक छेलीज बाबत उपर थोडीक चर्चा करीश. पहेली बाबतोने टीकानी जरूर नथी. हुं ज्यां सुधी निर्णय करी शक्यो छुं, ते उपरथी, महावीरनुं मानसिक वलण वीतराग (विरक्त) जीवन तरफ हतुं. तेमनो उपदेश पण मुख्यत्वे करीने आध्यात्मिक ज्ञान अने धार्मिक आचरणोने लगतोज छे. तेमनुं तत्त्वज्ञान अथवा परमार्थ (अध्यात्मक) स्वरूप विषयक ज्ञान न्यायशास्त्रनी पूर्वापर संगतिनी दृष्टिए उत्कृष्ट जणातुं नथी. कारण के ते गंभीर अने सर्वांगपूर्ण शोध (गवेषणा) करवाने बदले मात्र सूक्ष्म अने श्रमसाधित भेदो (विकल्पो) उभा करे छे. आ सिद्धान्तनुं नाम स्याद्वाद छे, अने ते शून्यवाद के जे बौद्धतत्त्वज्ञानने पोतानी जाळमां गूंचवी नांखे छे, तेना भयथी पोताने दूर राखे छे. ए सिद्धान्त हेरेक्लिटसना पर्यायवाद (Flux) साथे थोडेक अंशे मळतो आवे छे—जो के ए तेना जेटलो गहन नथी. महावीर सर्वसामान्य मान्यता प्रमाणे आत्मानुं नित्य अस्तित्व अने धार्मिक तपश्चरणना प्रभाव (सामर्थ्य) ने विशेष माने छे; त्यारे बौद्धो आ बन्ने सिद्धान्तोनी विरुद्ध कथन करे छे. महावीरनुं नीतितत्त्वशास्त्र पण, मात्र जेम हिंदुधर्मना बीजा घणा संप्रदायोमां जोवामां आवे छे तेम, साधुजीवनना नियमोनुंज वर्णन करी विराम पामे छे. टुंकामां महावीर हिंदुस्थानना धार्मिक पुरुषोमां साधारण प्रकारना लागे छे. धार्मिक विषयोना संबंधमां तेमनी बुद्धिशक्ति हती खरी; परंतु बुद्धमां जेवी प्रतिभाशक्ति निःसंशयरीते मानी शकाय छे, तेवी तो, तेमनामां न हती. बुद्ध पोताना तात्त्विक विचारो ठेठ शून्यवादना किनारा—अंतिम मर्यादा—सुधी लई जाय छे. अने तेम करवा छतां पण, तेओ पोताना तर्कने तद्दन स्पष्ट राखवा पूर्ण काळजी राखे छे. तेओ पांडित्यदर्शक भेदोपभेदो देखाडवानुं

चातुर्य बतावता कोशीश करता नथी; अने तेथी तेमनुं तत्त्वज्ञान थोडा तत्त्वभूत विचारो उपर रचाएली एक सीस्टिम(System) रूप बने छे. महावीरनुं तत्त्वज्ञान तेम बनतुं नथी. ते मात्र भिन्न भिन्न विषयो उपर पत्रत्तिना रूपमांज रहे छे. तेनी अंदर आध्यात्मिक विषयना विचारसमुच्चयने धारण करवा योग्य थोडा मूळभूत तत्त्वो नथी. तत्त्वज्ञान विषयक विचारोमां तर्कनी पूर्वापर संगति जाळववा उपरांत बुद्धे उदार अने महान् सूत्रोमां, तथा नीतिनी कल्पितवार्ताओमां, मनुष्य जातिना त्रिविध तापना निवारण अर्थे जे दयानी तीव्र लागणी प्रकट करी छे, ते उपरथी तेमनी प्रतिभानुं श्रेष्ठत्व स्पष्ट जणाई आवे छे. जैनग्रंथो करतां बौद्धग्रंथोनी महत्ता तेमना नैतिक तत्त्वने लईनेज छे. में उपर कह्युं छे तेम, महावीरे नीतिशास्त्रने अध्यात्मविद्या करतां हलका दरज्जानुं तथा तेना एक आनुषंगी सिद्धांत तरीके मान्युं छे. कारण के तेमनुं खास लक्ष्य परमार्थविद्या उपर हतुं. महावीर अने बुद्धना उपदेशनी आ रूपरेखा आपणने, तेओ बन्ने भिन्न व्यक्तिओ हती एम मानवा दोरे छे. ते बन्नेना मतभेदो पण घणा विचारणीय छे. तेमना तात्त्विक विचारोना पारिभाषिक या सांकेतिक शब्दो पण परस्पर मळता आवता नथी. आवी रीते महावीर अने बुद्धने एक मानवामां विरुद्धता वधती जती होवाथी, ते बन्ने प्रतिष्ठित-पुरुषो भिन्न पण समकालीन व्यक्तिओ हती, एम बतावती जैनो अने बौद्धोनी परंपरागत कथाओने साची मानवा तरफ आपणुं वलण थाय छे. वस्तुस्थिति आवी होवाना लीधे, बन्ने मतोनी वच्चेनुं सामान्य सादृश्य स्वाभाविकज छे, एम सहज जणाई आवशे. बन्ने संप्रदायोना संस्थापको समकालीन अने समानदेशनिवासी होवाथी, प्राकृतिक नियम प्रमाणे, ते बन्ने एकज प्रकारना देशकालानुरूप सर्वसामान्य तत्त्वज्ञान अने नीति विषयक विचारसमूहनो आश्रय ले तेमां नवाई नथी. तेमना जमानानुं वलण स्पष्टरीते ब्राह्मणधर्म सामे थवानुं ह[illegible] तो आप[illegible] बुद्धना समयना छ तैर्थिक मताचार्योना सिद्धान्तो[illegible] वर्णन वांचीशुं—जे वर्णन बौद्धोना सामञ्ञफलसु[illegible] त्तमां आपेलुं छे,—तो आपणने जणाशे के ते स[illegible] अल्प या बहु अंशे, ते वखतना सुधारको हता. [illegible] यथाथी बुद्धनी ज विशिष्टता हती ते तेमनी प्रति[illegible] भाने लईनेज हती. बुद्धनी माफक महावीर पण ए[illegible] बीजा सुधारक हता अने तेओ पोतानो स्वतंत्र म[illegible] स्थापवाने सफळ थया हता, एम जो आपणे मानीए तो तेमां युक्तिरहितता के असंभवितता जेवुं जणातुं नथी. आ विचारने हुं ऐतिहासिक सत्य तरीके स्थापित करवा दलीलो रजु करूं तेनी पहेलां मारे बौद्ध धर्मनी पूर्वकालिकताना हिमायतिओए रजु करेली बे विरूद्ध युक्तिओनुं निराकरण करवुं जोईए. प्रथम, जो हुं भूलतो न होउं तो हेमिल्टन बुकेनन (Hamilton Buchanan) ना कथनना आधारे एम मनाय छे के जैनो ज्ञाति व्यवस्था स्वीकारे छे; अने आ मान्यताना पाया उपर जैनधर्मनी उत्पत्तिना संबंधमां नीचेनी कल्पना उभी करवामां आवी छे, के ज्यारे ब्राह्मणोए बौद्धोने त्रास आपवा मांड्यो त्यारे तेओए पोताना धर्मांध प्रतिस्पर्धीओनी साथे समाधान करवा अर्थे ज्ञाति-व्यवस्थानो स्वीकार कर्यो. कारण के जो तेमणे एटलुं नमतुं मूक्युं न होत, तो ब्राह्मणोए ते पाखंडमतने सर्वथा दाबी दीधो होत. आ विचारमांथी एवी कल्पना जन्मी, के आ रीते क्षीण थतो बौद्धधर्मज जैनधर्मना रूपमां परिवर्तित थयो. आ कल्पनानो आ स्थळे हुं उहापोह करवा मांगतो नथी. मात्र एटलुंज जणावीश के ते कल्पनानो हुं अस्वीकार करूं छुं.

जैनधर्ममां यति अने श्रावक नामना बेज विभाग छे अने जो कदाचित् हिंदुस्थानना कोई कोई भागमां जैनो लोकव्यवहारमां ज्ञातिभेदो स्वीकारता होय तो, ते प्रमाणे तो, दक्षिण हिंदुस्थानना ख्रीस्ति अने मुसलमानो तथा सिलोनना बौद्धो पण स्वीकारे

छे, आ आवतन भमना साथे कोई संबंध नथी. आ ज्ञातिभेदो तो मात्र सामाजिक भेदो छे अने ते भारतवासीओनां मगजमां एटला तो ऊंडा जड घालीने बेठेला छे के तेमने धार्मिक सुधारकना शब्दो बीलकुल खसेडी शके तेम नथी. बौद्धधर्मना लेखोमां अनेक ठेकाणे ब्राह्मणोनो उल्लेख थएलो छे, पण तेटला उपरथी कोई बौद्धधर्म उपर ज्ञातिरूपी धार्मिक योजनाने स्वीकारवानो आरोप न मूकी शके. बीजी दलील एवी करवामां आवे छे, के जैनोनी प्राकृत भाषा करतां बौद्धोनी पालिभाषा वधारे पुरातन छे; अने तेटला माटे ते बौद्धधर्मनी पूर्वकालिकता स्थापन करवाने एक प्रमाण छे. जो के आ दलील तद्दन साची छे, तो पण ते कोई बाबत सिद्ध करी शकती नथी. कारण के, हु आगळ उपर बतावीश ते प्रमाणे जैनसूत्रो जे रूपमां हालमां विद्यमान छे ते रूप महावीर निर्वाण पछी एक हजार जेटलां वर्षो बाद नक्की करवामां आव्युं हतुं. आ उपरथी एटलुं तो तर्क-सिद्ध छे के ते पहेलांनां एक हजार वर्षोमां ए सूत्रोनी भाषामां घणा फेरफारो थया होवा जोईए. कारण के जे आचार्यो मुखथी अथवा लेखथी पोतानी शिष्यपरंपराने ए सूत्रो सोंपता गया होय, तेमनुं स्वाभाविक वलण, ते सूत्रोनी भाषाना जे जूनां रूपो प्रचलित भाषामांथी अदृश्य थया होय तेमना बदले वर्तमान वाक्पद्धतिप्रमाणेना रूपोनो व्यवहार करवानुं थाय, ए निःसंशय छे. दाखला तरीके, मध्ययुगना जर्मन लेखकोनां ग्रंथोना उताराओ पण, उतारा करनाराओनी देश तथा कालनी भाषामांज थया हता, एम स्पष्ट जोवाय छे आवी वस्तुस्थिति होवा छतां पण एक उदाहरणमां मूळभाषानी निशानी रही गई छे ते स्पष्ट बतावी आपे छे के मूळ भाषा, सूत्रोनी हालनी भाषाथी, अन्य घणा आकारोनी माफक एक विशेष आकारमां जुदी पडे छे. दाखला तरीके, सूत्रोमां वपराएला ' अगनी ' ' आचारिय ' ' सुहुम ' विगेरे शब्दो लईए, जे छंदोमां आ शब्दो वपराया छे तेओना माप उपरथी जणाय छे के मूलमां—सूत्रनी रचना करनाराओना समयमां—ए शब्दोनुं उच्चारण ' अग्नी ' ' आचार्य ' 'सुक्ष्म' विगेरेना रूपमां थतुं होवुं जोईए. जो ते वखते आ प्रमाणे उच्चारण न थतुं होत—अने सूत्रकारोनी भाषा पण सर्वथा हालना लिखित सूत्रोना जेवीज होत—तो तेओ पण—सघळी प्राकृत भाषाओने सरखी रीते लागु पडता स्वरशास्त्रना नियमो तेमनी भाषाने पण लागु पडेला होवाथी—ए शब्दोनो उच्चार तेम न करी शक्या होत. आ विषयना विस्तृत विवेचन माटे हुं वाचकने " Zeitschrift fur vergleichende Sprachforschung" v. XXIII; p. 594, sqq जोवानी भलामण करूं छुं. आ थोडीक हकिकतो उपरथी समजी शकाय छे, के भाषानुं अमुक रूप जैन साहित्यनी प्राचीनतानी विरुद्धमां दलील तरीके रजु करी शकाय तेम नथी, अने ज्यारे आम छे तो पछी तेवी दलीलने जैनधर्मने बौद्धधर्मथी अर्वाचीन स्थापित करवामां प्रमाण तरीके तो लेवायज केम ? अंतमां, आपणे वळी जाणीए छीए के जैन साहित्यनो चौदपूर्वना नामे ओळखातो एक भाग तो नष्ट थई गयो छे; अने ते कई भाषामां रचाएलो हतो ते आपणे बीलकुल जाणता नथी.*

आपणे उपर जोयुं ते प्रमाणे जैनोनां पवित्र सूत्रो बिम्बिसार अने अजातशत्रुना समयने महावीरना जीवनसमय तरीके बतावे छे. हवे जैनधर्म ते पुरातन कालमां हतो के नहीं तेनी ऐतिहासिक दृष्टिए शोध करवानी जरूरत छे. सूत्रोमां जैनयतिओ माटे बहु प्रचलित शब्द ' निर्ग्रंथ ' अने साध्वीओ माटे ' निर्ग्रंथी ' मळी आवे छे. वराहमिहिर अने हेम-

*केटलाक अल्प प्राचीन जैन ग्रंथमां उल्लेख करेलो जोवामां आवे छे के चौदपूर्वोनी रचना संस्कृत भाषामां थएली हती. डॉ. जेकोबीनी जाणमां ते वखते ए अहेवाल नहीं आव्या होय.—जै. धा. सं. संपादक.

के उक्त महावीर शब्द ते वर्धमान नामने माटे वपरायो छे, पण बुद्धने माटे नहीं. ए शिलालेख उपर संवत्सर ९८ लखेलो छे. मथुरामां मळेला शिलालेखोनी तारीखो कया संवत्ने उद्देशीने लखायली छे ते हजी नक्की थयुं नथी; छतां पण कनिष्क अने हुविष्कना नामनिर्देशथी एटलुं तो सिद्ध थाय छे के ते शिलालेखो ई० स० नी शरूआतनां छे. बीजो पुरावो ए छे के बौद्धग्रंथोमां पण जैनधर्मना संस्थापकना संबंधमां केटलाक उल्लेखो मळी आवे छे; ते उल्लेखो तेना—जैनधर्मना प्रवर्तकना—कोई सामान्य नामना रूपमां नहीं पण 'निगण्ठनाथ' अथवा 'निगण्ठनातपुत्त'ना विशेषनामना रूपमां छे. आपणे पहेलां जोई गया छीए के 'निगण्ठ' ए जैनयतिवाचक शब्द छे; अने 'नातपुत्त' ने हुं कल्पसूत्र अने उत्तराध्ययनमां आवेला महावीरना 'नायपुत्त' बिरुद्द तरीके मानुं छुं. नेपालना बौद्धग्रंथो निगण्ठनाथने ज्ञातिनो पुत्र कहे छे (Burnouf. Lotus de la bonni loi p. 450), अने जैनो पण तेने 'ज्ञातपुत्र' कहे छे. (See Petersburgh Dictionary S. V. Jnataputra) वळी हेमचंद्रना परिशिष्ट पर्व १—२ वाळो नीचेनो श्लोक सरखावा जेवो छे:—

कल्याणपादपारामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
विश्वाम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥

महावीरने आ नाम आपवानुं कारण ए छे के तेना पिता ज्ञातक्षत्रिय—ज्ञात जातिना क्षत्रिय—हता. निगण्ठनातपुत्तने सामञ्ञफलसुत्तमां अग्गिवेस्सायन गोत्रना लख्या छे. आ बौद्धलोकोनी भूल छे. कारण के, महावीर तो गौतम गोत्रना हता. बौद्धलेखकोए धर्मसंस्थापक अने तेमना मुख्य शिष्य सुधर्माने उलटपालट लखी दीधा छे. अर्थात् शिष्यनुं गोत्र, गुरुने लगाड्युं छे. जैन सूत्रोमां सुधर्माने महावीरना सिद्धान्तोना प्रवर्तक तरीके लख्या छे, के जेमणे जंबूस्वामीने प्रथम सूत्रोपदेश आप्यो हतो. आ सुधर्मा 'अग्गिवेस्सायन' गोत्रना हता. दुर्भाग्ये, निगण्ठनातपुत्तना सिद्धांतदर्शक सामञ्ञफलसुत्तना ते भागनो अर्थ स्पष्ट समजातो नथी. छतां पण तेना आनुमानिक भाषान्तर उपरथी, हुं कही शकुं छुं के 'निगण्ठनातपुत्त' ने महावीर तरीकेज गणवामां कोई पण प्रकारनो बाध आवे तेम नथी. डॉ० बुल्हरे पण एक कथाना आधारे महावीरने निगण्ठनातपुत्त रूपे जे स्वीकार्या छे ते हकिकत पण आ कथनने पुष्टि आपे छे. बौद्धधर्मना आत्मावतार(Hardy. Manual of Buddhism p. 271), वैदयन्तर अने अन्यग्रंथोमां एवो उल्लेख छे के निगण्ठनातपुत्ते पोताना उपालिनामना एक शिष्य, के जेणे बौद्धधर्मनो अंगीकार कर्यो हतो तेनी साथे कलह कर्या पछी पावामां काल कर्यो हतो. कल्पसूत्रप्रमाणे पण महावीरनुं देहावसान पावामांज थएलुं होवाथी, तेमज जैन यतिओ निगण्ठो कहेवाता होवाथी, ए स्पष्टरीते सिद्ध थाय छे के 'निगण्ठनाथ' ए शब्द महावीर माटेज वपरायो छे. आ प्रमाणे बुद्ध अने महावीर ए बन्ने भिन्न परंतु समकालीन व्यक्तिओ हती. आ उपरथी ए पण स्पष्ट छे के आ बन्ने धर्मोपदेशकोना निर्वाण समयमां थोडाकज वर्षोनुं अंतर होवुं जोईए. हवे जनरल कनिङ्गहामे करेली अशोकनी त्रण नवी आज्ञाओनी शोध उपरथी, अने डॉ. बुल्हरे ऐतिहासिक अने भाषाशास्त्रनी दृष्टिए करेला तेमना अर्थालोचन उपरथी, बुद्धनो निर्वाण-समय ई. स. पूर्वे ४७७ ना अरसामां निर्णीत थयो छे. तेथी महावीर निर्वाणनो समय पण ई. स. पूर्वे ४९० अने ४६० नी वच्चे आववो जोईए.

श्वेताम्बरोनी परंपरानुसार महावीर-निर्वाणनो समय विक्रम संवत् पहेलां ४७० वर्ष आवे छे, अने दिगम्बरोना मते विक्रमसंवत् पूर्वे ६०५ वर्ष आवे छे. आ बन्ने संप्रदायोनी नोंधाएली निर्वाणनी तारीखोमां जे १३५ वर्षनो तफावत जोवामां आवे छे ते संवत् अने शक वच्चेना कालनी बराबर छे, अने

आ उपरथी एवी संभावना उभी थाय छे के दिगम्बरोनो विक्रम संवत् ते शालिवाहननो शक छे. कारण के शालिवाहननो हमेशां जुना विक्रम साथे सेळभेळ थई जाय छे. श्वेताम्बरो विक्रम संवत् ई. स. पूर्वे ५७ वर्षे शरु थयो, एम माने छे. महावीर निर्वाण अने विक्रम संवत् वच्चेना ४७० वर्षना अंतर संबंधी हकिकत श्वेताम्बरोना घणा ग्रंथोमां मळी आवे छे. एनुं प्राचीनतम प्रमाण—मेरुतुङ्गनी 'विचारश्रेणि' ना पायाभूत, नीचे आपेली स्मारक गाथाओ छे. ए गाथाओमां महावीर निर्वाण अने विक्रमादित्य राजानी वच्चेना अंतरमा जे जे राजवंशोए जेटलां जेटलां वर्षो सुधी राज्य कर्युं तेमनी नोंध आपेली छे. ते गाथाओ हुं अहीं टांकु छुं,—अने तेमनी साथे तेमना प्रथम प्रकाशक डॉ. बुल्हर करेली टिप्पणी (Indian Antiquary II. 362.) उमेरूं छुं.

जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीर ।
तं रयणिं अवंतिवई अहिसित्तो पालगो राया ।१।
सट्ठी पालगरण्णो पणवण्णसयं तु होइ नंदाण।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसं चिअ पूसमित्तस्स ।२।
बलमित्त भानुमित्ता सट्ठी वरिसाणि चत्त नहवहणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरसवरिसा सगस्स चउ ।३।

'१ जे रात्रे अर्हत तीर्थंकर महावीर निर्वाण पाम्या, तेज रात्रे अवन्तीपति पालकनो राज्याभिषेक थयो.

'२ पालक राजानुं राज्य ६० वर्ष सुधी रह्युं. पछी १५५ वर्षसुधी नन्दोए राज्य कर्यु. तेना बाद १०८ वर्ष मौर्य राज्य चाल्युं. पछी त्रीश वर्ष पुष्यमित्रनुं राज्य रह्युं.

'३ बादमां ६० वर्ष बलमित्र अने भानुमित्रे राज्य कर्युं. अने तेमनी पछी ४० वर्ष नभोवाहन राजाए राज्य कर्युं. तेनी पछी तेर वर्ष गर्दभिल्लनुं राज्य रह्युं, अने पछी चार वर्ष शकराज नुं राज्य चाल्युं.'

आ गाथाओनो उल्लेख पर्णीक टीकाओमां तथा कालगणना-विषयक घणा ग्रंथोमां मळे छे. पण तेमनुं मूळ चोकस जणातुं नथी. आ गाथाओ वीर अने विक्रम संवत् वच्चेना त्रिकाल, अने प्राचीन कालगणनाना आधार रूप बने छे. उपरोक्त गाथाओना अनुसारे मौर्यवंशना राज्यना प्रारंभथी ते विक्रम संवत्ना प्रारंभ सुधी व्यतीत थएली वर्षसंख्या २५५ थाय छे. अर्थात् ४+१३+४०+६०+३०+१०८. आमां विक्रम संवत् अने ख्रिस्ति सननी शरुआतनी वच्चेना ५७ वर्ष उमेरवाथी चन्द्रगुप्तना अभिषेकनो काळ ई. स. पूर्वे ३१२ वर्ष आवे छे. आ रीते ग्रीक प्रमाणो द्वारा मळी आवती तारीख साथे, आ तारीखनी एकता थई जाय छे; अने तेथी ए पण सिद्ध थई जाय छे के त्रीजी गाथामां जणावेलो विक्रम (?) ते ई. स. पूर्वे ५७ वर्षमां शरु थएला संवत् युगना संस्थापकनो वाचक छे, नहीं के ई.स. ७८ मां शरु थता शक-युगना प्रवर्तकनो नामदर्शक. जो आम न मानीए तो चंद्रगुप्तना अभिषेकनो काळ ई. स. पूर्वे १७७ वर्ष आवे[1].

६० वर्षनुं पालकनुं राज्य अने १५५ वर्षनुं नव-नन्दोनुं शासनबन्ने—मळीने कुल २१५ वर्ष प्रमाण चन्द्रगुप्त अने निर्वाण वचेनो काळ छे. हवे ई० स० पूर्वेना ३१२ वर्षोमां, आ २१५ उमेरवाथी, आपणे ई० स० पूर्वे ५२७ मा वर्षने महावीर निर्वाणना नामांकित काळ तरीके प्राप्त करी

---

१ हुं नीचेनी बाबत उपर ध्यान खेचुं छुं के चंद्रगुप्तना अभिषेकनो आ काळ ते सेल्युकीडनना सननी आरंभ साथे बंध बेसतो आवे छे. मि. एडवर्ड टोमस माने छे के (Records of the Gupta Dynasty in India p. 17, 18.) "सेल्युसिडनसने लांबा वखत सुधी उत्तर हिंदुस्थानमां पोतानुं स्थान टकावी राख्युं हतुं, अने पछीनी राजवंशावली कालगणनात्मक नोंधो उपर घणी असर करी हती. मि. टोमसना सिद्धांतनी स्थापना जो प्रत्यक्ष प्रमाणथी थावी जाय तो चन्द्रगुप्तना अभिषेकनी जैन तारीख, जे ख्रावर साची छे, तेमां सहज शुंचवारो उभी करशे आ हकिकतनो सहेलाईथी खुलासो आपी शकाय.

शकीए छीए. आ काळ, अने सीलोननी काळ-गणनां अनुसारे बुद्धनुं निर्वाण, जे ई० स० पूर्वे ५४३ मा वर्षमां थयुं हतुं, तेनी वच्चे मात्र १६ वर्षनोज तफावत रहे छे.

महावीर-निर्वाण अने चन्द्रगुप्तना अभिषेक वच्चेना काळना संबन्धमां बीजी पण एक गणना छे, जे हेमचन्द्रना परिशिष्ट पर्वमां मळी आवे छे. ए ग्रन्थना, ८ मा सर्गना, ३४१ मां श्लोकमां लखेलुं छे के—

एवं च श्रीमहावीरे मुक्ते वर्षशते गते ।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥

'अने आ प्रमाणे महावीर निर्वाण पछी १५५ वर्षे चन्द्रगुप्त राजा थयो.'

ई० स० पूर्वेना ३१२ वर्षोमां १५५ उमेरवाथी, आपणे जोईशुं के महावीर निर्वाण ई० स० पूर्वे ४६७ मां आवे छे.

हेमचन्द्र चन्द्रगुप्त अने निर्वाणनी वच्चे जेटलां वर्षोनुं अन्तर बतावे छे तेटलां वर्षो तो गाथाओ मात्र नन्दोना राज्यनाज जणावे छे. आ उपरथी एम जणाय छे के हेमचंद्र पालकना राज्यनां ६० वर्षो गणनामां लीधां नथी. हेमचंद्र आवी रीते ६० वर्षो छोडी देवा जेवी भूल करे ए मानवुं कठण लागे छे. तेथी हुं एम अनुमान करूं छुं के काळगणनात्मक गाथाओमां जे परंपरागत हकिकत लखवामां आवी छे तेथी भिन्नज कोई संप्रदायने हेमचन्द्र अनुसर्या होवा जोईए. कारण के मारा विचार प्रमाणे गाथोक्त हकिकत पूर्णरीते साची नथी. नन्दोनो राज्यकाळ, जे गाथाओमां १५५ वर्ष जेटलो आपवामां आव्यो छे ते असाधारणरीते अधिक छे, एटलुंज नहीं, परंतु मगधना राजवंशोनी गणनामां अवन्तीपति पालकनुं नाम आववुं ते मने तो घणुंज संशयजनक लागे छे. बौद्धो अथवा ब्राह्मणो आ नामना राजानो बिलकुल निर्देश करता नथी. मगधनी राजावलीमां पालक नामना एक राजानो उल्लेख मळे छे खरो, पण ते प्रद्योत-वंशनो छे, के जे (प्रद्योतवंश) शैशुनाग वंशनी पहेलां थई गयो हतो. महावीरना समकालीन जे मगधना राजाओ हता ते शैशुनाग-वंशना हता. उज्जयिनी अथवा अवन्तीना राजा तरीके एक बीजा पालकनुं नाम मृच्छकटिकमां जोवामां आवे छे, अने तेना माटे त्यां एवुं वर्णन छे के आर्यके तेने राज्यभ्रष्ट कर्यो हतो. आ पालक ते कदाचित् कथासरित्सागरमां वत्स देशना कल्पित राजा उदयनना साळा तरीके जे पालकनुं नाम आपेलुं छे, ते संभवी शके. परंतु, आ उदयन जेम कुणिकना पुत्र उदायीना बदले भ्रांतिथी प्रसिद्धिमां आव्यो संभवे छे, तेम, ए पालक पण, तेज नामना प्रद्योत-वंशना राजा माटे मूळथी प्रसिद्ध थयो लागे छे. अने तेम थवाथी तेने महावीरनो समकालीन समजी लेवामां आव्यो होय एम जणाय छे. आ गमे तेम थयुं होय, पण सत्य वात तो ए छे के जैनोनी असल काळगणनामां पालकने स्थान नज मळवुं जोईए. हुं तो एम धारूं छुं के सीलोननी बौद्ध काळ-गणना साथे पोताना इतिहासने मळतो राखवानी खातर जैनोए तेने पोतानी काळ-गणनामां दाखल करी दीधो छे, अने तेथी ते मात्र कल्पना-प्रसूत छे. परंपरागत महावीरनिर्वाणनी तारीख अने हेमचन्द्रना उल्लेख उपरथी सूचवाती तारीख वच्चे जे साठ वर्षनो विरोध आवे छे, ते जोई, बौद्ध काळ-गणनामां मेळवी दीधेली ६६ वर्षनी असंगतिनुं स्मरण थाय छे; अने तेथी आपणने मानवुं पडे छे के ए बन्ने मूळेनी उत्पत्ति स्वतंत्र नथी पण एक—बीजानी असरथी—अनुकरणमांथी—थएली होवी जोईए. तामिल-देशमां जैनो केटली मोटी संख्यावाळा अने शक्तिसंपन्न हता ते आपणे जाणीए छीए; अने तामिल-भाषाना प्राचीन साहित्य उपर जैन धर्मनी केटली बधी छाप पडी हती, ते ग्रौल (Graul) अने केल्डवेल (Caldwell) ना जणाव्या प्रमाणे जाणी शकाय

तेम छे. सीलोननी सामेना द्विपकल्पमां रहेता तत्कालीन जैनो उपर कदाचित् बौद्धोनी असर थई होय अने ते वखते तेमणे पोताना प्रतिस्पर्धी पन्थनी अनुसार पोतानी काळगणनामां फेरफार कर्यो होय. परंतु आ मात्र आनुमानिक विचार छे, अने तेथी वधारे लंबाण करी हुं आनी किंमत घटाडवा इच्छतो नथी.

हवे आपणे महावीर निर्वाण-समयना विवेचन उपर पाछा फरी जोईशुं के हेमचंद्रनी नोंध अनुसार ई. स. पूर्वे ४६७ वर्षे महावीर-निर्वाण थयुं होय ते असंभवित नथी. कारण के, ते (समय) ई. स. पूर्वे ४७७ वर्षवाळा बुद्धना निर्वाण-समयनी साथे घणीज सुंदर रीते बंध बेसे छे. अने आ समकालीनता होवी आवश्यक छे, एम अमे उपरनी शोधमां जणावी गया छीए.

आ निर्णीत करेला निर्वाण-समयनी महत्ता परंपरागत निर्वाणसमय करतां केटली वधी वधारे छे ते जैन इतिहासमांथी मळी आवता बीजा प्रमाणो उपर थी नक्की थाय छे. आवश्यक सूत्र नामना एक पवित्र जैन आगमना ' उवग्घाय निज्जुत्ती ' नामना प्रकरणमां छ निन्हवोनुं वर्णन आवे छे, अने तेज वर्णन संवत् ११७९ (नवकरहर) मां रचाएली देवेन्द्रगणिनी उत्तराध्ययनसूत्रनी टीकामां[1] बहु विस्तार--पूर्वक पुनः आपवामां आव्युं छे. आ बन्ने ग्रंथोमां जणाव्या प्रमाणे अव्यक्त नामनो त्रीजो निन्हव वीर-निर्वाण पछी २१४ मे वर्ष आषाढ नामना आचार्यना शिष्योए चलाव्यो हतो. राजगृहना मौर्य राजा बलभद्र—जेने आवश्यकसूत्रमां ' मुरियबलभद्द ' अने उत्तराध्ययनमां ' मोरियवंसपसूओ ' तरीके लखेलो छे—तेणे आ निन्हव मत प्रवर्तकोने पाछा सन्मार्गे (जैनमतमां) वाळ्या हता. गाथाओ प्रमाणे जो मौर्यवंशनी उत्पत्ति वीर संवत् २१५ मां थई होय तो ते वंशनी एक शाखा वी. सं. २१४ मां राजगृहमां राज्य करती होय ते केम संभवी शके ?. पण जो आपणे हेमचंद्रना कथन अनुसार मौर्यवंश निर्वाण पछी १५५ वर्षे शरु थयो तेम स्वीकारीए तो तेमा कोई असंभवितता आवती नथी. अने आम मानवाथी निर्वाणनी निश्चित करेली तारीख पण साची ठरे छे, नीचेनी चर्चा उपरथी पण आपणे एज निर्णय उपर आवीए छीए. दरेक स्थविरावली-मां वर्णव्या प्रमाणे स्थूलभद्रना महागिरि अने सुहस्ती नामना बे शिष्यो हता. हवे स्थूलभद्र तो सघळा लेखकोना मते वीरनिर्वाण पछी २१५ वर्षे स्वर्गस्थ थया हता. मेरुतुंगना लख्या प्रमाणे महागिरि वी. नि. पछी २४५ मां मृत्यु पाम्या हता अने तेमना पछी सुहस्ती युगप्रधान बन्या हता. तेमणे अशोकना पौत्र अने उत्तराधिकारी संप्रतिने जैनधर्मनो उपासक बनाव्यो हतो. अशोक चन्द्रगुप्तना अभिषेक पछी ९४ वर्षे गुजरी गयो हतो. (बुद्ध निर्वाण पछी १६२ वर्षे चंद्रगुप्तनो अभिषेक. १६२+९४=२५६ अशोक मृत्यु.) गाथा प्रमाणे संप्रतिनुं राज्य महावीर निर्वाण पछी ३०९ वर्षे (२१५+९४) शरु थयुं अने हेमचंद्रना कथनानुसार २४९ वर्षे (१५५+९४). हवे आपणे गणत्री करीने जोईए छीए तो आमां हेमचंद्रनी हकिकतज खरी होय तेम जणाय छे. कारण के संप्रति अने सुहस्ती (के जे २४५ मां युगप्रधान बन्या) बन्ने समकालीन हता. एम उपरनी नोंधथी स्पष्ट जणाय छे. आ नोंध महावीर निर्वाणनी जे तारीख आपणे शोधी काढी छे तेनी सत्यता स्थापित करवामां पूर्ण सहायक थाय छे.*

१ आ टीका शान्त्याचार्यनी टीकामांथी उद्धृत करवामां आवी छे. मूळ सूत्रनुं अर्थबोधन ते कर्तानुं पोतानुं करेलुं छे, अने तेमां जोवामां आवती घणी कथाओ शान्तिचन्द्र शान्त्याचार्यनी टीकामांथी उतारेली छे.

* उपरनी काळगणना संबंधी तपासने हवे समाप्त करी, जैनोना प्रादुर्भावनो समय नक्की करवामाटे मारी पहेलांना लेखकोए जे प्रयत्नो कर्या छे तेमना संबंधमां थोडा शब्दो लखवा योग्य धारुं छुं. आ लेखकोने जैनधर्मनी उत्पत्ति निश्चित करवामां घणीज अपूर्ण माहीती मळी हती, अने

हवे हुं कल्पसूत्रना लोकविश्रुत लेखक भद्रबाहुना संबंधमां जैनो शुं कहे छे ते विषय उपर आवुं छुं. आ स्थविरना संबंधमां जे थोडी घणी सत्य हकिकतो छे ते पण अनैतिहासिक दंतकथाओ साथे एटली बधी भेळसेळ थई गई छे के जेथी तेमने तारवी काढवानुं काम अशक्य थई पड्युं छे. तेम छतां पण भद्रबाहु-संबंधी दंतकथाओनुं ऐतिहासिक मूळ शोधी काढवा माटे प्रयत्न करवानी आवश्यकता छे. आ कार्य माटे में जे पुरावाओनी मदद लीधी छे तेमने कालक्रमानुसार गोठववा जोईए. अने तेथी ते सर्वेना हुं नीचे प्रमाणे त्रण वर्गो पाडुं छुं. पहेला वर्गमां कल्पसूत्रमां आपेली ये स्थविरावलीओ, तथा आवश्यकसूत्र अने नन्दीसूत्रनी शरुआतमां आपेली स्थविरावली मूकुं छुं. बीजा वर्गमां, धर्मघोषना ऋषिमण्डलसूत्रने मूकुं छुं. आ बधा ग्रंथो वी नि. ९८० पछीना छे. आनाथी घणां सैकाओ पछी रचाएलुं हेमचंद्रनुं परिशिष्ट पर्व पण बीजा विभागमां अंतर्भूत थाय छे. त्रीजा वर्गमां कल्पसूत्रनी वधारे अर्वाचीन टीकाओमां आवती कथाओ, पद्ममंदिरगणि रचित ऋषिमण्डलसूत्र वृत्ति (आ वृत्ति संवत् १५१२मां जेसलमेरमां समाप्त थएली छे.) आदि बीजा ग्रंथो मूकवामां आव्या छे.

स्थविरावलीनी अनुसार महावीर पछी भद्रबाहु छठ्ठा स्थविर छे. तेमना गोत्रनुं नाम 'प्राचीन' छे. प्राचीन ए शब्द घणु करीने 'जूनुं' एवा अर्थमां वपराएलो छे कारण के आ नामनुं गोत्र भारतवर्षना बीजा कोई ग्रंथमां जोवामां आवतुं नथी. भद्रबाहु यशोभद्रना शिष्य हता, अने कल्पसूत्रनी विस्तृत स्थविरावलीमां बताव्या प्रमाणे तेमने (भद्रबाहुने) गोदास, अग्निदत्त, जनदत्त, अने सोमदत्त नामना चार शिष्यो हता. आमांना पहेलाए गोदास नामे गण स्थाप्यो हतो.

ऋषिमण्डलसूत्रमां भद्रबाहुनी एकज गाथा वडे स्तुति करेली छे, पण तेमना उत्तराधिकारी स्थूलभद्रनी स्तुति वीस-गाथाओमां करवामां आवी छे. भद्रबाहुनी स्तुति-गाथा नीचे प्रमाणे छे.

> दसकप्पव्ववहारा
> निज्जूढा जेण नवम-पुव्वाओ ।
> वंदामि भद्दबाहुं
> तमपच्छिम-सयलसुयनाणिं ॥

'जेमणे नवमा पूर्वमांथी दशाकल्पो अने व्यवहार (सूत्र) उद्धृत कर्या, एवा अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुने हुं वंदन करुं छुं. 'अपच्छिम' नो अनुवाद 'छेल्लुं

तेथी तेमना प्रयत्नो निष्फळ निवड्या छे; एटलुंज नहीं पण कालगणना संबंधी शोधमां ते मोटा विघ्नरूप थई पड्या छे.• प्रो. वेबरे, वी. नि. ९८० मां ध्रुवसेन राजानी आगळ कल्पसूत्र वांचवामां आव्युं हतुं, ते हकिकत, अने शिलादित्य जे वी. नि. पछी ९४७ मां राज्य करतो हतो तेवी दंतकथावाळी हकिकत, ए बन्नेनो भेळसेळ करी, तेना उपरथी महावीर-निर्वाणनी तारीख ई. स. पूर्वे ३४९ नक्की करी छे. प्रो. वेबरनी गणनानी पायाभूत आ बन्ने तारीखो जो खरी होय—जो के ते विषयमां मने तो गंभीर शंकाओ छे—तो पण उपर जणावेली नोंधोमां त्रण ध्रुवसेनोमांनो कयो ध्रुवसेन अने छ शिलादित्योमांनो कयो शिलादित्य लेवानो छे, ते नक्की करवुं अशक्य छे. आ अनिश्चय उपरांत, वलभीवंशनी कालगणना उपर प्रो. वेबरे पोतानी गणत्री उभी करी छे तेनोज हजी तो निर्णय थयो नथी. प्रो. वेबरना सिद्धान्तनी (Ind. Alt. IV.p.762 sqq.) टीका करती प्रो. लेसननी दलीलो पण तेना जेवाज अनिष्कंटक पाया उपर उभी थएली होवाथी तेना संबंधमां पण वधारे विवेचन करवानी जरूर नथी. शत्रुंजयमाहात्म्य जेने डॉ० बुहलर 'बारमा अगर चौदमा सैकाना कोई एक यतिनो कंगाल कूट लेख' कहे छे (Three now Edicts of Acoka, p. 21. note) तेमां पण विक्रम पहेलां ४७० मा वर्षमां महावीर निर्वाण पाम्या एवी चालती आवती हकिकत आपेली छे. पण वेबरे अगर लेसने आ अगत्यना कथन उपर कांई पण लक्ष्य आप्युं नथी. तेनुं कारण कदाचित् तेमना वखतमां बीजा धर्मोना मुकाबलामां जैन धर्म ए एक अर्वाचीनज धर्म छे, एम जाणे के एक सिद्धान्त मनाई गयो होय तेम लागे छे. परंतु आ दुराग्रह छेल्लां वीस वर्षोमां, जे विशाल प्रमाणमां जैन साहित्य आपणने मळ्युं छे, तेनी आगळ, हवे टकी शके तेम नथी. डॉ० बुहलरनो आपणे उपकार मानवो जोईए के जेमणे समग्र जैन साहित्य युरोपीय-विद्वानोनी आगळ लावी मूक्युं छे; अने तेम करी अपूर्ण अने शंकाशील मूळोमांथी जैनधर्मसंबंधी हकिकतो मेळववाना संकटमांथी आपणने मुक्त कर्या छे.

नहीं ' एम पण करवो होय तो थाय, परंतु तेनो सामान्य अर्थ ' तद्दन छेल्लुं ' एम थतो होवाथी मे मारा भाषान्तरमां तेम कर्युं छे. छतां पण सामान्य परंपरानुसार स्थूलभद्र चौदपूर्वधारी मनाता होवाथी, भद्रबाहु उपान्त्य (छेल्लानी पहेला) श्रुतकेवली गणाय छे. स्थूलभद्रथी ते वज्रस्वामी सुधीना स्थविरो दश पूर्वोना धारक हता, अने तेटला माटे तेओ दशपूर्वी कहेवाय छे. वज्रस्वामी पछी पूर्वोनुं ज्ञान तद्दन लुप्त थयुं हतुं.—जुओ, हेमचंद्र विरचित, अभिधान चिन्तामणि, श्लोक. ३३—३४. हेमचंद्र परिशिष्ट पर्वना नवमा सर्गमां, केवी रीते स्थूलभद्र साथे छेल्लां चार पूर्वो विच्छिन्न थयां ते संबंधमां नीचे प्रमाणे वर्णन आपे छे:—पाटलीपुत्रना संघे ११ अंगो एकत्र करी, दृष्टिवाद नामना बारमा अंगने प्राप्त करवा माटे ४९९ साधुओ साथे स्थूलभद्रने भद्रबाहुनी पासे, जेओ ते वखते नेपालमां रहेता हता, त्यां मोकल्या. भद्रबाहुए ते समये ' महाप्राणव्रत ' अंगीकार करेलुं होवाथी पोताना ए शिष्योने घणोज थोडो थोडो पाठ आपी शकता हता. तेथी करीने केटलाक वखत पछी, स्थूलभद्र सिवाय बीजा बधा शिष्यो कंटाळी जई तेमनी पासेथी जता रह्या हता. स्थूलभद्र भद्रबाहु पासेथी दश वर्षमां दश पूर्वो शीख्या हता, त्यार बाद भद्रबाहुने तेमनी वर्तणुकमां दोष जणायाथी बाकीनां पूर्वो शिखववानो तेमणे ना पाडी. परंतु ज्यारे स्थूलभद्रे बहु प्रार्थना करी, अने पोताना दोषनी क्षमा मांगी त्यारे तेमणे आगळ शिखववा मांड्युं; अने ते एवी शरते के छेल्लां चार पूर्वो तेमणे बीजा कोईने शिखववां नहीं. हवे आ कथानी साथे धर्मघोषना शब्दोनो विरोध आपणे एवी रीते मटाडी शकीए के, स्थूलभद्रे छेल्लां चार पूर्वोनुं ज्ञान बीजा कोईने आप्युं न होतुं ते उपरथी धर्मघोष तेमनुं ज्ञान अपूर्ण मानी लीधुं हशे अने आ अपेक्षाए भद्रबाहुनुं ज्ञान स्थूलभद्र करतां संपूर्ण होवाथी तेओ ' अपच्छिमसयलसुयनाणी ' कही शकाय छे. परंतु आ रीतनो अर्थ केटलेक अंशे श्रमसाधित होवाथी मने एम मानवुं ठीक लागे छे के प्राचीनतर हकिकत अनुसार भद्रबाहुज छेल्ला श्रुतकेवली हता; पण पाछळथी, स्थूलभद्र—के जेमना विषयमां घणी दंतकथाओ लोकमां प्रसिद्ध छे—ते पण तेवी प्रकारना पदवीधर स्थविरोनी गणनामां गणावा लाग्या हता.

धर्मघोषनी गाथाना पूर्वार्ध उपरथी मालुम पडे छे के भद्रबाहुए नवमा पूर्वमांथी दशकल्पो अने व्यवहारसूत्र उद्धृत कर्यां हतां. कल्पसूत्रनी घणी टीकाओना उपोद्घातमां आ दशकल्पो संबंधी निर्देश थएलो जोवामां आवे छे. (Stevenson, Kalpasutra p. 3 sqq.) ते उपरथी दशकल्पनी महत्व मुख्यत्वे करीने कल्पसूत्रज हशे. व्यवहार सूत्र ते जैनआगमोमां गणाता छेदोमांनु एक छेद छे. ऋषिमण्डलसूत्रनी वृत्तिमां भद्रबाहुस्वामीनी कृतिओनी नीचे प्रमाणे एक मोटी यादी आपी छे:—

दशवैकालिकस्याचाराङ्गसूत्रकृताङ्गयोः ।
उत्तराध्ययनसूर्यप्रज्ञप्त्योः कल्पकस्यच ॥
व्यवहारर्षिभाषितावश्यकानामिवाः (?) क्रमात् ।
दशाश्रुताख्यस्कन्धस्य निर्युक्तीर्दश सोऽतनोत ॥
तथान्यां भगवांश्चक्रे संहिताम्भाद्रबाहवीम् ।

' तेमणे दशवैकालिक, आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, सूर्यप्रज्ञप्ति, कल्पक[1] (?) व्यवहार, ऋषिभाषित, आवश्यक, अने छेवटे दशाश्रुतस्कंधनी एम अनुक्रमे दश निर्युक्तिओ रची. भगवान् भद्रबाहुए आ उपरांत भाद्रबाहवी संहिता पण बनावी हती. डॉ. बुह्लरे अत्यार आगमच दर्शाव्युं छे के आगमोनी निर्युक्तिओ बधी भद्रबाहुनी छे (l. c. p. 6.) अने पोते पण आचारांग निर्युक्ति अने ओघनिर्युक्ति प्राप्त करी छे, एम जाणावे छे. आगळ उपर जणा-

[1] आ पाठ अशुद्ध छे. आ ठेकाणे ' कप्प ' एवो पाठ जोईए. 'कप्प' एटले कप्पसुत्र जेने हालमां ' बृहत्कल्प ' कहेवामां आवे छे ते अहिं निर्दिष्ट छे—संपादक.

वीश के भद्रबाहुए दशाश्रुतस्कंधनी निर्युक्ति नहीं पण दशाश्रुतस्कंध मूळज रच्युं छे. आ दशाश्रुतस्कंध केटलीक वखत भूलथी कल्पसूत्र मनाय छे. संहिताना संबंधमां आपणे आगळ उपर विचार करीशुं.

आ बधी कृतिओ उपरांत कल्पसूत्रनी कथाओ-मांनी एक गाथा अनुसार भद्रबाहुने उवसग्गहर-स्तोत्रना पण प्रणेता मानवामां आवे छे.—

उवसग्गहरं थुत्तं काऊण जेण संघकल्लाणं ।
करुणापरेण विहिअं स भद्दबाहू गुरू जयउ ॥

' जे भद्रबाहु स्वामीए करुणा लावीने उवसग्गहर नामनुं स्तोत्र रची संघनुं कल्याण कर्युं छे तेमनो जय थाओ. '

आ पृष्ठनी नीचे[1] नोटमां ते स्तोत्रनुं मूळ तेमज भाषान्तर आपुं छुं; अने जो ते खरेखर भद्रबाहुनुंज बनावेलुं होय तो ते अर्वाचीन विशाळ जैन स्तोत्र साहित्यनो प्राचीनतम नमुनो छे.

भद्रबाहुना देहावसाननो समय, हेमचंद्रथी मांडीने ठेठ अर्वाचीनमां अर्वाचीन टीकाकार सुधीना बधा लेखको निर्विशेषपणे वीर नीर्वाण संवत् १७० मां मूके छे. हेम० परि० पर्व ९, ११२:

वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति ।
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना ॥

' महावीर निर्वाण पछी १७० वर्ष ज्यारे वीती गयां त्यारे भद्रबाहु समाधिपूर्वक स्वर्ग पहोंच्या. '

मारे अहिं कहेवुं जोइए के बधा श्रुतकेवलिओनी मितिओ आपवामां आवी छे खरी पण ते आधार राखवा लायक छे के नहीं तेनो निर्णय हुं करी शकतो नथी.

भद्रबाहु अने वराहमिहिर वच्चे थएली स्पर्धाना संबंधमां, हेमचंद्र सिवाय घणा अर्वाचीन जैन ग्रंथकारोए एक दंतकथा आपेली छे. आ दंतकथा उत्पन्न थवानुं कारण मने नीचे मुजब लागे छे. एक तो भद्रबाहुए सूर्यप्रज्ञप्ति टीका अने भाद्रबाहवी नामनी संहिता एम बे खगोल-विद्या-विषयक ग्रंथो, तथा उवसग्गहर नामनुं स्तोत्र—रच्युं छे, एम जे मनाय छे तेथी, अने बीजुं, जैनज्योतिषशास्त्रने अन्यज्योतिर्विदो जे धिक्कारता हता (सिद्धान्तशिरोमणि ३-१) तेथी, भद्रबाहु अने जैन ज्योतिषशास्त्रनी महत्ता देखाडवानी लालसाना परिणामे ए दंतकथा जन्म पामी छे. आ दंतकथानो सार नीचे प्रमाणे छे:—प्रतिष्ठानपुरनिवासी भद्रबाहु अने वराहमिहिर ए बन्ने भाईओ जैन साधु थया हता. तेमना गुरु यशोभद्रे पोताना अवसान पहेलां संभूतिविजय अने भद्रबाहुने पोताना पछी आचार्यपदना अधिकारी निम्या.ए पदने माटे वराहमिहिरे आशा राखी हती, परंतु तेमां निराशा मळवाथी क्रोधायमान थई तेणे जैनधर्मनो त्याग कर्यो. पछीथी पोताना ज्योतिषशास्त्रना ज्ञानथी तेणे लोकोमां घणी प्रतिष्ठा मेळवी अने ते प्रतिष्ठाने एक कल्पितकथा फेलावी खूब—प्रबळ बनावी. ' मारी भक्तिथी सूर्यदेव मारा उपर प्रसन्न थई, मने पोताना विमानमां बेसाडी ज्योतिर्मण्डलमां लई गया हता अने त्यां सर्व नक्षत्रादिकनी गति विगेरे तेमणे मने प्रत्यक्ष बतावी छे.' आवी रीते भोळा लोकोनी आगळ ते पोतानी बडाई मारवा लाग्यो, अने तेनालीधे खुद्द राजानो पण ते सारो कृपापात्र बनी गयो. पोतानी आवी लागवगना जोरे, तेणे जैनोने राजाना सन्मानथी वंचित बनाव्या. अंते भद्रबाहु सधर्मी बंधुओनी सहाये आव्या अने ज्योतिर्विद्याना पोताना उत्कृष्ट ज्ञानथी पोताना भाईने पराजित कर्यो वराहमिहिरे क्रोध अने मानभंग न सही शकवाना कारणे प्राणत्याग कर्यो,अने मरीने ते एक दुष्ट व्यंतर बन्यो. पछीथी पोतानुं जूनुं वेर वाळवा तेणे जैनोना घरोमां रोगनो उपद्रव शरु कर्यो. भद्रबाहुए उवसग्गहर स्तोत्रनी रचना करी ते व्यंतरने नसाडी मूकी उपद्रवनो नाश कर्यो. त्यार पछी तेमणे पोताना नामनी संहिता रची.

[1] उवसग्गहर-स्तोत्र जैनसमाजमां घणुंज प्रसिद्ध अने सर्वत्र सुलभ होवाथी ते अत्र आप्युं नथी —अनुवादक.

आ उपर आपेली कथा देखीती रीतेज कांइ पण ऐतिहासिक उपयोगिता वाळी जणाती नथी. तेमज हेमचंद्रे तेनो उल्लेख पण करेलो नहीं होवाथी ते अर्वाचीन होय तेम भासे छे. तेथी आ संबंधमां आपणने कोई पण जातनो विचार करवानी जरूर नथी. परंतु भद्रबाहुसंहिताना संबंधमां कांईक विवेचन करवानी जरूर छे. डॉ० बुहूलर पोते ते नामनुं एक पुस्तक मेळव्यानुं जणावे छे. तेओ कहे छे के ए संहिता अन्य संहिताओना जेवीज छे. अने मुकाबलामां ते अर्वाचीन समयमां बनेली होय तेम जणाय छे. वराहमिहिर, बीजा अनेक ग्रंथकारोना उल्लेखो साथे सिद्धसेन[1] नामना एक जैन ज्योर्विद्नो पण उल्लेख करे छे.(Kern, Brihat Samhita, Preface p. 29.) परंतु प्रस्तुत पुस्तकना संबंधमां ते कांई सूचन करतो नथी. आ उपरथी एटलो निर्णय करी शकाय छे के भाद्रबाहवी संहिता वराहमिहिरनी पछीथी रचाएली छे. अने तेथी कोई पण रीते तेना कर्ता भद्रबाहु, ते कल्पसूत्रना कर्ता भद्रबाहु तो नज होई शके. कारण के कल्पसूत्रनी अंतिम आवृत्तिज—तेमां जणाव्या प्रमाणे—वीर संवत् ९८० एटले ई. स. ४५४ अथवा ५१४ मां थएली छे. आ समय वराहमिहिरनी पहेलांनो छे—निदान तेनो समकालीन तो खरोज.

कालक्रमपूर्वक गोठवतां भद्रबाहुना संबंधमां उपर प्रमाणेनी हकिकत जैनग्रंथोमांथी मळी आवे छे. ऐतिहासिक दृष्टिए तेनी उपयोगिता गमे ते होय छतां एटलुं तो निर्विवाद छे के संघळा जैन लेखको एकमते तेमने पोताना एक प्राचीनतम अने सौथी वधारे समर्थ लेखक माने छे. तेमनी कृतिओ समग्र जैनसाहित्यनो एक विशिष्ट भाग होवाथी ए समग्र साहित्यनी समानज तेमनुं पण भवितव्य सर्जाएलुं छे. अने आ कारणथी हवे आपणे समग्र जैन साहित्यनुं सामान्य रीते विवेचन करवुं जरूरनुं छे. ए साहित्यनो सर्वोत्कृष्ट अने पवित्र भाग ते ४५ आगमो गणाय छे.[1] आमांना केटलाकना कर्ताओनां नामो पण बतावबामां आव्यां छे. उदाहरण तरीके दशवैकालिकसूत्रना कर्ता शय्यंभव, दशाश्रुतस्कंध अने व्यवहार सूत्रना कर्ता भद्रबाहु, अने प्रज्ञापनाना कर्ता श्यामार्यने बतावबामां आवे छे. परंतु घणा आगमो तो महावीरे पोतेज प्ररूप्या छे, एम कहेवाय छे. आ कहेवानो अर्थ एवो नथी के साक्षात् महावीरेज अंगो अने उपांगोनी रचना करी छे.पण तेनो भावार्थ एम छे के ते आगमोमां वर्णवेली वधी हकिकतो महावीरे पोतेज उपदेशी छे, अने तेथी ते तेमनाज करेला कहेवाय छे. हिंदुस्थानमां ग्रंथकर्तृत्व मात्र मूळ वस्तु—मूलभूत तत्त्वना अर्थना उपदेशने आश्रीने मनाय छे, नहीं के शब्दरचनाने आश्रीने. शब्दरचना गमे तेम थाय तेने प्राधान्य आपवामां आवतुं नथी. फकत अर्थमात्रनेज महत्त्व अपाय छे. ग्रंथकर्तृत्वनो जे अर्थ आपणे समजीए छीए ते अर्थमां महावीर सूत्रोना कर्ता नथीज, एम आपणे सहेलाईथी सिद्ध करी शकीए छीए. कारण के घणां खरां सूत्रोनी शरुआतमां आपेली नोंध उपरथी जणाय छे के ते सुधर्माए जम्बू

1 सिद्धसेन एक प्रधान जैन लेखक छे अने एवुं कहेवाय छे के तमणे विक्रमादित्यने नवीन धर्मत् प्रवर्तवा माटे केटलीक सहायता आपी हती. कल्याणमंदिरस्तोत्र नामनी तेमनी एक कृति मनाय छे.

1 नीचे आपेली आगमोनी टीप डॉ० बहूलरे कृपाकरी मने मेळवी आपी छे. १ अंगोः—आचारांग, सूत्रकृतांग स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, अने विपाक सूत्र; २ उपांगोः—औपपातिक, राजप्रश्न, जीवाभिगम प्रज्ञापना, जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावली, जेमां—कल्पावतंस, पुष्पिक, पुष्पचूलिक अने वह्निदशा; ए अंतर्गत थएलां छे; ३ प्रकीर्णकोः—चतुःशरण आतुरप्रत्याख्यान, भक्त, संस्तार, तण्डुलवैचारिकी, चन्द्रावेध, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव; ४ छेदो—निशीथ,महानिशीथ, व्यवहार,दशाश्रुतस्कन्ध,बृहत्कल्प, पञ्चकल्प, ५ नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार; ६ मूलसूत्रोः—उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक अने पिण्डनिर्युक्ति.

स्वामीने कहेला छे. घणुं करीने तो महावीरना सिद्धान्तो अने शब्दो मूळमां—प्रारंभमां जुदा जुदा ग्रंथो रूपे रचायाज न हता. परंतु भद्रबाहुना समयमां अगिआरे अंगो मोजुद हतां एम हकिकतो उपरथी जणाय छे, कारण के तेमणे ए अंगोनी व्याख्या रूपे केटलिक कृतिओ करी हती. उपर टांकेली भद्रबाहु अने स्थूलभद्रनी कथानो भावार्थ जोतां मालुम पडे छे के पाटलीपुत्रना संघे अगिआर अंगोनो संग्रह कर्यो हतो. त्यार बाद सूत्रोमां घणा फेरफारो थया होवा जोईए. अने आ वात स्थानांग सूत्रथी साबीत पण थई शके छे. ए सूत्रनां ७ मा स्थानमां, सात निन्हवोनुं वर्णन करेलुं छे. आ साते निन्हवोना संबंधमां आवश्यकसूत्रमां विशेष विवेचन आपवामां आवेलुं छे. आमांनो सातमो निन्हव वीर निर्वाण पछी ५८४ वर्षे प्रादुर्भूत थयो हतो एम लखेलुं छे. आ उपरथी एवुं फलित थाय छे के महावीर पछी छट्ठी-सातमी सदी सुद्धांमां पण सूत्रो महत्वना परिवर्तनोना पात्र थई शकतां हतां.

छेल्लामां छेल्लुं जैनसूत्रोनुं पुस्तकाधिरोहण सामान्य अने प्राचीनमान्यताना आधारे वी. सं. ९८० मां देवर्धिगणि क्षमाश्रमणे कर्युं.* वीरनिर्वाणनी तारीख, जो ते वखते विक्रम संवत् ४७० वर्ष पहेलां थएली मनाती हशे तो ते वी. नि. ९८० नी साल ई. स. ४५४ नी बराबर थाय छे, परंतु ते वखते जो वी. नि. नी तारीख आपणे उपर जे नवीन निर्णीत करी छे ते प्रमाणे मनाती हशे तो ते साल ई. स. ५१४ नी बराबर थाय छे. जिनप्रभमुनि अने पद्ममन्दिरगणी लखे छे के देवर्धिगणीए ज्यारे ४५ आगमो—सिद्धान्तोने नष्ट थवानी तैयारीमां जोया त्यारे तेमणे वलभीपुरना संघनी मददथी ते पुस्तकारूढ कराव्या. एम कहेवाय छे के प्राचीनकालमां आचार्यो पोताना शिष्योने पुस्तकनी अपेक्षा सिवाय ('पुस्तकानपेक्षया') ज सूत्र शिखवता हता. पण पाछळथी पुस्तकोनी सहायताथी शिखववानी शरूआत थई. अने जैन उपाश्रयोमां ए प्रथा हजीपण चाली आवे छे. आ वृद्ध संप्रदायनो अर्थ एम नथी के देवर्धिगणीए पहेलीज वखते जैनोना पवित्र ज्ञानने पुस्तकारूढ कराव्युं; पण तेनो एटलोज मतलब छे के, प्राचीनकाळमां आचार्यो लिखित पुस्तको करतां पोतानी स्मृति उपरज वधारे आधार राखता हता.‡

जैनधर्मना बुद्धघोष देवर्धिगणीए खास करीने समग्र साम्प्रदायिक जैन साहित्य के जे तेमने ते वखतना पुस्तकोमांथी अने विद्यमान आचार्योना मुखेथी मळ्युं हतुं ते बधुं, आगमोना रूपमां तेमणे गोठव्युं. आ कार्य घणुं मोडुं थयुं हतुं, कारण के ते वखते घणाक आगमो तो त्रुटित थई गया हता अने तेना अमुक अमुक त्रुटक भागोज बाकी रह्या हता. आ

१ उत्तराध्ययननी टीका जेवा वधारे अर्वाचीन ग्रंथोमां अल्पतर विसंवादी निन्हवोनी संख्यामां बीजा एक नवीन बहुतर विसंवादी निन्हवनो उमेरो पण थएलो छे अने ए निन्हव ते वी. नि. संवत् ६०५ मां उत्पन्न थएलो दिगम्बर मत छे. दिगम्बरो श्वेताम्बरोनी उत्पत्ति गुप्तिगुप्त नामना स्थविरना वखतमां, जे संवत् ३६–४६ मां थई गया हता, ते वखते थएली बतावे छे.

*आ नोंध साथे, कल्पसूत्र अने ऋषिमंडलसूत्रनी स्थविरावलीओ छेल्ला स्थविर तरीके देवर्द्धिगणीनुं जे नाम आपे छे ते, अने आवश्यक अने नन्दीसूत्रनी स्थविरावलीओ देववाचणी सुधीनां स्थविरोनां नाम आपतां छतां पण तेमने (देवर्धिगणीनो) जे नामनिर्देश करती नथी ते,—आ बन्ने हकिकतो, बहु संगत थाय छे. ए उपरथी एवुं अनुमान थाय छे के तेमणे नन्दी अने आवश्यक सूत्रना प्रारंभमां आ स्थविरावली मूकी हशे.

‡ आ समयथी मात्र ३० वर्ष पहेलांज एटले सन् ४१० अने ४३२ नी वच्चे बुद्धघोषे बौद्ध पिटको अने अर्थकथाओने, धर्मनी चिरन्तन स्थिरताने माटे पुस्तकोमां लखावी. सीलोनमां बौद्धग्रंथो, अने गुजरातमां जैनग्रंथो लगभग समान कालमांज पुस्तकारूढ थया ते उपरथी एवुं अनुमान थई शके के जैनोए बौद्धोनी आ प्रवृत्तिनुं अनुकरण कर्युं हशे. अगर तो हिंदुस्थानमां पांचमी सदीथीज साहित्यना हेतुअर्थे लेखन (कला) नो वधारे उपयोग थवा लाग्यो हशे.

त्रुटित भागोने देवर्धिगणीए पोताने जेम योग्य लाग्युं ते प्रमाणे अनुसंधित करी एकत्र कर्या. घणाक आगमोमां जे असंबद्ध अने अपूर्ण वर्णनो मळी आवे छे तेनुं कारण मात्र आज कल्पना द्वारा आपणे समजी शकीए छीए. विद्यमान जैन आगमोनी *व्यवस्था*–(*रचना*) *मुख्यत्वे करीने* एना संपादक देवर्द्धिगणीनेज आभारी छे. तेमणेज तेने अध्यायो-अध्ययनोमां विभक्त कर्या, अने ग्रंथगणना(एटले ३२ अक्षरनो एक श्लोक एम श्लोकप्रमाण)नी पद्धति दाखल करी. आ ग्रंथगणनाना हिसाबे, सो सो अगर हजार हजार श्लोकनी संख्यासूचक अंको, हस्तलिखित प्रतिओमां सर्वत्र एकज रूपमां लखवामां आवेला छे रस्ताओना मापने माटे उभा करेला माइलना पथराओ जेवा आ संख्या-सूचक अंको मूकवानो उद्देश्य एज छे के मूळ सूत्रोमां पुनः वधारा–उमेरा न थवा पामे. परंतु वास्तविकमां आ उद्देश्य सफळ थयो होय एम लागतुं नथी.

देवर्द्धिगणीना पछीना समयमां पण जैन आगमोमां घणा फेरफार थया होवा जोईए. हालनी हस्तलिखित प्रतोमां विविध पाठान्तरो मळे छे खरां, परंतु, जुदी जुदी लेखन पद्धतिने लईने तेनी उत्पत्ति थएली छे. ते सिवाय ते वधारे उपयोगी के वधारे प्रमाणवाळां नथी. पण पुरातन समयमां कांईक जुदीज स्थिति होवी जोईए. कारण के टीकाकारोए पोतानी टीकाओमां अनेक पाठांतरोनो निर्देश करेलो छे, के जे हालना हस्तलेखोमां जोवामां आवतां नथी. आथी मारुं एम मानवुं छे के वर्तमानमां जे सूत्रपाठ मूळनी प्रतिओमां जोवामां आवे छे, तथा अर्वाचीन टीकाकारोए जेने पोतानी टीकाओमां लीधेलो छे ते मूळ टीकाकारोए निर्णीत करेलो पाठ छे. कल्पसूत्रना संबंधमां तो आ वात निश्चित छे, एम हुं खात्रीपूर्वक कही शकुं छुं. सूत्रोनी जे जे टीकाओ अत्यारे विद्यमान छे ते सघळी सीधी अथवा आडकतरीरीते प्राकृतमां रचाएली *प्राचीन चूर्णिओ अगर वृत्तिओना आधारे लखाएली* छे. ए चूर्णिओ तथा वृत्तिओ हालमां या तो नष्ट थई गई छे, अथवा तो क्वचित् ज अस्तित्व धरावे छे. प्राचीन टीकाकारोए मूळसूत्रो ने घणाज अव्यवस्थित रूपमां जोयां हशे. कारण के तेमने तेना घणा पाठान्तरो नोंधवानी आवश्यकता लागी हती. आमांना घणांक पाठान्तरो पछीना टीकाकारोए पण पोतानी टीकाओमां टांक्यां छे. केटलाक टीकाकारो फक्त एकज पाठ स्वीकारी ते उपरज टीका करवानुं जणावे छे. उदाहरण तरीके उत्तराध्ययनसूत्रना टीकाकार देवेन्द्रगणी लई शकाय. बीजा केटलाक टीकाकारो पाठान्तरो जोवानी ईच्छावाळाने ते चूर्णी जोवानी भलामण करे छे प्रमाण तरीके कल्पसूत्रना सौथी प्राचीन टीकाकार, के जेमनी टीका मेळववा हुं शक्तिमान थयो छुं, ते जिनप्रभमुनि लई शकाय. आ कारणथी वर्तमान विवेचकोनो उद्देश तो मात्र *प्राचीन टीकाकारोए जे सूत्रपाठ स्वीकार्यो* हतो तेनोज पुनरुद्धार करवानो होवो जोईए. साक्षात् देवर्धिगणीए पुस्तकारूढ करेलो सूत्रपाठ तो आजे मळवो अशक्य ज छे.

देवर्धिगणीना समय पर्यंतनी जैन साहित्यनी अव्यवस्थित स्थिति उपरथी ए अनुमान पण करी शकाय एवुं छे के जे भाषामां ते पवित्र ज्ञान एक पेढीथी बीजी पेढिने आपवामां आवतुं हतुं तेमां *क्रमथी फेरफारो थता गया हता.* जे भाषा महावीर अने तेमना अनन्तर शिष्यो–अर्थात् गणधरो –बोलता हता ते तो खरेखर मगधदेशनीज भाषा हती. तेओ संस्कृतभाषा बोले ए तो असंभवितज छे.

१ ठेठ देवर्धिगणीना समय पर्यंत जैनो खरेखर वेदस्वारी-थीज पोताना पवित्र धर्मशास्त्रनुंज्ञान आपता रह्या हशे. कारण के, पूर्वोनो अमुक भाग तो महावीर पछीनी आठमी पेढि-एज लुप्त थई गयो हतो. तेमज दशमी पेढिना पूर्वेज सर्व पूर्वो नष्ट थयां हतां. निदान जैन इतिहास तो आपणने एमज कहे छे

परंतु, जैन प्राकृत अशोकना शिलालेखोनी अथवा प्राकृत वैयाकरणोनी मागधी भाषा साथे घणुंज थोडुं मळता पणुं धरावे छे. तेम छतां जैनो पोते तेने 'मागधी' कहे छे. हेमचंद्रे पोताना प्राकृतव्याकरणना चोथा पादना २८७ मा सूत्रनी व्याख्यामां जे अर्धी गाथा उद्धृत करेली छे तेमां लख्युं छे के प्राचीन सूत्रो एकली अर्धमागधी भाषामांज लखाएलां हतां:—

पोराणं अद्धमागहभासानिअयं हवइ सुत्तं ॥

हेमचंद्र आ स्थळे पोतानुं टिप्पण करे छे के, जो के आवो परंपरागत वृद्ध संप्रदाय छे, परंतु, मागधी भाषानुं जे लक्षण आगळ उपर आपवामां आवशे ते जैन प्राकृतने लागु पडतुं नथी; अर्थात् जैन प्राकृत मागधीथी भिन्न छे.

जैनोनी पवित्र भाषाना स्वरूपनुं निरूपण करवा आगळ वधीए तेनी पहेलां आपणे एटलुं ध्यानमां राखवुं जोईए के तेमनी प्राकृत भाषामां बे भेदो देखाई आवे छे. १—प्राचीन गद्य ग्रंथोनी भाषा, अने, २—टीकाकारो अने कविओनी भाषा. जे भाषामां प्राचीन गद्य ग्रंथो लखाया छे ते भाषा घणे अंशे टीकाकारो अने कविओनी भाषाथी भिन्न छे. टीकाकारो अने कविओनी भाषा महाराष्ट्री छे, अने ते प्राकृत व्याकरणना पहेला पादमां जे नियमो आपेला छे तेने सर्वथा अनुसरनारी छे. परंतु साथे ए पण जाणवुं जरूरनुं छे के हेमचंद्रनी महाराष्ट्री ते 'हाल,' 'सेतुबन्ध,' अने नाटकोनी महाराष्ट्री भाषा साथे एकभाव धारण करती नथी. आ बन्ने वच्चे बे मोटा स्पष्ट भेदो छे. एक तो—आद्यरूपे अथवा द्वित्वरूपे दन्त्य 'न' नो उपयोग थाय छे ते, अने बीजो 'यश्रुति' नो व्यवहार छे. आ भाषा के जेने उचितरीते जैन महाराष्ट्री कही शकाय तेनुं हेमचंद्रे संपूर्ण लक्षण आप्युं छे, आ लक्षण कालिकाचार्य कथा जेवा एक अर्वाचीन निबंधमां पण पूर्णरीते प्रयुक्त थएलुं कोई पण वाचक स्पष्ट जोई शके छे.[1] प्राचीन सूत्रोनी भाषा जेने हुं जैन प्राकृत कहुं छुं ते जैन महाराष्ट्रीथी केटलीक बाबतोमां जूदी पडे छे. जेम के, ज्यारे जैन महाराष्ट्री भाषाना पुंल्लिंगना प्रथमा तथा सप्तमीना एकवचनना रूपोने अंते 'ओ' अने 'ंमि' अनुक्रमे आवे छे, त्यारे जैन प्राकृतमां तेना स्थाने अनुक्रमे 'ए' अने 'ंसि' आवे छे. उदाहरण तरीके, जै० म०—'सक्को,' जै० प्रा०—'सक्के,' सं०—शक्रः, जै० म०—'वरंमि,' 'मोलिमि,' 'साहुंमि' जै० प्रा०—'वरंसि,' 'कुच्छिंसि,' 'साहुंसि. अव्यय भूतकृदन्तने अंते जैन महाराष्ट्रीमां साधारण रीते 'ऊणं,' 'ऊण,' अथवा 'उं' आवे छे. परंतु तेनाथी प्राचीन एटले जैन प्राकृत भाषामां तेने अंते 'इत्ता' अगर 'इत्ता णं' आवे छे. दाखला तरीके जै० म०—'काऊणं,' 'नाऊणं,' 'गंतूणं,' 'काऊण,' 'काउं' इत्यादि; जै० प्रा०—'करित्ता,'—'जानित्ता,'—'गच्छित्ता,' अथवा, 'करित्ता णं' इत्यादि. जैन—प्राकृतमां अद्यतनभूत रह्यो छे, परंतु जैन महाराष्ट्रीमां तेने बदले सामान्यरीते भूत कृदंत आवे छे. आवा साधारण भेदो उपरांत, जैन प्राकृतमां घणा आर्ष शब्दो, रूपो तथा वाक्यांशो पण मळी आवे छे, जे जैन महाराष्ट्रीमांथी बहिष्कृत थयां छे.

जैन महाराष्ट्रीना स्वरूपना संबंधमां तो कोई पण शंकाने स्थान ज नथी. कारण के हेमचंद्रे तेना संबंधमां स्पष्टरीते वर्णन आप्युं छे, ए भाषा एकंदररीते 'हाल' नीज महाराष्ट्री भाषा छे. एम छतां बन्ने वच्चे जे भेदो दृष्टिगोचर थाय छे ते तेनी उत्पत्तिस्थानना भेदने लईने छे. मारा मानवा प्रमाणे जैन महाराष्ट्री सुराष्ट्रनी भाषा साथे घणोज निकट संबंध धरावनारी छे. केम के परंपरागत हकिकतने

[1] आ आश्चर्यकारक कथा मूळरूपे हुं थोडाज समयमां प्रकट करवा इच्छुं छुं. कारण के, तेनी अंदर केटलीक साची अने ऐतिहासिक परंपराना मुद्दाओ रहेला छे,

आधारे जैन शास्त्रोनुं संस्करण; उपर जणाव्या प्रमाणे वलभीपुरमां थयुं हतुं. आ कारणने लईने तेने जैन सौराष्ट्री नाम आपवुं वधारे युक्त गणी शकाय खरुं; परंतु, साधारणरीते महाराष्ट्रीने नामे ओळखाती प्राकृतभाषाना सामान्य स्वरूपनी साथे ते घणे अंशे मळती होवाथी अने हेमचंद्रे तेने तेवुंज नाम आपी दीधेलुं होवाथी; * नवुं नाम आपवानी हुं हिंमत करी शकतो नथी.

वळी जैन प्राकृतनुं स्वरूप पण शोधी काढवुं कठण नथी. ते एकंदररीते जैन माहाराष्ट्रीनी सरखीज भाषा होवाथी अने भेद मात्र आर्षरूपोनी दृष्टिए ज उत्पन्न थएलो होवाथी, आपणे तेने योग्य रीते प्राचीन महाराष्ट्री अथवा आर्ष महाराष्ट्री कही शकीए छीए. हेमचंद्र तेने ' आर्षम् ' एटले ऋषिओनी भाषा कहे छे. अने जैन महाराष्ट्रीनी अंदरज तेनुं वर्णन करे छे. तेना विशिष्ट रूपोने तेओ सामान्य नियमोना अपवाद रूपे माने छे. अने जणावे छे के, प्रायः सामान्य प्राकृतना नियमो ऋषिओनी भाषाने विकल्पे लागू पडे छे. आ रीते, तेओ पोतानुं मन्तव्य प्रकट करी सूचवे छे के जैन प्राकृतनुं सादृश्य बीजी कोई पण प्राकृत भाषा करतां महाराष्ट्री साथे वधारे छे. तेमनुं आ कथन घणुं प्रमाणभूत छे, कारण के एक तो तेओ प्राकृत भाषाना पूर्ण ज्ञाता छे, अने बीजुं, संपूर्ण लोकमान्यताथी प्रतिकूल एवो पोतानो अभिप्राय तेमणे आपेलो छे. जैन प्राकृतमां हेमचंद्रे जे मागधीत्व जोयुं ते मात्र अकारान्त पुंलिंग शब्दना प्रथमाना एक वचनी रूपना अंते आवता ' ए ' प्रत्यय रूपज छे, अने हुं पण ते सिवाय बीजो कोई तफावत जोई शक्यो नथी. * जे जे बाबतोमां शौरसेनी अने मागधी सामान्य प्राकृतथी जुदी पडेछे ते बधी बाबतोमां जैन प्राकृत, उपर बतावेला बे अपवादो अने अन्य बे अपवादो बाद करतां साधारण प्राकृतने सर्वांशे मळती आवे छे. हेमचंद्र (४, २६४, २६५; अने ४, २७८) शौरसेनी (—अने मागधी) मां 'भगवान्' अने 'भगवन्' तेमज ' मघवान् ' अने ' मघवन् ' रूपी प्रथमा अने संबोधनना एकवचनना रूपोने बदले अनुक्रमे 'भयवं' अने ' मघवं ' तथा 'तस्मात्' ने बदले ' ता ' नुं विधान करे छे. आ रूपो जैन प्राकृतमां पण आवे छे. महाराष्ट्री सिवायनी अन्य प्राकृत भाषानी साथे जैन प्राकृतनी समानताना आ दाखलाओ, सामान्य भाषा साथेनी तेनी सामानताना दाखलाओना मु-

* हेमचंद्रना व्याकरणमां फक्त प्राकृत एवुं सामान्य नामज मळे छे, महाराष्ट्री एवुं विशेष नाम मळतुं नथी. डॉ. जेकोबीनुं आ कथन के, हेमचंद्रे जैनग्रंथोनी प्राकृतने महाराष्ट्री एवुं नाम आप्युं छे, ते अमारा समजवामां बराबर आवतुं नथी.—संपादक.

* प्रो॰ वेबरनुं निश्चयपूर्वक एम कहेवुं छे के, थं, जं, अने ड्य ने बदले य्य, अने क्ष् ने बदले क्क नो फेरफार सिद्ध करे छे के जैन-प्राकृत ते मागधी छे. वेबर '—' अने '—' रूपी स्वरूप दर्शक चिन्होने (वर्णोने) य्य अने क्क सूचक बतावे छे. परंतु ते (चिन्हो) वास्तवमां ज्ज अने क्ख बोधक छे. आ चिन्हो जैन महाराष्ट्री तेमज जैन प्राकृत एं बन्ने भाषामां वपराय छे. अने जैन महाराष्ट्रीमां तो तेने निर्णीतरूपेज ज्ज अने क्ख सूचक गणवामां आवे छे. तेथी जैन प्राकृतमां पण ते तेज अक्षर सूचक होवा जोईए. जो एम न गणाता होत अने हेमचंद्रे तेने जैन प्राकृतमां भिन्न अक्षर सूचक वांच्या होत तो जरूर तेमणे तेने २, ८९ अने ९० सूत्रोना अपवादरूपे जणाव्या होत. आ उपरांत ज्यारे हेमचंद्र शौरसेनीमां (४, २६६ सूत्रमां) थं न बदले य, अने मागधीमां ज्‌ द्‌ अने य्‌ ने माटे य नो (४, २९२), तेमज स्वरनी मध्यमां आवेला क्ष ने माटे '×क' नो (४, २९६) आदेश करे छे, त्यारे जो तेमणे वेबरनी माफक उक्त अक्षरो वांच्या होत तो ते सूत्रोमां जरूर एम जणाव्युं होत के आर्ष भाषामां पण एमज थाय छे. लिपिशास्त्रनी दृष्टिए क्क (के जेना प्राचीन रूपो '—' अने '—' छे) अने '—' ए संज्ञाओनी समजुती माटे डॉ. बुल्हरना कहेवा प्रमाणे याद राखवुं जोईए के अक्षरो जोडवामां जैनो साधारण रीते बीजा अक्षरने पहेला अक्षरनी पछी नहीं पण तेनी नीचे मूके छे. पहेली त्रण संज्ञाओ ते क्क नां उत्तरोत्तर थएलां जुदां रूपो छे. अने बीजी संज्ञा '—' मां ज नुं पुरातन रूप अर्थात् 8 दृष्टि सेवे छे. आ नियमानुसार कल्पसूत्रना मूळमां आपेला पूर्वोक्त जोडाक्षरोने में kkh अने jj थी दर्शाव्या छे.

कावले घणा थोडा अने अनुपयोगी लागे छे. तेटला माटे हुं जैन प्राकृतने महाराष्ट्री भाषा तरीके जाहेर करतां बिलकुल संकोच पामतो नथी. प्रो. लर्सेने पण पोताना Institutiones linguae Pracriticae नामना पुस्तकना पृ. ४२ मां पण तेमज जाहेर कर्युं छे. जे जे बाबतोमां जैन प्राकृत महाराष्ट्रीथी जुदी पडे छे, ते ते बाबतोमां तेणे साधारणत: प्राचीनरूपो कायम राख्यां छे. ए भाषाना आनाथी पण वधारे प्राचीन रूपनी निशानी पृ. ५ उपर सूचवेला शब्दोमां जोवामां आवे छे. आ निशानी ते, परस्पर न जोडाय तेवा बे व्यञ्जनोनी वच्चे लिखित भाषामां, जेम नित्यरूपे स्वरनो अंतर्भाव थाय छे, तेम न थतां विकल्परूपे थाय छे, ते छे. आवी जातनी—विकल्पे स्वर उमेरवानी—छूट जे प्राचीन सूत्रोमां आवता प्राकृत पद्योनी मात्रागणनामां लेवी जरूरनी छे, अने जे वैदिक कविओनी पद्धति साथे पण केटलीक साम्यता धरावती जोवाय छे, तेनो, पाछळना प्राकृत कविओ बिलकुल स्वीकार करता नथी. तेमनी कृतिओमां तो प्रत्येक स्वरनो उच्चार एक स्वतंत्र वर्णनी माफक नित्यरूपे थवोज जोइए. 'सेतुबन्ध' 'सप्तशती' अने त्यार पछीना प्राकृत स्तोत्रो आदि ग्रंथोनी पद्धतिमां, अने तेनाथी प्राचीन एवा पद्यबंध सूत्रोनी पद्धतिमां जे भेद जोवामां आवे छे, तेनुं कारण मात्र भाषामां थएलुं परिवर्तनज छे. अने आवुं परिवर्तन वैदिक अने साहित्यिक संस्कृत भाषामां पण प्रत्यक्ष थएलुं जोवाय छे[1]. अहिं सुधी आपणे जैनोना पवित्र ग्रंथोनी भाषानो क्रमिक विकास आलेख्यो छे. पण तेनी केटलीक अनियमितताओ वळी जुदाज प्रकारनी छे; अने ते स्पष्टरीते एम दर्शावती होय तेम लागे छे के लिखित सूत्रोनी भाषा करतां असल भाषा जुदीज हती.

उपर जेम में जणाव्युं छे तेम महावीर अने तेमना गणधरोनी मूळ भाषा मागधीज हती, अने तेनी पुँल्लिंगनी प्रथमानो 'ए' प्रत्यय जे कायम रह्यो छे ते आ कथननुं प्रमाण स्वरूप छे. संक्षेपमां एटलुंज कहेवानुं छे के जैनग्रंथोनी छेल्ली पुनर्रचना थई ते पहेलां तेनी भाषानुं स्वरूप नक्की थयुं न हतुं. मूळमां, जनसमुदायनी आ व्यवहारू भाषामां गुंथाएला धर्मशास्त्रोनु ज्ञान जे पुरुषो मुखपाठथी बीजाओने आपता जता हता, तेओ ते भाषाने पोताना देश अने काळनी प्रचलित भाषा साथे बंध बेसती करता रहेता हता. आपणा ख्रीस्ती सननी आरंभनी सदिओमां हिंदुस्थानना देशी भाषाओमां महाराष्ट्रनी वाक्-पद्धतिए जे अग्रस्थान संप्राप्त करेलुं जणाय छे तेथी, अने वैयाकरणोए सर्वप्राकृत भाषाओनी आधारभूत तरीके तेनी जे गणना करेली देखाय छे तेथी, तथा तेनुं साहित्य—के जेना केटलाक प्रतिष्ठित नमुना आजे पण विद्यमान छे—विशाळ होवाथी, जैनो तेना प्रभावने वश थया होय अने पोताना ग्रंथोने पुस्तकारूढ करती वखते ते भाषानी अनुसार पोताना पुस्तकोनी भाषानी व्यवस्था करी होय, तो तेमां आश्चर्य पामवा जेवुं नथी. लिखित पुस्तकोनी भाषामां आवुं भाषा-परिवर्तन साहित्यना इतिहासमां बीजे कोई स्थळे जोवामां नथी आवतुं एम नथी. में पाछळना एक पाना उपर, उतारा करनाराओना हाथे मध्यकालीन जर्मन ग्रंथोनी भाषामां आवुं भाषा-परिवर्तन थयुं हतुं, एम सूचव्युंज छे. जैन ग्रंथोना संपादकने सर्वलक्षणोपेत महाराष्ट्री भाषानो सर्वथा स्वीकार करवो गम्यो नहीं हशे अने तेथी तेमणे चिरकालीन पूर्वपरंपराथी चालतां आवेलां अने तेथीज पवित्र मनाएलां एवां घणां आर्ष रूपोने कायम राख्यां हशे. कारण के

---

१ वेदोमां खास करीने 'य' अने 'व' नी पहेलां विकल्पे स्वर उमेरवानी जे पद्धति हती ते पाछळना संस्कृत साहित्यमां सर्वथा बहिष्कृत करवामां आवी छे. परंतु जैन प्राकृतमां आनाथी उलटुं, एटले, पूर्वे विकल्पे स्वरनो अंतर्भाव करवानी जे पद्धति हती, ते अर्वाचीन प्राकृतमां, ज्यां आगळ व्यञ्जन समुदाय संयुक्त भाव न पामतो होय त्यां, ते एक नियमरूपे थई गई छे.

आर्ष भाषा हमेशां गंभीर प्रकारनी लेखनशैली माटे खास रीते योग्य मनाती आवी छे.

जैन महाराष्ट्री ज्यारथी पवित्र भाषा तरीके नक्की थई, त्यारथी ते घणा वखत सुधी जैनोनी साहित्यिक भाषा तरीके चालु रही हती. परंतु पाछळथी तेनुं स्थान संस्कृते लीधुं हतुं. पूर्वेनी सघळी प्राचीन टीकाओ एटले चूर्णिओ अने वृत्तिओ, तथा बीजा पण घणा स्वतंत्र ग्रंथो प्राकृत भाषामां लखाया हता. ई० स० १००० अने ११०० नी मध्यमां जैनोए संस्कृतने पोतानी साहित्यिक भाषा तरीके अंगीकार करी हती. परंतु आ फेरफार कांई आकस्मिक के संपूर्ण रूपे न होतो थयो. कारण के, आ समय पहेलांनां पण भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमंदिरस्तोत्र, शोभनस्तुतयः जेवां जैनग्रंथकारोनां संस्कृत काव्यो, मोजुद छे. अने तेमज जिनप्रभमुनिनु (—संवत् १३६४) पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिव्याख्यान, अने बीजां घणां प्राकृतस्तोत्रो आदि जेवा, बारमी सदीनी पछी पण रचाएला प्राकृत ग्रंथो विद्यमान छे.

आ चालु विषय छोडतां पहेलां हुं जैनग्रंथोनी शुद्धलेखन विद्या तरफ वाचकोनुं ध्यान खेचुं छुं. जो के, प्रायः सर्व हस्तलिखित प्रतिओ एकज ढंगनी जोवामां आवे छे, तथापि निचेनी बाबतोमां ते परस्पर विरुद्ध पडती देखाय छेः—

१) केटलीक प्रतिओमां 'य'–श्रुति 'अ' अने 'आ' नी पछीज वपराई छे; त्यारे केटलीक प्रतिओमां 'इ' अने 'ई' 'उ' अने 'ऊ' तथा 'ए' अने 'ओ' नी पछी पण जोवामां आवे छे. हेमचंद्र पोताना व्याकरणना १, १८० मां सूत्रमां विधान करे छे के 'य' श्रुति 'अ' अने 'आ' नी पछी आवे छे. पण टीकामां कहे छे के केटलेक प्रसंगे ते अन्य स्थळे पण जोवामां आवे छे. तेमनो ए नियम अंशतः अमारी हस्तलिखित प्रतिओथी सिद्ध थाय छे. कारण के 'य' अने 'या' दरेक स्थळे 'अ' ने 'आ' नी पछीज आवे छे. परंतु घणीक प्रतिओमां 'य' अने 'या' सघळा स्वरो पाछळ पण लखेला देखाय छे. आ बन्ने जातनी जोडणी (वर्णरचना) घणी जुनी तेमज घणी सारी प्रतिओमां नजरे पडे छे. तेथी आ बेमांथी कयी वधारे शुद्ध छे तेनो निर्णय करवो अशक्य छे. व्युत्पत्तिशास्त्रनी दृष्टिए 'य' श्रुति बधा स्वरो पाछळ आवे ते वधारे स्वरूप–संगत छे. कारण के 'य' श्रुति ते मात्र लुप्त व्यञ्जननो अवशेष छे[1]. में कल्पसूत्रनी मारी आ आवृत्तिमां एज पद्धति स्वीकारी छे.

२) केटलीक प्रतिओमां संयुक्त-व्यञ्जनो पहेलांना ए अने ओ अनुक्रमे इ अने उ ना रूपमां परिवर्तित थएला जोवाय छे. आनुं कारण ए छे के देवनागरी लिपिमां ए अने ओ ना ह्रस्वस्वरूपनी सूचक संज्ञाओनो अभाव छे. अने तेने लईने नीचे प्रमाणेनो गुंचवाडो उभो थयोछे. जो ए तथा ओ लखवामां आवे तो वर्ण-परिमाणनी उपेक्षा थाय छे. कारण के संयुक्त व्यञ्जननी पूर्वेनो स्वर ह्रस्व थवो जोईए, अने ए अने ओ तो दीर्घसंज्ञक स्वरो छे. जो आथी उलटी रीते लखवामां आवे अर्थात् इ तथा उ मूकवामां आवे तो ए अने ओ वर्णना स्वरूपनुं वास्तविक दर्शन न थई शके. आ कारणथी ज्यां एवा वर्णोना संस्कृत प्रतिरूपो संधिस्वरात्मक होय त्यां में ए अने ओ ज लख्या छे.

३) केटलीक प्रतिओमां न्न अने केटलीक प्रतिओमां ण्ण आवे छे. (जुओ, हेम० १,२२८). में आवा दरेक प्रसंगे उत्तम प्रतिओना आधिक्य तरफ लक्ष्य राखी सामान्य रीते ते प्रमाणे वर्णप्रयोग स्वीकार्यो छे.

४) केटलीक वखते, केटलीक प्रतिओना प्रारं-

[1] पश्चिम हिंदुस्थानना गुफाओनांना प्राकृत शिलालेखोमां इ ना पूर्वेना ज नो आदेश य थएलो छे उ. त. पवयितिस अने पवइतिका=प्रव्रजितिका.

भमां ण लखेलो जोवामां आवे छे. सरखावो, हेमचंद्र १,२२९.

५) बे स्वरोनी वच्चे आवता व्यञ्जनने कायम राखवो अथवा तेना बदले बीजानो आदेश करवो, अगर तो, तेनो लोप करवो, ते बाबत ग्रंथोनी नकल करनाराओनी—लहियाओनी पसंदगी उपर आधार राखती होय तेम लागे छे.

६) कल्पसूत्रनी एक प्रतिमां (इंडिआ ऑफिस लाईब्रेरी १५९९) न्व ने बदले ब्व अने केवल अथवा संयुक्त शब्दोनी आदिना व ने माटे ब लखेलो छे. उदाहरण तरीके—विवद्धन ने बदले बिवद्धन, महावीर, इत्यादि. आ विशेषतानुं कारण एम लागे छे के ते प्रति पूर्व हिन्दुस्थानमां लखाई हशे.

७) उ अने उ (ओ) नो घणी वार परस्पर विनिमय (अदलाबदलो) थाय छे. परंतु तेनो ध्वनि साथे कोई संबंध नथी. कारण के ज्यारे उ अथवा उ नी पहेलां व्यञ्जन आवेलो होय छे त्यारे नं०२ मां कहेली बाबत बाद करता क्यारे पण परस्पर आ विनिमय थतो नथी. A अने B नामनी कल्पसूत्रनी प्रतिओमां आ संज्ञाओना संबंधमां भाग्येज भूल थएली जोवामां आवे छे.

उपर वर्णवेला वर्ण-विन्यास-विषयक भेदो व्याकरणशास्त्रनी भिन्न भिन्न शाखाओने अंगे उभा थएला छे. मारी आवृत्तिना मूळनी नीचे, में तमाम विविध पाठान्तरो संभाळपूर्वक नोंध्यां छे. मात्र छट्ठा अने सातमा नंबरमां जणावेली हकिकतने अंगे उपस्थित थएलां पाठान्तरो लख्यां नथी. छतां पण सौथी प्राचीन अने प्रामाणिक जोडणी कई हशे तेने निर्णीत करी शक्यो नथी. कागळनी घणीक हस्तलिखित प्रतिओ तपासतां मने एवी प्रतीति थई छे के तेना उपरथी जैन प्राकृत भाषाना विशुद्ध वर्ण-विन्यासनो पत्तो मेळवी शकाय तेम नथी. परंतु ताडपत्रनी प्राचीनतम प्रतिओने बारीकाईथी तपासतां वधारे संतोषकारक परिणाम मेळवी शकाय तेम छे. हुं एम धारुं छुं के प्रायः कोई पण वखते सघळा जैनलेखकोए एक चोकस वर्ण-विन्यास-पद्धतिनुं अवलंबन कर्युं होय तेम लागतुं नथी. कारण के गुफाओना शिलालेखोनी प्राकृतनी साथे बीजी प्राकृत भाषाओमां तेमज आधुनिक भारतवर्षनी प्रचलित देश भाषाओमां पण एकज शब्दनी वारंवार भिन्न भिन्न रीतिए जोडणी कराएली जोवामां आवे छे.

आ विषय पूर्ण करतां पहेलां मारे जणाववुं जोईए के, में जैन-प्राकृतना वर्णविन्यासना संबंधमां एक-[illegible]गति स्थापवानो उद्देश राख्यो नथी. पण एक जैनग्रंथना प्रथम आ प्रकाशनना समये वस्तुस्थितिनो केटलोक ख्याल आपवो मने योग्य लाग्यो छे. जो के मने आखा ग्रंथमां एकज प्रकारनी जोडणी स्वीकारवी सरळ पडत खरी—जेमके नित्य ण या न्न ज लखवो. परंतु भारतवासिओना हृदयमां जाणे मजबूत रीते जामी गई होय तेवी अनियमिततानी अंतःप्रेरणाने आधातन पहोंचाडवा माटे में अन्य प्रतिओथी समर्थित एवी A नामनी सौथी प्राचीन प्रतिनी जोडणी साधारण रीते कबुल राखी छे. अने तेथी एक शब्दनी सदा एकज रीते जोडणी करवामां आवी नथी.

जैन धर्म अने साहित्यने लगता सामान्य प्रश्नोना संबंधमां हुं जेटली हकिकत एकठी करी शक्यो छुं, ते आपी दईने, हवे खास कल्पसूत्रना संबंधमां केटलुंक विवेचन करीश. आ ग्रंथनी, जैनोना पवित्र पुस्तको तरीके गणाता आगमोमां तो खास गणना थती नथी. अने दिगम्बरो तो एने बनावटी ग्रंथ सुद्धां कहेतां अचकाता नथी. तेमने आम कहेवानुं कारण ए छे के, एनी अंदर दिगम्बर-मान्यता विरुद्ध, महावीर त्रिशलानी कुक्षिमां आव्या तेनी पहेलां देवानंदानी कुक्षिमां आव्या हता, आवुं वर्णन आवेलुं छे. परंतु आ वर्णन आचारांगसूत्र तथा आवश्यकसूत्रमां पण आवतुं होवाथी, ए पुरातन होय

एम लागे छे. अने तेथी दिगम्बरोनो उपरोक्त आक्षेप निरर्थक निवडे छे. श्वेतांबर संप्रदायमां कल्पसूत्र एक प्रतिष्ठित ग्रंथ मनाय छे. अने प्रतिवर्ष वर्षावास एटले पज्जुसणमां ते जाहेर रीते (सभामां) वंचाय छे.

आ कल्पसूत्र ते भद्रबाहु स्वामीनी कृति मनाय छे. आ ग्रंथनी वस्तु तेमणे प्रत्याख्यानप्रवाद नामना नवमा पूर्वमांथी लीधी छे, एवुं किरणावली नामनी टीकाना निम्नलिखित अवतरण उपरथी मालुम पडे छे.

'प्रणेता तावत् सर्वाक्षरसन्निपात विचक्षणश्चतुर्दशपूर्वविद् युगप्रधानः श्रीभद्रबाहुस्वामी दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टमाध्ययनरूपतया प्रत्याख्यानप्रवादाभिधाननवमपूर्वात् कल्पसूत्रमिदं सूत्रितवान्.'

अर्थात्—आना कर्ता ते, सर्वशास्त्रपारगामी, चतुर्दशपूर्वना वेत्ता अने युगप्रधान एवा भद्रबाहु स्वामी छे. तेमणे प्रत्याख्यान प्रवाद नामना नवमा पूर्वमांथी दशाश्रुतस्कंधना आठमा अध्ययन रूपे आ कल्पसूत्र रच्युं छे.

किरणावली टीकाकारनुं उपरोक्त कथन,—के जेनुं पुनरावर्तन बीजा टीकाकारोए पण पोतानी टीकाओमां कर्युं छे,—के कल्पसूत्र ते पर्युषणाकल्प छे, अने ते दशाश्रुतस्कन्धनुं आठमुं अध्ययन छे; ते भूलभरेलुं छे. आ भूल कल्पसूत्रना अंतिम शब्दोना आशयने बराबर न समजवाथी थई छे. ए शब्दोनो जो बराबर अर्थ करीए तो तेनाथी एटलुंज सिद्ध थाय छे के कल्पसूत्र ए नाम, ए ग्रंथना छेवटना प्रकरणने अर्थात् सामाचारी, के जेनी अंदर यतिओना आचारोना नियमो आपवामां आव्या छे, तेनेज लागु पडे छे. कारण के तेनी अंतमां एवुं कथन छे के 'महावीरे ' आ प्रमाणे पर्युषणाकल्प नामना आठमा अध्ययननुं आख्यान कर्युं, भाषण कर्युं, प्रज्ञापन कर्युं, अने वारंवार उपदेश आप्यो.' आ शब्दो मात्र सामाचारीने ज लागु पडी शके; कारण के जिनचरित्र अने स्थविरावली महावीरे पोते कही होय एम मानी शकाय नहीं. जिनचरित्रमां महावीरना निर्वाण पछीनी बनेली बीनाओ लखेली छे अने स्थविरावलीमां तेमनी पछीनो जैनधर्मनो इतिहास आपेलो छे. आ भागोनो पर्युषणा या वर्षावास साथे कोई जातनो संबंध नथी. तेथी ते पर्युषणाकल्पनुं नाम धराववाना बिलकुल अधिकारी नथी. अने तदनुसार, वास्तविकरीते दशाश्रुतस्कंधना आठमा अध्ययनना भाग तरीके पण तेने मानी शकाय नहीं. आ अनुमान उपरथी स्वाभाविकरीतेज एवो अर्थ फलित थाय छे के पर्युषणाकल्प ए नाम वास्तविकरीते सामाचारीनुं ज छे, अने तेम होवाथी दशाश्रुतस्कन्धनुं आठमुं अध्ययन पण तेटलाज भागने कही शकाय. तेटला माटे, तेटला भागनेज भद्रबाहुस्वामीनी कृति तरीके मानवो जोईए. एटलुं तो स्वयंसिद्ध छे के भद्रबाहुस्वामीनी पछीनी पण घणी पेढिओनी नामावली आपती स्थविरावली भद्रबाहुनी रचेली न होई शके. तेमज ते एक कर्तानी पण कृति नथी. स्थविरावलीनी संक्षिप्त वाचना अने विस्तर वाचना अर्थात् स्थविरोनी टुंकी अने विस्तृत नामावली, असलमां, बन्ने एकमेकथी स्वतंत्र होवी जोईए. कारण के, ते बन्नेनी भाषाशैली अने वर्ण्यवस्तुमां परस्पर भिन्नताओ रहेली छे. आ स्थविरावलिओ, जेनी अंदर असलमां छेल्ला दशकेवली (दशपूर्वी ?) वज्र अने तेमना अन्तेवासिओनां ज नाम हशे, तेनी अंत केटलीक गाथाओ उमेरवामां आवी छे; अने तेनी अंदर फल्गुमित्रथी मांडीने देवर्धिगणी सुधीना स्थविरोनां नामो आवेलां छे. कल्पसूत्रनी केटलीक प्रतिओमां आ गाथाओनुं गद्यरूपान्तर, तेनी पहेलां दाखल करवामां आवेलुं छे ए तो देखीती रीतेज अर्वाचीन उमेरो छे. कारण के घणी प्रतिओमां ए गद्यरूपान्तरने पडतुं मूकवाम आव्युं छे. तेमज सौथी प्राचीन टीकाकारे आ फेरफारनो उल्लेख पण करेलो छे. आ उपरांत, आ ग्रंथने

अगिआरमी ग्रंथशती (ग्रंथ १०००—११००); प्रमाण करतां प्रत्यक्षरीते वधारे ग्रंथसंख्यावाळी थएली छे. तेथी जो ए प्रस्तुत प्रकरणने दाखल करवामां आवे तो तेनी संख्या पण बराबर प्रमाणसर थई रहे छे. वळी स्थविरावलीना प्रथमना बे सूत्रो बीजां बधां सूत्रोथी रचनामां जुदा पडे छे; अने तेथी मारा धारवा प्रमाणे, शायद एक वखते तेनो अंतर्भाव जिनचरित्रमां थतो हशे. आ रीते आपणे स्थविरावलीमां भिन्न भिन्न प्रकारना चार पांच प्रकरणो जोई शकीए छीए. डॉ. स्टीवन्सन जे एवुं अनुमान करे छे के असलनुं जिनचरित्र ते महावीर चरित्र जेटलुं ज हशे (कल्पसूत्र पृ० ९९), तेने हुं खोटुं मानतो नथी. परंतु साथे मारूं ए पण विशेष मानवुं छे के डॉ. स्टीवन्सने जे उमेरा दर्शाव्या छे ते उपरात बीजा पण केटलाक उमेरा तेमां थया छे; अने तेने लईने आ भाग आटलो विस्तृत थएलो छे. आ कथनना प्रमाण तरीके मात्र हुं चौद स्वप्नो ना वर्णननो निर्देश करुं छुं. आ वर्णन समग्र पुस्तकनी आर्ष-भाषाशैलीथी तद्दन भिन्न पडे छे. कारण के, एमां जे घणा लांबा लांबा अने गुंचवाडा भरेला समासो दृष्टिगोचर थाय छे, ते खास, मुकाबलामां अर्वाचीन एवा भारतवर्षीय काव्य-साहित्यमां आवता समासोना आकारना छे. कहेवानो भावार्थ जरूर छे के, एमां वीरनिर्वाणना ९८० अने ९९३ वर्ष संबंधी जे अवतरणो आवेला छे, ते कर्ताना निर्देशक नथी परंतु कल्पसूत्रना संपादक देवर्धिगणीने उद्देशीने लखाएला छे. जे आर्ष-भाषा-शैलीमां आ जिनचरित्रनी रचना थएली छे तेज भाषा-शैली गद्यरचनावाळा प्राचीन सूत्रोमां पण जोवाय छे. तेथी आना कर्ता भद्रबाहु न होई शके एम कही शकाय तेम नथी. परंतु, आ प्रश्नने प्रत्यक्ष प्रमाणना अभावे अनिर्णयात्मक स्थितिमांज रहेवा देवो ठीक लागे छे.

जैन विद्वानो कल्पसूत्रमां चर्चाएला विषयोना वैषम्य (न्यूनाधिक्य) थी सर्वथा विज्ञात छे, एम तो स्पष्ट देखाई आवे छे. परंतु, तेओ आनुं कारण ए बतावे छे के पर्युषणा-सामाचारीनी पहेलां जे आ बे भागो मूकवामां आवेला छे ते 'मंगलार्थम्' एटले मंगलमाटेज मूकवामां आवेला छे. आ बाबत पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिमां नीचे प्रमाणे जणावी छे:—

> पुरिम-चरिमाण कप्पो
> उ मंगलं वद्धमाण-तित्थंमि ।
> तो परिकहिया जिनपरि-
> कहा य थेरावली चेत्थ [म्] ॥

भावार्थ—पहेला अने छेल्ला जिनोनो कल्प वर्धमानना तीर्थमां मंगळभूत छे. अने तेटला माटे जिनचरित्रो, अने स्थविरावली अहिं कहेवामां आवी छे.

पछीना टीकाकारोए आ गाथाना उत्तरार्धने बदली तेने 'अधिकारत्रयम्' नी पद्यबद्ध विषयसूचिना आकारमां फेरवी नांखी छेः—

> पुरिम-चरिमाण कप्पो
> मंगलं वद्धमाण-तित्थंमि ।
> तो परिकहिया जिनगण-
> हराइ-थेरावलि-चरित्तं ॥

भावार्थ—वर्धमानना तीर्थमां पहेला अने छेल्ला जिनोनो कल्प मंगल-स्वरूप छे, तेटला माटे जिन (चरित्र) गणधरादि स्थविरावली अने चरित्र अर्थात् पर्युषणा-सामाचारी कहेवामां आवी छे.

परंपरागत कथानुसार जैनागमोना नवीन संस्करण वखते देवर्धिगणीए जिनचरित्र, स्थविरावली अने सामाचारी ए त्रणे भागोने कल्पसूत्र एवा नाम नीचे एकज पुस्तकमां पुस्तकारूढ कर्या होय तेम जणाय छे,—जो के तेनो आगमोमां अंतर्भाव थतो नथी. आ परंपरागत कथानी सत्यताना पक्षमां बे दलीलो छे. पहेली ए के, आ बीनानी तारीख कल्पसूत्रमां आपेली छे. अने बीजी ए के, आखुं कल्पसूत्र सो सो ग्रंथोनी (३२ अक्षरनो एक ग्रंथ) प्रमाणवाळी ग्रंथ-शतिओमां वहेंची

नांख्युं छे. घणुं करीने मूळ ग्रंथने पछीना उमेराओथी बचाववा माटेज संपादकने आ व्यवस्था स्वीकारवानी आवश्यकता लागी हशे. आ ग्रंथशतिओनी निशानी मूळग्रंथमां ग्रं० १००, ग्रं० २०० इत्यादि रूपमां मूकेली छे. आ निशानिओ सघळी हस्तलिखित प्रतिओमां समान जग्याएज मूकेली जोवामां आवे छे. कल्पसूत्रमां आवा १२१६ ग्रंथो होवानुं कहेवाय छे. उदाहरण तरीके A प्रतिना पुष्पिकालेखमां आपेलो नीचेनो श्लोक लई शकाय:—

एकः सहस्रो (?) द्विशतीसमेतः
श्लिष्टस्ततः षोडशभिर्विदन्तु ।
कल्पस्य संख्या कथिता विशिष्टा
विशारदैः पर्युषणाभिधस्य ॥

आ संख्याने लीधे वर्तमानमां सामान्यरीते आ पुस्तक 'बारसे सूत्र' तरीके पण ओळखाय छे.

आ आवृत्तिमां मारी गणत्री मुजब व्यवस्थित संख्या उपरात एकसोथी वधारे ग्रंथो (श्लोको) अधिक छे, अने केटलीक ग्रंथशतीनुं प्रमाण १०० थी १३५ जेटला ग्रंथोनुं जोवामां आवे छे. आ रीते न्यूनाधिक ग्रंथप्रमाणवाळी अव्यवस्था जोईने, केटलाक संदेहजनक प्रकरणो काढी नांखी, आ सूत्रने मूळ स्वरूपमां—असलनी ग्रंथसंख्यामां—लावी मूकवानुं मारूं मन थई आवे छे. परंतु, आ सूत्रनी शिथिल रचना, अने एमा वारंवार आवती पुनरुक्तिओ, के जे सूत्रशैलीनुं एक खास लक्षण ज छे, तेने लईने आमांना कया भागो अमूलक छे, ते शोधी काढवानुं काम कठण होवाथी, हुं तेम करता मारा मनने रोकी राखुं छुं.

एवुं कहेवाय छे के, पहेलाना वखतमां आखुं कल्पसूत्र पज्जुसणनी प्रथम रात्रिए* वांचवामां आवतुं हतुं. परंतु, ज्यारथी ते आनन्दपुरना राजा ध्रुवसेनने, पोताना सेनांगज नामना प्रियपुत्रना मरणजा शोकथी मुक्त करवा अर्थे, तेने सभामां वांचवा आव्युं† त्यारथी ते सूत्र नव वाचनाओ अथ व्याख्यानो द्वारा सार्थ समजाववामां आवे छे. नव वाचनाओ केटलीक प्रतिओमां, तेमज केटल टीकाओमां चिन्ह अथवा उल्लेख करी जुदी जुदी बत वामां आवी छे. परंतु आ विषयमां बधानो मत नहीं होवाथी मारी आवृत्तिमां में आ वाच त्मक विभागो दाखल कर्या नथी. साधारण र महावीरचरित छ वाचनामां विभक्त करवामां अ छे. बाकीनां जिनचरितो सातमी वाचनामां गण छे. अथवा तो महावीरचरितनी पांच, अने बाकी जिनचरितोनी बे, आवी रीते पण सात वाचना गणाय छे. थेरावली अने सामाचारी ए दरेक एकेक वाचना कहेवाय छे.* जिनचरित अने साम चारी नामना भागमां, सूत्रो अथवा प्रकरणो रूपमां मूळ ग्रंथनो एक बीजो पण पेटाविभा घणीक प्रतिओमां आपेलो जोवामां आवे छे. उ विभाग ते घणुं करीने टीकाकारोने आभारी छे कारण के तेमणेज आनो उपयोग करेलो छे. स्थवि रावली उपर टीका रचाएली नहीं होवाथी ते सूत्रोमां वहेंचणी थवा पामी नथी. यद्यपि आ सूत्रा त्मक विभाग सघळी प्रतिओ अने टीकाओमां एक

---

* कल्पसूत्रनी टीकाओमां लख्या प्रमाणे तो 'प्रथम रात्रिए' नहीं पण अन्तिम रात्रिए कल्पसूत्रनुं अध्ययन-श्रवण करवामां आवतुं हतुं.—संपादक.

† आ बीनाना मितिना संबंधमां एक मत नथी. केटला तेने वी. नि. ९८० मा वर्षमां मूके छे, केटलाक ९९३ मां अने केटलाक वळी वी. सं. १०८० मां मूके छे.

* E नामनी हस्तलिखित प्रतिमां नीचे प्रमाणे व्याख्यानकोनी वहेंचणी करेली छे:—'पुरिम-चरिमगाथा-शक्रस्तवं यावत्, शक्रस्तपन-श्रीवर्धमान-संचारः, स्वप्नविचार-गर्भस्याभिग्रहः, जन्मोत्सवक्रीडा-श्रीवीरकुटुम्बविचाराः, दीक्षा-ज्ञान-परिवार-मोक्षाः, श्रीपार्श्वनाथ-श्रीनेमिचरितान्तराणि, श्रीआदिनाथचरित्र-स्थविरावलयः, सामाचारीमिच्छा (?) श्रीकालिकाचार्यकथा.'—कालिकाचार्यनी कथा स्वतंत्र होवाथी ते कल्पसूत्रनी पाछळ तद्दन अर्वाचीन समयमां दाखल थएली छे. हवे आठेमी वाचनानी गणनामां आदिनाथ अथवा ऋषभचरित्र अने स्थविरावली ए बन्नेने एकज वाचनामां मूकी दीधा छे. आ

सरखो जोवामां आवतो नथी; तथापि, ते बहु भिन्न पण पडतो नथी. अने तेथी करीने आ आवृत्तिमांनुं कोई पण सूत्र, हस्तलिखित प्रतिओमां सरळतापूर्वक खोळी शकाय तेम छे. थेरावलीनी तेर सूत्रोमां करेली वहेंचणी मारी पोतानी छे. कारण के, कोई पण प्रतिमां आवी वहेंचणी करेली जोवामां आवती नथी.

कल्पसूत्र उपर सौथी प्राचीन टीका जो के में जोई नथी, पण ते चूर्णि होय तेम लागे छे. ते बीजी बधी चूर्णिओनी माफक प्राकृतमांज लखाएली हशे. कारण के टीकाओमां कोई कोई प्रसंगे तेनां अवतरणो लीधेलां जोवामां आवे छे. तेना कर्तानुं नाम मळतुं नथी, पण ते हमेशां चूर्णिकारना नामे ओळखाय छे. बाकीनी बधी अर्वाचीन टीकाओ सीधी अगर आडकतरी रीते तेना उपरज रचाएली छे. अने प्रायः ते तेना संस्कृत भाषांतर रूपे ज छे. आम मानवानुं कारण ए छे के ए टीकाओमां मूळना जे अर्थो आपेला छे ते सघळी टीकाओमां लगभग एकज सरखा, शब्दे शब्द, मळता आवे छे. आ बाबत सर्व टीकाओनुं मूळ एकज मानी लईए तोज समजावी शकाय तेम छे. बीजुं ए छे के सर्व टीकाओ चूर्णिने मुख्य प्रमाण माने छे. तेथी आपणे पण ते कृतिने स्वाभाविकरीते ते सर्वेनी *पायाभूत—(मूळभूत) मानवी* जोईए. घणाक आधुनिक टीकाकारोए पोतानी टीकाओमां उत्तराध्ययन अने आवश्यकसूत्रनी टीकामांथी केटलीक कथाओ लईने वचमां दाखल करी दीधी छे. अने कोई कोई स्थळे विस्तारयुक्त एवी अप्रस्तुत हकिकतो उमेरी दीधी छे.

सौथी जूनी टीका तरीके में संदेहविषौषधि नामनी पञ्जिकाने उपयोगमां लीधी छे. एना कर्ता जिनप्रभमुनि छे. तेमणे ए टीका अयोध्यामां संवत् १३६४ ना आश्विन सुदी ८ अर्थात् सने १३०७ मां पूरी करी हती. एनी ग्रंथ संख्या ३०४० छे. ए टीकानी अंदर तेमणे पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिनी पण टीका लखी छे, आ पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिनी छासठ प्राकृत गाथाओ छे, अने ते पर्युषणा उपर एक निबंध रूपे छे. आ निर्युक्तिनी टीका तेना कर्ताना कहेवा मुजब निशीथचूर्णिमांथी संगृहीत करवामां आवी छे, अने थोडा टुंका संस्कृत वाक्यो सिवाय ते प्राकृतमां ज लखाएली छे. आ आश्चर्यकारक बाबत आपणने उदाहरण आपी समजावे छे के जैन-ग्रंथकारो पोताना पूर्वजोनी कृतिओमां केटलो बधो स्वरचित उमेरो करता हता. जो पर्युषणानिर्युक्ति उपर तेना पहेलानी संस्कृत टीका होत तो जिनप्रभमुनिए जरूर तेनी नकल करी होत. परंतु पोताने अन्य साधनोना अभावे आत्मनिर्भर थवानुं होवाथी तेमणे *निशीथचूर्णिमांथी* अवतरणो लीधां. परंतु ते अवतरणोनुं संस्कृत भाषान्तर सुद्धां करवानी तेमणे तस्दी लीधी नथी. आपणने मानवाने कारण मळे छे के जिनप्रभमुनिना समयमां कल्पसूत्र उपर कोई एक संस्कृत टीका विद्यमान हती. कारण के तेओ पोतानी टीका संस्कृतमां लखे छे; परंतु चूर्णिनो सारांश आपता नथी. आ टीकानी मारी प्रति के जेने माटे हुं डॉ. बुल्हरनो उदारतानो ऋणी छुं, ते संवत् १६७४ मां लखवामां आवी हती. एमांना उतारा तथा एमां निर्दिष्ट करेलां विविध पाठान्तरो में टिप्पणमां S ना चिन्हथी दर्शाव्यां छे.

मूळग्रंथना अर्थावबोधनना विषयमां उपरनी टीका सिवाय नीचे सूचवेली बीजी त्रण टीकाओ पण थोडेज अंशे भिन्न पडे छे. परंतु आ टीकाओमां एक उपोद्घात उपरांत अन्य ग्रंथोमांथी घणां अवतरणो अने कथाओ आपेली छे. तेमां पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिनी टीका नथी. ते त्रण टीकाओ नीचे प्रमाणे छेः—

बन्ने भागोने जो आपणे बे जुदी जुदी वाचनामां विभक्त करीए, अने कालिकाचार्यनी कथाने बादी नांखीए, तो ते वाचनानो प्रसिद्ध स्थविरस्थानी बराबर थई रहे छे.

१—विनयविजयजीकृत सुबोधिका. सं. १६९६. आ टीकानुं ग्रंथपरिमाण ५४०० छे. आनी जे प्रति में वापरी छे ते मुंबईना संग्रहनी छे.

२—धर्मसागरकृत किरणावली उर्फे व्याख्यानपद्धति. संवत् १६२८. ग्रंथसंख्या, ७०००. मुंबई.

३—समयसुंदरकृत कल्पलता. आमां साल आपेली नथी. पण लेखक कहे छे के तेना गुरु, सकलचंद्रना गुरु, जिनचंद्र अकबरना वखतमां विद्यमान हता, आ उपरथी तेमना समयनुं अनुमान करी शकाय तेम छे. आ कल्पलता ते, जेना उपोद्घातनुं डॉ. स्टीवन्सन भाषान्तर कर्यानो ढोंग करे छे, ते कल्पलता नथी. आ कल्पलतानी एक प्रति डॉ. बुल्हरे कृपा करीने मने वापरवा आपी हती. तेनी ग्रंथसंख्या मूळ अने टीका बन्नेनी मळीने ७७०० छे. तेना उपर मिति संवत् १६९९ नी छे.

आ टीकाओथी वधारे अर्वाचीन अने एनाथी अल्प महत्त्वना ग्रंथो नीचे प्रमाणे छे.—

४—लक्ष्मीवल्लभकृत कल्पद्रुम. आमां दरेक सूत्रनी पाछळ तेनुं संस्कृत भाषांतर आपेलुं छे. आ ग्रंथनो मोटो भाग अन्य टीकाओमां उपलब्ध थती कथाओनो बनेलो छे. आ टीकाने अंते कालिकाचार्यनी कथा पण उमेरेली छे. मारी पासे कल्पद्रुमनी एक हस्तलिखित प्रति छे. पण ते खराब अने अर्वाचीन छे. सं० १९०२.

५—मूळनी वच्चे पंक्तिओ वच्चे आवेला भाषान्तर रूप एक अनामा लेखकनो टबो. कथासमूह अने स्वप्नोनुं गुजराती स्पष्टीकरण तेनां योग्यस्थळे दाखल करेलां छे. आ आवृत्तिमां में तेने C निशानीथी दाखव्यो छे. आना लेखक समयसुंदर मुनि हता (कदाच ते कर्ता पण होई शके ?). संवत् १७६१.

६—कथादि रहित एक टबो. आ प्रति इन्डिआ ऑफिस लाइब्रेरीनी नं. १५९९ नी छे. कोलब्रुके पोताना सारांशो (Abstracts) तैयार करवामां आ प्रतिनो उपयोग कर्यो हतो.

में तपासेला अने केटलेक प्रसंगे उपयोगमां लीधेला एवा उपरोक्त ग्रंथो उपरांत नीचेना ग्रंथो पण अहिंयां उल्लिखित करवा योग्य धारूं छुं.

७—विजयतिलकनी कल्पदीपिका. सं. १६८१ ग्रंथसंख्या. ४५००. डॉ० बुल्हरनी आ टीकानी प्रति में जोई छे.

८—यशोविजयनो बाळावबोध (?). डॉ० स्टीवन्सने पोताना कल्पसूत्रनी प्रस्तावनानां नवमा पृष्ठ उपर आनो निर्देश करेलो छे.

९—कल्पसूत्रटीका. जुओ, डॉ० बुल्हरनो संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकोनी शोधनो रीपोर्ट. १८७२–७३.

१०—बर्लिनना संग्रहनी एक नंनामी टीकानी प्रति. (प्रति अथवा पत्र, ६३८.) आ प्रति तद्दन बेपरवाईथी लखेली छे अने ते मने कोई रीते उपयोगी निवडी नथी. संवत् १७५९.

टिप्पणमां में मात्र संदेहविषौषधिमांथी उतारा आप्या छे. पहेलां में सुबोधिका अने किरणावलीमांथी उतारा कर्या हता, परंतु मने संदेहविषौषधि मळवाथी, सौथी प्राचीन टीकाकारना शब्दोमांज समजुती आपवानुं में वधारे योग्य धार्युं छे.

कल्पसूत्रनुं एक अंग्रेजी भाषान्तर रे० डॉ० स्टीवन्सने प्रकट कर्युं छे[1]. जैनग्रंथोमां आज सुधीमां प्रमाण गणातुं मात्र आ एकज पुस्तक प्रकट थएलुं छे. परंतु मारे दिलगीरीसाथे लखवुं पडे छे के ते मात्र यथार्थ नथी एटलुंज नहीं पण ते अविश्वसनीय पण छे. जो के ए एक भाषान्तर गणाय छे

१ 'कल्पसूत्र अने नवतत्त्व.' आ बन्ने ग्रंथो जैन धर्म अने तत्त्वज्ञान विषयना छे, अने मागधी भाषामांथी भाषान्तरित करेला छे. आमां एक परिशिष्ट आपवामां आव्युं छे, अने तेनी अंदर मूळग्रंथनी भाषा उपर विवेचन करेलुं छे. भाषान्तरकर्त्ता रे. जे. स्टीवन्सन, डी. डी. पी. आर. ए. एस. सन १८४८.

परंतु वास्तविकमां ते भाषान्तर नथी, एटलुंज नहीं पण घणे भागे तो बेकाळजीथी घसडी काढेलो एक सारांश मात्र छे. आनो प्रथमनो भाग भाषान्तरमां, सामाचारीना विशेष कठिन भाग करतां साधारणतया वधारे विश्वसनीय रीते उतारवामां आव्यो छे. कारण के ए प्रकरणमां डॉ. स्टीवन्सन कोई पण महत्त्वनो भाग मूकी देता नथी. मूळमां ज्यां ज्यां क्लिष्ट भागो आवे छे त्यां त्यां तेओ भाषान्तर करवाने बदले मात्र विवरण करे छे. परंतु सामाचारीमां तो निराळीज बाबत दृष्टिगोचर थाय छे. त्यां तो तेमणे या तो मोटा भागोने उडावीज दीधा छे, अथवा तो संक्षिप्त रूपमां मूकी दीधा छे. एमां अर्थनी स्पष्टता तरफ भाग्येज ध्यान आपवामां आव्युं छे.[1]

वास्तविकमां डॉ. स्टीवन्सनना पुस्तकने, आजकाल प्रकट थता प्राकृत–संस्कृत भाषाना ग्रंथो तथा तेना भाषान्तरोनी पद्धतिए तपासवुं ते तेमने खरेखर अन्याय करवा जेवुं छे. कारण के त्रीस वर्ष पहेलांनो ते समय पौर्वात्य साहित्यना अध्ययननी बाल्यावस्थानो प्रारंभिक काळ हतो. अने भाषाविज्ञाननी यथार्थताना संबंधमां जेटलो विचार अत्यारे करवामां आवे छे तेटलो ते वखते करवामां आवतो न हतो. डॉ. स्टीवन्सन पोताना संशोधन-क्षेत्रमां पहेल करनार हता अने तेमणे महान् उत्साह अने अविश्रान्त उमंगथी पोताना कार्यक्षेत्रमां उद्यम कर्यो हतो. परंतु दिलगीरी पामवा जेवुं एटलुंज छे के डॉ० स्टीवन्सन पोताना भाषाविज्ञानना अभ्यासना अभावथी* तेमज तेमनुं मानसिक वलण ईश्वरविषयक ज्ञान तरफ झुकेलुं होवाथी तेओ पोतानी महेनतना प्रमाणमां योग्य परिणामो उपजावी शक्या नथी. हुं मात्र यथार्थस्थितिने लक्ष्यमां लईने ज प्राच्यविद्याना अभ्यासिओने तेमना कल्पसूत्रने न वापरवानी सूचना करूं छुं.

कल्पसूत्रनी प्रस्तुत आवृत्ति नीचे जणावेली प्रतिओ उपरथी तैयार करवामां आवी छे.

A संज्ञावाळी प्रति मारा करेला संग्रहमां सर्वोत्तम छे. तेना ११३ पानां छे, अने ते चांदीनी शाहीथी लखेली छे. आनां घणां खरा पानां क्रमथी काळा अने राता रंगथी रंगेलां छे,एकेक पाना उपर छ छ लीटिओ छे. मूळ ग्रंथमां घणां चित्रो आपेलां छे. तेना हांसिआमां अरबस्थानना शिल्पशास्त्रना नियमप्रमाणे वेल-बुट्टिओ कोतरली छे. (आवी जातनी हस्तलिखित प्रतिओ जैनो पासे घणी जोवामां आवे छे.) तेना लांबा पुष्पिकालेखमां, तेनी लखायानी साल विक्रम संवत् १४८४ (सन१४२७) आपेली छे. ए प्रतिमां सूत्र अगर वाचनाना वि-

---

1 आ ठेकाणे टिप्पणमां डॉ. जेकोबीए सामाचारीओना एक सूत्रनुं, डॉ. स्टीवन्सने करेला तेज सूत्रना भाषान्तर साथे, पोतानुं भाषान्तर तुलनार्थे मूकेलुं छे. परंतु ते आ पत्रनी दृष्टिए अनुपयोगी होवाथी, अहीं आप्युं नथी.

अनुवादक.

* डॉ. स्टीवन्सननुं प्राकृतभाषा संबंधी ज्ञान केटलुं बधुं मर्यादित हतुं, ते आपणे तेमने करेली मागधीभाषा उपरनी टीका उपरथी सहेलाईथी समजी शकीए छीए. पृ. १४१ उपर तेओ लखे छे के 'तिसलाए' अने 'माहणीए' आ बन्ने प्रथमाना रूपो छे; पृ. १४२ उपर तेओ 'कुच्छिसि' अने 'समणंसि' नी अनुक्रमे 'कुच्छम्सि' अने'शमणम्सि'ना रूपमां जोडणी करे छे अने 'पासित्ता णं' ने 'पासित्ताणं' लखे छे. आटलुं कथन तेमना प्राकृतना ज्ञानना संबंधमां बस छे. संस्कृतभाषा संबंधी पण तेमनुं ज्ञान केटला ऊंचा दरज्जानुं हतुं ते कल्पलतामांना (पृ. १२) एक संस्कृत फकराना तेमणे करेला अंग्रेजी भाषान्तरने, आगळ पृ. २२ उपर आपेला तेज फकराना मारा भाषांतर साथे सरखाववाथी जणाई आवशे. डॉ. स्टीवन्सननुं भाषान्तर नीचे मुजब छे.—' हवे हुं कल्पसूत्रना कर्तानो उल्लेख करूं छुं. तेमनुं नाम श्रीभद्रबाहुस्वामी हतुं. ते एक विचक्षण गुरु हता. तेओ पोताना विषयनी (टिप्पण, मूळ शब्द–पूर्व) चौद शाखाना जाणनार हता, अने विचक्षण आचार्य हता. अहीं नाम सूचवातां ग्रंथो—दशाश्रुतस्कन्ध, अष्टमाध्ययन, अने प्रत्याख्यानप्रवाद के जेमां तेमणे नव शाखाओ जोई—तेने, मार्गदर्शक तरीके राखीने तेमणे आ कल्पसूत्र बनाव्युं हतुं.

भागो बतावेला नथी. तेमां आपेलुं स्वप्नवर्णन प्रसिद्ध वर्णनथी भिन्न जणाय छे. अने स्पष्टरीतेज ते असली होय तेम लागतुं नथी, कारण के आ स्वप्न-वर्णनना प्रारंभमां साधारणरीते मूकवामां आवतुं प्र.२०० नुं चिन्ह अहीं मूकेलुं नथी. ?

[A संज्ञावाळी प्रतिनुं वर्णन कर्या बाद, डॉ. जेकोबी, अन्य अल्प महत्त्वनी प्रतिओ—के जेमांनी केटलीकने तेमणे परस्पर मेळवी हती अने केटलीकने मात्र तपासीज हती तेनां नामो अने वर्णनो आपे छे. परंतु, ते आ पत्रनी दृष्टिए अनुपयोगी होवा थी, अहीं आप्यां नथी. अनुवादक.]

अनुपूर्ति.

आ संपूर्ण उपोद्घातमां सर्वत्र में श्वेतांबर संप्रदायनोज आधार लीधो छे. दिगंबरोनी पण पोतानी सांप्रदायिक मान्यता छे, अने ते श्वेतांबर संप्रदायथी केटलीक परंतु अगत्यनी बाबतोमां भिन्नता राखे छे. आ संप्रदायनी मान्यतानी माहीती में, डॉ. बुल्हरे वांचवा आपेली एक आधुनिक गुर्वावली उपरथी मेळवी छे. ते जयपुरमां,—तेज शेहरनी भाषामां लखाएली छे. ए गुर्वावलीमां घणी प्राकृत गाथाओ समजाववामां आवी छे. अने ते गाथाओनी प्राकृतभाषा शौरसेनी साथे आश्चर्यजनक मळतापणुं धरावे छे. आ गुर्वावलीमां बे भद्रबाहुनो उल्लेख छे. पहेला भद्रबाहु, जे अंतिम श्रुतकेवली हता, ते वीर निर्वाणना १६२ मा वर्षमां गुजरी गया हता. अने बीजा भद्रबाहु जे स्थविर कहेवाता हता, तेमनी मिति वी. सं. ४९२–५१५ आपेली छे. तेओ यशोभद्रना अंतेवासी हता. आ यशोभद्रना गुरुनुं नाम सुभद्र हतुं अने तेओ (वी. सं. ४६८—४७४ मां) विद्यमान हता. सुभद्रना अस्तित्वना बीजा वर्षमां अर्थात् वी. सं. ४७० मां विक्रमनो जन्म थयो हतो. आ हकिकतने ए गुर्वावलीमां उध्धृत करेली अर्धी गाथा द्वारा पुष्टि मळे छे:—

> सत्तरि चदुसदजुत्तो
> तिण काला विक्कमो हवइ जम्मो।

आ ठेकाणे ए ध्यानमां राखवुं जोईए के विक्रमना संवत्‌नी शरुआत तेना जन्मथी थती नथी परंतु तेना राज्यारोहणना समयथी अर्थात् तेना आयुष्यना १८ मा वर्षथी थाय छे.[1] आ हिसाब प्रमाणे ए गुर्वावलीमां, वीर निर्वाणनुं ४९२ मुं वर्ष, के जेमां भद्रबाहुनी कारकीर्दीनी शरुआत थाय छे, तेने विक्रम संवत् ४ नी साथे सरखाववामां आवेलुं छे. वळी तेनी अंदर बीजा भद्रबाहुथी मांडीने संवत् १८४० सुधीना स्थविरोनी अनवरत नोंध आपवामां आवी छे. अने ते खरी परंपराना आधारे गोठवेली होय तेम देखाय छे.

आ गुर्वावलीनी अनुसार पुष्पदंत (समय—वी. सं. ६३३ थी ६८३) पछी सघळा अंगो नष्ट थई गयां हतां. तेमणे समग्र पवित्र प्रवचन पुस्तकोमां लखाव्युं हतुं. तेमना अवसाननुं वर्ष जे वी. सं. ६८३ छे, तेने पण विक्रमना जन्म वर्ष तरीके मताववामां आव्युं छे.

भद्रबाहुना संबंधमां दिगंबर परंपरा माटे जुओ Lewis Rice, भद्रबाहु अने श्रवण बेलगोल; ईन्डि. एन्टि. ३. पृ० १५३. कर्णाटकनी दिगम्बर परंपरामां भद्रबाहुने उत्तरहिंदुस्थानमांथी स्वदेश छोडी परदेश जता संघना नेता तरीके जणाव्या छे; अने पाटलीपुत्रना राजा चन्द्रगुप्तने, तेमां, तेमना एक दीक्षित शिष्य तरीके जणाव्यो छे.

---

१ उपरोक्त कथनानुसार महावीर अने विक्रमना संवत्‌नी वच्चे ४८८ वर्षनुं अंतर पडे छे. अने तेथी महावीर निर्वाणनो समय इ. स. पूर्वे ५४५ मां आवे छे. आ हिसाबे आ साल अने सीलोननी कालगणनानुसार निर्णीत करेली बुद्ध-निर्वाणनी सालनी वचे मात्र बे ज वर्षनो फरक रहे छे.



जैनधर्मनुं अध्ययन.

[लेखक—श्रीयुत सी. वी. राजवाडे, एम्. ए. बी. एस. सी. प्रोफेसर ऑफ पाली, बरोडा कॉलेज.]

प्रो. वेबर, बुल्हर, जेकोबी, हॉर्नल, भाण्डारकर, ल्युमन, राईस, गेरिनॉट विगेरे विद्वानोए जैनधर्मना संबंधमां अंतःकरणपूर्वक अथाग परिश्रम लई अनेक महत्त्वनी शोधो प्रकट करेली होवा छतां, भारतवर्षीय विद्वानोए हजी सुधी ए धर्मना अभ्यास तरफ पुरतुं ध्यान आप्युं नथी. प्राच्यविद्या-कळा-साहित्यना संशोधनना प्रारंभ काळमां, कदाचित् जैनसाधुओनी उदासीनताने लीधे, तथा, हस्तलिखित पुस्तकोमां छुपाएलुं पोताना धर्मनुं पवित्र ज्ञान जैनेतरोने आपवामां तेओनी नाखुशी होवाने लीधे, तद्विषयक अध्ययनमां विद्वानोने प्रेरणा थई नहीं होय. पछी तो, विद्वानोनो अनुराग बौद्धधर्मना अभ्यासमां वधतो गएलो होवाथी केटलेक अंशे, तेओनी धर्मविषयक अभ्यासमां आ एक महत्त्वनी शाखा तरफ उपेक्षा थई गई हती. वस्तुतः, प्रारंभमां विद्वानोना मगज उपर बौद्धधर्मनी एटली तो प्रबळ सत्ता जामी गई हती के तेओ जैनधर्मने बौद्धधर्मनी एक शाखा तरीके ज *जणाववा लाग्या हता, परंतु, हवे तेओनी दृष्टि*-मर्यादाने आच्छादित करनारां पडळो नष्ट थवा मांड्यां छे अने तेथी जैनधर्म पूर्वना धर्मोमां पोतानुं स्वतंत्र स्थान प्राप्त करतो जाय छे. जैनसमाज पण सुस्तीमांथी जाग्रत थतो जाय छे. अनेक नियतकालिक अने सामयिक पत्रादि प्रकट थता दृष्टिगोचर थाय छे. साधुओने पण पोतानी जवाबदारीनुं भान थतुं होय तेम जणाय छे. कोमना धनिकवर्ग तरफथी मळती उदारताना आश्रित बनेलां परोपकारी मंडळो दिवसे दिवसे विशेष रूपमां जैन ग्रंथो प्रकट करतां जाय छे. जैनधर्म अने साहित्यविषयना अनेक लघु ग्रंथो, सार ग्रंथो, स्थूलवर्णनात्मक ग्रंथो, रहस्योद्घाटकग्रंथो(Keys=कुंचीओ) शब्दकोशो, इत्यादि भारतवर्षना विद्वानो द्वारा संपादित थई, प्रकाशित थता जाय छे. अने आ सर्व उपरांत, देशी भाषामां पण प्रतिवर्ष मोटा प्रमाणमां जैनसाहित्य बहार पडतुं जाय छे.

आम होवा छतां हजी घणुं करवानुं बाकी छे. जैनधर्म ते मात्र जैनोनेज नहीं, परंतु तेमना सिवाय प्राच्यसंशोधनना प्रत्येक विद्यार्थी अने खास करीने जेओ पौर्वात्य देशोना धर्मोना तुलनात्मक अभ्यासमां रस लेता होय तेमने तल्लीन करी नांखे एवो रसिक विषय छे.

जैन-साहित्यनी अर्वाचीन संशोधन पद्धति अनुसार अने गुणदोषनी विवेचक दृष्टिए अभ्यास थवानी बहु आवश्यकता छे. आ विषयना निष्णात विद्वानो स्पष्ट जणावे छे के आवी रीते तुलनात्मक पद्धतिए तेनो अभ्यास थवाथी हिंदुस्थानना प्राचीन *इतिहासना संबंधमां अत्यार सुधीमां अज्ञात रहेली* घणीक हकिकतो प्रकट थशे, अने ऐतिहासिक काळनी माहिती वगरनी घणीक खाली जग्याओ पूर्ण थशे. आवी रीते, इतिहास-प्रेमी, तेमज आर्यावर्तना प्राचीन धर्मोना अने तत्त्वज्ञानना अभ्यासीने जैन-साहित्य एक तद्दन नवुं अने अणखेडाएलुं विस्तृत क्षेत्र छे. परंतु वर्तमानमां जैनधर्मना अभ्यासीने—के जे निष्पक्षपाती अने समदर्शी मनथी ए विषयनो अभ्यास करवा मांगतो होय, तेने पोताना कार्यमां केटलीक मुस्केलिओ नडे छे. प्रथम अने प्रधान मुस्केली ए छे के योग्य रीते संपादन करेला मूळ

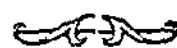
अने प्रामाणिक ग्रंथोनो अत्यारे अभाव छे. ए बाबत तो सुविज्ञात छे के जैनोना पवित्र ग्रंथोनी भाषा अर्धमागधीना नामे ओळखाती प्राकृत छे. आ भाषा अत्यारे घणा जैनसाधुओ पण बराबर समजता नथी. कारण के ज्यारे तेओने ते ग्रंथोना अर्थने समजाववानो प्रसंग आवे छे त्यारे तेओ पण मूळ साथे आपेली संस्कृत छाया अथवा टीका उपरथीज पोतानुं काम चलावे छे. आवी पद्धतिनुं विशेष अनुसरण थवाने लीधे मूळ भाषा–प्राकृतभाषाना अध्ययननी उपेक्षा थई छे, अने परिणामे घणीक भूलो अने असंगतिओ स्वाभाविकरीते ते भाषामां दाखल थई गई छे. घणी हस्तलिखित प्रतिओ शुद्ध पाठान्तरोनी दृष्टिए तो निराशाजनक स्थितिवाळीज जोवामां आवे छे. तेथी जैनसाहित्यना व्यासंगिओए प्रथम तो विविध पुस्तकालयोमां संगृहीत सघळी प्रतिओ एकत्र करी, सूक्ष्मनिरीक्षणपूर्वक तेने परस्पर मेळववानुं कार्य हाथ धरवुं जोईए. त्यार पछी पाली–टेक्स्ट सोसाएटीए छपावेली बौद्ध ग्रंथोनी आवृत्तिओनी पद्धति उपर जैनोना पवित्र ग्रंथोनी विश्वासपात्र आवृत्तिओ तैयार करवी जोईए. अलबत, आ कार्य घणुंज त्रासदायक अने श्रमसाध्य छे. परंतु ज्यां सुधी आ कार्य थाय नहीं त्यां सुधी एक पगलुं पण आगळ वधवानी आशा राखी शकीए नहीं.

आ कार्य एकाद व्यक्तिथी थाय तेवुं नथी. पण तेमां विविध मंडळो अने संस्थाओनी सहकारितानी जरूर छे. वर्तमानमां आ दिशामां जे केटलाक प्रयत्नो थई रह्या छे तेमां तो मात्र निराशाजनक बेदरकारपणुंज जोवामां आवे छे. लगभग सघळी संस्थाओ उत्तराध्ययनसूत्र अने कल्पसूत्र जेवा अतिशय लोकप्रिय थएला मूळग्रंथो छपावे छे. परंतु तेमना जेटलाज महत्त्वना अन्य ग्रंथो तद्दन उपेक्षापात्र बन्या छे. आ कार्य माटे उत्तम मार्ग तो ए छे के आ दिशामां प्रयत्न करनारी सघळी संस्थाओए संघथी एकत्र थई प्रामाणिक पद्धतिए मूळ ग्रंथो तैयार करवानुं काम उपाडवुं जोईए. मारुं मानवुं छे के आराना 'सेंट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस' जेवा मंडळने आ प्रकारनुं सहकारी कार्य उपाडवुं कठण पडे तेम नथी. आ उपरांत, हालमां छपाता सघळा ग्रंथो पोथी साईझमां—(पत्राकारे) छपाय छे अने तेथी तेनां पानां छुटां रहेतां होवाथी तेनो उपयोग करती वखते विद्यार्थिओने घणीज अडचण पडे छे. वळी केटलाक संपादको तो पोतानुं कर्तव्य एटले सुधी भूली जता (भूली नथी जता पण जाणता ज नथी एम कहेवुं वधारे उचित छे.—मुनि जिनविजय) होय तेम जणाय छे के ग्रंथमां आवतां अवतरणोने जुदा पाडवा माटे निशानी सरखी पण करता नथी.

उपर निर्देशेलुं कार्य ज्यारे अर्वाचीन पद्धति अनुसार योग्यरीते पूर्ण थशे—एटले के ज्यारे मूळग्रंथोमां, प्रकरणो अने सूत्रोना आकारमां जुदा जुदा स्पष्ट विभागो पाडवामां आवशे, तेमां आवतां अवतरणोने ओळखाववामां आवशे, अनुसन्धानोनुं अन्वेषण करवामां आवशे, अनुक्रमणिकाओ अने सूचिपत्रो तैयार करवामां आवशे, त्यारबाद अर्वाचीन विवेचनशास्त्रनी पद्धतिना नियमोनी सहायता पूर्वक आ साहित्यनी तपास माटे योग्य समय आव्यो गणाशे. नवा साहित्यमांथी जूनुं साहित्य संभाळपूर्वक तारववुं पडशे. विविध ग्रंथोनो बनी शके त्यां सुधी समयनिर्णय करवो पडशे, अने, तेनी शुद्धता या निर्दोषता तपासी तपासीने जोवी पडशे. आम करती वखते स्वाभाविकरीते चर्चापात्र मुद्दाओना संबंधमां ऊहापोह करवा माटे छूट रहेवी जोईए, अने ते उपर प्रामाणिक मतभेद प्रकट करवानी स्वतंत्रता होवी जोईए. अत्यारे प्राच्य–विद्याविषयक विवेचनशास्त्रना बे भिन्न संप्रदायो नजरे पडे छे. एक पक्ष मूळग्रंथोने जेटला बने तेटला पुरातनकालना बताववा प्रयत्न करे छे, अने बीजो पक्ष तेने येन केन प्रकारेण काईस्टना पछीना कोई एक कालमार्गमां—अर्थात् अर्वाचीन समयमां

खेंची लाववा प्रयत्नशील देखाय छे. केटलाक वळी एवा पण लोको छे, जेमनां मगज पुराणप्रियताना विचारोथी अतिशय संकुचित थएलां जोवाय छे. अने तेथी प्राचीन ग्रंथोमां एक पण भूल यां दोष बतावयामां आवे छे तो तेओ खूब चीडाई जाय छे. तेमनुं एम मानवुं होय छे के मूळ ग्रंथना कोई पण लिखित अर्थ या विचारना संबंधमां स्वतंत्र चर्चा बिलकुल करी शकायज नहीं. परंतु आ मत अत्यारे टकी शके तेम नथी. छतां पण एटलुं तो जरूर याद राखवुं जोईए के पुराणप्रियताना पण घणाक उपयोगो छे. ते द्वारा आपणने पुरातन परंपराओनो परिचय मळे छे अने घणीक वखते अन्य साधनोना अभावे तेज मात्र आपणने मार्गदर्शक होय छे. जो के परंपराओनी पण गंभीरपणे परीक्षा तो करवीज जोईए; परंतु तेनो सर्वथा त्याग करवो पण कोई रीते न्याय्य नथीज. अने आ बाबतमां साधुवर्गेज खास मदद करवानी छे. तेणे पोतानी हंमेशनी चुपकीनो त्याग करी, पोतानी पासे जे परंपरागत मोटो माहीतिओनो मंडोळ होय ते उपासको समक्ष रजु करवो जोईए. हवे तेओने एवो भय राखवानी जरूर नथी के आम करवाथी कदाचित् तेओ पोताना धर्मने जोखममां नाखी देशे. कारण के संताडी राखवाथी कदापि सत्यनी वृद्धि थई शकती नथी.

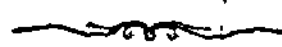
पण आ बधी व्यवस्था करवा अने जैनधर्मना अभ्यासने संगीन पाया ऊपर लावी मूकवा माटे एक उत्साही अने शक्तिशाळी विद्वन्मंडळे आगळ आववुं जोईए; अने पोताना दृढताभरेला काम द्वारा जगतने बताववुं जोईए के आज सुधीमां शोधाएली अन्य ज्ञानशाखाओ जेवी आ पण एक शाखा छे, अने ते बीजी बधी शाखाओथी लेश मात्र पण महत्त्वमां उतरे तेवी नथी. सुभाग्ये पवित्र आगमोनी भाषामां निपुण थवानी एक मुस्केली तो हवे मुंबईना विश्वविद्यालये पोताना अभ्यासक्रममां अर्धमागधीने स्थान आपी दूर करी छे. हवे तो जैन विद्यार्थिओनी ए फरज छे के तेमणे अंतःकरणपूर्वक आ भाषानो अभ्यास स्वीकारी लेवो जोईए, अने जैनकोमना धनिकवर्गो आ कार्यमां विशेष उत्तेजन आपवा, दरेक प्रकारनी, तेमने मदद करवी जोईए. मे सांभळ्युं छे के एक जैन संस्था जैन-धर्मना विद्यार्थिओने जे मदद जोईए ते सघळी आपवा तैयार छे; तेथी आ विषयना उत्साही विद्यार्थिओ आगळ आवी आ महान् कार्यना प्रथम फळो टूंक समयमां बतावशे एम आपणे आशा राखीए छीए.*



जैन आगम साहित्यनी मूळ भाषा कई ?

अथवा

अर्धमागधी एटले शुं ?



[लेखक—श्रीयुत पं. बेचरदास जीवराज, न्याय-व्याकरणतीर्थ.]

जैन धर्मनुं प्राचीन साहित्य, जे अंग, उपांग, निर्युक्ति, भाष्य अने चूर्णि विगेरेना रूपमां अत्यारे उपलब्ध थाय छे, ते बधामां विशेषतः प्राचीन गणातुं अंगसाहित्य कई भाषामां लखायुं छे ? ए प्रश्न अद्यावधि विवादास्पद रह्यो छे. जो धारे तो भारतवर्षना भाषाशास्त्रिओ ए प्रश्नने एक पळमां पण समाहित करी शके, परंतु ते महाशयो पासे एवा अनेक प्रश्नो उपस्थित रहेला होवाथी अत्यार सुधी आ प्रश्नने वगर सत्कारे ज उभा रहेवुं पड्युं छे.

* 'The study of Jainism' ना शिरोलेख नीचे आ लेख, लेखके मूळ अंग्रेजीमां, बरोडा कॉलेजना गया फेब्रुआरी मासना मेगेजीनमां, प्रगट कराव्यो हतो, परंतु मुख्य करीने जैन समाजमां वंचाववा माटे ज आ लेख लखाएलो होवाथी लेखकनी खास इच्छानुसार, अहीं एनो गुजराती अनुवाद प्रकट करतामां आवे छे.—संपादक.

आ युगे प्रत्येक प्राचीन साहित्यनी भाषानो इतिहास निर्णीत थई ते ते साहित्यना आरंभ-समयो पण लगभग अवधारवामां आव्या छे, तेवा प्रसंगे जैन धर्मना प्राचीन साहित्यनी शरुआतने लगतो वा तेमां योजाएल मूळ भाषा संबंधी इतिहास पण निर्णीत थवो अत्यंत आवश्यक छे.

संसारनी प्रत्येक प्रजाने वारसामां मळेल तत्त्वज्ञान वा आचारपद्धतिनी सत्यतानो मूळ पायो ते ते प्रजाना मूळ साहित्यना इतिहास उपर ज बंधाएल छे; तेम जैन प्रजाना वारसा उतार तत्त्वज्ञान वा आचारशैलीनी तथ्यता, ते प्रजाना मूळ साहित्यना इतिहास उपर अवलंबे, ए कार्यकारणना अस्खलित नियमने अनुसरतुं ज छे. आटली प्रस्तावना करी हुं मारा प्रश्ननी चर्चानी शरुआत करीश. कहेवाय छे के,

'अद्धमागहाए भासाए भासंति अरिहा'[1]

एटले 'अर्हन् (वर्तमान शासनाधीश श्रीज्ञातपुत्र—महावीर पण) अर्धमागधी भाषा द्वारा बोले छे' ए उक्ति उपरांत, आ पण एक बीजी उक्ति छे के,

'अत्थं भासइ अरिहा
सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं'[2]

अर्थात् 'अर्हन् अर्थोने—भावोने—तत्त्वज्ञानना मूळ मुद्दाओने—भाषे छे अने गणधरो ते मुद्दाओने (लोकग्राह्य करवा माटे) निपुणता पूर्वक गंठे छे के गुंथे छे.' आ बन्ने उक्तिओथी एम जाणी शकाय छे के, शासनाधीश दीर्घतपस्वी महावीरनी सार्वजनिक भाषा अर्धमागधी होवी जोईए, अने ए उपरथी ज एवी परंपरा चाली आवे छे के, जैन धर्मना अंग-साहित्यनी (जे अत्यारे विद्यमान छे तेनी पण) मूळ भाषा मागधी वा अर्धमागधी छे. पण आ परंपराने, अत्यारे उपलब्ध थता अंग-साहित्य तरफ दृष्टिपात करतां तो, हुं इतिवृत्तनी कोटिमां मूकतां नीचेनां कारणोथी अचकाउं छुं.

प्रस्तुत चर्चानुं लंबाण करतां पहेलां मारे जणाववुं जरूरनुं छे के, जेम संस्कृत, प्राकृत अने पाली विगेरेनां व्याकरणो छे तेम जो अर्धमागधीनुं पण एकाद सांगोपांग व्याकरण होत तो, मारे आ प्रश्न साथे अर्धमागधीना स्वरूपने लगतो बीजो प्रश्न न ज करवो पडत.

व्याकरणकार आचार्यो जेवा के—वररुचि, चंड, हेमचंद्र, कात्यायन, त्रिविक्रम, सिंहराज, वाल्मिकि, लक्ष्मीधर अने मार्कंडेय विगेरे पंडितोए पोत पोताना प्राकृत व्याकरणमां प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची अने अपभ्रंश भाषाओनां स्वरूप दर्शावती वेळा जो क्यांय अर्धमागधी भाषानुं पण पूरेपूरूं स्वरूप बतावया कृपा करी होत तो आपणे तेओना अत्यंत ऋणी थात. पण ते महाशयो तरफथी तेवो प्रयत्न न थएल होवाथी अत्यारे हुं 'जैन साहित्यनी मूळ भाषा कई?' ए प्रश्नने चर्चवानां प्रसंग पहेलां ते संबंधे चाल्यो आवतो 'अर्धमागधीमयता' के 'मागधीमयता' नो प्रवाद त्यारे ज चर्ची शकुं, ज्यारे प्रथम अहीं अर्धमागधी अने मागधी भाषानुं पूरेपूरूं स्वरूप उपस्थित करी शकुं. ए हेतुथी ज प्रारंभमां प्रकृत चर्चाना मूळरूप ते बन्ने भाषाओना स्वरूपनी चर्चा करतो क्रमशः मारा अंतिम ध्येय सुधी पहोंचवा यथामति प्रयत्न करीश.

आ स्थळे मारे वाचकोनुं लक्ष्य 'अर्धमागधी' शब्दनी व्युत्पत्ति तरफ विशेष खेंचवानुं छे. कारण के ते व्युत्पत्तिमां ज तेनुं खरूं रहस्य छुपाएलुं छे. 'अर्धमागधी' शब्द 'अर्ध' अने 'मागधी' शब्दना एकीकरणथी बनेलो छे, ते वात सौ कोई समजी शके तेम छे. तद्वत 'अर्ध' शब्द एक विशिष्ट अर्थने सूचवतो होय एम तेना पूर्व निपात उपरथी अवबोधी शकाय छे. साधारण रीते 'अर्ध' शब्द 'लगभग अडधुं' अने 'बराबर अडधुं' ए

१ जुओ औपपातिक सूत्र (पृ० ७७)

२ जुओ आवश्यक सूत्र (पृ० १८)

बन्ने अर्थनो सूचक छे. जे समासमां ते 'अर्ध' शब्द अवयविथी पूर्वना स्थानने शोभावतो होय, त्यां ते, 'बराबर अडधा' अर्थने सूचवता साथे नान्यतर जातिमां रहे छे, अने जे समासमां ते ('अर्ध' शब्द) अवयविथी पूर्वना के पछीना स्थानने अलंकृत करतो होय त्यां, ते साधारण अर्थने जणावे छे, अने ते साथे तेने नरजातिमां रहेवुं पडे छे. आ हकिकत आद्य वैयाकरण पाणिनिजीए पोतानी अष्टाध्यायीमां "अर्धं नपुंसकम् । २।२।२ । " ए सूत्रमां अने हेमचंद्रजीए "समेंऽशेऽर्धं नवा । ३।१।५४ । " ए सूत्रमां स्पष्टपणे जणावेली छे. अर्थात् 'मागध्या अर्धम्—अर्धमागधी' ए व्युत्पत्तिथी बनतो अर्धमागधी शब्द एम स्पष्टपणे सूचवे छे के, जे भाषामां बराबर अडधी मागधी भाषा अने बराबर अडधी बीजी बीजी भाषाओ मिश्रित थएली होय, ते ज भाषा अर्धमागधी शब्दथी संबोधी शकाय. जो आपणे शब्दोनो हिसाब लगावीए तो एम कल्पी शकाय के, जे भाषामां सो शब्दोमां पचास शब्दो तो मागधी भाषाना, अने पचास शब्दो बीजी बीजी भाषाना—प्राकृत, पाली, शौरसेनी अने पैशाची विगेरेना—मिश्रित थएला होय ते ज भाषा 'अर्धमागधी' शब्दनो अर्थ धारण करी शके छे. परंतु एम तो न ज होई शके के, जे (साहित्यनी) भाषामां एकाद रूप मागधी भाषानुं होय अने बीजा बधां रूपो प्राकृत[1] के इतर भाषानां होय तेने अर्धमागधीनुं नाम घटी शके.

आ रीते हुं प्रसिद्ध वैयाकरणोनी साख आपवा उपरांत व्युत्पत्ति उपरथी पण अर्धमागधी शब्दना उपर जणावेला अर्थने ज स्थिर करूं छुं. अने ए ज अर्थने लक्ष्यमां राखी मारे अहीं तपसील चर्चा करवानी छे.

तीर्थंकर भाषित अर्थने गणधरो जे सूत्र रूपमां गुंथे छे ते सूत्रो कई भाषाए निबद्ध होय छे, तेना माटे जैन साहित्यमां नीचे प्रमाणेनो जूनो उल्लेख मळी आवे छेः

"पोराणमद्धमागह—
भासानिययं हवइ सुत्तं ।"

अर्थात् "गणधर प्रथित पुरातन सूत्र, अर्धमागधी भाषामां होय छे." आमां आवेल अर्धमागध शब्दना अर्थने स्फुट करतां निशीथ-चूर्णिकार श्रीजिनदास महत्तरजी जणावे छे के—

"मगदद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं; अहवा अट्ठारसदेसीभासाणियतं अद्धमागधं"

—निशीथचूर्णि, लि. पृ. ३५२.

अर्थात् "मगधदेशनी अडधी भाषामां निबंधाएल ते अर्धमागध; अथवा अढार प्रकारनी देशी भाषामां नियत थएल ते अर्धमागध."

मारा विचार प्रमाणे आर्य श्रीजिनदास महत्तरजीए जणावेल उपरनो अर्थ, में स्थिर करेल अर्थथी जुदो होय एम जणातुं नथी.

तेओ जे अढार प्रकारनी देशी भाषामां नियत सूत्रने अर्धमागधनुं नाम आपे छे, ते संबंधे कांई सविशेष जणावता नथी, एटले माराथी ए जाणी शकातुं नथी के, अहीं तेओए अढार प्रकारमां कई कई देशी भाषाओनी विवक्षा करी छे. तो पण हुं एटलुं तो कल्पी शकुं छुं के, जैन साहित्यनी मुख्य संबंध श्री महावीरनी जन्मभूमि (मगधदेश)नी भाषा साथे होवाथी ते अढार प्रकारनी देशी भाषामां पण मागधी भाषानी प्रधानता होवी ज जोईए. वळी एवी ए पण संभवे छे के, मगधना निकटवर्ती बीजा बीजा प्रांतोनी भाषाओनो पण मागधीने संपर्क थएल होवाने लीधे बीजी बीजी प्रांतिक (देशी) भाषाओथी मिश्रित थवी मागधीने पण ते महपरजीए अर्धमागध कही होय.

आ रीते ...

---

[1] अहीं हुं 'प्राकृत' तथा आगळ आवता 'शौरसेनी' शब्दथी श्रीहेमचंद्र संकलित अष्टम अध्यायगत ते भाषाने लखुं छुं के जे भाषानुं व्याकरण शौरसेनीना प्रकरण पहेलां आवेल छे.

व्याख्याथी पण अहीं जणावेल 'अर्धमागधी' नो अर्थ संवादित थतो जणाय छे.

ए ज प्रकारे महर्षि मार्कंडेय पण पोताना 'प्राकृतसर्वस्व' नामना व्याकरणमां जणावे छे के—

"शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी ।"

—प्राकृत सर्वस्व, पृ. १०३

अर्थात् "मगध देश अने शूरसेन देश पासे पासे होवाने लीधे मगधनी (मागधी) भाषाने शूरसेन देशनी भाषानो (शौरसेनीनो) संपर्क थएल होवाथी मागधी भाषाने ज अर्धमागधी समजवानी छे." शौरसेनी भाषामां प्राकृतनुं अने पालीनुं केटलुंक मिश्रण रहेतुं होवाथी तेना संपर्कवाळी मागधी भाषामां पण ते मिश्रण संभवे छे. एटले मार्कंडेयजीना आ लक्षणथी पण 'मागध्या अर्धम्' वाळी व्युत्पत्तिने जरा पण आंच आवती होय तेम जणातुं नथी.

आटला उपरथी एटलुं ज समजी शकाय छे के, गणधरो द्वारा गुंथाएल अंग-साहित्य तो मूळ अर्धमागधी भाषामां ज हतुं अने ते अर्धमागधी भाषा, बराबर अडधी मागधी अने अर्ध अंशमां बीजी बीजी पाली विगेरे भाषाओथी मिश्रित थएली हती. आ हकिकत उपरनां प्रमाणोथी मारा विचार प्रमाणे निर्विवाद जेवी छे.

हवे हुं हालमां जे जैन आगम-साहित्य विद्यमान छे तेनी मुख्य भाषा कई छे, ते संबंधमां ऊहापोह करवा इच्छुं छुं.

आ प्रश्नने मारे बे दृष्टिए, विचारवानो छे—एक तो विद्यमान अंगसाहित्यनी उत्तरोत्तर थएल स्थितिनी दृष्टिए, अने बीजुं तेमां जणाती भाषानी दृष्टिए.

जे अंग साहित्य अत्यारे विद्यमान छे ते अनेक परिवर्तनो पामतुं - पामतुं कई कई स्थितिओमांथी पसार थई आपणी पासे आवेलुं छे, ते बाबत नीचेनी हकिकत उपरथी जाणी शकाशे.

परम श्रमण श्रीमहावीरनुं वर्तन ज एक महोपदेशकनी गरज सारे तेवुं होवाथी अने तेमना तथा तेमना श्रमणोना आचार एटला बधा निवृत्तिपरायण हता के जेथी आत्म-निष्ठ एवा तेमनामांना कोईने, गुरु तरफथी प्राप्त थएल आत्मज्ञानना संक्षिप्त परंतु गंभीर उपदेशात्मक वाक्य-समूहोने लिपिबद्ध करवानी जरा पण जरूर हती नहीं. एटले तेओ ते उपदेशात्मक वाक्य-समूहोने पोतानी आत्मजागृति माटे जेवाने तेवा कंठस्थ राखता हता. अने ए उपदेशो बहुज टुंका वाक्योमां समाएला होवाथी ते सूत्र एवा नामे प्रसिद्ध थया हता. अने ए ज कारणथी अत्यारे उपलब्ध थता ते सूत्रोना विशाल विस्तारनुं पण सूत्र एवुं ज नाम प्रसिद्ध थई रह्युं छे. अर्थात् जे सूत्र शब्द[1], ते गणधर महाशयोना समये पोतानी ('सूचनात् सूत्रम्' वाळी) खरी व्युत्पत्तिने चरितार्थ करतो हतो, ते ज सूत्र शब्द, अत्यारे पोतानी ते व्युत्पत्तिने कोरे मूकी, जैन संप्रदायनी रूढिने वश थई, प्रमाणमां लाखो श्लोको जेटला गणाता (?) ग्रंथोने पण पोताना भावमां समाववा लाग्यो छे

कहेवानी जरूर नथी के, ज्यां सुधी गणधरोने अनन्तर शिष्य एवा स्थविर महाशयोए ते संक्षिप्त सूत्रोने कण्ठस्थ राख्यां हतां त्यां सुधी तो तेनी अर्धमागधी जरा पण परिवर्तन नहीं पामी होय. पण ज्यारे ते सूत्रो शिष्य परंपरामां प्रचार पाम्या हशे अने ते शिष्यपरंपरा भिन्न भिन्न देशोमां विहार करती हशे, त्यारे संभव छे के जरूर ते सूत्रोनी मूळ भाषा—अर्धमागधी भाषा—भिन्न भिन्न देशना संसर्गने लीधे, स्मृतिभ्रंशने लीधे अने उच्चारभेदने लीधे परिवर्तन पामवा लागी होय.

वधारे आगळ न जतां परम श्रमण महावीरना बीजा सैकानी ज वात तरफ लक्ष्य करतां जणाय छे के—"ज्यारे आर्य श्रीस्थूलभद्र विद्यमान हता त्यारे देशमां (मगधमां ?) एक साथे उपराउपरी

1 जुओ [illegible].

२. जुओ- परिशिष्टपर्व- (अष्टम सर्ग, श्लो. १९३ तथा नवम सर्ग, श्लो. ५५-५८)

महाभीषण बार दुकाळी पडी हती. ते समये साधुओनो संघ पोताना निर्वाह माटे समुद्र कांठाना प्रदेशमां रहेवा गयो हतो. त्यां साधुओ निर्वाहनी पीडाने लीधे कंठस्थ रहेल श्रुतने गणी सकता न हता, अने तेथी ते श्रुत विसरावा लाग्युं. आ रीते अन्नना दुकाळनी असर पवित्र श्रुत उपर पण एक सरखी पडवाथी एक दुकाळ्यानी जेवा ज ते श्रुतना पण हाल हवाल थया. ज्यारे ते भीषण दुकाळ मटी सुकाळ थयो त्यारे पाटलीपुत्रमां (पटणामां) श्रीसंघ भेगो मळ्यो अने जे जेने याद हतुं ते बधुं एकठुं कराय्युं. आ रीते मांड मांड अगिआर अंगो संधायां. पण दृष्टिवाद नामनुं बारमुं अंग तो समूळगुं नाश पाम्या जेवुं ज थई गयुं हतुं. कारण के, ते समये आर्य भद्रबाहु एकला ज दृष्टिवादना अभ्यासी हता." आ उपरथी जाणी शकाय छे के, श्रीवीरना बीजा सैकाथी ज श्रुतनी छिन्न भिन्नता—श्रुतनी भाषामां अने भावोमां परिवर्तन,—न्यूनाधिकता—नी शरुआत थवा लागी. आपणा कमभाग्ये आ शरुआत एटलेथी ज अटकी नहीं, पण उत्तरोत्तर विशेष विशेष वधती गई, एटले के ते दुकाळी उतर्या पछी आगळ आवतां लगभग त्रणसें चारसें वर्षे—वीर निर्वाणथी पाचमां छठ्ठा सैकामां—आर्य श्रीस्कंदिल अने वज्रस्वामिनी निकटना समयमां तेवी ज एक बीजी भीषण बार दुकाळी आ देशे पार करी हती. ते हकिकतनुं वर्णन आपतां जणाववामां आवे छे के—" बार वर्षनो भयंकर दुकाळ पड्ये साधुओ अन्नने माटे जुदे जुदे स्थळे हिंडता होवाथी श्रुतनुं ग्रहण, गुणन अने चिंतन न करी शक्या. एथी ते श्रुत विप्रनष्ट थयुं, अने ज्यारे फरी बार सुकाळ थयो त्यारे मथुरामां श्रीस्कंदिलाचार्य प्रमुख संघे मोटो साधुसमुदाय भेगो करी जे जेने सांभर्युं ते बधुं कालिकश्रुत संघटित कर्युं." आ दुकाळे तो मांड मांड बची रहेल ते श्रुतनी घणी विशेष हानी करी. आ उद्धार शूरसेन देशना पाटनगर मथुरामां थएल होवाथी ते श्रुतमां शौरसेनी भाषानुं घणुं मिश्रण थवा साथे तेमां जुदां जुदां अनेक पाठांतरो पण वधवां लाग्यां.

हवे तो खेद साथे जणाववुं पडे छे के, ते विषम दुःखनो प्रसंग वीत्या पछी पण प्रकृति देवीनी अकृपाथी पाछी तेवी ज बार दुकाळीए श्रीवीरात् १० मा सैकामां देश उपर पोतानो पंजो चलाव्यो अने ते वखते तो घणा बहुश्रुतोनुं अवसान थवा साथे जे जीर्ण शीर्ण श्रुत रहेलुं हतुं ते पण बहु ज छिन्न भिन्न थई गयुं. आ थी ते समयना अंग साहित्यनी स्थिति साथे श्रीवीरना समयना अंग साहित्यनी तुलना करनारने, बे ओरमान भाई वच्चे जेटलुं अंतर होय तेटलुं अंतर, ते बे वच्चे लागे ए सर्वथा संघटितकल्प छे. ए विषम समयनी स्थिति दर्शावतां जणाववामां आवे छे के—

" श्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां + + + भविष्यद्भव्यलोकोपकाराय, श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिता—ऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषमपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः," समयसुन्दरगणीरचितसामाचारीशतके.

१-२. जुओ, श्रीमेरुतुंगसूरिनी विचरश्रेणी.
३. जुओ, नंदिचूर्णि, लि, पृ. ४.
४. कालिकश्रुत माटे जुओ नंदिसूत्र.

१. जुओ-प्रज्ञापना, आर्यदेशविचार.
२. बहु पाठभेदोथी मुंझाता श्रीअभयदेवसूरिजी जणावे छे के-
" अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं
प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।"
प्रश्नव्याकरणवृत्तिप्रारम्भे.
" किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थतः
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत्"
ज्ञाताधर्मकथावृत्तिप्रान्ते.

अर्थात् "श्रीदेवर्धिगणि क्षमश्रमणे, बार दुकाळीने लीधे घणा साधुओनो नाश थये अने अनेक बहुश्रुतोनो विच्छेद थये, श्रुत भक्तिथी प्रेराई भावी प्रजाना (आपणा) उपकार माटे श्रीवीरात् ९८० वर्षे श्री-संघना आग्रहथी ते काळे बचेल साधुओने वलभी-पुरमां बोलावी तेओना मुखथी अवशेष रहेल ओछा-वधता, त्रुटित अने अत्रुटित आगमना पाठोने अनु-क्रमे पोतानी बुद्धिथी सांकळी पुस्तकारूढ कर्या. आवी रीते मूळमां सूत्रो गणधरोनां गुंथेला होवा छतां देवर्धिगणिए तेनुं पुनः संकलन करेलुं होवाथी ते बधा आगमोना कर्ता श्रीदेवर्धिगणि क्षमाश्रमण ज कहेवाय छे."

उपरनी हकिकतथी समजी शकाशे के गण-धरोए गुंथेल सूत्रो (अंगो) उपर केवा केवा युगो पसर्या छे. जे साहित्य उपर कुदरत तरफथी ज आवो भीषण प्रकोप थाय ते साहित्य, परंपरामां एक सरखुं ज उतरी आवे, ए वात मारी कल्पनामां तो बंध बेसती नथी आवती. किंतु जे अंगसाहित्य अ-त्यारे विद्यमान छे ते दुकाळोना भीषण प्रहारोने लीधे काळ, रूढि, स्पर्धा अने स्वाच्छंद्यनां असह्य जखमोथी जखमाएल स्थितिमां आपणी पासे हयाती धरावे छे.

आ रीते अंग साहित्यनी उत्तरोत्तर थएल स्थि-तिना निरीक्षणथी आपणे समजी शकीए छीए के विद्यमान अंग साहित्य ते गणधरकृत अंगसाहित्यनी परिवर्तित प्रतिच्छाया छे. अने ए अनुमान कर-वाने उपरनां प्रमाणो पूरतां जणाय छे. ज्यारे अंग-साहित्यना मूळ भावोमां पण न्यूनाधिकता थवा लागी, त्यारे तेमां योजाएल विचारी भाषा शी रीते स्थिर रही शके? एटले आ विद्यमान अंग साहि-त्यमां "मागध्या अर्ध"नी दृष्टिए अर्धमागधी भाषा पण टकी शकी नथी, तो पछी तेमां मागधी भाषानो प्रयोग तो शी रीते रही शके!

जो के वृद्धवाद अने सांप्रदायिक परंपरा तो आ अंगोमां पण मागधी वा अर्धमागधी भाषा प्रयोजायानुं सूचवे छे, परंतु आपणे भाषादृष्टिए अं-गोमां योजाएल भाषानुं परीक्षण करी ते प्रवादनी समूलता वा निर्मूलता जाणी लेवी जरूरनी छे. आ विषयने चर्चतां पहेलां मारे ज्ञान सौकर्यने खा-तर मागधी भाषानुं पूरेपूरुं शब्दशरीर प्रथम अहीं देखाडवुं जोईए, जे द्वारा मागधी भाषाना शब्द शरीर साथे अंगसाहित्यना शब्दपिंडने सरखाववाथी उपरना प्रवादनी तथ्यता आपोआप जणाई आवे.

मागधी भाषानी प्रक्रियानो घणो भाग प्राकृत भाषानी प्रक्रियाने मळतो छे, एटले हुं ते मळता भागनो उलेख नहीं करतां अहीं तेना केटलाक अपवादोनो ज एक कोठो आपीश; अने साथे ते कोठामां प्राकृत भाषानां अने अंग साहित्यनां रूपो पण आपीश के जेथी ते अंग साहित्यनां रूपोनुं माग-धीनां कयां कयां रूपो साथे विशेष साम्य छे ते शीघ्र तारवी शकाशे अने ते तारवणी उपरथी ज अंग साहित्यनी भाषानो निर्णय थवा साथे उपरना पारंपरिक प्रवादनुं प्रामाण्य पण प्रत्यक्ष थई जशे.

तुलनानी दृष्टिए रूपोनुं कोष्टक आ प्रमाणे छे.

	संस्कृत.	प्राकृत.	मागधी.	अंगसाहित्य.
१	भीमः	भीमो	भीमे	भीमे, भीमो
	भीमात्	भीमाओ	भीमादो भीमादु	भीमाओ
	भीमस्य	भीमस्स	भीमास भीमाह	भीमस्स
	भीमानाम्	भीमाणं	भीमाणं भीमाहं	भीमाणं
	अहम्	अहं	हगे	अहं
	वयम्	अम्हे	हगे	अम्हे
	कञ्चुकिन्!	कंचुइ!	कंचुइआ! कंचुइ!	०
	राजन्!	राया!	लायं!	०

भगवन्!	भगवन्तो! भगवन्त!	भयवं!	०
भवान्	भवंतो	भवं	०
भगवान्	भगवंतो	भगवं	भगवं / भयवं
ति, ते	इ, ए	दि, दे	ति, ते. इ. ए.
२ पुरुष	पुरिस	पुलिश	पुरिस
समशरीर	समसरीर	शमशलील	समसरीर
काष्ठ	कट्ठ	कस्ट	कट्ठ
हस्त	हत्थ	हस्त	हत्थ
पट्टन	पट्टण	पस्टण	पट्टण
सुष्ठु	सुट्ठु	शुस्टु	सुट्ठु
उपस्थित	उवट्ठिअ	उवस्तिद	उवट्ठिअ-त
अर्थ	अत्थ	अस्त	अत्थ—ट्ठ
जनपद	जणवय	यणवद	जणवय
अद्य	अज्ज	अय्य	अज्ज
यथा	जहा	यधा	जहा
अन्य	अन्न	अञ्ञ	अन्न-ण्ण
पुण्य	पुण्ण	पुञ्ञ	पुण्ण—न्न
प्रज्ञा	पण्णा	पञ्ञा	पण्णा
सर्वज्ञ	सव्वण्णु	सव्वञ्ञु	सव्वण्णु
अञ्जलि	अंजलि / अञ्जलि	अञ्ञलि	अंजलि
व्रजति	वचइ	वञ्चदि	वच्चइ
गच्छामि	गच्छामि	गश्चामि	गच्छामि
मोक्ष	मोक्ख	मोᳵक	मोक्ख
यक्ष	जक्ख	यᳵक	जक्ख
संप्रेक्षते	संपेच्छइ	शंपस्केदि	संपेहइ
तिष्ठति	चिट्ठइ	चिष्ठदि	चिट्ठइ
श्रुत	सुअ	सुद	सुअ
अन्तःपुर	अन्तेउर	उन्देउर	अन्तउर
तावत्	ताव	दाव	ताव
पर्यव	पज्जव	पय्यव / पज्जव	पज्जव

नाथ	नाह	नाध / नाह	नाह
इह	इह	इध	इह
गच्छत	गच्छह	गश्चध / गश्चह	गच्छह
भवइ	भवइ	भोदि / होदि	भवइ—ति
पूर्व	पुव्व	पूरव	पुव्व
कृत्वा	काऊण / कारिऊण / करिअ	करिय / करिदूण / कडुअ	करित्ता
गत्वा	गमिऊण / गमिअ	गमिय / गमिदूण / गडुअ	गमित्ता / गच्छित्ता
गमिष्यति	गच्छिहिइ	गच्छिस्सिदि	गच्छिहिइ
इदानीम्	एण्हिं / एत्ताहे / इआणिं / दाणिं	दाणिं	इआणिं / इयाणिं
तस्मात्	तम्हा	ता	तम्हा

उपरना कोष्टकमां ज्यां में १ नो अंक मूक्यो छे ते कोष्टक विभक्तिना विकारने लगतुं छे, अने ज्यां में २ नो अंक मूक्यो छे ते कोष्टक व्यंजनना विकारने सूचवे छे. उपरना कोष्टकमां बताव्या सिवायनी मागधीनी बीजी बधी प्रक्रिया प्राकृतनी जेवी ज छे जो के, उपरना कोष्टकथी अंग साहित्यनां रूपो. मागधी भाषानां रूपो साथे केटलुं साम्य छे, ते स्पष्ट जाणी शकाय तेम छे; तो पण मारे जणाववुं जोईए के, आटलां बधां मागधी भाषानां रूपो साथे अंग साहित्यनां मात्र एकाद बे ज रूपो साम्य धरावे छे—विभक्तिना विकारमां आवेल 'भीमे' अने 'भगवं' (बन्ने, प्रथमानां एक वचन

[1] आ कोष्टकनी वधु समजुती माटे जुओ हेमचं. अष्टम अध्याय.

छे) ए बे रूपनुं ज मागधी रूपो साथे साम्य जणाय छे. परंतु व्यंजन विकारमां तो एक पण रूप एवुं नथी जणातुं के जेनुं मागधीनां ते रूपो साथे साम्य होय.

आवी वस्तु स्थितिना लीधे सहज प्रश्न थाय छे के, जे अंग साहित्यनां रूपोमां मात्र बे ज रूपो मागधी जेवां होय अने बीजां बधां रूपो प्राकृत जेवां होय तो, शुं ते साहित्यनी भाषा मागधी गणाशे के प्राकृत ? आ प्रश्नने जे उत्तर आवे छे ते ज उत्तर 'अत्यारना अंगसाहित्यनी भाषा कई ?' ए प्रश्नने लागु पडे छे.

समस्त अंगसाहित्यनी भाषामां मळी आवता मात्र मागधी भाषाना रूप द्वितयने ज आश्रीने ते भाषाने मागधी के अर्ध–मागधी कहेवानुं साहस कोई पण साक्षर करे ए संभवतुं नथी. आम होवा छतां प्राचीन प्रवादने मान आपवा खातर आचार्य हेमचंद्रजीए अने वृत्तिकार अभयदेवसूरिजीए मात्र दोढ पंक्ति द्वारा पुलिंगी प्रथमाना एकारान्त प्रत्ययवाळा रूपने आश्रीने विद्यमान अंगसाहित्यनी भाषानी अर्धमागधीमयता होवानुं जे जणाव्युं छे ते इतिहाससूलक छे, के श्रद्धामूलक छे ? ते वाचको पोते ज विचारी शकशे.

उपरना हेतुओथी हुं तो आ अनुमान उपर आव्यो छुं के, गणधर महाशयोना समयनुं अंग साहित्य, ज्यां सुधी कोई जातना परिवर्तनने पाम्युं न हतुं त्यां सुधी तेनुं अर्धमागधीत्व स्वीकारी शकाय, पण ज्यारे तेने पूर्वोक्त अनेक विषम कारणोथी परिवर्तननी स्थितिमां वारंवार आववुं पड्युं त्यारे तेनां भाव अने भाषा ए बन्नेने लोकानुसारी थवानी जाणे फरज न पडी होय तेम बदलवा लाग्यां, अने आस्ते आस्ते तेनी समूळगी अर्धमागधी भाषा खसी गई तेनुं स्थान केटलाक समय सुधी मागधी मिश्रित शौरसेनीए लीधुं. अने पछी छेवटे वलभीपुरमां थएल उद्धारने वखते तो ते शौरसेनी पण अन्तर्हित थई अने तेने स्थाने सौराष्ट्रना प्रभावे श्रीहेमाचार्यजीना आठमा अध्यायमां प्रयोजाएल प्राकृत भाषानो प्रयोग थयो. आम छतां तेनी प्राकृत भाषानी प्राचीनता कांई समूळगी विणसी नथी, एटले विद्यमान अंगोमां पण केटलांक प्राचीन रूपो (आर्ष रूपो) रहेलां छे, पण ते मागधीनां तो नहीं ज. एथी विद्यमान अंग साहित्यने अर्धमागधीमय अंग साहित्यथी जुदुं मानवा साथे तेनी भाषाने पण आर्ष प्राकृत मिश्रित सौराष्ट्री प्राकृत कहेतां जरा पण अप्रामाण्यनो भय रहे तो होय, एवुं उपरना हेतुओथी जणातुं नथी.

छेवटे आ संबंधे विशेष विचार करी विद्वानो पोत पोतानो विशिष्ट अभिप्राय प्रकट करशे तो हुं मारा विचारोनी पुनः सत्यासत्यतानी कसोटी करी शकीश.*

"हरिभद्रसूरिनो समयनिर्णय."

[ले०—श्रीयुत हीरालाल अमृतलाल शाह, बी. ए.]

१) मुनिश्री जिनविजयजी महाराजे हरिभद्रसूरिना समयनिर्णयना संबंधमां बहुपरिश्रमपूर्वक घणा प्रमाणो एकत्र करी जे ऊहापोह कर्यो छे अने तेना परिणाम रूपे जे समय तेमणे नक्की कर्यो छे ते संबंधमां स्फुरी आवता मारा केटलाक विचारो हुं अहीं रजु करूं छुं.

आ विषयमां विशेष आधारभूत सबळ प्रमाण महाराजश्रीने दाक्षिण्यचिन्ह उर्फे उद्योतनसूरिनी कुवलयमाळा कथामांथी मळी आव्युं छे. ए कथामां, प्रस्तावनामां समरादित्य चरित्रनी प्रशंसा करतां "भवविरह" शब्दना प्रयोगथी हरिभद्रसूरिनो निर्देश करवामां आव्यो छे. तेमज प्रशस्तिमां हरिभद्रसूरिने पोताना अध्यापकगुरु तरीके जणाव्या छे.

---

* आ निबंध में पूनामां मळेल प्रथम प्राच्यविद्यासंशोधक परिषद् माटे तैयार कर्यो हतो.—लेखक.

कुवलयमाळानी रचना शक संवत् ७०० मां थई. एटले ते उपरथी शक संवत् ७००—विक्रम संवत् ८३५—ई. स. ७७८ नो समय हरिभद्रसूरिनो निर्णीत थाय छे.

२) ए कथाकर्ता दाक्षिण्यचिन्ह संबंधी हकिकत प्रभावकचरित्रमां (जुओ, निर्णयसागर प्रेसनी आवृत्ति, पृ० २०१—२, श्लोको ८८–९७) मळी आवे छे. त्या तेमनो अने सिद्धर्षिनो परस्पर संवाद मूकेलो छे अने साथे सिद्धर्षिना गुरुभाई तरीके तेमने जणाव्या छे. आ वात जो सत्य होय तो सिद्धर्षिनो समय पण शक संवत् ७००—ई० स० ७७८ विक्रम संवत् ८३५ लगभग आवे. एक बीजी हकिकत (तेमां केटलुं वजुद छे ते तो कहेवाय नहीं) पण ध्यान देवा जेवी छे. जैन श्वेताम्बर कोन्फरन्स हेरल्ड नामना मासिकना सने १९१५ ना जुलाई—अक्टोबरना अंकमां, पृ०, ३५१ उपर एक तपागच्छनी पट्टावली आपेली छे. ए पट्टावलीमां सिद्धर्षिने हरिभद्रसूरिना भाणेज तरीके लखेला छे. आ हकिकत अन्यत्र जोवामां आवती नथी. आना उपरथी हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि अने सिद्धर्षि त्रणे समकालीन ठरे तेवी सूचना मळी आवे छे.

३) सिद्धर्षिए हरिभद्रसूरिनो अनेक प्रकारे निर्देश कर्यो छे. एटले तेमनो समय हरिभद्रसूरिना समयनी साथे ज तपासवो पडे छे. उपर जणावेल हेरल्ड मासिकना अंकमां डॉ. जेकोबी तथा श्रीयुत मोतीचंद गिरधर कापडिआ वच्चे, सिद्धर्षिना समयना संबंधमां चालेलो पत्रव्यवहार छपाएलो छे. तेमां सिद्धर्षिनी तारीख बाबत घणीक चर्चा चर्चाणी छे. सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि माघने प्रभाचन्द्रसूरि (प्रभावकचरित्रमां) सिद्धर्षिना काकाना दीकरा तरीके लखे छे. डॉ. जेकोबीना जणाव्या प्रमाणे (हेरल्ड, पत्रव्यवहार, पृ०२४४) माघकविना श्लोकोनो उपयोग लगभग ई. स. ८०० मां थएला वामनाचार्ये, तथा ई. स. ८५० मां थएला आनंदवर्धने करेलो छे, माटे माघकवि अने साथेसाथे सिद्धर्षि पण ई. स. ८०० पहेलां विद्यमान होवा जोईए. [अत्रे जणाववानी जरूर छे के माघ कविनो समय तपासवामां प्रो. मेकडोनले ए मोटी भूल करेली छे के तेमणे वामनाचार्य तथा आनन्दवर्धन संबंधी हकिकत बिल्कुल ध्यानमां लीधीज नथी.]

उपमिति०नी प्रस्तावनामां डॉ. जेकोबीए बीजी हकिकतो साथे प्रभावकचरित्रमां जणाव्या मुजब माघ अने सिद्धर्षिना कौटुम्बिक संबंधनुं टेबल आपेलुं छे जे नीचे मुजब छे:—

सुप्रभदेव (वर्मलाट राजानो अमात्य)
- दत्त
  - माघ
- शुभंकर
  - सिद्ध

माघ कवि दत्तकना पुत्र अने सुप्रभदेवना पौत्र हता, एम तेमणे जाते शिशुपालवधमां लखेलुं छे. राजा वर्मलाट वसन्तगढना लेखमां जणाव्या मुजब सं० ६८२ मां राज्य करतो हतो. आटली हकिकत जाण्या पछी एटलुं तो चोकस मानवुं जोईए के सुप्रभदेव अने माघ वच्चे ओछामां ओछुं पचास वर्षनुं अन्तर होवुं जोईए. अर्थात् माघ कविनुं बालपण संवत् ७३२ लगभग आवे छे, अने तेज समय सिद्धर्षिनो पण गणी शकाय. आ संवत् ७३२ ते ई स०६७५ नी बराबर थाय छे. [वसन्तगढ वाळो लेख जे संवत् आपे छे ते विक्रम संवत् छे के अन्य कोई संवत् छे, ते चोकस थवानी जरूर छे.]

४) उपरना बीजा अने त्रीजा फकरामां आपेली हकिकत चरित्र उपरथी लीधी छे. तेमां दंतकथा होय ते ना कबुल करी शकाय नहीं. परंतु तेनी तारवणी करतां जो तेमां सत्यांश मळी आवे तो, ते निर्मूल तो नहीं ज गणी शकाय. हरिभद्रसूरिनुं स्वर्गगमन सूचवनारी प्रसिद्ध गाथामां जे ५८५ मुं वर्ष आप्युं छे ते विक्रम संवत्नुं तो लई शकाय ज नहीं. कारण के हरिभद्र-

सूरि उद्योतनसूरि (शक वर्ष ७००) ना समकालीन हता, तेमज सिद्धर्षि पण प्रभावकचरित्रमां जणाव्या प्रमाणे माघ कवि (ई. स. ८०० पहेलां) अने उद्योतनसूरि (शक. सं. ७००) ना समकालीन हता, तेथी तेमणे आपेलुं ९६२ नुं वर्ष पण विक्रम संवत्नुं वर्ष न मानी शकाय. भर्तृहरि अने कुमारिल भट्टनां अवतरणो हरिभद्रसूरिना ग्रंथोमां मळे छे, तेथी पण महाराजश्री जिनविजयजी कहे छे तेम, ई. स. ७०० पूर्वे तो तेमनो समय मूकाय ज नहीं; अर्थात् आ रीते पण ५८५ मुं वर्ष ते विक्रमनुं तो न ज संभवी शके.

५) हरिभद्रसूरिना संबंधना अन्य उल्लेखो तपासीए. हेरल्डमानां उक्त पत्रव्यवहारना पृष्ट २५० मां मुनिसुन्दरसूरिए मानतुङ्गने बाणभट्टना समकालीन तरीके जणाव्यानी हकिकत छे. त्यां ज मानदेवसूरिने हरिभद्रना मित्रतरीके लख्यानो पण उल्लेख छे. मानतुङ्गसूरि, महावीरनी पट्टपरंपरामां वीसमा नंबरे छे अने मानदेवसूरि अठ्ठावीसमा नंबरे छे. (जुओ, तेज हेरल्डमांनी पट्टावली, पृ. ३४७–३५०) बाणभट्ट राजा हर्षनो समकालीन होवाथी तेनो समय ई. स. ६२९–६४५ लेखाय छे. हवे वीसथी अठ्ठावीसमां सूरि सुधीना वर्षोनो जो पत्तो लागे तो हरिभद्रसूरिना समयनो निर्णय, आ रीते पण, करी शकाय. आ उपरथी एटलुं तो स्पष्ट थाय छे के हरिभद्रसूरि ई. स. ६२९–६४५ पहेलां एटले विक्रम संवत् ६८९–७०२ पहेलां न ज होई शके. कारणके ए समय तो मानतुङ्ग सूरिनी विद्यमानतानो छे, जे हरिभद्रना मित्र मानदेवथी आठ पेढी पहेलां थई गया हता. [डॉ. जेकोबीथी आ स्थाने भूल थई गई छे (हेरल्ड, पत्रव्यवहार, पाने, २५०.); बाणभट्टनो समय गणवामां ई. स. ६२९–६४५ ना गाळामां ५७. वर्ष उमेरीने विक्रम संवत् तारववो जोईए तेने बदले भूलथी तेमणे उलटां ५७ वर्ष बाद कर्यां छे !] आ हकिकतथी पण हरिभद्रसूरिनुं ५८५ मुं वर्ष ते विक्रम संवत्नुं तो न ज होई शके, ते बाबत वाचक वर्ग सहज समजी शकशे.

आ स्थाने पट्टावलिओनी वधु मदद आपणे लई शकीए तेम नथी. कारण के तेनो परस्पर क्रम घणो ज गुंचवणीभरेलो होई, संवत्सरनी गणतरी नियमविनानी अने भूल उपर भूलोथी मिश्रित थएली छे. अने तेथी ते निरुपयोगी ठरे छे. हरिभद्रसूरिना स्वर्गवासना ५८५ मा वर्षने विक्रम संवत् तरीके मानी लई तेमां ४७० वर्ष उमेरीने तेने वीर संवत् १०५५ मुं नक्की कर्युं ए प्रथम भूल थई ! बीजे ठेकाणे—पट्टावलिमां मूळ भूल एक भूल तरीके न रहेतां बन्ने—५८५ विक्रम संवत् अने १०५५ ने वीर संवत्—मूळ वस्तु तरीके मूकायां !! भूलनुं मूळ भुंसाई गयुं.

६) आप्रमाणे एक अगर बीजा ग्रंथकारनी साक्षी जोई, जे हकिकत मळी ते भेगी तपासीने अनुमानो कर्यां. हवे संवत्सरनी गणतरी शी साक्षी पूरे छे ते तपासीए. मूळ गाथामां ५८५ मुं वर्ष कया संवतनुं छे ते जणावेलुं नथी. जिनविजयजी महाराजे बाधक प्रमाणो रजु करी स्पष्ट जणाव्युं छे के ५८५ ने विक्रम संवत् तरीके तो न ज लई शकाय. गुप्त संवत् लेतां तेमने उद्योतनसूरीनां वर्ष (७०० शक) नो मेळ नथी मळ्यो. कारण के तेमणे गुप्त संवत्नी शरुआत, अत्यारे भूलथी जे रीते गणाय छे तेम, शक वर्ष २४१ मां गणी छे. अने तेने लीधे ५८५ गुप्त वर्ष; तेमने शक ८२६ (५८५+२४१=८२६) नी बराबर लाग्युं, तेथी तेमणे गाथाने निर्मूळ ठरावी छे.

वस्तुतः तेम करी शकाय नहीं. ५८५ वर्ष कोई पण संवत्सरनां तो खरां ज. अने मारा नम्र मत मुजब ते गुप्त वर्ष ज छे. परंतु गुप्तवर्षनी जे गणना सामान्यतः अत्यारे गणाय छे, अने महाराजश्रीए पण तेज प्रकारे गणी छे, ते गणना यथार्थ नथी. गुप्त संवत्, जिनसेन आचार्ये पोताना हरिवंशपुराणमां,

गाथाओ उपरथी आपेला सरवाळा मुजब वीरात् ७२७ मां शरु थएलो समजाय छे. वीरात् ६०५ वर्षे अने ई. स. ७८ वर्षे शक वर्षनी शरुआत थाय छे. आ हिसाबे वीरनिर्वाणनो समय ई. स. पूर्वे ५२७ मां नक्की थाय छे. अने ते मुजब गुप्त संवत् वीरात् ७२७ = ई. स. २०० = शक १२२ = विक्रम संवत् २५७ मां शरु थवो जोईए. आ गणतरी अनुसार हरिभद्रना स्वर्गवासना गाथोक्त ५८५ मा संवत्सरने गुप्त संवत् तरीके लेतां, ५८५ मां १२२वर्ष उमेरीए तो शक वर्ष ७०७ (५८५+१२२=७०७) थाय छे. एटले आ रीते उद्योतनसूरिए जणावेली हकिकत अने गाथा ऊपरथी मळती हकिकतनो विरोध निर्मूळ थई जाय छे. शक वर्ष २४१ मां (अल्बेरुनीना लेखानुसार) जे संवत्सरनी शरुआत मनाय छे ते गुप्त संवत् नथी परंतु गुप्त—वलभी संवत्, अर्थात् वलभी संवत् छे. आ बाबतनुं विशेष स्पष्टीकरण में मारा गुप्त संवत् परना लेखमां करेलुं छे. गुप्त संवत् माटे वाचकवर्ग आगळ एक उदाहरण रजु करीश. डॉ. जेकोबीए (हेरल्ड, पत्रव्यवहार पृ. २५० मां) मुनिसुंदरसूरिनी गुर्वावली परथी उल्लेख कर्यो छे के महावीरनी पट्टपरंपरामा एकत्रीशमा आचार्य रविप्रभसूरि विक्रम संवत् ७०० मां थया. हेरल्डना तेज अंकमां जे पट्टावली मुद्रित छे तेमां (पृ. ३५४ उपर) तेज सूरिने त्रीशमा गण्या छे. (आटली भूल तो माफ करी शकाय.) अने कह्युं छे के तेमणे नाड्डुल नगरमां सं० ९५२ मां श्री नेमिबिम्बनी प्रतिष्ठा करी हती. " विक्रम संवत् " ७०० अने " सं. " ९५२ मा परस्पर विरोध छे ते सहज जणाई आवे छे. परंतु ते ज संवत्ने आ नवी गणतरी प्रमाणेनो गुप्त संवत् मानीए अने तेमां २५७ वर्ष उमेरीए तो विक्रम संवत् ९५७ मळी आवे छे. अने आ रीते आ बन्ने लेखोनो परस्पर विरोध टळी जाय छे.

७) गुप्त संवत् ने बदले भूलथी ५८५ ने वलभी संवत् गणीए तो तेनी बराबर (५८५ मां ३७६ वर्ष उमेरतां) विक्रम संवत् ९६१ आवे. आ साल सिद्धर्षि महाराजे पोतानी कथानी प्रशस्तिमां जे ९६२ नी साल आपेली छे तेने मळती आवे छे. परंतु प्रश्न ए थाय छे के आवी भूल तेमना समयमां थवानो संभव खरो? अने सिद्धर्षि महाराजे पोते तेवी भूल करी होय तेम मनाय खरूं? आ बाबतमां कांई कही शकाय तेम नथी. परंतु अत्रे उपमिति० पर डॉ. जेकोबीए लखेली प्रस्तावना तथा तेना परिशिष्टोना अंते डॉ. एन. मीरोनोए आपेला श्लोकनुं स्मरण अस्थाने नहीं गणाय. श्रीचंद्रकेवलिचरित्रमां, सं. ५९८ मां सिद्धर्षिए आ ग्रंथ रच्यो हतो, एम लखेलुं छे. आ ५९८ ने वर्तमान गणतरीए गणाता गुप्त संवत् तरीके लेतां ए पूर्वोक्त ५८५ गुप्त संवत्नी नजीक आवी जाय छे. जो आथी सिद्धर्षिनी तारीख निर्णीत थती होय तो काळक्रम आ रीते आवे छे—

गुप्त संवत् ५७८ दाक्षिण्यचिन्हे 'कुवलयमाला' रची.

" " ५८५ हरिभद्रसूरिनुं स्वर्गगमन.

" " ५८६ (भूलथी वलभी संवत् गणाईने ते परथी लखाएल विक्रम संवत् ९६२ मां) सिद्धर्षिए उपमिति भवप्रपंचा कथा रची.

" " ५९८ सिद्धर्षिए श्रीचन्द्रकेवलिचरित्र रच्युं.

अत्रे फरी याद देवानी जरूर छे के अहीं आपेलो गुप्त संवत् ५८५ ते ई. स. ७८५=विक्रम संवत् ९६१=शक संवत् ७०७ बराबर समजवो, हुं आ प्रमाणे कालगणना नोंधुं छुं. ते उपरथी जे निर्णय परिणामे सर्वमान्य थाय ते खरो. बाकी ज्योतिषनी गणतरीए गुप्त संवत् ५८५—५८७ मां, एटले ई. स. ७८५—७८७ मां नक्षत्र विगेरेनी हकिकत जे सिद्धर्षि महाराजे मूकी छे ते जो बराबर मळी रहे, तो भूल थएली छे तेम निश्चित मानी शकाय.

ज्योतिषनी गणतरी करी डॉ. जेकोबी ते बाबतनो निर्णय घणी सहेलाईथी करी शके तेम छे. साथे साथे एनी पण तपास थवी जोईए के नक्षत्रनो जे योग सिद्धर्षिजीए लख्यो छे ते फरी फरीने क्यारे आवे छे.

८) हवे सिद्धर्षिना हरिभद्रसूरि परत्वेना उल्लेखो तपासीए. 'अनागतं परिज्ञाय' पदनो अर्थ डॉ. जेकोबीए साक्षात् गुरु तरीके लीधो छे. अन्य सर्व ते पदनो अर्थ परोक्ष गुरु तरीके ले छे. परोक्ष गुरु तरीके लेतां एवी कल्पना थाय छे के हरिभद्रसूरिए विशिष्टज्ञानथी भावी जन्मनारा सिद्धर्षिने जाणीने "ललितविस्तरा" लखी. आ अर्थ डॉ. जेकोबीने अत्यंत असंगत लागे छे. मारा नम्र मत मुजब "अनगतं परिज्ञाय" पद सिद्धर्षिना अस्तित्व परत्वे न लेतां तेमना मानसिक परिवर्तनो परत्वे (Knowing his psychological development) समजीए तो क्लिष्टता दूर थाय छे. सिद्धर्षि महाराजनुं वलण शुं छे, ते समजी रहेल गुरुने तेमनुं भावी वलण अने देशकाल समजवां मुश्केल नथी; अने तेथी जाणे आगमचेतीपूर्वक तेमणे ते "ललित विस्तरा"नी रचना करी के जे सिद्धर्षिने परम उपकारक थई पडी.

उपमिति० ना आद्य प्रस्तावमां धर्मबोधकर गुरुनुं वर्णन आपेलुं छे. त्यां सदुपदेश आपवावाळा पूर्वसूरिओने विशिष्ट ज्ञानवाळा तथा भविष्य पारखनारा कह्या छे. कारण के तेमना उपदेशो (अगर उपदेशक ग्रंथो) भविष्यमां सर्व प्राणीने उपकारक रहे छे. एटले साक्षात् गुरु न होवा छतां साक्षात् गुरु अने परोक्ष गुरु वच्चे रहेतुं कालव्यवधान निकळी जाय छे. हरिभद्रसूरि विद्यमान न होय त्यारे आवा परोक्ष गुरुनी कक्षामां ते आवे तेमां नवाई नथी. प्रशस्तिमां "धर्मबोधकर गुरु"नो साक्षात्पणानो अर्थ लेवामां पण तेथी हानी नथी आवती. प्रशस्तिनो हेतु ग्रंथकारनो यत्किंचित् परिचय देवानो होईने तेमां वर्णवेल धर्मबोधकर गुरु साक्षात् गुरु तरीके ज लेवा जोईए. पोताना गुरुनी विशिष्टता माटे अगर विशेष ओळखाण माटे गुरुपरंपरानो निर्देश भले आवे पण तेनुं मूळ तो साक्षात्प्रसंगमा ज रहे. साक्षात्प्रसंग विनानो निर्देश प्रशस्तिमां तो, मारा नम्र मत मुजब, अस्थाने ज गणाय. दाक्षिण्य चिन्हनी प्रशस्ति जोईशुं तो आ हकिकत सारी रीते स्पष्ट थशे. उपमिति० नी रचना वखते हरिभद्रसूरि विद्यमान न होय तेथी "भावतः" शब्दना प्रयोग पूर्वक ("प्रस्तावे भावतो हन्त") अन्यत्र निर्देश पण साक्षात् प्रसंगने बाधक न रहे.

वळी पूर्वसूरिओ अने तेमनी कृतिओ सामान्य रीते सर्वने सदुपदेशकारक थई पडे, तो पछी सामान्य वर्गनो व्यवच्छेद करी पोताने माटे ज "ललित विस्तरा"नो बधो प्रयास कल्पवानुं लांबे काळे तो प्रयोजन ज नथी रहेतुं, कारण के लेखक पोते सर्वनी साथे उपकृतवर्गमां तो आवी ज जाय छे.

९) संवत्सर तथा जुदी जुदी कथाओपरथी हरिभद्रसूरि अने सिद्धर्षि माटेनी हकिकतो वाचकवर्ग आगळ विशेष चर्चा माटे रजू करी छे. कुवलयमाला तथा उपमिति० नी अन्य प्रतिओमां ते मुजब ज उल्लेखो छे के फेरफार छे ते तपासवानी जरूर छे. तेम छतां अने ज्योतिषनी गणतरी मेळवतां सर्व हकिकतनो निर्णय थशे ते निःसंदेह छे.

जैन साहित्यथी अज्ञातजन महाराजश्रीना लेख पर दृष्टिपात करतो लेख लखे, तेमां जो दोष दृष्टिगोचर थाय तो ते क्षन्तव्य गणवा याचना करे छे.



संपादकीय विचार.



भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर
अने
जैन साहित्य संशोधन कार्य.

डॉ. सर रामकृष्ण गोपाळ भांडारकरनुं नाम संस्कृत वाङ्मयना पारदर्शी विद्वान् तरीके अने पुरातत्त्वना परम-पण्डित तरीके जगत्प्रसिद्ध छे. तेमणे पोतानुं समग्र जीवन अने सर्वस्व साहित्यसेवाना चरणे समर्पण करी, भारतभूमिना भूतकालीन गौरवनो, अन्धकारना अखातमांथी उद्धार करवामां उत्तम भाग भजव्यो छे. अने तरुण भारतीओने भविष्यमां कई दिशामां प्रयत्न करवानी जरूरत छे, ते विषयमां आदर्शनो मार्ग आंकी आप्यो छे. गिर्वाणगिराना ए परम उपासक अने भरतभूमिना महान् भक्तनुं उज्ज्वल नाम अने आदर्श कार्य भविष्यनी प्रजानी दृष्टि आगळ हमेशां झळकतुं रहे अने तेना योगे ए प्रजा पोताना कर्तव्यनी पूर्तिमां प्रयत्नशील बनी रहे तेवा शुभ उद्देश्यथी, सर रामकृष्णना समानशील देशबन्धुओ, तेमना खास प्रशंसको अने मित्रो, तेमज उत्साही शिष्योए मळीने, तेमना जन्मनी ८० मी वर्षगांठना दिवसे, एटले ता. ६ जुलाई, १९१७ ना रोज, पूना शहरमां, 'भांडारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर (Bhandarkar Oriental Research Institute)' नामनी एक अत्यावश्यक संस्थानी स्थापना करी छे.

प्राच्यविद्यासंशोधननो अर्थ—पृथ्वीना पूर्वीय गोलार्द्धमां आवेला देशोमां (जेमां हिन्दुस्थान प्रधानपणुं भोगवे छे) वसती प्रजाओना विद्या, कला, साहित्य, इतिहास, आदिनी शोध-खोळ करवी, एवो थाय छे. युरोप अने अमेरिका जेवा विदेशोमां आ विषयनी शोधखोळ करनारी अनेक संस्थाओ स्थापित थएली छे. ए संस्थाओमां अनेक मोटा मोटा अभ्यासीओ अने अध्यापको सतत कार्य कर्या करे छे,—प्रतिवर्ष नवी नवी शोधो करी जगत् आगळ रजु करता रहे छे. परंतु जे प्रजानी संस्कृतिनी शोधखोळ माटे ए विदेशी लोको एटला उमंगथी कार्य कर्या करे छे ते प्रजाना खुद पोताना देशमां तो एवी एक पण संस्था आज सुधीमां अस्तित्वमां आवी न हती, ए खरेखर देशना अने देश उपर राजकर्त्री सत्ताना माटे पूर्ण लज्जाजनक बाबत छे. अस्तु सर रामकृष्णपंतना पुण्य निमित्ते भारतने हवे आवी जातनी एक व्यापक संस्थानी प्राप्ति थई छे, अने तेथी ए विषयना रसिकोने आनंद थाय ते स्वाभाविक ज छे.

ए संस्थानी स्थापनानो मुख्य उद्देश्य ए छे के—प्राच्यविद्यानी शोधखोळमां रस लेनारा विद्वानो अने विद्यार्थिओने अपेक्षित एवुं सघळुं साहित्य पूरूं पाडी शके तेवुं एक अद्यतन (up to date) पुस्तकालय स्थापन करवुं. ए पुस्तकालयमां सघळी जातना हस्तलिखित अने मुद्रित पुस्तको, जुदा जुदा देशो अने जुदी जुदी भाषाओमां प्रकट थता आ विषयना सघळां सामयिक अने नियतकालिक पत्रो अने रिपोर्टो, तथा आवी ज जातनुं प्रकट थतुं बीजुं विविध प्रकारनुं समग्र साहित्य, एकत्र संगृहीत करवामां आवशे.

बीजो मुख्य उद्देश्य आ संस्थानो ए पण छे के—आवी शोधखोळनी प्रवृत्तिमां रस लेवानी इच्छा राखनारा ग्रेज्युएटो अने पण्डितो—शास्त्रिओने, संशोधन विद्यानुं अर्वाचीन पद्धतिए उत्तम शिक्षण आपी नवा संशोधको तैयार करवा.

आ संस्थाना एवा उच्च उद्देश्यो तथा एमां कार्य करवा माटे जोडाएला निःस्वार्थ स्कॉलरोना सतत

प्रयत्नथी संतुष्ट थई, मुंबईनी सरकारे पोताना कब-जामां जे, डेकन कॉलेजमां संरक्षित जुनां हस्तलिखित पुस्तकोनो सुप्रसिद्ध अमूल्य संग्रह हतो, ते आ संस्थाने स्वाधीन करी, आ कार्यमां प्रशंसनीय उदारता अने मायाळु सहानुभूति देखाडी छे. तेवी ज रीते डॉ. सर रामकृष्णपंते पण पोताना लांबा अने मान-भरेला जीवनमां संगृहीत करेलां विविध भाषा अने विविध जातनां पुस्तकोनो मोटो भंडार, ए संस्थाने अर्पण करी, ए बाबतनी संस्थानी प्रधान आवश्य-कताने केटलेक अंशे पूर्ण करी छे.

दानवीर पारसी गृहस्थ तातावन्धुओए, आ सं-स्थाने सौथी प्रथम एक सारा प्रमाणमां आर्थिक मदत करी आ कार्यने प्रारंभिक गती आपी, धीमी चाले, पण मक्कम पणे चालतुं कर्युं छे. तातावन्धुओ-ना दानथी संस्थानुं प्रथम मकान बांधवामां आव्युं छे, अने तेनुं नाम 'ताता रीसर्च हॉल' एवुं राखवामां आव्युं छे. उपर जणावेला बधां पुस्तको हाल तुर-तमां ए हॉलमां ज स्थापन करेलां छे. ता. ६, जुलाई, १९१७ ना दिवसे मुंबईना माजी गवर्नर लॉर्ड विल्गिंडनना हाथे ए संस्थानो उद्घाटन—समारंभ करवामां आव्यो हतो.

*
* *

डेकन कॉलेजमांथी आ संस्थानी स्वाधीनतामां आवेला हस्तलिखित पुस्तकोना महान् अने अमूल्य संग्रहमां जैन पुस्तकोनी संख्या घणी मोटी अने घणी किंमती छे. एमां ६०० जेटला ग्रंथो ताडपत्र उपर लखेला छे अने लगभग ६००० जेटला कागळ उपर लखेला छे. ए ग्रंथोमां केटलाक तो एवा अपूर्व छे के जेनी बीजी नकल अन्यत्र क्यांए जोवामां आवती नथी. पाटण, खंभात, जेसलमेर, बीकानेर, आदि स्थळोमां जे जैनोना जुना पुस्तक भंडारो हता ते-मांथी आ बधां पुस्तको सरकारे म्होंमांग्या पैसा आपीने खरीद कर्यां छे; अने आवी रीते हालो रुपिआना पुस्तको ए संग्रहमां संगृहीत थएलां छे.

आटली मोटी संख्यामां जैन ग्रंथो दुनियानी बीजी कोई लाईब्रेरीमां नथी. आ कारणथी, ए पुस्तको-ना उत्तम निमित्ते जैन समाज तरफथी हार्दिक सहानुभूति अने आर्थिक सहायता मळे एवी इच्छा थी, आ संस्थाना निःस्वार्थ कार्यवाहको मुंबईना केटलाक आपणा जैन भाईओने मळ्या अने तेमनी साथे आ संबन्धमां केटलीक वातचीत करी, जैन समाजना विशेष परिचयमां आववा तेमणे प्रयत्न कर्यो. ए प्रयत्ननो परिणाम केम अने केवो आव्यो तेनो टूंक अहेवाल, आ संस्था तरफथी छेल्ला जुलाई महिनामां बहार पडेला 'एनाल्स ऑफ धी भाण्डा-रकर ओ. री. इन्स्टीट्युट' ना प्रथम अंकमां आपे-ला वर्किंग कमीटीना रीपोर्टना ५३ मां पान उपर नीचे प्रमाणे आपेलो छे.

'The opening of the Institute by His Excellency had already made the Institute's name well-known in Bombay and elsewhere, and the Secretaries lost no time in availing themselves of this opportunity. They approached some of the big merchants of Bombay and especially the leaders of the Jain community. After repeated visits to Bombay and interviews with various persons, it was possible to arrange for a meeting of the Jain community in Godiji Maharaja's Upas'raya on 17th February 1918 under the presidentship of Pravartaka Kantivijayaji Maharaja. Dr. Belvalkar and Dr. Sirdesai spoke there on behalf of the Institute, explaining its objects and calling upon the Jain community to do their own share for the cause, which by reason of the fact that the Deccan College MSS. Library was specially rich in Jain works, had a special claim upon them. Shet Gulabchand Devchand and others also made appropriate speeches. And a *committee was appointed to collect* subscriptions from the leaders of the

Jain community. Pravartaka Shri Kantivijayaji in conclusion urged upon the audience to do their utmost to help the noble cause, which was of more spiritual significance than the mere accumulation of commercial gains.

It is unnecessary to recount here the various ups and downs which our negotiations with the Jain community had to pass through, raising at times high hopes of our being immediately able to secure Rs. 25 or even 50 thousand that the community thought they would contribute, and at another time making us dispair of being able to collect for all this ado even Rs. 5,000. Suffice it to say, that, thanks to the energy and untiring efforts of Muniraj Jinavijayji, the Jain community empowered him on the occasion of our first Anniversary (6th July 1918) to make the following announcement:— .

मान्यवर प्रमुख महोदय, और अन्य सभ्यवृन्द,

आप जानते ही हैं कि इस संस्थाके स्थापन करनेका मुख्य उद्देश्य, भारतीय साहित्यका संशोधन और प्रकाशन करनेका है। भारतीय साहित्यमें वैदिकधर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म तीनों धर्मों के साहित्यका समावेश होता है। इस संस्थाका आदर्श जातीय और धार्मिक भेदभावकी दृष्टिसे विमुक्त हो कर कार्य करनेका है। अतः इसके सम्मान्य संचालक महाशयोने कुछ समय पहले जैन समाजके कतिपय गृहस्थोंके साथ इस संस्थाके बारेमें कुछ ज्ञातव्य बातें कही थीं और जैनसमाजको भी इस इन्स्टीट्युटमें कुछ सहायता और सहानुभूति दिखलानेके लिये निवेदन किया था। मुझे कहनेके लिए हर्ष होता है कि जैन समाज इस संस्थामें अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है और मुझे निश्चित सूचना मिली है, कि हमारे उत्साही सज्जन इस इन्स्टीट्युट को सहायतार्थ २५ हजार रुपयेका दान करनेका संकल्प कर थोडे ही समयमें वह द्रव्य समर्पण किया चाहते हैं। यह बात इस इन्स्टीट्युटके लिये आरंभ ही में मंगल समान है। और इससे संस्थाकी लोकप्रियता, उपयोगिता और भाविमहत्ताका सूचन होता है। अतएव आशा है कि यह खबर यहां पर उपस्थित सब सज्जनोंको खुशी दिलानेवाली होगी।

The following are the terms of the agreement that passed between the Working Committee, and the Secretary Jain Conference:—

1. Should the Jain Committee agree to contribute a sum of Rs. 25,000 (twenty-five thousand) as free donation to the Institute, the Institute would in return—

(*a*) give the individual donors the usual privileges of Life-members, Benefactors, Vice-Patrons or Patrons according to the amount of their contribution;

(*b*) inscribe on a tablet the names of individual donors of Rs. 10,000 (ten thousand) or more, should the donors so wish it;

(*c*) agree to devote a due proportion (about $\frac{1}{4}$th) of such sums as might be available for publication to the publication of Jain works; and

(*d*) set apart $\frac{3}{4}$ths of the net sale proceeds of the Jain works so published for Jain purposes exclusively.

2. Should the Jain Community agree to further contribute an additional sum of Rs. 25,000 (twenty-five thousand) the Institute undertakes to

(*a*) erect, with the money thus made available, one of the side-halls (estimated to cost about Rs. 30,000) and name it suitably in consultation with the donor (should there be only one such) or the Jain Association; *or*

(*b*) set apart this amount as a permanent fund the interest of which (less five per cent, deducted as contribution for the general funds of the Institute) would be exclusively devoted to such Jain purposes as the Association might mention.

तात्पर्य—नामदार गवर्नरना हाथे आ संस्थानी उद्घाटन क्रिया थई गया पछी मुंबई विगेरे स्थळोमां आ संस्था प्रसिद्धि पामी चुकी हती. अने तेथी सेक्रेटरीओ आ अवसरनो लाभ लेवामां बिलकुल ढील न करतां तुरतज मुंबईना केटलाक मोटा व्यापारिओ पासे गया हता. त्यां खास करीने तेमणे जैनकोमना केटलाक आगेवानोनी मुलाकात लीधी. आ प्रमाणे अनेकवार मुंबई जई आव्या पछी अने अनेक गृहस्थोनी साथे आ विषयमां वातचीत थया पछी जैन समाजनी एक मीटिंग भरवानी गोठवण थई शकी हती. आ मीटिंग ता. १७ फेब्रुआरी, १९१८ ना दिवसे गोडीजीना जैन उपाश्रयमां प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी महाराजना प्रमुखपणा नीचे मळी हती. संस्था तरफथी डॉ. बेल्वलकर अने डॉ. सरदेशाईनां भाषणो थयां हतां अने तेमां संस्थाना उद्देश्यो समजाववा साथे जैनकोमने आ कार्यमां पोतानो भाग भजववा माटे निवेदन करवामां आव्युं हतुं. आ शुभ कार्यमां जैनकोमने खास सहानुभूति बताववानुं कारण ए हतुं के डेक्कन कॉलेजना हस्त लिखित पुस्तकोमां मोटी संख्या जैनधर्मना ग्रन्थोनी छे अने तेटला माटे तेमनी सहानुभूति उपर ए संस्थानो हक छे. शेठ गुलाबचंद देवचंद आदि गृहस्थोए पण ए मीटिंगमां प्रसंगोचित भाषणो कर्यां हतां. ते पछी, फंड भेगो करवा माटे जैनकोमना केटलाक आगेवानोनी एक कमिटी नीमवामां आवी हती. छेवटे, प्रवर्तक श्रीकांतिविजयजी महाराजे श्रोताजनोने आ उमदा कार्यमां मदत करवा माटे पोताथी बनतुं करवा प्रेरणा करी हती. तेमणे जणाव्युं हतुं के आ कार्यनी उपयोगिता छे, ते आध्यात्मिक दृष्टिए छे, व्यावहारिक के आर्थिक दृष्टिए आ बाबत जोवानी नथी. इत्यादि.

जैनकोमनी साथेना अमारा कोलकरार करवाना अंगे केवा केवा प्रकारनी मुस्केलिओ उभी थवा पामी छे तेनुं आ स्थळे सविस्तर वर्णन करवुं अनावश्यक छे. आ कोलकरारनी भांजगड थवा दरम्यान जैनगृहस्थोना सूचववा उपरथी केटलीक वखते अमने आशा थती के, ए कोम पासेथी २५–५० हजार रुपिआ प्राप्त करवा अमे शक्तिमान् थइशुं, त्यारे केटलीक वखते एवी निराशा थती के आटली बधी भांजगड के वाटाघाटना परिणाममां मात्र पांच हजार रुपिआनो ज लाभ थवानो छे. छेवटमां अमे मात्र मुनि जिनविजयजीने धन्यवाद आपीए छीए के जेमना उत्साह अने अश्रान्त प्रयत्नने लईने संस्थानी पहेली संवत्सरी (ता. ६, जुलाई, १९१८) ना प्रसंगे जैन समाज तरफथी निम्न लिखित उद्‌गार प्रकट करवा तेओ अधिकारी थया हता.

× × × ×

जैन कोन्फरन्सना सेक्रेटरी अने आ संस्थाना कार्यकारी मंडळ वच्चेना करारनी शरतो नीचे प्रमाणे थएली छेः—

१—जैन कोम तरफथी आ संस्थाने रु.२१००० नी रकम, खास कोई पण प्रकारना विशिष्ट प्रतिबन्ध सिवाय जो दान करवामां आवशे तो संस्था तेना बदलामां नीचे आपेली शरतो कबूल करशे.

(अ) व्यक्तिगत दाताओने, तेमनी बक्षीसना प्रमाणमां, संस्था तेमने पेट्रन, वाईस पेट्रन, बेनीफेक्टर अने लाईफ मेम्बरना साधारण हको बक्षशे.

(ब) १० हजार अथवा तेथी अधिक रकम आपनार दानी गृहस्थनुं, तेमनी इच्छा हशे तो, तकती उपर नाम कोतरवामां आवशे.

(क) पुस्तक प्रकाशन कार्यमां जे रकम संस्थाने मळशे तेनो योग्य हिस्सो—लगभग ½ जैनग्रन्थ प्रकाशनना कार्यमां खर्च करवा कबुलात आपशे. अने

(ड) छपाएला जैनग्रन्थोना वेचाणना खरच खुटण बाद करतां रहेला नफानी ½ रकम सर्वथा जैन साहित्यना अर्थे जूदी राखी मूकवामां आवशे.

२—आ उपरांत, जैन समाज वधारानी रु० २५००० नी रकम आपवा कबुलात आपशे तो संस्था तरफथी तेना बदलामां

(अ) संस्थानो जे विद्यमान हॉल छे तेनी बाजूमां एक हॉल (जेना खर्चनो अडसट्टो रु. ३०००० नो करेलो छे) बांधवामां आवशे, अने ते दाता (जो ते एक व्यक्ति हशे तो) नी अथवा जैन समाजनी सम्मति अनुसार तेनुं योग्य नाम आपवामां आवशे. अथवा

(ब) आ रकम एक स्थायी फंडना रूपमां अलग राखवामां आवशे अने तेना व्याजनी रकमनो, (संस्थाना साधारण फंड माटे तेमांथी पांच टका काढी लई) जे जे कार्यमां उपयोग करवानुं जैन समाज सूचवशे ते ते कार्यमां तेनो उपयोग करवामां आवशे.

आ रीपोर्टमां, उपर मारूं नाम लेवामां आव्युं छे तेथी ए सम्बन्धमां मारे अहीं केटलोक खुलासो करवानी आवश्यकता छे. आ रीपोर्टमा प्रारंभमां जणाव्यां प्रमाणे ज्यारे मुंबईना गोडीजीना जैन उपाश्रयमां प्रवर्तक श्रीकांतिविजयजी म०ना प्रमुखपणा नीचे, आ संस्थाने जैनसमाज तरफथी सहायता करवा माटे जे मीटिंग मळी हती ते वखते हुं पण त्यां हाजर हतो. संस्था तरफथी डॉ. बेल्वलकर विगेरेए जे भाषणो आप्यां हतां तेमां, संस्थानी स्वाधीनतामां आवेला विशाल जैन साहित्यनी केटलीक स्थूल रूपरेखानुं पण वर्णन करवामां आव्युं हतुं. ए वर्णन सांभळी मारा मनमां ते बधुं साहित्य जोवानी प्रबल उत्कंठा थई आवी, अने तेथी, हुं मुंबईथी विहार करी अहीं (पूनामां) आव्यो. अहीं आव्या पछी, ए संस्थाना कार्यवाहको साथे विशेष परिचय थयो. मुंबईमां जे मीटिंग भराणी हती अने तेमां जे आ कार्यमां मदद करवा माटे केटलाएक भाईओनी कमीटी नीमवामां आवी हती, तेनुं परिणाम अंते शून्य जेवुं जणातुं लागतुं होवाथी, ए लोकोना मनमा बहु ज निराशा थई आवी हती. मारो समागम थया पछी, ए कार्यमां प्रयत्न करवा मने ज ए भाईओ खास प्रेरणा करवा लाग्या, त्यारे मने बहु मुंझवण थवा लागी. मारी परिस्थितिनो विचार जणावतां में, प्रथम तो ए भाईओने एम ज चोख्खो जवाप आप्यो के, आ कार्यमां, मारा जेवा एक अज्ञातमार्गी, एकांतवासी अने एकाकी रमता (अथवा रखडता) भिक्षुए भाग लेवाथी काई सफळता मळे तेम नथी; कारण के पैसा आपनारा हमेशां कार्यनी उपयोगिता—अनुपयोगितानो विचार करवा के समजवा जेटली फुरसदवाळा होता नथी अने तेथी सीधा—सादा माणसना कहेवा उपरथी तेओ खीसामांथी चेक काढी आपे, एवी आशा राखवी मूर्खता गणाय. लोको हमेशां म्होंढुं जोई चांदलो करवानी टेवथी टेवाई रहेला छे; तेथी तेवा मोटा म्होंढावाळा माणसना कपाळे ज तेओ चंदन—चोखा चोंटाडवा तैयार थाय छे; माटे, आ कार्यमां तो, कोई। बहुश्रुतपदविभूषित, बहुजनसम्मत अने बहुशिष्यपरिवृत गणाता नामवर आचार्यनी सेवा-स्तवना करवाथी तमारी आशा सफल थाय तेम छे. परंतु, मने ए संस्थाहस्तक रहेलां समग्र जैनपुस्तकोने ध्यानपूर्वक जोवानो अने तेमां छुपाएलां विविध ऐतिहासिक साधनो—प्रमाणोनुं विस्तृत टांचण करी लेवानो प्रबल लोभ हतो, तेथी विचार थयो के जो हुं आ लोकोने उपर प्रमाणेनो सूको जवाब आपीने जे

बेसी रहीश तो, जे कार्य माटे हुं अहीं आव्यो छुं ते यथेष्ट रीते पूर्ण थाय तेम नथी. कारण के ए गाई-ओनी प्रसन्नता भरेली सहानुभूति सिवाय माराथी ए विशाल जैन साहित्यनुं स्वेच्छापूर्वक निरीक्षण करी शकाय तेम संभवतुं नथी. बीजुं, संस्थानुं कार्य पण मने बहु ज उपयोगी अने अत्युत्तम जणायुं. ए संस्थाने जो प्रारंभमां जैन समाज तरफथी सारी सहायता मळे तो, ते, समाज अने देश—बन्नेनी दृष्टिए एक मानप्रद कार्य गणाशे. जैन समाज पोताना निर्जीव खाताओमां ज्यारे दर वर्षे हजारो—लाखो-रूपिआ (फळनी आकांक्षा वगर ज ?) खर्चे छे त्यारे आवा एक सजीवन अने सार्वजनिक खातामां २५—५०हजार रूपिआ आपवा तेने कांई हिसावमां नथी. तेम ज आज सुधीमां, आवी जातना कोई पण जैनेतर सज्जनो जैनसमाज पासे विशिष्ट रीते सहायता मागवा आव्या नथी अने जो आ प्रसंगे आव्या छे तो तेमने निराश मने पाछा वाळवामां जैन कोमने एक प्रकारनुं कलंक जेवुं छे. तथा ताता बन्धुओ जेवा पारसी सज्जनोए, के जेमना साहित्य के धर्मनो ए संस्था साथे कोई पण प्रकारनो सम्बन्ध नथी, तेमणे सौथी प्रथम एक उदार रकम आपी पारसीकोमनी किर्ति वधारी छे, त्यारे जैनसमाजनो तो, ए संस्थामां एक दृष्टिए स्वार्थ पण छे; तेथी जो कांईक सहायता आपवामां आवे तो परमार्थ साथे स्वार्थ साधन पण थाय तेम छे. आ वधा विचारोना लीधे, मने एमां 'यथाशक्ति प्रयत्न करी जोवानुं साहस थई आव्युं. अने तदनुसार, में केटलाएक परिचित अने साहित्यप्रिय गृहस्थोने, आ कार्यमां कांईक सहायता आपवा—अपाववा माटे, प्रत्यक्षमां तेम ज पत्रो द्वारा सूचनाओ करवा माडी. तेना परि-णामे, केटलाक भाईओनी आशा आपनारी अने विश्वास भरेली सम्मतिथी, में, ए संस्थाना प्रथम वार्षिकोत्सवना मोटा मेळावडा प्रसंगे, उपर जणाव्या प्रमाणे, २५ हजार रूपिआ, जैनसमाज तरफथी ए संस्थाने भेट आपवानी कबूलात आपवानुं साहस कर्युं हतुं. अने तेना बदलामां, संस्था पासेथी, केटलीक वाटाघाट कर्या पछी, उपर कलम १ मां जणाव्या प्रमाणे शरतो कबूल कराववामां आवी हती.

जैन समाजना सद्भाग्ये, में आपेली उपरोक्त कबूलातना समाचार वर्तमानपत्रोमांथी कलकत्ता निवासी जैनजातिशिरोभूषण धर्मप्रिय बाबु श्रीबद्रीदा-सजी मुकीमना सुपुत्र बाबू श्रीराजकुमार सिंघजीनी जाणमां आव्या अने तेथी तेमणे मने एक पत्र द्वारा ए संबन्धमां विशेष हकीकत जणाववानी सूचना करी. ते ज प्रसंगे वडोदरा निवासी अने गायकवाड सर-कारना मानवंता झवेरी सेठ लालभाई कल्याणभाई कार्य प्रसंगे अहीं (पूनामां) आवतां मने मळवा आव्या. तेमने प्रत्यक्षमां ए संबंधी वधी हकीकत समजावतां, तेम ज उक्त बाबूजीने सविस्तर पत्र लखी मोकलतां, ए बन्ने उत्साही, उदार अने उमंगी सद्-गृहस्थोए आ कार्यमां यथेष्ट मदत आपवा—अपाव-वानो भार आनंदपूर्वक पोताना माथे उपाडी लेवानो स्वीकार कर्यो. थोडा ज दिवस पछी मने बाबू श्रीरा-जकुमारसिंघजीनो एक बीजो पत्र आव्यो. तेमां तेमणे २५ हजार ज नहीं परंतु ५० हजारनी मोटी रकम भेगी करी आपवानी इच्छा प्रदर्शित करी, अने ए बीजी २५ हजारनी वधारानी रकमना बदलामां जैनकोमना अथवा कोई जैन गृहस्थना नामे एक हॉल बांधवा संबंधी व्यवस्था करवानुं जणाव्युं. बाबू साहेब पोतानी पूरी लागणी अने वजनदार प्रयत्नना लीधे थोडा ज दिवसोमां जुदा जुदा सद्गृहस्थो पासेथी आपवा कबूलेली रकमनो मोटा भागनो वचनो मेळवी लीधां हतां. तथा २५ हजारनी सामटी एक नादर रकम, दानवीर सेठ हीरजी खेतशी पासेथी तेमना नामे लाईब्रेरी हॉल बंधाववानी शरते, ल-खावी लीधी हती.

आवी रीते आ कार्यने पार उतारवानुं अने ते द्वारा जैन समाजनुं गौरव वधारवा साथे जैनसाहित्यना

संशोधनमाटे एक नवुं द्वार उघाडी आपवानुं खरेखरुं मान बाबू श्रीराजकुमारसिंघजी अने सेठ श्रीलालभाई ए बन्ने सज्जनोने घटे छे. तेमो ज वास्तविक धन्यवादने पात्र छे. तेमना ज सुप्रयत्न अने प्रारंभिक उदारताने लीधे आ कार्य मूर्तिमंत स्वरूप प्राप्त करी शक्युं छे.

परंतु, आपणे जैनो आरंभे शूरा गणाईए छीए. कोई पण कार्यनो प्रारंभ करतां जेटलो उत्साह आपणे धरावीए अने बतावीए छीए तेटलो उत्साह अंत सुधी आपणामां रहेतो नथी. अने तेथी आपणुं कोई पण कार्य वीसेविश्वा सफळ थई शकतुं नथी. आपणा समाजनुं ए जन्मसिद्ध लक्षण आ कार्यमां पण आवीने कभुं ज रह्युं छे. शरुआत करती वखते बे ज दिवसमां जेटली रकम आ कार्य माटे उक्त बन्ने भाईओ अन्य गृहस्थो पासेथी भरावी शक्या हता तेटली रकम, ते गृहस्थो पासेथी उघरावीने हजी सुधी अहीं पहोंचाडी पण शक्या नथी. तेम ज ८–१० हजारनां वचनो जे लेवानां बाकी हतां ते हजी सुधी लेवायां नथी. संस्थानी मूळ शरत एवी हती के, १९१८ ना डीसेंबरना अंत सुधीमां जो कबूलेली बधी रकम संस्थाने स्वाधीन करवामां आवशे तो ज संस्था, उपर आपेली पोतानी शरतो कबूल राखशे. तेना बदले, आज १९२० नो एप्रिल महिनो पूर्ण थाय छे, तो पण हजी सुधी बधी रकम पहोंचती करवामां आवी नथी; अने तेथी संस्थाए अद्यापि कोई पण प्रकारनुं जैन साहित्य संबंधी कार्य हाथमां लीधुं नथी. कबूलेली रकम व्हेलीमोडी आपवानी तो छे ज, अने ते आपवा माटे उक्त बन्ने सज्जनोनी काळजी पण छे ज, परंतु फक्त नजीवा आळसने लईने ए बाबत हजी अधवचे रखडया करे छे, अने तेना लीधे आटली मुदत दरम्यान, ३–४ हजार जेटला रुपिआ. जैनसाहित्यमाटे खर्चाता अटक्या छे, अने परिणामे आपणा लाभमां नुकसान थतुं जाय छे. तेथी हवे जेम बने तेम तुरतमां ज कबूलेली बधी रकम संस्थाने पहोंचती करवा माटे उक्त बन्ने भाईओने साग्रह निवेदन छे. तेमना कहेवा प्रमाणे फक्त बे कलाकनुं ज काम छे, अने ए बे कलाक काढवाथी एक तो आपणा माथेथी प्रतिज्ञापालननो मोटो भार ओछो थई जशे अने बीजुं ए लोकोने दबाण पूर्वक, आपणे आपणा साहित्यना संबन्धमां हीलचाल करवा माटे कही शकीशुं. नहीं तो आटली मोटी रकम ऐन अडचणना प्रसंगे आपणे आपवा छतां पण ए संस्थाना कार्यव्यवहारमां आपणो अवाज योग्य रीते सांभळवामां आवे, तेवी आशा राखवी फोकट छे; अने आपणा साहित्यना संशोधननी जे तीव्र इच्छाथी आपणे आटलो परिश्रम उठाव्यो छे, ते इच्छा ठीक ठीक सफळ थाय तेम मानवुं भूल भरेलुं छे. मनुष्यने ज्यारे अमुक प्रकारनी खास गरज होय छे त्यारे तेने जे कहो ते करवा कबूल थाय छे, परंतु गरजसरे तेमानुं केटलुं पळाय छे, ते सौ कोईने अनुभवसिद्ध छे. ए ज मनुष्यस्वभाव आ बाबतमां पण लागू पडे तो ते बनवा जोग छे, अने तेमां वळी आपणी ढील आपणने ज खुल्ले म्होंढे स्पष्ट बोलतां अटकावी शके छे.

मुंबई सरकारना पब्लीकवर्क्स डीपार्टमेंट तरफथी आज घणां वर्षो थयां संस्कृतसीरीझ नामे एक ग्रंथमाळा प्रकट थाय छे. ए काममां सरकार दरवर्षे १२ हजार रुपिआनो खर्च करे छे. ए सीरीझमां आपणा जैन ग्रन्थो पण प्रकट थया करे छे. देशीनाममाला, कुमारपालचरित, अने प्राकृतव्याकरण तथा द्व्याश्रयकाव्य, विगेरे आपणा ग्रंथो ए ज सीरीझमां छपाया छे. छेल्ला बे वर्षोथी सरकारे आ सीरीझनुं बधळुं काम भांडारकर इन्स्टीटयुटने स्वाधीन कर्युं छे अने ते कार्यनी व्यवस्था, ए संस्था पोतानी इच्छा प्रमाणे करे छे. जैन समाज तरफथी अपाती २५ ह० नी रकमना बदलामां, आ संस्थाए कलम १ नी पेटा कलम 'डी' मां जणावेली शरत जे कबूल करेली छे, ते शरत प्रमाणे, सरकार तरफथी मळती उपरोक्त

१२ हजारनी आंटमांथी ¼ एटले ३ हजार रुपिआ सीधा जैनसाहित्यना संशोधन–प्रकाशन अर्थे ज खर्चावा जोईए. परंतु हजी सुधी कांई पण रकम ते काममाटे ए संस्थाए खर्चवा काढी होय तेम जणातुं नथी. ए संबंधमां कांई पूछपरछ करवामां आवे छे तो सीधो एटलो ज जवाब मळे छे के, तमे तमारी कबूलात हजी पूरी पाळी शक्या नथी, तेथी अमे ए संबंधमां कांई स्पष्ट जवाप आपी शकता नथी (—जो के आपणे अत्यारसुधीमां लगभग २०००० रुपिआ तो एमने पहोंचाडी पण चुक्या छीए) मारी अहीं प्रत्यक्ष हयाती होवा छतां, अने ए बधा कार्य-वाहको साथे मारी अंगत मैत्री होवा छतां, आपणा आळसने लीधे, आवी परिस्थिति नजरे पडे छे, तो पछी पाछळथी, लांबा समये आपणी आशा केटले अंशे सफळ थई शकशे, ते सहज समजी शकाय तेवी बावत छे.

हुं आ कार्यमां केटलेक अंशे निमित्तभूत थयेलो होवाथी अने अंतरंग बधी व्यवस्था करवानो विश्वास मारा उपर ज बधा भाईओए राखेलो होवाथी, आ सम्बन्धी मारा स्पष्ट विचारो समाज आगळ रजु करवानी मारी खास फरज छे, अने तेथी आटलो अंगत खुलासो करवो में अहीं उचित धार्यो छे.

छेवटे, हवे हुं एटलुं ज निवेदन करूं छुं के जे जे सद्गृहस्थोए आ कार्यमां रकम भरी होय, ते तुरत आपी दई अने बाकी जे थोडी घणी रकम खूटती होय ते मंडावी लईने, जेम बने तेम जल्दीथी आ संस्थाने पहोंचती करवी जोईए, के जेथी आपणा लाभमां विना कारणे नुकसान न थाय. बीजुं ए पण एक निवेदन छे के संस्था साथे जे कांई व्यवहार राखवामां आवे ते बधो व्यवस्थापूर्वक अने नियमसर रहेवो जोईए. ए कार्य, कोई एक व्यक्ति साथे सम्बद्ध नथी परंतु समाज साथे सम्बद्ध छे, अने तेथी ज में शरुआतथी लईने आज सुधीनो बधो व्यवहार मारा नाम न राखतां, जैन श्वेताम्बर कोन्फरन्सना जनरल सेक्रेटरीना नामे राखाव्यो छे. परंतु खेद तो ए छे के, अहींथी जे पत्रो विगेरे ते सेक्रेटरीना नामे मोकलवामां आवे छे तेनो सविस्तर जवाब मळवो तो बाजुए रह्यो परंतु पत्रनी पोंच सुधां पण मळती नथी. वणिआभाईना हाथमां अनेक वखते साम्राज्य स्थापवाना साधनो आवेलां छतां एक गामडुं पण तेमना कबजामां रही शक्युं नथी तेनुं कारण आवी अव्यवस्था ज छे. माटे, हवे दरेक कार्य चोकस लक्षण अने नियमपुरस्सर करतां सीखवानी आवश्यकता छे. तेम थशे तो ज आपणे आपेली उदारतानो आपणने कोई पण प्रकारनो जवाब मळी शकशे. नहीं तो सवाल करवानो अधिकार पण नहीं मळे. बाकी, अहींना ए सज्जनो कार्य करवामां बहु ज उत्साही अने निःस्वार्थ वृत्तिवाळा छे. आपणी जन्मभूमिनुं गौरव केम वधे एवी भावनाने आदर्श राखी प्रवृत्ति करनारा छे. सर्वस्वनो भोग आपीने पण अंगीकृत करेला कार्यने पार उतारनारा छे. विद्वत्ता साथे जिज्ञासु भाव धरावनारा छे अने जाति अभिमान जाळवी राखवानी इच्छा राखतां छतां बधानी साथे बन्धुभाव देखाडवानी वृत्ति बतावनारा छे. तेथी, व्यवस्थापूर्वक अने निरीक्षणपुरस्सर जो आपणे आपणुं वचन शीघ्र पाळीशुं तो आपणा साहित्य माटे, आ संस्था द्वारा केटलुंक उपयोगी कार्य, कालांतरे पण थई शकशे एवी आशा छे. तथास्तु.

जैन साहित्य प्रकाशन कार्य.

ए बहु खुशी थवा जेवुं छे के, छेल्लां केटलांक वर्षोथी आपणा समाजमां प्राचीन पुस्तकोना प्रकाशननुं कार्य ठीक झडपथी चाली रह्युं छे. आज सुधीमां सेंकडो ग्रंथो छपाई बहार पडी गया छे अने पडता ज जाय छे. जे ग्रंथोना दर्शन पण दुर्लभ मनातां हतां तेवा ग्रन्थो आजे दरेक साधु-श्रावक

ना हाथमां फरता जोवामां आवे छे. जे ग्रंथनी एक नकल उतरावतां सेंकडों रूपिआ खर्च करवा पडता हता ते ग्रंथ आजे मफत सुधां मळी शके छे. ए बधो प्रताप उत्साही पुस्तक-प्रकाशको अने तेमने सहायता आपता-अपावता मुनिजनोनो छे.

परंतु, हालमां जे पद्धतिए आपणामां आ साहित्य प्रकाशन कार्य चाले छे ते पद्धति—जो के ए पद्धति पण मूळ ग्रंथोने सर्वथा नष्ट थवामांथी बचावी राखवा जेटली उपकारक तो छे ज, परंतु—समयनी आवश्यकतानी अपेक्षाए बहु ज अल्प फलप्रदायक छे. वर्तमानमां एक तो ग्रन्थनिरीक्षणनी अनेक पद्धतिओ बहार आवती जाय छे; बीजुं लोकोनुं साधारण ज्ञान विस्तृत थतुं जाय छे, अने तेथी तेमनामां आगळ करतां वधारे विचारपूर्वक ग्रंथ जोवानी जिज्ञासा वधती जाय छे; अने त्रीजुं जनसमाजनो मोटो भाग, जिज्ञासा धरावता छतां, जुना ग्रन्थोने परिश्रमपूर्वक साद्यंत वांची—समजी, अव्यवहार्य भाषामां लखाएला अस्पष्ट विचारोने पोताना मगजमां ठसाववा जेटलुं कष्ट उठाववा राजी नथी. तेथी हालनी पद्धतिए प्रकट थतुं आपणुं साहित्य लोकदृष्टिए तो अप्रकट जेवुं ज छे. आजनी पद्धतिनो उपयोग ५० वर्ष पहेला हतो. ते समये ज आवी पद्धतिए छपाएला ग्रंथो लोकोना मनमां आनंद उत्पन्न करी शकता हता. हवे तेम करी शके तेवी परिस्थिति नथी. आजे हुं, अहीं ग्रंथ प्रकाशननी पद्धति उपर विशेष विवेचन न करतां, जे पद्धतिए ग्रंथो वर्तमानमां छपाय छे तेनो पण लोकोने पूरो लाभ मळतो नथी, ते संबन्धमां बे शब्दो जणाववा इच्छुं छुं.

जे व्यक्तिओना प्रयत्ने आ पुस्तक-प्रकाशन कार्य चाली रह्युं छे, तेमना उत्साह, परिश्रम अने आशय उत्तम होवा छतां विचारसंकुचिततानो एक मोटो दोष तेमनामां प्रधान पणुं भोगवी रह्युं छे; अने तेथी खरा जिज्ञासुओने, ए निर्जीव पद्धति प्रमाणे छपाता पुस्तको पण जोवा—वांचवा माटे मळी शकतां नथी. आज सुधीमां सेंकडों ग्रंथो छपाई प्रकट थई चुक्या छे, छतां, साधुओनी पेटीओ सिवाय बीजे ठेकाणे तेनां दर्शन थवां दुर्लभ छे. आ कारणथी जैनेतर सेंकडों विद्वानोने तो पूरी ए पण खबर नथी के कोई जैन संस्था पण हिन्दुस्थानमां जैन पुस्तको छपाववानुं काम करे छे के केम ! जे साधुओने पुस्तकनुं नाम सुधां पण बरावर वांचतां न आवडतुं होय तेमनी पासे पण, सीसमना कबाटोमां अने रेशमना रुमालोमां बांधी मुकेली दरेक पुस्तकनी एक—बे नकलो अवश्य मळी आवशे, परंतु जैनोनी राजधानी जेवा गणता शहर अमदाबादमां वसता प्रो. श्री आनंदशंकर के साक्षर श्री केशवलाल ध्रुव जेवाने, तेम ज, जैन पुस्तकप्रकाशनना कार्य माटे पाटनगर मनाता भावनगर शहरमां रहेता प्रो. भीडे जेवा विद्वानोने जोवा पुरतुं पण पुस्तक मळवुं दुर्लभ थई रहे छे. आवी स्थितिमां जैन साहित्यनो शी रीते लोकोमां प्रसार थाय अने शी रीते विद्वानो तेमां रस लेता थई शके ! ते सहज समजी शकाय तेम छे.

यूरोपनी लिपिमां छपाएला अने सोनाना मूल्ये वेचाता बौद्ध धर्मना पिटक ग्रंथो हिंदुस्ताननी लगभग दरेक कालेजनी लाईब्रेरीमां विद्यमान छे, त्यारे फक्त कागळनी किंमते वेचाता के मफत वहेंचता जैन आगमो मुंबईनी युनिवर्सिटीनी लाईब्रेरी सुधामां पण उपलब्ध नथी !

मुंबई युनिवर्सिटीए चालू वर्षथी, जैनसाहित्यनी मूळ अने पूज्यभाषा अर्धमागधीने पोताना पठनक्रममां दाखल करी छे. ए पठन-क्रममां जे पुस्तको नियत करवामां आव्यां छे (ए ग्रंथो खास करीने मारी सूचनानुसार ज नोंधवामां आव्यां छे अने तेनां नामो नीचेनी नोटमां आप्या छे) तेनी नकलो पण विद्यार्थीओने मळी शकती नथी. डॉ. गुणे के, जेमणे ज अर्धमागधीना साहित्यने पोताना पठनक्रममां दाखल करवा माटे, युनिवर्सिटीनी सेनेटमां मूळ

ठराव मुक्यो हतो, मने थोडा दिवस उपर, एक संदेशो कहेवडावतां जणावे छे के—

Please say to Muniji that students of Ardha-magadhi are complaining that the Jain Publishers do not sell them the books although in stock. People who were keen upon introducing Ardhamagadhi into the University should, I think, behave better.

P. D. Gune.

अर्थात्—'महेरवानी करी मुनिजीने कहेशो के अर्ध-मागधीना विद्यार्थिओ फर्याद करे छे के जैन पुस्तक प्रकाशको पुस्तको शिलीकमां होवा छतां तेमने वेचातां आपतां नथी. हुं धारूं छुं के जे लोको अर्धमागधी भाषाने युनिवर्सिटीमां दाखल कराववा माटे उत्सुक हता तेमणे अधिक सुंदर वर्तन राखवुं जोईए.

पी. डी. गुणे,

आवी ज रीते केटलाए विद्यार्थिओनी पण सूचना आव्या करे छे. अने केटलाक तो युनिवर्सिटीना रजीष्ट्रारने फर्याद पण करी चुक्या छे के, जे पुस्तको विद्यार्थिओने अभ्यास अर्थे मळी शकतां नथी तेवां पुस्तको युनिवर्सिटी शुं समजीने कोर्समां दाखल करे छे ! इत्यादि.

मारा एक विद्वान् मित्र, प्रो. राजवाडे (बरोडा कॉलेजना पाली भाषाना अध्यापक) जैन आगमोनो अभ्यास करवा प्रबल उत्कंठा धरावे छे. तेओ आज बे वर्षथी मने वारंवार ते पुस्तको मेळवी आपवानी सूचना कर्या करे छे, परंतु साधुओना कबाटोमां बन्ध थएला ए पुस्तको शी रीते बहार आवी शके ? ए पुस्तको लेवा माटे तेओ जाते, आगमोदय समितिनी ऑफिसमां—मुंबई अने सुरत फेरो खाई आव्या हता, परंतु जैनेतर होवाथी समितिना नोकरे तेमने ते पुस्तको आपवानी ना पाडी हती !

चालु वर्षमां, अहीं (पूना) ना एक बुद्धिशाली ब्राह्मण विद्यार्थिए, बी. ए. मां ऑनर्स सब्जेक्ट तरीके जैन साहित्य लीधुं हतुं, परंतु तेने छेला अक्टोबर मास सुधी पाठ्य पुस्तक न मळवाथी ते निराश थयो हतो; अने आखरे, में मारी पासेथी पुस्तक आप्युं त्यारे मात्र पंदर दिवसमां तेणे मारी पासे ते बधुं पुस्तक वांची जई पोतानी परीक्षानी तैयारी करी हती. आखी युनिवर्सिटीमां जैन साहित्यनो ते एक ज विद्यार्थी हतो. तेनुं परीक्षापत्र तैयार करवानी ज्यारे जरूरत पडी त्यारे परीक्षकने पण ते पुस्तक क्यांथी मेळववुं तेनी चिंता थई पडतां मारी पासे तेनी मांगणी करवामां आवी हती. आवी रीते अध्यापकोने पेपरो काढवा माटे पण ज्यारे पुस्तको मळतां नथी तो पछी वांचवा के सीखववा माटे तो क्यां थी ज मळे ?

आ तो उदाहरणरूपे एक बे दाखला नोंध्या छे. आवी जातना तो अनेक उदाहरणो मारा अनुभववामां आव्या छे अने आवे छे. जे लोको बिचारा धर्मप्रेमथी भोळभावे हजारो—लाखो रुपिआ पुस्तकोद्धारना नामे आपता रहे छे, तेमनो आत्मा, जो आ सत्य हकीकत समजवा जेटलो ज्ञानवान् होय तो तेमना मनने केवुं लागी आवे ! आवां ज कारणोथी मारुं ए कहेवुं थाय छे के वर्तमानमां जे पद्धतिए पुस्तक प्रकाशन प्रवृत्ति चाले छे ते समयनी आवश्यकतानी दृष्टिए अनुपयोगी ज छे.

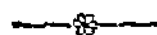
जैन साहित्य माटे कई दिशामां अने कई पद्धतिए कार्य करवानी हवे आवश्यकता छे, तेनुं दिग्दर्शन आ अंकमा अन्यत्र प्रकट थएला प्रो. राजवाडेना गुजराती लेखमां, अने लाहोरनी ओरिएन्टल कालेजना प्रो. श्रीबनारसी दास जैनना इंग्रेजी लेखमां, उत्तम रीते कराववामां आव्युं छे. प्रो. राजवाडे पालीभाषाना अने बौद्ध धर्मना ऊंडा अभ्यासी छे. तेओ जैन आगमोनो मार्मिक अभ्यास करी बौद्ध अने जैन साहित्य (पाली अने प्राकृत वाङ्मय) नी तुलनात्मक दृष्टिए विविधता अने विशि-

प्रताओ तारवी काढवानी उत्कट इच्छा राखे छे. जैन साहित्य उपर तेमनुं घणुं प्रेम छे. ज्यारे अमारा आ त्रैमासिकनी छपाववानी शुरुआतना तेमने समाचार मळ्या त्यारे एक पत्र द्वारा तेओ पोतानी सहानुभूति बतावतां मने लखे छे के—

I am glad your quarterly is starting its life so early. I shall certainly do all, I can to help it by contribution for I love the Jainagama and am anxious that its Knowledge should spread in our country.

अर्थात्—'आपना त्रैमासिकने आटलुं वहेलुं पोतानुं जीवन प्रारंभ करतुं जाणी मने घणो आनंद थाय छे. हुं तेने लेखो द्वारा जेटली मदत थई शकशे तेटली अवश्य करीश: कारण के हुं जैन आगमोने चाहुं छुं, अने तेना ज्ञाननो आपणा देशमां प्रसार थाय तेम जोवा उत्सुक छुं.' आ उपरथी जणाशे के जैन साहित्य माटे तेमनी भावना केटली सुंदर छे. आवा रसिक अने जिज्ञासु विद्वानो माटे तो आपणने मान होवुं जोईए अने पुस्तकादिनी जे जे सहायताओ तेमने जोईती होय ते उदारमने आपवी जोईए. आवी जातना योग्य विद्वानोना हाथमां जो पुस्तको जाय तो ज पुस्तक प्रकाशको अने संशोधकोनो परिश्रम सफळ छे. बाकी तो साधुओ भले रेशमीरुमालोमां बांधी मुकी तेमने धूप आप्या करे. उधेई अने कंसारीओ शिवाय तेमनो रसास्वाद बीजा लई शके तेवी स्थिति आजे तो जणाती नथी.

आ कहेवानुं तात्पर्य एटलुं ज छे के, एक तो पुस्तकप्रकाशकोए जरा पोतानी विचार संकुचितता दूर करी, योग्य विद्वानोना हाथमां आपणुं साहित्य जवा पामे तेवो खास प्रयत्न करवो जोईए. बीजुं, हवे ए जुनी (निर्माल्य) पद्धतिने छोडी, नवीन पद्धतिए नवुं साहित्य तैयार कराववुं जोईए. अने ए साहित्य योग्य विद्वानोना हाथे संशोधित थई प्रकाशित थवुं जोईए. हालमां जे ग्रन्थो छपाय छे ते शुद्धतानी दृष्टिए बहु ज असंतोष आपे तेवा छे. मूळ ग्रन्थने बनती रीते शुद्ध करवा तरफ बहु ज ओछी काळजी रखाय छे. शोधनारा के प्रकट करनाराओने खरी वस्तुस्थितिनुं भान होतुं नथी अने तेथी केटलीक वखते तो तेमना हाथे एवी भूलो थती जोवाय छे, के जे विद्वानोनी दृष्टिमां बिल्कुल अक्षम्य गणाय छे. आ सम्बन्धमां अमे आगळ उपर सविस्तर लखवा इच्छिए छीए. तेथी आजे तो एटलुं ज जणावीने विरमीए छीए के आपणा उत्साही पुस्तक संशोधक—प्रकाशकोए हवे ए विषयनुं जरा सारुं ज्ञान मेळवी चालु पद्धतिमां परिवर्तन करी समयानुसार सफळ प्रयत्न करवानी आवश्यकता छे. तेम करवाथी ज द्रव्य आपनार अने परिश्रम करनार बन्नेनां प्रयत्नो सफळ थशे.



मुंबई युनिवर्सिटीमां मागधी (प्राकृत) भाषा.

आजे केटलांए वर्षो थयां, जैन कॉन्फरन्स अने श्री मनसुखलाल रवजीभाई महेता जेवा जैनसाहित्य रसिक गृहस्थोए मुंबई युनिवर्सिटीने, पोताना पठनक्रममां जैन साहित्यनी मूळ अने पवित्र भाषा जे साधारण रीते मागधी अथवा अर्धमागधी कहेवाय छे, तेने स्थान आपवा माटे अनेक वार विज्ञप्तिओ करी हती. परंतु, एक तो ते भाषानुं साहित्य योग्य रीते तैयार थएलुं न होवाथी, अने बीजुं तेना अभ्यासीओ निकळशे के नहीं तेनी खात्री न होवाथी, युनिवर्सिटीए ते बाबतमां कांई खास ध्यान आप्युं न हतुं. परंतु ज्यारे ६—७ वर्ष उपर बौद्ध साहित्यनी पवित्र भाषा पालीने युनिवर्सिटीए पोताना अभ्यासक्रममां दाखल करी अने छेक हाइस्कूलो सुधीमां तेनो अभ्यास चालवा मांड्यो; त्यारे, प्राकृत भाषाना प्रेमिओए पोतानी प्रिय भाषाने पण तेवी रीते अभ्यासक्रममां दाखल करवा माटे युनिवर्सिटीने

विशेष आग्रह करवा मांड्यो. तेना परिणामे आ वर्षे, युनिवर्सिटीए मागधी (प्राकृत) भाषाने बीजी भाषा तरीके पोताना कोर्समां दाखल करी छे, ए वात जाणी ते भाषाना उपासकोने आनंद थया विना नहीं रहे. पाली भाषा जो के हाइस्कूलमांथी ज सीखवाय छे परंतु मागधी (प्राकृत) भाषानुं शिक्षण कॉलेजमां ज आपवामा आवशे अने ते पण मेट्रीकमां बीजी भाषा तरीके जेणे संस्कृत लीधी हशे तेने ज. (–पाली भाषाने पण हवेथी हाइस्कूलमांथी काढी नांखवानो ठराव थयो छे.) अमारा विचार प्रमाणे आ नियम आवश्यक छे, कारण के प्राकृतनी मूळ प्रकृति संस्कृत छे, तेथी जो संस्कृत भाषा अवगत न होय तो प्राकृत भाषानो एक तो अभ्यास पण बहु कठिन थई पडे तेम छे; अने बीजुं, तेना अभ्यासीने पोतानुं ज्ञान वधारवानुं अन्य साधन न मळवाथी ते भाषा तेने अनुपयोगी अने कंटाळो भरेली थई पडे तेम छे. सीलोन विगेरे देशोमां संस्कृत सिवाय ज पाली सीखववामां आवे छे खरी; परंतु, ते भाषानां साधनो प्राकृतनी अपेक्षाए बहु ज विस्तृत छे. संस्कृत भाषानां पाणिनि अने हेमचन्द्रनां व्याकरणो जेवां पालीभाषानां स्वतंत्र अने सर्वांगपूर्ण केटलांए व्याकरणो बनेलां छे. कोषो पण अनेक छे. सिवाय, नवीन पद्धतिए अनेक पाठमालाओ अने वाचनमालाओ पण थएली छे. तेथी ते भाषा सीखनारने कोई पण प्रकारनी अडचण पडे तेम नथी. तेम ज पाली भाषानुं साहित्य पण बहु ज विशाल अने सुंदर होवाथी तेना अभ्यासीने पोताना ज्ञान माटे जोईए तेवा विचारो तेमांथी मळी आवे तेम छे.

मागधी (प्राकृत) भाषाना अभ्यासीने माटे तेवी कोई पण जातनी सगवड नथी. तेम ज तेनुं साहित्य पण बहु ज अल्प अने साधारण प्रतिनुं छे. तेथी, संस्कृत सिवाय, केवल प्राकृत भणनारने ते भाररूप ज थई पडे तेम छे. अस्तु.

आवता बे वर्ष माटे, युनिवर्सिटीए नीचे प्रमाणेना ग्रंथो अभ्यासक्रममाटे नियत कर्या छेः—

प्रथमवर्ष (प्रीवियसक्लास).

१९२१

१ हरिभद्रकृत–समराइच्चकहा, प्रथम बे भव.
२ पउमचरियं, विमलसूरिकृत, उद्देश १–१८.
३ प्राकृतमार्गोपदेशिका, पं. बेचरदासकृत.

१९२२

१ हरिभद्रकृत—समराइच्चकहा, भव ३—४.
२ पउमचरियं, विमलसूरिकृत, उद्देश १९-३७.
३ प्राकृतमार्गोपदेशिका, पं. बेचरदासकृत.

द्वितीयवर्ष (इन्टर मीजिएट क्लास).

१९२१

१ कर्पूरमंजरी, राजशेखरकृत.
२ हेमचंद्रकृत प्राकृतव्याकरण (अष्टमाध्याय), पाद १ थी ३.

१९२२

१ वाक्पतिराजकृत, गउडवहो, गाथा ५१२.
२ रायपसेनीय सुत्त.
३ हेमचंद्रकृत प्राकृत व्याकरण (उपर प्रमाणे).

बी. ए. क्लास.

१९२२

१ आचारांग सूत्र.
२ हेमचंद्रकृत संपूर्ण प्राकृत व्याकरण.
३ कुमारपालचरित (प्राकृतद्व्याश्रय).

१९२३

१ सूत्रकृताङ्ग सूत्र.
२ हेमचन्द्रकृत संपूर्ण प्राकृत व्याकरण.
३ कुमारपालचरित (प्राकृतद्व्याश्रय).

स्थळाभावने लीधे एम्. ए. क्लासनां पाठ्य पुस्तकोनां नामो अहीं आपी शकतां नथी.

JAINA SAHITYA SANSHODHAKA

OR

JAIN LITERARY RESEARCH

VOL. 1.] *April 1920.* [PART 1.

THE UNDERCURRENTS OF JAINISM
A REPLY TO CRITICISMS

By Dr. S. K. BELVALKAR, M. A. PH. D.,
Professor of Sanskrit, Deccan College, Poona.

My paper on the Undercurrents of Jainism contributed to the July 1917 issue of the Indian Philosophical Review has given rise to a good deal of stir and opposition which has expressed itself in critical notices published in several Magazines as also in private and friendly letters. It has therefore become necessary for me to re-state my position, which seems to have been somewhat misunderstood. Another paper on the Post-Upanishadic Thought-ferment which I read some time ago before the Poona Literary Club forms the needed preliminary to the paper on Jainism; and a critic of mine who was inclined to condemn my paper on Jainism had the goodness to confess that the other paper has been to him an "eye-opener." In what follows I am attempting to re-state my position in regard to Jainism, which aspires to be strictly impartial and consistent with the requirments of a genetic or historical study of philosophy.

Lord Mahavira is regarded as the last of the Tirthankaras, which means that the Jain religion was not founded by him in the sense in which Lord Gautama founded Buddhism. And yet Mahavira must have played an important part in the history of Jainism: else we could not account for the great reverence in which his name is universally held. A religion like Jainism with a history spreading over centuries cannot be supposed to have remained absolutely impervious to its changing and chequered environment. No religion–neither Christianity nor Brahmanism—has remained ever the same, whatever the strictly orthodox view might choose to maintain. The first question then is to determine the precise service and contribution of Mahavira to Jainism. This contribution of course must be important and sufficiently distinctive.

Lord Mahavira was an elder contemporary of the Buddha and their

sphere of activity was also largely identical. Both probably spoke the same language, had to deal with the same men and same problems, and though their conclusions might be conceivably different their starting point was also the same. The statements and references in their extant Scriptures tell the same story. While a passage from the Digha Nikaya speaks of 62 current philosophical systems another Jain Sutta speaks of 363 such systems; and persons like Makkhali Gosala, or Sanjaya Belatthiputta cut a somewhat similar figure in the estimation of both these religious teachers. The Nikaya has thus preserved to us the view of the latter:—

> "If you ask me whether there is another world—well, if I thought there were, I would say so. But I don't say so. And I don't think it is thus or thus. And I don't deny it. And I don't say that there neither is, nor is not, another world. And if you ask me about the beings produced by chance; or whether there is any fruit, any result, of good or bad actions; or whether a man who has won the truth continues or not after death—to each or any of these questions do I give the same reply".

The Jain Sutta regards this view as a variety of the as many as 67 kinds of Agnosticism current at the time, and it is formulated as—'अत्थि' ति पि मे नो, 'नत्थि' ति पि मे नो, 'अत्थि च नत्थि च' ति पि मे नो, 'नेवत्थि न नत्थि' ति पि मे नो.

When an extremely subtle and almost unimpeachable dialectic of which the above may serve as a specimen seemed to throw all established theories and traditions into the melting pot, it became imperative upon all who claimed to teach an old and positive doctrine to defend their position. The Buddha who had no metaphysical creed to plead could afford to maintain a judicious silence when pressed to answer questions 'that it were vain and bootless to inquire after.' But how about a system like Jainism which had to accept the Jiva-Ajiva doctrine as a part of the inherited tradition? And it is just here that we must imagine Mahavira to have played his great role. Jacobi has said in one place:—"The similarity between some of these heretical doctrines on the one hand and Jain and Buddhistic ideas on the other is very suggestive and favours the assumption that the Buddha as well as Mahavira owed some of his conceptions to these very heretics and formulated others under the influence of the controversies which were continually going on with them. Thus, I think, that in opposition to the agnosticism of Sanjaya, Mahavira has established the Syadvada; and we can also trace the influence of agnosticim in the Buddhistic doctrine about Nirvana."

What Lord Mahavira probably actually accomplished was a judicious tempering of the pronounced agnosticism of Sanjaya by lending to it an apparent positive aspect. While Sanjaya says "I *cannot* say if it is and I *cannot* say if it is not." Mahavira says "I *can* say that the thing in a sense is and in a sense is not" The difference between these positions is rather formal, but it was perhaps deemed enough to satisfy the subtle and high-strung logical acumen of the day: in any case Mahavira was able to harmonise with this tempered agnosticism his traditional Jiva-Ajiva metaphysics and so present a bold front to the attack which gave a death-blow to many an established dogma. Mahavira had in his own days to contend against many heretical

philosophers, and it is perhaps open to question whether in addition to the combative part he was able also to carry out a large constructive programme especially in the realm of metaphysics. It was already enough achievement for the Syadvada to have turned the tables against the free-thinkers and to have restored to pious men the peace of mind that was so violently disturbed by the thought-ferment of the period: the bringing out of the implicit positive assumptions of the Syadvada by the Utpada-Vyaya-Dhrauvya doctrine (which so closely resembles the Samkhya view of reality) is perhaps the work of the disciples and commentators. [It was under this assumption that my original paper was written; and although possibly the paper may be admitted to contain some over-statements, the general position can be overthrown only if traces of the Utpada-Vyaya-Dhrauvya doctrine can be found in the teachings of Mahavira himself, or if the Syadvada can be proved to be earlier than Mahavira.]

Sankaracharya was a Bhashyakara and the account he has to give of Jainism represents merely an expanded form of the view of Jainism which is as old as Badarayana the author of the Vedanta-sutras. The sutra-नैकस्मिन्नसम्भवात् (II. ii. 33) has been interpreted by all the Bhashyakaras in the same manner, and its very wording suggests that the view here taken of Jainism is an ancient view which cannot have been entirely a deliberate misrepresentation. Badarayana may have perhaps failed to distinguish between the position of Sanjaya Bellatthiputta and that assumed by Mahavira, though it must be admitted that as far as Buddhism is concerned his account is surprisingly accurate and can only have sprung from an actual first-hand acquaintance with that Canon. In any case that is the oldest account of Jainism in non-Jain texts that is to us available; and (the theory of a wilful and malicious misrepresentation apart) there is no reason why we should not regard it as not untruly representing a tendency in Jainism which was its weakest and the most vulnerable spot. In its later presentation of course Syadvada becomes all that my critics claim for it; nay more: it becomes almost a platitude which no body would care to seriously call into question; although just exactly why it should have been wedded to the rather simple Jiva-Ajiva doctrine and not with one subtler and more worthy of it needs explanation.

If all this is acceptable, there is no reason why the historical development of Jainism which I have presented and which sets forth the great reforming and reconstructing activity of the last Jain Tirthankara in its truest light, not dissociating it from its surroundings, should not also be regarded as an earnest effort to understand and not a purely ignorant and top-lofty essay to vilify this great religion of India.

*** In this reply I have not thought it necessary to notice all the points dealt with in the several criticisms. I am at present trying to study Jainism in the original in a more systematic fashion, and if I discover that I have been instrumental in spreading incorrect notions about a religion which I respect, I shall certainly take the first opportunity to admit my mistakes. There is nothing wrong in being wrong. In return I wish my critics would give me credit for honest intentions.

THE IMMEDIATE TASK BEFORE US.

BY BENARSI DASS JAIN, M. A. PROFESSOR ORIENTAL COLLEGE, LAHORE.

It is a matter of great joy to learn that we, the Jains, who had practically ignored the morden method of Historical Research, have after all realised its value and are now prepared to apply it to the problems connected with the history of our religion. Fortunately, the European Scholars have already made a start in this direction, the results of which are scattered in various books and articles devoted to Oriental Research, not an inconsiderable number of which are written in languages other than English, viz, German, Italian and French. Still there is much left for us to do.

I think it will not be out of place here to point out what work the world urgently demands of us. This work divides itself into two classes—archæological and Scriptural. The nature and scope of the former class of work have been very ably and clearly set forth by the Late Prof. V. A. Smith in his appeal read at "the Literary Conference of the Jains" held at Ajmer in 1914. In support of the late professor's appeal I may state that, according to our Doctrine, the restoration of an old temple, image or manuscript brings a greater reward than the production of a new one. This belief inculcates Archæological Research as a religious duty upon us.

The second class of work which mainly deals with Literature has many lines. Before proceeding to them, I shall show how important our literature is for a proper understanding of the ancient History of India.

Prof. H. Jacobi writes, "The records of the Buddhists and Jains about the philosophical ideas current at the time of the Buddha and Mahavira, meagre though they be, are of the greatest importance to the historian of that epoch." [1]

Prof. Rhys Davids remarks, "But they (i. e. Jain records) are none the less historically important, because they give evidence of a stage less cultured, more animistic, that is to say, earlier. And incidentally they undoubtedly will be found as the portions accessible already show, to contain a large number of inportant references to the ancient geography, the political divisions, the social and economic conditions of India at a period hitherto very imperfectly understood." [2]

Prof. V. A. Smith says, "The sacred books of the Jain sect, which are still very imperfectly known, also contain numerous historical statements and allusions of considerable value." [3]

The authenticity of our scripture has been established by Prof. G. Buhler. [4] Some thirty years ago, a large number of inscriptions on the pedestals of Jain statues were discovered at Mathura. Most of them are dated from the

1 Sacred Books of the East, Vol. XLV p. XXVII.

2. Buddhist India 1903 p. 163.

3. Early History of India 1914 p. 1[illegible]

4. Vienna Oriental Journal Vols I-IV Epigraphia Indica Vols I-II.

year 5 to 98 of the era of the Indo-Scythian kings Kaniska, Huviska and Vasudeva, and are hence generally assigned to the first and second centuries A. D. In a number of them, the dedicators of the statues give not only their own names, but also those of the religious teachers to whose communities they belonged. Further they give these teachers their official titles, still used, among the Jains: *Vacaka* 'teacher' and *Ganin* head of a school. Lastly they specify the names of the schools (*Gana*), the subdivisions (*Kula*) and branches (*Sakha*) to which the teachers belonged. Exactly the same division into *Gana*, *Kula* and *Sakha* is found in the Kalpa Sutra. It is of the highest importance, that in spite of the mutilation and faulty reproduction of the inscriptions, nine of the names which appear in the *Kalpasutra* are recognisable in them.[5]

This agreement of the inscriptions with the Kalpasutra proves "that the tradition of the Svetambaras really contains ancient historic elements, and by no means deserves to be looked upon with distrust."[6]

Now that we are convinced of the importance and authenticity of our literature, we should get some idea of its extent. An idea of the bulk of the extant literature can well be formed from the various catalogues of Sanskrit and Prakrit Mss. published by the Government. The most important ones are—

Buhler's reports in the search of Sanskrit Mss

Peterson's " " "

Bhandarkar's " " " especially the one for the years 1883-84

Weber's Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in the Royal Library at Berlin (three parts, 1886, 1888, 1892).

From a perusal of these catalogues it will be clear that our extant Literature fully represents all branches of learning.

About our literary culture, Prof. Buhler remarks, "They (the Jains) did not rest content with explaining their own teaching: they turned also to secular sciences of the Brahmans. They have accomplished so much of importance, in grammer, in astronomy, as well as in some branches of letters, that they have won respect even from their enemies, and some of their works are still of importance to European Science. In Southern India, where they worked among the Dravidian tribes, they also advanced the development of these languages The Kanarese literary language and the Tamil and Telugu rest on the foundations laid by the Jaina monks. This activity led them, indeed, far from their proper goal, but it created for them an important position in the history of literature and culture."[7]

Now I come to the subject under consideration. The Bhandars or Jain libraries of the Panjab have not as yet been catalogued or examined by any one. I think I am not wrong in estimating the number of Mss. in these Bhandars to be about ten thousand. The following is a list of the chief Bhandars:—

Delhi, Ambala city, Rohtak, Hissar, Patiala, Samana, Malerkotla, Ludhiana, Zira, Jallandhar, Hushiarpur, Jandiala,

5. *Buhler's Indian Sect of the Jainas pp. 42, 43.*

6. *Buhler's Indian Sect of the Jainas p. 44.*

7. *Buhler's Indian Sect of the Jainas p. 22.*

Patti, Amritsar, Vairowal, Gujranwala [8] and Narowal.

I am sure that several rare works will come to light if these Bhandars are carefully examined. Hence, the earliest opportunity should be availed to prepare a catalogue of their contents. Most of the Bhandars are the property of the Samgha or the Jain community at large, and the Jain Conference, therefore, can lay a claim to examine them. Moreover, individual *Sadhus* and *Pujas* have their own Mss. which also should be catalogued as far as practicable.

The want for critically edited Jain texts has been repeatedly brought to notice. Prof. Rhys Davids wrote, "The Jain records are unfortunately as yet known only in fragments. It is the greatest desideratum for the history of this period [9] that they should be made accessible in full." [10]

Later on he wrote, "The Jains themselves have now printed in Bombay a complete edition of their sacred books. But the critical value of this edition, and of other editions of separate texts printed elsewhere in India, leaves much to be desired." [11]

Dr. F. W. Thomas writes, "Most if not all, of the *Angas* have, indeed, been published in India, and some in Europe. But it is not yet possible for any scholar to point to a shelf or shelves in his library and say. "There is the Jaina Canon" and so many books and essays have a tentative character through the impossibility of examining the whole collection. Would it not be possible and a great help to future studies, if the whole (I do not mean, of course, with all the commentaries) could be made available in such a preliminery but complete condition." [12] Prof. A. C. Woolner remarks, "Jain literature is neither so famous, nor so widely studied as the Pali Buddhist literature. Much of it is still in manuscript or in uncritical editions. Much of it again is difficult without (and even with) a commentary." [13]

No doubt considerable progress has been made in India in the publication of the sacred texts, but a good deal yet remains. A complete set of the Svetambara Canon was published about forty years ago by Rai Dhanpat Singh Bahadur of Baluchar (Murshidabad). This set provided, as it is, with the usual Sanskrit commentary and the Gujrati paraphrase (Tabba) "is worthless as an edition, being made with no regard whatsoever to textual or grammatical correctness both in its Sanskrit and Prakrit portions. Still it has its uses for the purposes of collation." [14] Most of the volumes of this set are out of stock and cannot be had at any price.

Another attempt to bring out an edition of the Svetambara Canon is being made by the trustees of the Devchand Lalbhai Pustakoddhar Fund, Bombay. This edition, though decidedly superior

8. The Panjab University Library has a Ms. copy of a catalogue of Mss. in the Bhandar attached to the Jain temple at Gujranwala. I have not been able to find out who prepared it. Presumably it was prepared by PT. Kashi Nath Kunte who examined some of the Sanskrit libraries of the Panjab in the eighties.

9. Several centuries preceeding the Christian era.

10. Buddhist India p. 163.

11. Encyclopaedia Britannica, Eleventh Edition, Sub voce 'Jain.'

12. Proceeding of a literary Conference of the Jains held at Ajmer 1914, last page.

13. Introduction to Prakrit p. 72.

14. Hoernle's Uvasagadasao, Introduction p. XI.

to the Baluchar edition, yet falls short of many conveniences which a good edition should provide to its readers e. g. Introduction, Index, Notes, *Variae Lectiones* etc. Copies of this edition also are very difficult to have as only a limited number of copies is printed.

Similar activities have been at work in the publication of Digambar texts.

Stray texts have appeared in Europe most of which are printed in Roman characters and not therefore, suitable for Indians.

Under these circumstances, it is evident that we should lose no time in removing this long-felt want that has only partially been fulfilled.

In the course of a speech delivered at the S. S. Jain Conference in 1917, Principal A. C. Woolner of the Oriental College Lahor remarked that the fact why European Scholars had done comparatively less work in Jainism was due to the absence of graded readers, grammars and dictionaries of Jain Prakrits. The want of such books has also been felt in India. One or two readers were published in Germany and Italy, but they were of no use to us.

So far as I know, there is not a single grammar that deals exclusively with our sacred languages. Hema Candra's Prakrit grammar was not written with any express object to help in the study of Jain literature. Dr. R. Pischel's *Grammatik der Prakrit-Sprachen* in German is an encyclopaedia of Prakrits and is not meant for beginners.

It is, therefore, the proper time that a graded series of Jain Readers and Grammars be brought out.

In 1912 Dr. Suali of Italy announced that he had collected materials for the compilation of a Prakrit Dictionary, and proved that the circumstances then fully justified the undertaking of such a work.[15] So far as I can say on the authority of price-lists of oriental books printed in Europe, Dr. Suali's diction ary never appeared.

Various attempts have been and are being made in India for a Prakrit Dictionary. I have seen the first four volumes of the *Abhidhana Rajendra* prepared at Ratlam. It does not seem to have proved useful in proportion to the amount of money and labour spent on it.

Under the management of Mr. Kesari Chand Bhandari of Indore, the S. S. Jain Conference is contemplating to bring out a Jain Prakrit Dictionary. The work of indexing words from Sutras has fairly advanced. How far this dictionary proves useful will be seen when it is out. Sometime ago I read an advertisement from Pt. Hargovind Das, of Calcutta about his proposed Prakrit Dictionary. But I do not know how far his work has progressed. These individual attempts on the part of the various sects show that the present circumstances are quite favourable for undertaking a Prakrit Dictionary.

Now the compilation of a dictionary is a huge task that cannot be successfully done by a single man. It requires a large staff of workers with a sufficient financial support. It is, therefore, extremely desirable that all those who have an inclination to undertake a Prakrit Dictionary should unite to make a combined effort.

A good and up-to-date Bibliography forms an indispensable book in a well-equipped library and a very valuable companion to a scholar. In 1906 Dr. Guerinot of France published his "Essai

15 *Journal of the German Oriental Society* (Z. D. M. G.) 1912, p. 544.

de Bibliographie Jaina" in French to which a supplement entitled "Notes de Bibliographie Jaina" appeared in the *Journal Asiatique* for July-August 1909. Now that full eleven years have passed since the supplement was added, Dr. Guerinot's work can hardly be called up-to-date. This short-coming together with the fact that the work is written in French makes it quite necessary that a complete Bibliography should be undertaken in India.

The last work that seems to me important and urgent is the collection of materials for a history of Jainism in the Panjab. That Jainism existed in this province as early as the seventh century A. D. is proved by Hiuen Tsiang's description of a Jain temple near *Simha pura*[16] (in the Salt Range between the rivers Indus and Jehlum). The ruins of this temple were discovered by Sir A. Stein in 1890.[17]

Sir Alexander Cunningham found at Kangra two Jain statues with inscriptions on their pedestals which show that Jainism was prevalent in the Kangra valley a thousand years ago.[18] The latter statement is fully corroborated by mention of Kangra Jain temples in a *Vijnapti* edited by Muni Jina Vijaya in his विज्ञप्ति-त्रिवेणि.

It goes without saying that a book on the history of Jainism in the Panjab will be extremely valuable and interesting as well. For the writing of such a book local tradition will be of great value. Hence it is advisable that an early step[19] should be taken to collect local tradition which, if now neglected will soon die out for ever.

The above is only a brief resume of what should receive an early attention of our Research Society. There are however numerous minor lines which individual workers will find for themselves.

16 Cunningham's *Archaeological Survey Report*, Vol, V p. 192.

17 *Vienna Oriental Journal*, Vol. IV p. 80.

18 *Epigraphia Indica* Vol. I p. 119.

19 I think much matter will be forthcoming if the Research Society, or still better, if the Sectarian Conferences issue a circular letter to their various *Sabhas* in the Panjab mentioning in details the points about which information is sought.

સંપાદકીય વક્તવ્ય

બીજા અંકમાં અમે જાહેર કર્યું હતું કે ત્રીજો અંક લગભગ આશ્વિનપૂર્ણિમાએ પ્રકટ થશે. પરંતુ, પુરાતત્ત્વ મંદિર હસ્તક છપાતા એક બે ગ્રંથોના કાર્યને અંગે અમારે એ વખતે ખાસ ગુંથાઈ રહેવા જેવું થવાથી ધારેલા સમયે આ અંક પ્રગટ ન કરી શકાયો.

* * *

આ અંક સાથે, પાલણપુરના શ્વેતાંબર સ્થાનકવાસી જૈન સરતુ સાહિત્ય પ્રચારક મંડળ તરફથી પ્રકટ થએલું "આત્મ જાગૃતિ ભાવના" નામનું લઘુ પુસ્તક ભેટ તરીકે મોકલવામાં આવે છે જેનો સ્વીકાર કરી યોગ્ય ઉપયોગ કરવાની અમારા વાચકોને ખાસ ભલામણ કરીએ છીએ.

—સંપાદક.

बहुएहि वि तारायणेहि रविपसरु किं भिज्जइ,
बहुएहि वि विसहरेहि मिलि वि किं गुरुडु गिलिज्जइ;
बहु कुरंग आरुट्ठ करहिं किरि काइं मयंदह,
पूणिहि बहुय तुरुक्क काइं सच्चउरि-जिणिंदह. ॥ ४ ॥

कलिणाणि णु चिरकालि आसि कुवि जोगनरेसरु,
उव्वसियइ सच्चउरि दिट्ठु तहि वीरु जिणेसरु;
आरंभिउ आहुट्ट रंगु चामीयर वरतणु,
वरतुरंगदो रहि निमित्तु नरवइहि चलिउ मणु. ॥ ५ ॥

रायाएसिहि दुट्ठभडिहि जिणु जाव न नामिओं,
बद्धु सामि करिवरह खंधि रज्जुहुं संदामिओं;
कड्ढंतह तुट्टेवि रज्जु हय गय धरणीयलि,
निविडिय जिम परिचत्त रंड पेच्छंतह परबलि. ॥ ६ ॥

पुणवि कुहाडा हत्थि लेवि जिणवरतणु ताडिउ,
पच्छुत्थडवि कुहाडेहिं सो सिरि अंबाडिउ;
अज्जवि दीसहि अंगि घाय सोहिय तसु धीरह,
चलणजुयलु सच्चउरि-नयरि पणमहु तसु वीरह. ॥ ७ ॥

गोसाला संगमय अमर उवसग्ग सहेविणु,
जो न चलिउ झाणह जिणिंदु सिवसुहतगयमणु;
तसु कित्तिय उवसग्ग सहवि किय नरह नरिंदह,
नमहु नमहु सच्चउरि-वीरु जो चरमजिणिंदह. ॥ ८ ॥

जसु विरज्जइ समवसरणु चउदेवनिकायहि,
जसु पणमिज्जइ चलणारविंदु सुरवरसंघायहि;
चउदसरज्जह भुवणनाहु जो जंतुहियंकरु,
सो पणमहु सचउरि-नयरि सिरिवीरु जिणेसरु. ॥ ९ ॥

कुसुमवुट्ठि किंकिल्लि चमर किन्नरदेवझुणि,
छत्तत्तियं दुंदहिनिग्घोस संठिउ सीहासणि;
भामंडलु देहाणुलग्गु जसु तिहुयणि छज्जइ,
वइसाहिहि सचउरि-वीरु सो किम पणमिज्जइ. ॥ १० ॥

जिम महंतु गिरिवरह मेरु, गहगणह दिवायरु,
जिम महंतु सु सयंभुरमणु उवहिहिं रयणायरु;
जिम महंतु सुरवरह मज्झि सुरलोइ सुरेसरु,
तिम महंतु तियलोयतिलउ सच्चउरि जिणेसरु. ॥ ११ ॥

उद्दालवि दिणयरह तेउ, गहवइ सोमत्तणु,
गंभीरिम सायरह, हरवि मंदिरह थिरत्तणु;
घडिउ वीरु नं अमिउ लेवि सच्चउरि सुणिज्जइ,
तिहुअणि तसु पडिबिंबु नत्थि जसु उप्पम दिज्जइ. ॥ १२ ॥

कोरिंट, सिरिमाल, धार, आहाडु, नराणउं,
अणहिलवाडउं, विजयकोट्टु, पुण पालित्ताणुं।
पिक्खिवि ताव बहुत्त ठाम मणि चोज्जु पईसइ,
जं अज्जवि सच्चउरि वीरु लोयणिहि न दीसइ ॥ १३ ॥

सहस्सेण वि लोयणह तित्थु न होइ नियंतह,
वयणसहस्सेहि गुणनतुट्टु निट्ठियहि थुणंतह;
एक जीह धणपालु भणइ इक्कु जं मह नियतणु,
किं वन्नउ सच्चउरि-वीरु हउं पुणु इक्काणणु. ॥ १४ ॥

रक्खि सामि पसरंतु मोहु नेहुंडय तोडहि,
सम्मदंसणि नाणु चरणु भडु कोहु विहाडहि;
करि पसाउ सच्चउरि-वीरु जइ तुहु मणि भावइ,
तइ तुट्टइ धणपालु जाउ जहि गयउ न आवइ. ॥ १५ ॥

पं० धणपालकृतः श्रीसत्यपुरमंडन-श्रीमहावीरउत्साहः
समाप्तः

सत्यपुरीय श्रीमहावीर उत्साह परिचय

જૈન સાહિત્ય સંશોધકના વાચકોને આજે અમે પરમાર્હત મહાકવિ ધનપાલની બે અલભ્ય કૃતિઓની અપૂર્વ ભેટ આપીએ છીએ. એમની પ્રાપ્તિથી દરેક શ્રદ્ધાળુ જૈનને અતિઆનંદ થવા યોગ્ય છે. સાચે જ મહાબ્રાહ્મણ કવિ ધનપાલની આ બે કૃતિઓ અપૂર્વ છે. એમાં પ્રભુ મહાવીરની અતિભક્તિ ભરેલી ગંભીર અને આલ્હાદક સ્તુતિ કરવામાં આવી છે જે દરેક જૈનને કંઠે કરવા લાયક અને નિત્ય પાઠ કરવા લાયક છે.

મહાકવિ ધનપાલ જૈન સાહિત્યાકાશનો એક મહાતેજસ્વી અને અક્ષીણપ્રકાશી નક્ષત્ર છે. એના પ્રતિભાપ્રકાશે જૈન વાઙ્મયના શરીરપિંડને અનેરૂં ઓપ આપ્યું છે: જૈન સાહિત્યસંપત્તિના વિશાળ ભંડારમાં એક અણમોલું અને અદ્વિતીય રત્ન સમર્પી એણે આર્હત મતાનુયાયીઓના પાંડિત્યાભિમાનને અતિ ઉન્નત બનાવ્યું છે. એનું એ રત્ન તે **તિલકમંજરી** કથા છે. આખા સંસ્કૃત સાહિત્યના અનંત ગ્રંથ સંગ્રહમાં બાણની કાદંબરી સિવાય એ કથાની તુલનામાં આવી શકે એવી બીજી કોઈ કૃતિ વિદ્યમાન નથી. અલબત્ત, બાણ ધનપાલનો પુરોગામી હોઈ તે એના ગુરુસ્થાને છે; કાદંબરીની અનુપમ રચનાએ જ ધનપાલને તિલકમંજરી રચવા પ્રેર્યો છે એ નિઃસંશય છે; છતાં ધનપાલ પ્રતિભાની સ્પર્દ્ધામાં બાણથી જો ચઢે નહિં તો ઉતરે તેમ પણ નથી જ. એથી કાલકૃત જ્યેષ્ઠ-લઘુ-સંબંધવાળા હોવા છતાં ગુણધર્મથી તો ગિર્વાણગિરાના એ બંને ગદ્યમહાકવિઓ સમાન આસને જ બેસનારા છે; અને તેથી ધનપાલનું કવિજીવન એ બાણના જેટલું જ ગૌરવશાલી છે, એમ કહેવામાં આવે તો તે કથમપિ અત્યુક્તિવાળું નથી.

આવા મહાકવિની અદ્યાપિ અપ્રસિદ્ધ એવી બે કૃતિઓ પ્રસ્તુતઅંકમાં પ્રથમ જ પ્રકાશમાં આવે છે. આમાંની (૧) એક કૃતિ અપભ્રંશમાં છે અને એક પ્રાકૃતમાં છે. પ્રાકૃત કૃતિનો પરિચય જૂદો તે સાથે આપવામાં આવ્યો છે. અહિં, પ્રથમ આપેલી અપભ્રંશકૃતિનો પરિચય કરાવવામાં આવે છે. આ કૃતિ પાટણના ભંડારમાંથી પ્રાપ્ત થઈ છે. સંવત્ ૧૩૫૭–૫૮ માં લખેલી એક પ્રત, જેમાં આવાં અનેક સ્તુતિ-સ્તોત્રો એકત્ર લખેલાં છે તેમાંથી આ સ્તુતિ ઉતારી લીધેલી છે.

આ સ્તુતિનો વર્ણ્ય-વિષય સત્યપુરસ્થ મહાવીરનો ચમત્કારિક પ્રભાવ છે. તેથી અહિં પ્રથમ થોડોક એ સ્થળનો પરિચય આપવો આવશ્યક છે.

મારવાડના જોધપુર રાજ્યના દક્ષિણ ભાગમાં સાચોર કરીને એક ગામ છે. એ ગામનું અસલ સંસ્કૃત નામ **सत्यपुर** છે, એનો પ્રાકૃત ઉચ્ચાર **सच्चउर** થઇ અપભ્રષ્ટ રૂપાન્તર **સાચોર** બન્યું છે. એ સ્થાન ઘણું જુનું છે. ત્યાં આગળ ભગવાન્ શ્રીમહાવીર સ્વામિનું પ્રાચીન, તીર્થભૂત, પવિત્ર જૈન ધામ છે. જૈન કોમમાં એ એક તીર્થસ્થળ ગણાય છે. 'જગચ્ચિંતામણી' નામના એક બહુ જૂના કહેવાતા સ્તોત્રમાં **जयउ वीर सच्चउरिमंडण** એવા શબ્દોથી એ સ્થળનો નમસ્કરણીય ઉલ્લેખ કરેલો છે અને દરેક શ્વેતાંબર-મૂર્તિપૂજક જૈન એ સ્તોત્રનો પ્રતિદિન પાઠ કરે છે.

જૈન તીર્થસંરક્ષક આચાર્ય શ્રી જિનપ્રભસૂરિએ પોતાના સમયના જૈન ધર્મના વિવિધ તીર્થોની હકીકત આપનારો જે **विविध तीर्थकल्प** નામનો મહત્ત્વનો ગ્રંથ લખ્યો છે તેમાં એ સત્યપુરનો પણ ખાસ કલ્પ લખ્યો છે. એ કલ્પના અનુસાર, મહાવીર નિર્વાણ પછી લગભગ ૬૦૦ વર્ષે થએલા નાહડ નામના રાજાએ, શ્રીજજ્જગસૂરિ નામના આચાર્યના ઉપદેશથી, એ સ્થાનમાં ભગવાન્ મહાવીરદેવનું મંદિર બાંધ્યું અને તેમાં પિત્તલની પ્રભુપ્રતિમા સ્થાપિત કરી. બ્રહ્મશાંતિ નામનો યક્ષ એ સ્થાનનો અધિષ્ઠાયક બન્યો અને તેથી એનું મહાત્મ્ય અતિશય વધ્યું.

જિનપ્રભસૂરિના લખેલા એ આખા સત્યપુર કલ્પનો સાર નીચે પ્રમાણે છે.

આગળના સમયમાં, મરુમંડળ એટલે મારવાડમાં આવેલા નહુલ (નાડોલ) પ્રાંતના મંડનભૂત મંડોવર નગરના રાજાને બલવાન એવા દાઈ (ડાભી) લોકોએ મારી નાખી તેનું રાજ્ય છીનવી લીધું. તે રાજાની રાણી તે વખતે ગર્ભવતી હતી. તેથી તે નાસીને બંભાણપુરમાં જઈને રહી, અને ત્યાં તેને સર્વ લક્ષણસંપન્ન પુત્ર જન્મ્યો. તે નગરની બહાર એક ઝાડે, ઝોળી વળગાડી તેમાં તે બાળકને તેણે સુવાડ્યો અને પોતે કાંઈ કામ કરવા લાગી. ત્યાં આગળ દૈવયોગથી જજ્જગસૂરિ નામના એક જૈનઆચાર્ય આવી ચડ્યા. તેઓ તે ઝાડની છાયાને અણખસતી જોઈને તે ઝોળીમાંના બાળકને એકી ટસે જોઈ રહ્યા, અને તરત જાણી ગયા કે ભવિષ્યમાં આ બાળક મોટો પુણ્યવાન્ થશે. એટલામાં તે રાણીએ આવીને પૂછ્યું કે—ભગવન્! આ બાળક શું કુલનો ક્ષય કરનારો કુલક્ષણો દેખાય છે કે કેવો છે? સૂરિએ જવાબ આપ્યો કે—ભદ્રે, એ તો મહાપુરુષ થવાનો છે. માટે સર્વ પ્રયત્ને આનું પાલન કરવું જોઈએ. ત્યાર પછી વત્સલભાવ આણીને તે બંને માતાપુત્રને સૂરિએ પોતાના મંદિરના જે વ્યવસ્થાપકો હતા તેમની પાસે મુક્યાં. તે બાળકનું નામ નાહડ એવું રાખવામાં આવ્યું અને તેને પંચનમસ્કાર મંત્ર શીખડાવ્યાં. તે બાળક બહુ ચપલ હતો. નાનપણમાં જ ધનુષ્યબાણ હાથમાં લઈને, મંદિરમાં મૂકેલી ચોખા મૂકવાની પાટ ઉપર આવતા ઉંદરોને તાકી તાકીને મારવા લાગ્યો. શ્રાવકોએ તેના આ કૃત્યને જોઈ તેને મંદિરમાંથી કાઢી મૂક્યો, તેથી તે લોકોની ગાયો ચરાવવાનું કામ કરવા લાગ્યો. એક દિવસે કોઈ ગામ બહાર ફરતા યોગિએ તે બાળકને દીઠો. તેને એ બત્તીસ-લખણો મહાપુરુષ દેખાયો. તેના મનમાં સુવર્ણપુરુષની સાધના કરવાની ઈચ્છા થઈ તેથી તે એની પાછળ પાછળ એની મા પાસે ગયો અને એ માને સમજાવી–વીનવીને ત્યાં જ રહેવા લાગ્યો. અવસર જોઈને યોગિએ નાહડને કહ્યું કે—જંગલમાં ગાયો ચારવતાં થકાં જો તારી નજરે, રાતું દૂધ ઝરતું કોઈ કુલિશનું ઝાડ, પડી જાય તો તે ઉપર નિશાન કરીને મને તેની ખબર આપજે. બાળક નાહડે જોગિની તે વાતનો સ્વીકાર કર્યો અને દૈવયોગે થોડા જ દિવસમાં તેની દૃષ્ટિએ એવું એક ઝાડ પડ્યું. યોગિને ખબર કરવાથી તે તેની સાથે ગયો. પછી યથોક્ત વિધાનપૂર્વક યોગિએ ત્યાં અગ્નિ સળગાવ્યો અને તેમાં તે રક્તક્ષીર વૃક્ષને પ્રજ્વાલી તેની આસપાસ પ્રદક્ષિણા કરવા લાગ્યો અને બાળક નાહડને પણ તેમ કરવાનું સૂચન કર્યું. નાહડ પોતાની ચંચલ બુદ્ધિવડે યોગિના મનની દુષ્ટવૃત્તિને તાડી ગયો અને તેથી તે પંચનમસ્કાર મંત્રનું સ્મરણ કરવા લાગ્યો. તે મંત્રના પ્રભાવથી જોગિનું સામર્થ્ય હણાઈ ગયું અને આખરે નાહડે જ તેને ઉપાડી તે અગ્નિમાં નાંખી દીધો. અગ્નિમાં પડતાંની સાથે જ તે સુવર્ણમય બની ગયો. આથી નાહડના મનમાં મંત્રના માહાત્મ્ય વિષે ઉંડી શ્રદ્ધા બેઠી. તે મનમાં વિચાર કરવા લાગ્યો કે—હું શી રીતે એ મંત્રપ્રદાયક ગુરુનો પ્રત્યુપકાર કરી શકું? એમ વિચાર કરીને તે ગુરુ પાસે આવ્યો ને તેમના પગે પડી તે બધી હકીકત કહી; અને કહ્યું કે હવે મારે શું કરવું જોઈએ તેની મને આજ્ઞા કરો. ગુરુએ જિનમંદિર બંધાવવાનો ઉપદેશ આપ્યો અને તેથી તેણે ૨૪ ચૈત્યો બંધાવ્યાં. ક્રમે ક્રમે તેણે મોટી રાજ્યસમૃદ્ધિ મેળવી અને તે વડે પોતાનું પૈતૃક રાજ્ય પાછું વાળ્યું.

એક દિવસે તેણે ફરી જજ્જગસૂરિને વિનંતી કરી કે–પૂજ્ય, આવું કોઈ કાર્ય બતાવો જેના કરવાથી તમારી અને મારી કીર્તિ લાંબા સમય સુધી વિદ્યમાન રહે. ત્યારે જ્યાં આગળ, ચ્યારે સ્તનમાંથી ગાય દૂધની ધારા છોડતી હતી, એવી એક ભૂમિ ગુરુએ તેને બતાવીને કહ્યું કે આ અભ્યુદયકારક સ્થાન છે. એથી તે રાજાએ ત્યાં આગળ, ભગવાન મહાવીરના નિર્વાણ પછી ૬૦૦ વર્ષે, મોટું, આકાશસુધી જેનું શિખર પહોંચે એવું મંદિર બંધાવ્યું; અને તેમાં પિત્તલની બનેલી મહાવીરસ્વામિની ભવ્ય મૂર્તિ સ્થાપિત કરી જજ્જગસૂરિના હાથે તેની પ્રતિષ્ઠા કરાવી. જ્યારે પ્રતિષ્ઠા કરવા આચાર્ય

આવતા હતા ત્યારે વચ્ચે માર્ગમાં એક સારા મુહૂર્તમાં નાહડરાયના પૂર્વપુરુષ વિંઝરાય (વિંધ્યરાજ) ની અશ્વારૂઢ મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા કરી. બીજા એક સારા મુહૂર્તમાં, ગોણુ જેવી જમીન જોઇને, ગુરુજીના આ દેશથી શંખનામે ચેલાએ દાંડાનો ઘોદો મારી કૂવો બનાવી દીધો. લોકો આજે પણ તેને શંખકુવાના નામે ઓળખે છે. એ કૂવો બાકીના દિવસોમાં સૂકો હોય તો પણ વૈશાખપૂર્ણિમાના દિવસે તો પાણીથી ભરાએલો હોય છે. ત્રીજા લગ્નમાં વીરમૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા કરી. જે લગ્નમાં એ વીરસ્વામિની પ્રતિષ્ઠા કરી, તે જ લગ્નમાં **દુગ્ગાસૂય** ગામે અને **વયણપ** ગામે પણ મહાવીરની બે મૂર્તિઓની સાધુ અને શ્રાવકના હાથે પ્રતિષ્ઠાઓ કરવામાં આવી. એ વીરપ્રતિમાની નાહડરાજા રોજ પૂજા-અર્ચા કરતો. આ રીતે નાહડરાજાએ પ્રતિમાની સ્થાપના કરી હતી, તેના પ્રતીહારિ તરીકે બ્રહ્મશાન્તિ યક્ષ સદા તેની સાંનિધ્યમાં રહેતો અને તે પ્રતિમાની પર્યુપાસના કરતો હતો.

આ પછી જિનપ્રભસૂરિએ બ્રહ્મશાંતિ યક્ષનો પરિચય આપ્યો છે. એ યક્ષ તે બીજો કોઇ નહિ પણ કલ્પસૂત્રમાંની ટીકામાં વર્ણવેલો શૂલ પાણી યક્ષ છે. યક્ષનું વર્ણન આપીને પછી જિનપ્રભસૂરિએ એ તીર્થને લગતી કેટલીક ઉપયોગી ઐતિહાસિક બીના આપી છે જે નીચે પ્રમાણે છે.

હવે, ગૂર્જરાતભૂમિના પશ્ચિમ ભાગમાં **વલભી** એવે નામે ઋદ્ધિ-સમૃદ્ધિથી ભરપૂર એવી નગરી છે. ત્યાં **શિલાદિત્ય** નામનો રાજા રાજ્ય કરે છે. તેણે રત્ને જડેલી કાંકસીના લોભે પ્રેરાઈ રંક નામે સેઠને સતાવ્યો. તેથી તે સેઠ કોપે ભરાયો, ને રાજાનો નાશ કરવા માટે, **ગજનીના** સ્વામી હમ્મીરને ખૂબ ધન આપી, તેના મોટા સૈન્યને બોલાવી લાવ્યો. તે વખતે, અધિષ્ઠાયક દેવતાના બળે વલભીમાંથી ચંદ્રપ્રભ સ્વામિની પ્રતિમા, અંબા અને ક્ષેત્રપાલની મૂર્તિઓ સાથે, આકાશમાર્ગે થઈ, દેવપાટણમાં જઈ પહોંચી. વીરનાથની જે પ્રતિમા હતી. તે તેના અધિષ્ઠાયકના સામર્થ્યથી, કોઇએ ન જાણેલા ગુપ્તમાર્ગે, રથારૂઢ થઇને ચાલતી ચાલતી આસો જ સુદી પૂર્ણિમાના દિવસે શ્રીમાલપુરમાં જઈ પહોંચી. બીજા પણ અતિશયવાળા દેવો યથોચિતસ્થાને જઈ વસ્યા. નગરદેવતાએ શ્રીવર્દ્ધમાનસૂરિ નામના આચાર્યને થનારા ઉત્પાતની આગાહી આપી અને કહ્યું કે, જ્યાં આગળ સાધુઓને મળેલું દૂધ રૂધિર થઇને ફરી પાછું દૂધ થઈ જાય ત્યાં તમારે વસવું. પછી ગજનીથી આવેલા તે હમ્મીરના સૈન્યે વિક્રમ સંવત્ ૮૪૫ માં વલભી નગર ભાંગ્યું અને તે રાજાને મારી નાંખ્યો. પછી તે હમ્મીર પોતાના સ્થાને ચાલ્યો ગયો.

ત્યારબાદ, બીજી વખતે, બીજો એક ગજનીપતિ, ગૂર્જરદેશને ઉધ્વસ્ત કરીને ત્યાંથી ચાલતો વિક્રમ સંવત્ ૧૦૮૧ ના વર્ષમાં સાચોરમાં આવ્યો. ત્યાં તેણે વીર ભગવાનનું મનોહર મંદિર જોયું. મારો મારો કરતા તે મ્લેચ્છો મંદિરમાં પેઠા. મોટા હાથીઓ જોડીને તે મહાવીરની પ્રતિમાને બહાર તાણવા લાગ્યા. પણ તે પોતાના સ્થાનેથી લેશમાત્ર પણ ન હાલી. ત્યારે બળદોની જોડીઓ લગાડીને તેને ખેંચવા માંડી. તે વખતે પૂર્વભવના અનુરાગબળે બ્રહ્મશાંતિ યક્ષે માત્ર ૪ આંગળ તે મૂર્તિને ખસવા દીધી. તે પછી સ્વયં ગજનીપતિએ હાંકવા છતાં પણ બળદો જરાએ તે મૂર્તિને ખસેડી ન શકયા. છેવટે મ્લેચ્છાધીશ વિલખો થયો, તેથી તે મૂર્તિ ઉપર તેણે ઘણોના ઘા કરવા માંડયા. પણ તે ઘા મૂર્તિને લાગવાને બદલે તેની અંતઃપુરની સ્ત્રીઓ ઉપર પડવા માંડયા. તેથી ખિન્ન થઇને તે તુર્કોએ ખડ્ગના પ્રહારવડે વીરની માત્ર એક આંગળી કાપી લીધી, અને તે લઇને ચાલતા થયા. પણ તેથી તેમના ઘોડાઓની પુંછડીઓમાં આગ લાગી. મ્લેચ્છોને મૂર્છા આવવા લાગી. પછી તેઓ ઘોડાઓને તજીને પગે ચાલવા લાગ્યા પણ તેથી તો તેઓ ધબ કરતાને જમીન ઉપર જ પડવા લાગ્યા. આથી રહમાનને સ્મરતા થકા દીન જેવા બની ગયા. તે વખતે આકાશવાણીવડે તેમને સંભળાયું કે મહાવીરની આંગળી કાપીને તમે તમારા જીવિતને આ પ્રમાણે સંશયમાં નાંખ્યું છે. તે સાંભળી ગજનીપતિ વિસ્મયપામી માથું ધુણાવતો છતો પોતાના સિપાહીઓને

તરત હુકમ આપ્યો કે આ આંગળી પાછી ત્યાં જઇને મુકી આવો. પછી ડરતા થકા તેઓ પાછી તે આંગળી ત્યાં મુકવા આવ્યા. તેમણે આશ્ચર્યની સાથે જોયું કે મુકતાંની સાથે જ તે આંગળી ભગવાનના હાથે ચોંટી ગઈ. એ ચમત્કાર જોઇને તુરકોએ તે પછી સાચોરમાં પેસવા પણ માગ્યું નહિ. જૈન સંઘ બહુ ખુશી થયો. ગીત, નૃત્ય, વાદિત્ર, પૂજા અને દ્રવ્યના દાન વગેરે વડે કરી તે મૂર્તિની પૂજા મહિમા કરવા લાગ્યો.

અન્ય વખતે, ઘણાં વર્ષો વીત્યાં બાદ, માલવાનો રાજા, ગૂજરાતની ભૂમિને લૂટતો થકો સાચોરના સીમાડામાં પહોંચ્યો. તે વખતે બ્રહ્મશાંતિ યક્ષે મોટું સૈન્ય દેખાડીને તેના લશ્કરને નસાડ્યું. તેના પડાવમાં અગ્નિ સળગી ઉઠ્યો, અને માલવાધિપતિ ખજાનો વગેરે મુકીને જીવ લઇ નાઠો. તે પછી સંવત ૧૩૪૮ માં પ્રબળ એવું કફૂરનું લશ્કર આવ્યું. ગામલોકો નાસી છૂટયા અને મંદિરના દરવાજાઓ બંધ કરવામાં આવ્યાં. તે વખતે બ્રહ્મશાંતિ યક્ષના માહાત્મ્યથી ૪ યોજન દૂરથી જ અનાહત એવા વાજિંત્રોના ગંભીર સૂરો સાંભળી, સારંગદેવ મહારાજાના આગમનની શંકાથી એ મુગલોનું લશ્કર નાસી ગયું. તેણે સાચોરની સીમમાં પગ પણ ન મુકયો. તે પછી ૧૩૫૬ ની સાલમાં અલાઉદ્દીનનો નાનો ભાઇ ઉલૂખાન, મંત્રી માધવની પ્રેરણાવડે દિલ્લીથી ગૂજરાત તરફ નીકળ્યો. ચિત્તોડના સ્વામિ સમરસિંહે દંડ દઇને જેમતેમ મેવાડનો બચાવ કર્યો. ત્યાંથી તે યુવરાજ હમ્મીર (બાદશાહનો ભાઇ) વાગડદેશ અને મોડાસાનગરને લૂટી આસાવલીમાં પહોંચ્યો. કર્ણદેવ રાજા નાસી ગયો. સોમનાથ જઇ, ત્યાંના શિવલિંગને ઘણના ઘા મારી તોડી નાંખ્યું અને ગાડામાં ભરી દિલ્લી મોકલી દીધું. પછી વણથલી જઇ મંડલિકરાયને દંડ્યો અને સોરઠમાં પોતાની આણ પ્રવર્તાવી પાછો આસાવલીમાં આવીને રહ્યો. ત્યાં તેણે મઠ, મંદિર, દેવળ વગેરે બાળી નાંખ્યા. પછી અનુક્રમે ત્યાંથી સાચોર પહોંચ્યો પણ આગળની માફક જ અનાહત દૈવીસૂરો સાંભળીને એ મ્લેચ્છ સૈન્ય પણ જતું રહ્યું.

આવા અનેક ચમત્કારો સાચોરના મહાવીરદેવના વિષયમાં સાંભળવામાં આવે છે. પણ ભવિતવ્યતાના બળે, કલિકાળના પ્રભાવે, દેવતાઓ પણ પ્રમાદી બની જાય છે. તેમ જ ગોમાંસના લોહીના છાંટણાથી દેવતાઓ દૂર નાસી જાય છે. આવા કોઇ કારણોને લઇને બ્રહ્મશાંતિ યક્ષ કયાંયે પ્રમાદી થઇ દૂર ગયો હતો તેવે વખતે અલાઉદ્દીને તે જ અનંત માહાત્મ્યવાળી ભગવાન મહાવીરની મૂર્તિને, સંવત ૧૩૬૧ ની સાલમાં, દિલ્લીમાં આણીને તેની આશાતના–અવમાનના કરી!

આ પ્રમાણે જિનપ્રભસૂરિએ વંછિત ફળ આપનાર એવો આ સત્યપુરતીર્થનો કલ્પ બનાવ્યો છે. તેનું ભવ્યજનો નિત્ય વાંચન કરો અને ઇચ્છિત ફળ પામો.

(જુઓ, કલકત્તાની એશિયાટિક સોસાયટી માર્ફત પ્રગટ થયેલ **तीर्थकल्प**, પૃષ્ઠ ૮૮–૯૧)

જિનપ્રભસૂરિએ આ કલ્પમાં વર્ણવેલી સાચોરના મહાવીરદેવની અતિશયતાનું સંક્ષિપ્ત સૂચન કવિ ધનપાલના આ અપભ્રંશ સ્તોત્રમાં પણ સ્પષ્ટ રીતે કરેલું જણાઇ આવે છે. ચમત્કારિક વિગતો સિવાયની જે કેટલીક ઐતિહાસિક ભાસતી વિગતોનો ઉલ્લેખ જિનપ્રભસૂરિના કલ્પમાં આવેલો છે તે બધીનો, પ્રસ્તુત સ્તોત્ર સાથે સંબંધ ન હોવાથી વિગતવાર ઊહાપોહ કરવાનો અત્ર પ્રસંગ નથી. જિનપ્રભસૂરિના કથન પ્રમાણે સાચોર ઉપર મુસલમાનોની ૩–૪ વાર ચઢાઇ થઇ હતી. એમાં પહેલી એક ચઢાઇ સિવાય બાકીની બધી ધનપાલના સમય પછી બે અઢી સૈકા બાદ થએલી છે, એથી તુરકોએ કરેલા જે ઉત્પાતનું સૂચન ધનપાલ આ સ્તોત્રમાં કરે છે તે જિનપ્રભસૂરિના કથન પ્રમાણે વિક્રમ સંવત ૧૦૮૧ માં કરેલી ગજનીપતિ મ્લેચ્છરાયની સ્વારીના લીધે જ થએલો હોવો જોઇએ.

મહાકવિ ધનપાલ એ જ જમાનામાં વિદ્યમાન હતો. ધનપાલ કે જિનપ્રભ બંને એ ગજનીપતિ મ્લેચ્છ રાજાનું નામ આપતા નથી પણ આપણે ઇતિહાસ ઉપરથી તરત સમજી શકીએ તેમ છીએ કે એ ગજનીપતિ તે બીજો કોઇ નહિ પણ ભારતની પરાધીનતાનો સૂત્રપાત કરનાર ઇતિહાસ પ્રસિદ્ધ મહમૂદ ગજનવી જ છે. મુસલમાની તવારીખો પ્રમાણે એણે સંવત ૧૦૮૦–૮૧માં ગૂજરાત ઉપર ચઢાઈ કરી હતી અને ગૂજરાતની રાજધાની પાટણને લૂટી કરી ભારતવિખ્યાત સોમનાથની મહનીય મૂર્તિનો ધ્વંસ કર્યો હતો. ગુજરાતનો રાજા સોલંકી ભીમદેવ તે વખતે રાજધાની છોડીને કચ્છમાં જઇ છુપાઈ રહ્યો હતો, એમ મુસલમાન લેખકોનું કથન છે. પણ અણહિલપુર કે સોમનાથના આ પરાજયનો ઉલ્લેખ ગૂજરાતના અન્ય કોઇ ગ્રંથકારે કરેલો, હજી સુધી જાણવામાં આવ્યો ન હતો તેથી, ઇતિહાસના અભ્યાસીઓ માટે આ એક મોટો કોયડો જ કહેવાય છે. પરંતુ, જિનપ્રભસૂરિએ, ઉપર જણાવ્યું તેમ, સંવત ૧૦૮૧ માં ગજનીપતિએ કરેલી ગૂજરાત ઉપરની સ્વારીનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ કરેલો છે અને ધનપાલે પોતાના આ સ્તોત્રમાં અણહિલપુર, સોરઠ, અને સોમેશ્વર વગેરે સ્થાનો તુરકો વડે ભગ્ન થયેલાં જણાવ્યાં છે. તેથી એ કોયડાનો ચોક્કસ ઉકેલ આવી જાય તેમ છે. આમ ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ જોતાં ધનપાલનું આ સ્તોત્ર એક ઘણી મહત્ત્વની નોંધ પુરી પાડે છે. આ સ્તોત્રની ત્રીજી કડીમાં ધનપાલ કહે છે કે–તુરકોએ શ્રીમાલદેશ, અણહિલવાડ, ચડ્ડાવલ્લિ (ચંદ્રાવતી) સોરઠ, દેલવાડા અને સોમેશ્વર એ બધાં સ્થાનોનો નાશ કર્યો છે. અને એક માત્ર સાચોરના મહાવીરને જ તેઓ ભાગી નથી શક્યા. ધનપાલે સૂચવેલા આ નામોમાંથી એકાદ નામ સિવાય બાકીનાં બધાં નામો મહમૂદ ગજનવીની ચઢાઇ સંબંધીનાં જે મુસલમાની વર્ણનો છે તેમાં બરાબર મળી આવે છે.

મહમૂદ ગજનવી સાચોર ગયો હતો કે નહિ તેનો કશો ઉલ્લેખ મુસલમાની તવારીખોમાં મળતો નથી. તેથી સાચોરની મહાવીરની મૂર્તિના સંબંધમાં જે ચમત્કારિક પ્રભાવ આ સ્તોત્રમાં વર્ણવેલો છે તે માટે કોઈ અન્ય ઐતિહાસિક પ્રમાણ આપી શકાય તેમ નથી. તેમ જ આવાં ચમત્કારિક કથનોનું સમર્થન કરવાનું ધોરણ વૈજ્ઞાનિક ઇતિહાસશાસ્ત્રને સમ્મત પણ નથી. પણ જેમ હિંદુ ગ્રંથકારોમાં ચમત્કારવિષેની ઊંડી શ્રદ્ધા રહેલી હોય છે તેમ મુસલમાન ગ્રંથકારોમાં પણ રહેલી હોય છે, તેથી એ ગ્રંથોમાં જો આવી બાબતને લગતા પુરવાઓ શોધી કાઢવાનું વલણ રખાય તો તેને શોધખોળના ક્ષેત્રમાં સ્થાન અવશ્ય આપી શકાય તેમ છે. એટલા માટે અમે આ બાબતની અહિં નોંધ માત્ર લીધી છે. બાકી મુસલમાન લેખકો કાફર લોકોના દેવતાઓની ચમત્કારિક શક્તિનો સ્વીકાર કરે એમ થોડું માની શકાય તેમ છે ? માટે એમના સાહિત્યમાં આવી નોંધની આશા રાખવી એતો વ્યર્થ જેવી જ છે.

હિંદુઓનાં ઐતિહાસિક સાધનોમાં મહમ્મૂદે કરેલી સોમનાથની સ્વારીનું સૂચન સરખું યે ન મળી આવતાં છતાં, જેમ મુસલમાનોના કથન ઉપરથી આપણે તે વાતને ઇતિહાસમાં સ્થાન આપીએ છીએ, તેમ ધનપાલ અને જિનપ્રભસૂરિના કથન ઉપરથી સાચોર સંબંધી આ હકીકતને (મહમૂદ કે તેના સૈન્યની એ સ્થળ ઉપર ચઢાઇ થઈ અને સોમનાથની માફક ત્યાંના મહાવીરની મૂર્તિને પણ તેણે તોડવા પ્રયત્ન કર્યો પણ તે સફળ ન થયો એ બાબતને) પણ ઐતિહાસિક ઘટના શા માટે ન ગણી શકાય. જૈન ગ્રંથોના અવલોકનથી એ તો સ્પષ્ટ સમજાય છે કે, સોરઠના સોમનાથની સમાન સાચોરના મહાવીર પણ તે જમાનામાં ઘણા પ્રખ્યાત હોવા જોઇએ. ધારાની રાજસભાના મુખ્ય પંડિત જેવો મહાકવિ ધનપાલ, જેમ આગળ ઉપર જણાવાશે, એ સ્થાને તીર્થસેવા કરવા માટે આવીને વસી રહે તેમાં એ સ્થાનની મોટી પ્રતિષ્ઠા જ મુખ્ય કારણ હોઇ શકે. એવા સુપ્રસિદ્ધ તીર્થસ્થળમાં, જૈન જેવી બહુ સમૃદ્ધિવાળી–અને તે કાળે તો ખૂબ સત્તાધારી પણ–ગણાતી જાતિએ, પોતાની ધાર્મિક ઉદારતાના ઉદાહરણ રૂપે કેટલી

બધી અઢળક સંપત્તિ ખર્ચી નાંખી હશે તેની કલ્પના, આજના જૈન તીર્થોની સમૃદ્ધિને જોઇને પણ સહેજ કરી શકાય તેમ છે. આવા એક સમૃદ્ધિસંપન્ન દેવસ્થાનની મહમૂદને ખબર ન પડે એ માની શકાય તેમ નથી. કારણ, એક તો તે ભારતના પ્રસિદ્ધ દેવસ્થાનોને ભ્રષ્ટ કરવાની કીર્તિનો ભયંકર ભુખ્યો હતો અને બીજું તે સ્થાનોની સંપત્તિને લૂટવાનો પણ તેટલો જ ઉગ્ર તરસ્યો હતો. પોતાના આ સ્વભાવને લઈને તેણે ભારતના બધાં સંપત્તિશાલી અને કીર્તિશાળી સ્થાનોની ચોક્કસ ભાળ મેળવી લીધી હતી અને એક પછી એક તે બધાનો વિધ્વંસ કરવો તેણે આરંભ્યો હતો. અને તેમાં વળી સાચોરના આસપાસના પ્રદેશમાં તો તે સારી પેઠે ફરી વળ્યો પણ હતો. માટે તેના જેવા મહાકુશલ લૂટારાથી સાચોરના દેશ પ્રસિદ્ધ મહાવીર અજ્ઞાત રહે એ માનવું ભૂલ ભરેલું ગણાય. આ કારણોથી આપણને માનવાનું પ્રાપ્ત થાય છે કે તેણે સાચોર ઉપર સ્વારી તો કરી જ હશે; પણ ગમે તે કારણથી, તેને એમાં સફળતા નહિં મળી હોય અને તેથી મહાવીરની મૂર્તિનો વિધ્વંસ કર્યા સિવાય એ જતો રહ્યો હશે. એવા જ કોઇ અજ્ઞાત કારણને ધનપાલ અને જિનપ્રભસૂરિ અતિશયતા ગાનતા હોય એમ જણાય છે જિનપ્રભસૂરિ ગૂજરાત ઉપર થએલી એ ચઢાઈનું જે ચોક્કસ વર્ષ આપે છે તે અન્ય ઇતિહાસો ઉપરથી યથાર્થ ઠરતું હોવાથી, તેમ જ એમના સિવાય બીજા કોઇ હિંદુ ગ્રંથકારે આ ચઢાઇને લગતી કશીયે હકીકત આપેલી ન હોવાથી, તેની ઉપયોગિતા અને પ્રામાણિકતા પુરવાર થાય છે. ધનપાલનું કથન તો એથીયે વધારે પ્રમાણભૂત છે; કારણ કે તે તો એ વખતે પ્રત્યક્ષ વિદ્યમાન હતો. પ્રભાવકચરિત્ર અને પ્રબંધચિંતામણી ગ્રંથોમાંના વર્ણન ઉપરથી સમજાય છે કે, મહમૂદ ગજનીની ભારતમાંની આખી કારકીર્દી દરમ્યાન એ જીવિત હશે. સાચોર ઉપર તુર્કોના થએલાં હુમલા પછી તરત જ કે બેચાર વર્ષની અંદર જ એ ત્યાં જઇને રહેલો હશે. કારણ કે તે વખતે એની ઉમર સારી પેઠે પુખ્ત થવા આવી હતી. પાઇયલચ્છી નામમાલા નામે જે પ્રાકૃતશબ્દ કોષ એણે બનાવેલો છે તેની સમાપ્તિ સંવત્ ૧૦૨૯ જેટલા પાછળના વર્ષમાં જ થઇ ગઈ હતી. જો આપણે એ રચનાને એની બહુ નાની ઉમરમાં થએલી ગણીએ તો પણ તે ઓછામાં ઓછી ૨૦ વર્ષ જેટલી તો હશે જ અને તે રીતે જોતાં સંવત્ ૧૦૮૧ માં તેની અવસ્થા લગભગ ૭૦ વર્ષ જેટલી થવા આવી હશે. સંભવ છે કે એ પછી પણ તે ૧૦-૨૦ વર્ષ જીવિત હોય. પણ તે કરતાં કાંઈ વિશેષ કહી ન શકાય. એટલે તુર્કોની સાચોરવાળી સ્વારીનું જે સૂચન, એના કરેલા આ પ્રસ્તુત સ્તોત્રમાંથી મળી આવે છે, તે બનેલા બનાવના બહુ જ નિકટવર્તી સમયમાં જ થએલું છે એ અર્થાપત્તિથી જ સાબીત થઇ જાય છે.

આ સ્તોત્રનું નામ ઉત્સાહ એવું આપેલું છે. 'ઉત્સાહ'ની રચના પ્રતિષ્ઠા વગેરે જેવા કોઇ મોટા મહોત્સવના પ્રસંગે ગાવા માટે કરવામાં આવેલી હોય છે. જેમ કોઇ રાજ્યસિંહાસન ઉપર શત્રુની ચઢાઇ થાય અને તે ચઢાઇમાં એ સિંહાસન અચળ રહી ફરી પાછી નવી પ્રતિષ્ઠા પામે, ત્યારે એ રાજ્યના ઉપાસકોને જે જાતનો હર્ષોલ્લાસ થાય અને એ હર્ષોલ્લાસના નિદર્શક તરીકે રાજકવિઓ જે જાતના ઉત્કર્ષક ગીતો ગાય તે જાતના કવનોને ઉત્સાહ નામ આપવામાં આવે છે.

ધનપાલકૃત આ મહાવીરોત્સાહ પણ એ જ પ્રકારની કૃતિ છે. આમાંથી એ સ્પષ્ટ ધ્વનિત થાય છે કે મહાવીર ઉપર કોઈ અનિષ્ટ આક્રમણ થએલું છે અને તે આક્રમણમાંથી એ દેવમૂર્તિ સહીસલામત બચી ગઇ છે, જેથી કવિ તેના અભંગપણાનાં ગૌરવવાળાં ગુણગાન કરે છે. જિનપ્રભસૂરિ તીર્થકલ્પમાં જે એમ જણાવે છે કે–મહાવીરના દૈવી સામર્થ્યને લઇને ગજ્જનીપતિ જ્યારે વિલખો થઇને જતો રહ્યો ત્યારે પરિતુષ્ટ થએલો જૈન સંઘ **वीरभवणे पूआ महिमा गीय नट्ट वाइत्त दविणदाणेहिं पभावणं करेइ** એટલે કે મહાવીરના મંદિરમાં પૂજા, મહિમા, ગીત, નૃત્ય, વાજિંત્ર અને દ્રવ્યનાં દાન

વગેરે વડે પ્રભાવના કરવા લાગ્યો. સંભવ છે કે, એજ પ્રભાવના પ્રસંગે મહાકવિ ધનપાલ ત્યાં ઉપસ્થિત હોય અને પોતે પણ આ ગીત બનાવી એ પ્રભાવનાના કાર્યમાં સમ્મિલિત થયો હોય !

આ બધી હકીકત વાંચી વાંચકોને એ શંકા થશે કે કવિ ધનપાલ માલવાની ધારાનગરીની રાજસભાનો અગ્રણી પંડિત હોઇને તે મરુભૂમિના સાચોરમાં શા માટે જઇને રહ્યો અને તે માટે શો પુરાવો છે ? આ નીચે એજ બાબત સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે.

પ્રભાવક ચરિત્રમાં શ્રીમહેન્દ્રસૂરિના પ્રબન્ધમાં કવિ ધનપાલને લગતી વિસ્તૃત હકીકત આપેલી છે તેમાં જણાવ્યું છે કે–ધારાના વિદ્વાન્ નૃપતિ ભોજદેવને કોઈ જૈન કથા સાંભળવાની ઇચ્છા થવાથી કવિ ધનપાલે બાર હજાર શ્લોક પ્રમાણવાળી **तिलकमंजरी** નામે નવરસ પરિપૂર્ણ ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારની કથા બનાવી. તેને ગૂજરાતના મહાવિદ્વાન્ વાદિવેતાલ શ્રી શાન્ત્યાચાર્ય પાસે, જૈન પદ્ધતિની સંગતિની દૃષ્ટિએ તપાસરાવીને પછી તે રાજાને રસપૂર્વક સંપૂર્ણ સંભળાવી. રાજા ભોજ એ કથા સાંભળીને બહુ મુગ્ધ બન્યો. તેના મનમાં આવ્યું કે આ કથા સાથે મારૂં નામ સંકલિત થાય તો તેથી હું અમર બનું; એટલા માટે તેણે કવિને કહ્યું કે, જો તમે ખોટું ન લગાડો તો હું એમાં થોડાંક પરિવર્તનો કરવા સૂચન કરૂં. એમ કહી તેણે જણાવ્યું કે આ કથાની આદિમાં મારા ઇષ્ટદેવ શિવનું મંગલ કરવું, અયોધ્યા નગરીના નામને બદલે ધારાનું નામ મુકવું, શક્રાવતાર તીર્થના સ્થાને મહાકાલનું નામ લખવું, ઋષભદેવના નામની જગ્યાએ શંકરના નામનો નિર્દેશ કરવો અને મેઘવાહન રાજાના બદલે મારૂં–ભોજરાજાનું નામ દાખલ કરવું. આટલું પરિવર્તન જો આમાં કરાય તો હું તને યથેષ્ટ દાન–માન આપી તારી કીર્તિને જગત્માં ફેલાવું. રાજાનો આ વિચાર સાંભળી કવિએ કહ્યું કે, મહારાજ શું તમે નથી જાણતા કે શ્રોત્રિયના હાથમાં રહેલા પવિત્ર પયઃપાત્રમાં જો એક છાંટો સરખો પણ મદ્યનો પડી જાય તો તે સર્વે અપવિત્ર બની જાય છે. તેમ આ કથા રચનામાં કિંચિત્ માત્ર પરિવર્તન કરવાથી પણ આની પવિત્રતામાં મોટી હાનિ થાય, અને તેના લીધે કુળ, રાજ્ય અને રાષ્ટ્રનો પણ ક્ષય થાય. કવિનાં આવાં વચનો સાંભળી રાજા ક્રોધે ભરાયો અને તે ક્રોધના આવેશમાં મોંઢા આગળ જે અગ્નિ બળતી સગડી પડી હતી તેમાં તે કથા–પુસ્તક નાંખી દીધું. આ જોઈ કવિ પણ ગુસ્સે થયો અને, આજ પછી તારૂં મોંઢું જોવું તો હરામ છે, એમ કહી ત્યાંથી ઉઠી પોતાને ઘરે આવ્યો. ખિન્ન ચિત્ત થવાથી બીછાના ઉપર પડ્યો પડ્યો આમતેમ આળોટ્યા કરે પણ સ્નાન, દેવપૂજા, કે ભોજન વગેરે નિત્યનિયમ પણ કરવા ન ઉઠે. એ જોઈ તેની સાક્ષાત્ સરસ્વતીની મૂર્તિ જેવી નવ વર્ષની જે નાની પુત્રી હતી તેણે બહુ આગ્રહપૂર્વક ખિન્નતાનું કારણ પૂછ્યું. કવિએ રાત્રે બનેલી બધી વાત કહી સંભળાવી. ત્યારે તે પુત્રીએ કહ્યું કે, આમાં શું છે તે આટલા બધા ખિન્ન થયા. એ કથા હું તમને ફરી લખાવી દઉં–અને તે બધી મોંઢે છે. એમ કહી તેણે તરતજ કથાપીઠ જેટલો ભાગ તેની આગળ બોલી બતાવ્યો જેથી કવિના મનને આલ્હાદ થયો અને પછી ક્રમથી તે પુત્રીના મોંઢેથી આખી કથા ફરી લખી લીધી. બન્યું એમ હતું કે, કવિ જ્યારે એ કથાની રચના કરવા બેસતો ત્યારે તે પુત્રી રોજે–નિયમથી એ સાંભળી લેતી અને પોતાની અદ્ભુત સ્મરણશક્તિના બળે એને યથાવત્ ધારી લેતી. આ રીતે આખી કથા તેને કંઠે થઇ રહેલી હતી. ફક્ત જ્યારે વચ્ચે કોઇ દિવસે તેના સાંભળવામાં નહિ આવ્યો હોય તેટલો ભાગ ખંડિત રહ્યો, જે કવિએ પોતાની બુદ્ધિથી પૂરી કાઢ્યો અને એમ એ કથા ફરી આખી પુરી કરી લીધી. છતાં, તેમાં ત્રણ હજાર શ્લોક જેટલી ત્રુટી રહી અને તેથી બાર હજારને બદલે નવ હજાર શ્લોક પ્રમાણ જેટલી એ કથા પ્રસિદ્ધિમાં આવી. રાજા તરફથી આ રીતે અપમાન થએલું માની કવિ ધારાનગરી છોડીને પશ્ચિમ દિશા તરફ ચાલી નીકળ્યો અને શ્રેષ્ઠ એવા સત્યપુર નામના નગરમાં આવી પહોંચ્યો. ત્યાં આગળ શ્રી મહાવીરદેવનું શાશ્વતસ્થાન

જેવું ચૈત્ય જોઈને તે પરમાનંદ પામ્યો. પછી ત્યાં આગળ તેણે વિરોધાભાસ શબ્દાર્થભરેલી **णिम्मलणाहे वि** એ પદથી શરૂ થતી મહાવીરની સુંદર સ્તુતિ કરી જે અદ્યાપિ વિદ્યમાન છે (અને તે આ અંકમાં અન્યત્ર આપેલી છે). આ રીતે એ તીર્થની ઉપાસના કરતો તે કવિ ત્યાં જ રહેવા લાગ્યો.

આમ કેટલોક સમય કવિ સત્યપુરમાં રહે છે. તે દરમ્યાન ધારામાં એક મોટો વાદી આવે છે, અને તે ભોજની સભાને વાદવિવાદ માટે 'ચેલેંજ' આપે છે. ત્યારે ભોજને એની ગેરહાજરી ભારે, ખુંચે છે અને તેથી તે પોતાના પ્રધાન પુરુષો મોકલી એને ફરી આદરપૂર્વક તેડાવે છેઃ સ્વદેશાનુરાગને લીધે કવિ ફરી ધારા જાય છે. તે વખતે રાજા ભોજ એની સામે આવે છે અને એનો અત્યંત આદર કરી પોતે કરેલા અપરાધની ક્ષમા માંગે છે. કવિ ઉદાર મનથી તે આપે છે અને આવેલા વાદીને પોતાના પાંડિત્યથી પરાજિત કરી ભોજની સભાનું મુખ ઉજ્જવલ કરે છે.

આ કથન ઉપરથી કવિ ધનપાલનું સત્યપુર–સાચોરમાં થએલું આગમન અને ત્યાં રચેલી મહાવીર સ્તુતિ વગેરે બાબતનું સ્પષ્ટીકરણ થઇ જાય છે.

પ્રસ્તુત ઉત્સાહમાં, સાંચોરના એ મહાવીર ઉપર તુર્કો સિવાય બીજા પણ એક કોઈ રાજાએ કરેલા આક્રમણનો નિર્દેશ કરેલો છે જે ૫–૬–૭ નંબરવાળી કડીઓમાં જોવાય છે. પણ એ નિર્દેશ બહુ સ્પષ્ટ સમજાતો નથી તેથી એ વિષે કાંઈ ઊહાપોહ કરી શકાય તેમ નથી. કોઈ જોગ નામના રાજાએ એ આક્રમણ કરેલું હોય એમ લાગે છે. તેણે ઘોડા અને હાથીઓને જોડી ભગવાનની મૂર્તિને દોરડાઓ વડે તાણી કાઢવાનો પ્રયત્ન કર્યો છે તેમ જ કુહાડાના ઘા મારીને પણ એ મૂર્તિને તોડી નાંખવાનો ઉપાય અજમાવી જોયો છે. છતાં એ મૂર્તિ, દૈવબળે સ્થિર થઈને રહી છે અને એના ઉપર લાગેલા કુહાડાના ઘાના નિશાન, 'આજે પણ નજરે દેખાય છે' એમ એ શ્રદ્ધાળુ કવિ ભક્તિપૂર્વક કહે છે.

આગળ જતાં ૧૩ મી કડીમાં કવિ એક બીજી પણ મુદ્દાની વાત જણાવે છે. એ કહે છે કેઃ—કોરિંટ, શ્રીમાલ, ધાર, આહાડ, નરાણા, અણહિલવાડ, વિજયકોટ અને પાલીતાણા વગેરે સ્થાનોમાં ઘણી દેવમૂર્તિઓ જોઇ (?) પણ સાચોરના મહાવીરને જોઇને જેવું મન ઠરે છે તેવું ક્યાંયે ઠરે તેમ નથી. આમાં જે સ્થાનોનાં નામ જણાવ્યાં છે તે બધાં ઇતિહાસ પ્રસિદ્ધ છે અને તે વખતે સુપ્રસિદ્ધ સ્થાનો તરીકે તે ગણાતાં હતાં. કવિએ તે બધાં સ્થાનો જોયાં હોય તેમ આ કડી ઉપરથી સ્પષ્ટ સમજાય છે; અને એ બધાં સ્થાનો કરતાં સાચોરમાં જ એને વધારે ચિત્તસંતોષ થયો હોય તેવું લાગે છે.

આમ આ સ્તોત્રમાંથી તીર્થ માહાત્મ્ય ઉપરાંત ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ વિચારણીય એવી જે વાત મળી આવે છે તે શ્રદ્ધાળુજનો સિવાય અન્યને પણ મનન કરવા પ્રેરે તેમ છે. ભાષા અને રચનાની દૃષ્ટિએ જોતાં પણ આ કૃતિ બહુ સરસ છે. શબ્દશૈલી પ્રાસાદિક અને વસ્તુ ભક્તિરસપૂર્ણ છે.



મહમૂદ ગજનવી અને સોરઠના સોમનાથ

આ પહેલાંના લેખમાં મહમૂદ ગજનવીએ કરેલા સોરઠના સોમનાથના ધ્વંસ વિષેની વાત આવી છે. પ્રસ્તુત પત્રના પાઠકો કદાચિત્ એ વાતથી વિશેષ માહિતગાર ન હોય; તેમ જ મહમૂદ કયાં કારણોને લઇને ભારતનાં આ મહાન્ દેવસ્થાનોને નષ્ટભ્રષ્ટ કરવા પ્રેરાયો અને તેમાં ઘણે ભાગે સફળ થયો, તેનો વિચાર પણ ઘણાં જિજ્ઞાસુઓને નહિ આવ્યો હોય, તે માટે અહિં એ સંબંધી કેટલીક વિચારણીય હકીકત આપવાનું ઉચિત ધાર્યું છે.

મહમૂદ ગજનવીએ હિંદુસ્થાનને લૂટવા અને સામર્થ્યહીન બનાવવા માટે, એક પછી એક એમ લગાતાર ૧૬-૧૭ ચઢાઇઓ આ દેશ ઉપર કરી હતી. તેમાં સૌથી છેલ્લી ચઢાઇ સોમનાથ ઉપરની હતી. સોમનાથને ઉધ્વસ્ત કર્યા પછી તેણે બીજી કોઇ મહત્ત્વની ચઢાઇ કરી નથી. સોમનાથના વિજય પછી તેને લાગ્યું હશે કે તેના પ્રાક્રમરૂપી પ્રાસાદ ઉપર એ વિજયથી કળશારોપણ થઇ ગયું, ને હવે બીજું કાંઇ મેળવવા કે જીતવા લાયક બાકી રહ્યું નથી. સોમનાથનો નાશ કરી તે સિંધના રસ્તેથી સીધો ગજની જતો રહ્યો અને ત્રણેક વર્ષ પછી તે ત્યાં પોતાની જીવનલીલા સમાપ્ત કરી ગયો.

ભારતનાં દેવસ્થાનોમાં સોમનાથ તે વખતે એક ઘણું પ્રસિદ્ધ અને પૂજનીય સ્થળ ગણાતું હતું. હિંદુલોકો તે વખતે મોટે ભાગે શિવની ઉપાસના કરતા હતા અને સોમનાથ શિવનું એક સર્વોત્કૃષ્ટ ધામ મનાતું હતું; તેથી એ સ્થળે ભારતના ચારે ખૂણેથી અસંખ્ય મનુષ્યો યાત્રા કરવા આવતા હતા. મોટા મોટા રાજા મહારાજાઓ અને ધનવાન ગૃહસ્થો એ સ્થળમાં આવીને દિવસોના દિવસો રહેતા અને લાખો કરોડો રૂપીઆ એ સ્થાન નિમિત્તે દાન કરતા. મહમૂદ ગજનવીના દરબારનો પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન્ અલ્બેરુની—જેણે ભારતવર્ષના પરિચયને લગતો અરબીભાષામાં એક અનન્ય ગ્રંથ લખ્યો છે તેણે—પોતાના ગ્રંથમાં સોમનાથની ખ્યાતિ વિષે સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ કર્યો છે. આવા મહાન્ સ્થાનને ભ્રષ્ટ કરવું અને તેની સમૃદ્ધિ લૂટી લેવી એ મહમૂદની મોટી ઇચ્છા હતી અને તેથી તેણે જીવનના અસ્તકાળમાં પણ પોતાની એ ઇચ્છાને પૂરી કરવાનો આખરે સમર્થ પ્રયત્ન કર્યો અને ભારતના કમનસીબે તેમાં તે સફળ થયો.

મહમૂદ સોમનાથ ઉપર જે ચઢાઇ લઇ ગયો તે મુલતાન, મારવાડ, ગૂજરાત અને કાઠિયાવાડના રસ્તે થઈ, લઇ ગયો હતો. એ વખતે જ તેણે, કવિ ધનપાલે જણાવેલાં શ્રીમાલદેશ (આબૂની પશ્ચિમનો પ્રદેશ), ચડ્ડાવલ્લિ (ચંદ્રાવતી) અને અણહિલપુર વગેરે સ્થળો લૂટયાં ભાગ્યાં હશે. અણહિલપુર ને દેલવાડા ભાગ્યાનો ઉલ્લેખ તો મુસલમાન લેખકોએ ચોક્ખો કરેલો જ છે. અણહિલપુરમાં તે વખતે ભીમદેવ રાજ્ય કરતો હતો. પ્રબંધચિંતામણિ વગેરે ગ્રંથોના આધારે ભીમદેવ સંવત્ ૧૦૭૭ માં ગાદીએ બેઠેલો હોય તેમ જણાય છે. એમ તો એ રાજા માટે બહુ પરાક્રમી હોવાના પુરાવાઓ મળી આવે છે. માળવાના પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન્ રાજા ભોજદેવ અને ચેદિના રાજા કર્ણદેવ ઉપર એણે ચઢાઇઓ કર્યાના ઉલ્લેખો મળે છે. ગૂજરાતના સર્વોત્કૃષ્ટ વિદ્વાન્ આચાર્ય હેમચંદ્રે, પોતાના દ્વ્યાશ્રય મહાકાવ્યમાં, એ રાજાના પરાક્રમીપણાનાં ખૂબ વખાણ કર્યાં છે. પણ એની નજર આગળ થએલા સોમનાથના ભંગનું સૂચન સરખુંયે એ આચાર્ય કરતા નથી. આથી પુરાતત્ત્વજ્ઞોના મનમાં એની કારકીર્દીના વિષયમાં સંદેહ રહ્યાં કરે છે. ફાર્બસ સાહેબ, રાસમાળા નામના ગૂજરાતના પ્રધાન ઇતિહાસ ગ્રંથમાં, આ વિષે પોતાનો અભિપ્રાય આપતાં જણાવે છે કે—'જૈન ગ્રંથકારો પોતાના વર્ણ્યરીત્તની પ્રતિષ્ઠાને હાનિ લાગે તેવી કશી વાત પોતાના ગ્રંથમાં જણાવતા નથી. દ્વ્યાશ્રયમાં સોમનાથની વાત હેમાચાર્યે બે વખત લખી છે. તેમાં એકવાર સિદ્ધરાજ જાત્રા કરવા જાય છે ત્યારે, અને બીજીવાર કુમારપાલ તેનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવે છે ત્યારે, પણ એકે વખત એ દેવાલય ભાગ્યાનો ઇસારો સરખોયે તે કરતા નથી.' અલબત્ત, ફાર્બસ સાહેબનું આ

કથન વિચારણીય છે જ; પણ એની સાથે એ વાત પણ એટલી જ વિચારણીય લાગે છે કે મહમૂદ ગજનવીનો ઇતિહાસ લખનારાઓમાં જે જૂનામાં જૂના લેખકો છે તેઓ પણ, તેના આ વિજયનો ઉલ્લેખ, પોતાના ગ્રંથોમાં બિલકુલ નથી કરતા. એ લેખકોમાં, સૌથી પહેલો તો ઉત્બી ગણાય છે જે ખુદ મહમૂદનો શિરસ્તેદાર હતો અને સોમનાથ ઉપર થએલી ચઢાઇ પછી લગભગ ૪ વર્ષ તો ચોક્કસ જીવિત હતો. તેણે મહમૂદના જીવનચરિત્રની સારી નોંધ લખી છે પણ તેમાં તેણે આ વિજયનો બિલકુલ ઉલ્લેખ કર્યો નથી. એ પછી લગભગ બસો વર્ષે રસીતુદ્દીન અને તે પછી ૨૦ વર્ષે હમીદુલ્લા નામના ગ્રંથકારો થયા જેમણે મહમૂદના વિષયમાં ઘણીક હકીકતો લખી છે પરંતુ તેમણે પણ એ વિજયનો ઉલ્લેખ કર્યો નથી. સોમનાથની ચઢાઇનું પહેલું વર્ણન લખનાર ઇબ્ન અસીર નામનો લેખક છે જે વિ. સં. ૧૨૮૬ (ઇ. સ. ૧૨૩૦)ની આસપાસ વિદ્યમાન હતો. એના જ લખેલા વર્ણન ઉપરથી પાછળના મુસલમાન લેખકોએ એ વિષયને ખૂબ સજાવી-ફુલાવીને લખ્યો છે. આ વિષયમાં મહારાષ્ટ્રીય વિદ્વાન્ શ્રી ચિંતામણી વિનાયક વૈદ્ય. એમ્. એ. એલ્. એલ્. બી.એ **मध्ययुगीनभारत** નામના પોતાના મરાઠી ઐતિહાસિક ગ્રંથ (ભાગ ૩, પૃષ્ટ ૧૩૨-૩૪)માં જે વિચારો લખ્યા છે તે અહિં આપવાથી આ બાબત વધારે સ્પષ્ટતાથી સમજી શકાશે.

વૈદ્ય મહાશય લખે છે કે-"ગૂજરાતના સોલંકી રાજાઓનો ઇતિહાસ, એ રાજવંશના મૂળ પુરુષ મૂળરાજના સમયથી માંડીને, જૈન અને હિંદુ ગ્રંથકારોએ, પૂર્ણપણે આપ્યો છે. પરંતુ સોલંકી રાજાઓના અત્યંત વૈભવવાળા દિવસોમાં, ગૂજરાત ઉપર આવેલી આ આપત્તિનું, તેમાં નામ સુધાં નથી. મૂળરાજે અણહિલવાડની ગાદી ઉપર, ઇ. સ. ૯૬૧ માં એટલે સબુક્તગીનની પહેલાં ૧૬ વર્ષે બેઠો...આજ સુધીમાં જે શિલાલેખો ઉપલબ્ધ થયા છે તેમાં પણ આ આપત્તિ માટે એકે અક્ષર મળતો નથી. આથી કરી, ગૂજરાત જેવા દૂરના પ્રાંતમાં, કે જ્યાં જવા માટે એક વિસ્તીર્ણ મરૂભૂમિ પસાર કરવી આવશ્યક હતી, મહમૂદે ખરેખર સ્વારી કરી હશે કે નહિ એની સહેજે શંકા થઈ આવે છે. પરંતુ, પોતાના અત્યંત પવિત્ર દેવસ્થાન અને રાજા ઉપર તૂટી પડેલા આ અનર્થનો ઉલ્લેખ કરવા માટે હિંદુલેખક અનુત્સુક જ હોય; અને જે મુસલમાન લેખકોએ આ સ્વારી માટે લખ્યું છે તે તેમણે સેંકડો વર્ષો પછી લખેલું હોવા છતાં પણ, તેમની આગળ તે માટેનો કાંઇક પણ ઉલ્લેખ રહેલો હોવો જોઇએ. તેમણે બિલકુલ કાલ્પનિક વાત લખી દીધી હોય એમ સંભવિત લાગતું નથી; આવો વિચાર કરીને ઇલિયટ સાહેબે ઇબ્ન અસીરના પુસ્તકમાંથી જે ઉતારો લીધો છે તે ઉપર આ વૃત્તાંત લખવાનો અમે વિચાર રાખ્યો છે."

આ ઉત્બીએ પોતાના 'કામિલુ-ત્-તવારિખ' નામના ગ્રંથમાં આ બાબતની જે હકીકત લખી છે તે નીચે પ્રમાણે છે-"ઈ. સ. ૧૦૨૪ (હીજરી ૪૧૪) મહમૂદે હિંદનાં કેટલાંક શહેર અને કેટલાંક કિલ્લા તાબે કરી લીધા અને વળી તેણે સોમનાથ નામની મૂર્ત્તિ લીધી. હિંદની સૌ મૂર્ત્તિઓમાં આ મૂર્ત્તિ સૌથી મોટી હતી. દરેક ગ્રહણને વખતે હિંદુ લોકો ત્યાં જાત્રા કરવા જતા અને એક લાખ માણસ ભેગું થતું. હિંદુ લોકોના પુનર્જન્મના મત પ્રમાણે હિંદુ લોકો એવું માને છે કે શરીરમાંથી જુદા પડયા પછી બધા માણસના આત્મા સોમનાથ ભેગા થાય છે; દરિયામાં ભરતિઓટ થાય છે, એ સોમનાથની પૂજા કરવાના ઇરાદે ગ્રહણ કરેલો સૌથી સરસ રસ્તો છે. હિંદુસ્તાનની કિમતીમાં કિમતી વસ્તુઓ સોમનાથમાં આવતી હતી. એ દેવળના પૂજારીઓને કિમતીમાં કિમતી દાન મળતાં અને દેવળને ૧૦,૦૦૦ ગામ દાનમાં આપેલાં હતાં. દેવળમાં ઘણામાં ઘણાં મૂલ્યવાળાં અને ઘણાંમાં ઘણાં પાણીવાળાં રત્નો એકઠાં થયાં હતાં. હિંદુસ્તાનમાં ગંગા નામે એક મોટી નદી છે. જેને હિંદુ લોકો ઘણું માન આપે છે, અને મૂઆ પછી સ્વર્ગે પહોંચવાની ધારણાથી મરેલા માણસનાં હાડકાં તેમાં નાંખે છે. આ

મહમૂદ ગજનવી અને સોરઠના સોમનાથ

આ પહેલાંના લેખમાં મહમૂદ ગજનવીએ કરેલા સોરઠના સોમનાથના ધ્વંસ વિષેની વાત આવી છે. પ્રસ્તુત પત્રના પાઠકો કદાચિત્ એ વાતથી વિશેષ માહિતગાર ન હોય; તેમ જ મહમૂદ કયાં કારણોને લઇને ભારતનાં આ મહાન્ દેવસ્થાનોને નષ્ટભ્રષ્ટ કરવા પ્રેરાયો અને તેમાં ઘણે ભાગે સફળ થયો, તેનો વિચાર પણ ઘણાં જિજ્ઞાસુઓને નહિ આવ્યો હોય, તે માટે અહિં એ સંબંધી કેટલીક વિચારણીય હકીકત આપવાનું ઉચિત ધાર્યું છે.

મહમૂદ ગજનવીએ હિંદુસ્થાનને લૂટવા અને સામર્થ્યહીન બનાવવા માટે, એક પછી એક એમ લગાતાર ૧૬-૧૭ ચઢાઇઓ આ દેશ ઉપર કરી હતી. તેમાં સૌથી છેલ્લી ચઢાઇ સોમનાથ ઉપરની હતી. સોમનાથને ઉધ્વસ્ત કર્યા પછી તેણે બીજી કોઇ મહત્ત્વની ચઢાઇ કરી નથી. સોમનાથના વિજ્ય પછી તેને લાગ્યું હશે કે તેના પ્રાક્રમરૂપી પ્રાસાદ ઉપર એ વિજયથી કળશારોપણ થઇ ગયું, ને હવે બીજું કાંઇ મેળવવા કે જીતવા લાયક બાકી રહ્યું નથી. સોમનાથનો નાશ કરી તે સિંધના રસ્તેથી સીધે ગજની જતો રહ્યો અને ત્રણેક વર્ષ પછી તે ત્યાં પોતાની જીવનલીલા સમાપ્ત કરી ગયો.

ભારતનાં દેવસ્થાનોમાં સોમનાથ તે વખતે એક ઘણું પ્રસિદ્ધ અને પૂજનીય સ્થળ ગણાતું હતું હિંદુલોકો તે વખતે મોટે ભાગે શિવની ઉપાસના કરતા હતા અને સોમનાથ શિવનું એક સર્વોત્કૃષ્ટ ધામ મનાતું હતું; તેથી એ સ્થળે ભારતના ચારે ખૂણેથી અસંખ્ય મનુષ્યો યાત્રા કરવા આવતા હતા. મોટા મોટા રાજા મહારાજાઓ અને ધનવાન ગૃહસ્થો એ સ્થળમાં આવીને દિવસોના દિવસો રહેતા અને લાખો કરોડો રૂપીઆ એ સ્થાન નિમિત્તે દાન કરતા. મહમૂદ ગજનવીના દરબારનો પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન અલ્બેરુની—જેણે ભારતવર્ષના પરિચયને લગતો અરબીભાષામાં એક અનન્ય ગ્રંથ લખ્યો છે તેણે—પોતાના ગ્રંથમાં સોમનાથની ખ્યાતિ વિષે સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ કર્યો છે. આવા મહાન્ સ્થાનને ભ્રષ્ટ કરવું અને તેની સમૃદ્ધિ લૂટી લેવી એ મહમૂદની મોટી ઇચ્છા હતી અને તેથી તેણે જીવનના અસ્તકાળમાં પણ પોતાની એ ઇચ્છાને પૂરી કરવાનો આખરે સમર્થ પ્રયત્ન કર્યો અને ભારતના કમનસીબે તેમાં તે સફળ થયો.

મહમૂદ સોમનાથ ઉપર જે ચઢાઇ લઇ ગયો તે મુલતાન, મારવાડ, ગૂજરાત અને કાઠિયાવાડના રસ્તે થઈ, લઇ ગયો હતો. એ વખતે જ તેણે, કવિ ધનપાલે જણાવેલાં શ્રીમાલદેશ (આબૂની પશ્ચિમનો પ્રદેશ), ચડ્ડાવલિ (ચંદ્રાવતી) અને અણહિલપુર વગેરે સ્થળો લૂટ્યાં ભાગ્યાં હશે. અણહિલપુર ને દેલવાડા ભાગ્યાનો ઉલ્લેખ તો મુસલમાન લેખકોએ ચોક્ખો કરેલો જ છે. અણહિલપુરમાં તે વખતે ભીમદેવ રાજ્ય કરતો હતો. પ્રબંધચિંતામણિ વગેરે ગ્રંથોના આધારે ભીમદેવ સંવત્ ૧૦૭૭ માં ગાદીએ બેઠેલો હોય તેમ જણાય છે. એમ તો એ રાજા માટે બહુ પરાક્રમી હોવાના પુરાવાઓ મળી આવે છે. માળવાના પ્રસિદ્ધ વિદ્વાન્ રાજા ભોજદેવ અને ચેદિના રાજા કર્ણદેવ ઉપર એણે ચઢાઇઓ કર્યાના ઉલ્લેખો મળે છે. ગૂજરાતના સર્વોત્કૃષ્ટ વિદ્વાન્ આચાર્ય હેમચંદ્રે, પોતાના દ્વ્યાશ્રય મહાકાવ્યમાં, એ રાજાના પરાક્રમીપણાનાં ખૂબ વખાણ કર્યાં છે. પણ એની નજર આગળ થએલા સોમનાથના ભંગનું સૂચન સરખુંયે એ આચાર્ય કરતા નથી. આથી પુરાતત્ત્વજ્ઞોના મનમાં એની કારકીર્દિના વિષયમાં સંદેહ રહ્યાં કરે છે. ફાર્બસ સાહેબ, રાસમાળા નામના ગૂજરાતના પ્રધાન ઇતિહાસ ગ્રંથમાં, આ વિષે પોતાનો અભિપ્રાય આપતાં જણાવે છે કે—'જૈન ગ્રંથકારો પોતાના વર્ણ્યવીરની પ્રતિષ્ઠાને હાનિ લાગે તેવી કશી વાત પોતાના ગ્રંથમાં જણાવતા નથી. દ્વ્યાશ્રયમાં સોમનાથની વાત હેમાચાર્યે બે વખત લખી છે. તેમાં એકવાર સિદ્ધરાજ યાત્રા કરવા જાય છે ત્યારે, અને બીજીવાર કુમારપાલ તેનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવે છે ત્યારે, પણ એકે વખત એ દેવાલય ભાગ્યાનો ઇસારો સરખોયે તે કરતા નથી.' અલબત્ત, ફાર્બસ સાહેબનું આ

મૂકી કિલ્લા પર ચઢી ગયા. કિલ્લા પરથી તેમણે દીન પોકારી, ઈસ્લામનું જોર બતાવ્યું, તોપણ તેમના એટલાં બધાં માણસ કતલ થઇ ગયાં કે લડાઇનું શું પરિણામ આવશે એ સંદેહ ભરેલું જણાયું. કેટલાક હિંદુઓ સોમનાથનાં દેવળમાં ગયા, અને મહાદેવને પગે પડી પોતાની વહારે ધાવા પ્રાર્થના કરવા લાગ્યા. રાત પડવાથી તે દહાડે લડાઇ બંધ રહી."

"બીજે દહાડે સવારમાં મહમૂદે લડાઇ પાછી ચલાવી. તેના માણસોએ આગલા દિવસ કરતાં પણ વધારે હિંદુઓને કાપી નાંખ્યા અને તેમને શહેરમાંથી નીકળી દેવળમાં ભરાઇ બેસવાની ફરજ પાડી. દેવળના દરવાજા આગળ કમકમાટ ઉપજે એવી કતલ થઇ. દેવળનો બચાવ કરવા આવેલા લોકોનાં ટોળેટોળાં દેવળમાં પેઠાં અને મ્હોં ઉપર હાથ મૂકી રડવા તથા પ્રાર્થના કરવા લાગ્યાં. પછી તે બહાર નીકળ્યાં અને બધાં કપાઇ ગયાં સુધી લડયાં. જે થોડાં માણસો બાકી રહ્યાં તે હોડીઓમાં બેસી દરિયા ભણી જવા લાગ્યાં પણ મુસલમાનોએ તેમને પકડી પાડયાં, અને કેટલાંકને કાપી નાંખ્યાં અને કેટલાંકને પાણીમાં ડુબાવી દીધાં."

"સોમનાથના દેવળને સીસાથી જડેલા સાગના છપ્પન થાંભલા હતા. મૂર્તિ એક અંધારા ઓરડામાં હતી. મૂર્તિની ઉંચાઇ પાંચ હાથ અને ફરતો ઘેર ત્રણ હાથ હતો; આટલી તો બહાર દેખાતી હતી પણ એ શિવાય બે હાથ ભોંયમાં દાટેલી હતી. તેની પર કોતરકામ જણાતું નહોતું. મહમૂદે મૂર્તિ પકડી લીધી. તેનો થોડો ભાગ બાળી નાંખ્યો, અને થોડો ધઝની સાથે લઇ ગયો, તેનું જુમામસીદના દરવાજા આગળ પગથીયું કરાવ્યું, અંધારા દેવળમાં રોશની કરવા રત્નજડીત ઝુમરૂખ લટકાવેલાં હતાં. મૂર્તિની પાસે ૨૦૦ મણ સોનાની સાંકળ હતી. અને એ સાંકળને ઘંટડીઓ બાંધેલી હતી. રાત્રે જ્યારે એક ચોકી પૂરી થતી ત્યારે સાંકળ હલાવવામાં આવતી તેથી ઘંટના ખડખડાટથી પૂજા કરનાર બીજા બ્રાહ્મણ જાગી ઉઠતા. દેવળની પાસે તીજોરી હતી, તેમાં સોનારૂપાની બીજી ઘણી મૂર્તિઓ હતી. તીજોરીમાં રત્નજડીત કપડાં અને ઘણાં કિંમતી રત્નો હતાં. ૨૦ લાખ દીનાર કરતાં પણ વધારે કિંમતનો માલ દેવળમાંથી મળ્યો. હજાર કરતાં વધારે હિંદુઓ કપાઈ ગયા."

"સોમનાથ જીતી લીધા પછી મહમૂદને ખબર મળી કે અણહિલવાડનો રાજા ભીમ, સોમનાથથી ૨૪૦ માઇલ (૪૦ પરસંગ) છેટે, સોમનાથ અને જંગલની વચ્ચે આવેલા ખંડહતના× કિલ્લામાં ગયો છે. મહમૂદ ખંડહત તરફ કુચ કરી ગયો. ત્યાં આગળ આવી પહોંચ્યો ત્યારે ત્યાં શિકાર કરતા કોઇ માણસને તેણે ભરતી વિષે પૂછ્યું, તો તેને ખબર મળી કે ઉતરી શકાય એટલું પાણી છે પણ પવન આવશે તો ઉતરી શકાશે નહીં. મહમૂદે અલ્લાની બંદગી કરી અને પછી પાણીમાં ઉતરવા માંડ્યું. તેના લશ્કર સાથે તે સહિસલામત ઉતર્યો અને દુશ્મનને હાંકી કાઢયા. ખંડહતથી તે પાછો વળ્યો, અને મધ્ય-સિંધમાં મન્સૂર તરફ જવાનો ઇરાદો કર્યો, કારણ કે ત્યાંના રાજાએ ઇસ્લામ ધર્મનો ત્યાગ કર્યો હતો. મહમૂદના આવવાની વાત સાંભળી રાજા ખજૂરીના જંગલમાં નાશી ગયો. મહમૂદ તેની માછળ ગયો અને તેને તથા તેનાં માણસોને ઘેરી લીધાં; તેમાંથી ઘણાને કાપી નાંખ્યા, ઘણાને પાણીમાં ડૂબાવી દીધા અને થોડા નાશી ગયા. પછી મહમૂદ ભાટીયા ગયો અને ત્યાંના લોકને તાબે કરી હીજરી ૪૧૭ ની સાલના સફર માસની ૧૦ મી તારીખે ગઝની પાછો આવ્યો."

(ગોવિંદભાઇ હા. દેશાઈ કૃત ગૂજરાતનો પ્રાચીન ઇતિહાસ, પાના ૧૫૬–૬૦)

× ખંડહત દરિયા કિનારે હોવું જોઇએ, પણ એ કયાં હશે એ બરોબર નક્કી થયું નથી. દાક્તર બ્યુલરનું ધારવું એવું છે કે એ કચ્છમાં આવેલું કંથકોટ હશે. કર્નલ વોટસન જણાવે છે કે કાઠિઆવાડને કિનારે મિયાણીની નાયબ્રમોણમાં આવેલું ગાંધવી હશે; પ્રુસિયર રીનોડ અને દાક્તર વીલ્સન ધારવું એવું છે કે દાદર નદીના મુખ આગળ આવેલું સાચે પાસેનું બંદર હશે.

ફિરિસ્તા અને બીજા બીજા મુસલમાન લેખકોએ ઉત્બીની આ હકીકતને ખૂબ વધારીને લખી છે અને તેમાં અનેક અતિશયોક્તિ ભરેલાં વર્ણનો લખ્યાં છે. એ ઉપર ઉક્ત શ્રીયુત ચિં. વિ. વૈદ્ય સમાલોચનાની પદ્ધતિએ લખે છે કે "પ્રારંભમાં જ અમારે એ કહી દેવું જોઇએ કે આ અતિશયોક્તિ પ્રચુર વૃત્તાંતમાં, પછીના લેખકો વડે વિસ્મય કારક વાતોની ખૂબ જ ભરતી થતી રહી છે. ખાસ કરીને, મહમૂદના ધાર્મિક ગૌરવની સજાવટ કરવાની ઇચ્છાથી સ્વકપોલ કલ્પિત એવી અનેક વાતો તેમણે આ વૃત્તાંત સાથે જોડી દીધી છે. ઉદાહરણ તરીકે, સોમનાથની મૂર્તિમાં અગણિત સંપત્તિ છુપાવેલી હતી, ત્યાંના બ્રાહ્મણોએ, ક્રોડો રૂપિઆ દંડ તરીકે મહમૂદને આપવા કબૂલ કર્યા, તેના મંત્રીએ તે લઇ લેવાની સલાહ આપી, પણ મહમૂદે કહ્યું કે–ઇશ્વરના દરબારમાં આપણે મૂર્તિ વેચનારા તરીકે ન ઠરીએ; મૂર્તિ ભાંગનારા તરીકે પ્રસિદ્ધ થઇએ એવી મ્હારી ઇચ્છા છે.–આ વાત ગિબન સુધાયે લખી છે અને એ ફિરસ્તાની નહિ તો કોઇ બીજાની પણ કેવળ કપોલ–કલ્પના જ છે. સોમનાથની આ હકીકત બનાવટી છે એ વિષે ટીકા કરતાં, ખુદ ઇલિયટે જેનો ઉતારો લીધો છે તે વિલ્સન કહે છે કે—' આ મૂર્તિના અવયવ છિન્ન–વિચ્છિન્ન કરવા બાબત, જૂના મુસલમાનોના લેખોમાં કશોયે ઉલ્લેખ નથી. ખરી રીતે તે મૂર્તિ ને અવયવ જ ન હતા. તેમ જ તે મૂર્તિમાં સંપત્તિ ભરી રાખવાનોયે ઉલ્લેખ નથી. તે મૂર્તિ નક્કર અને ભરતની હતી તેથી તેમાં સંપત્તિ છુપાવી રાખવા માટે અવકાશ જ ન હતો. તે મૂર્તિમાં હીરા અને માણેક છુપાવી રાખવાનો જે શોધ ફિરસ્તાએ કર્યો છે તેને કશો જ આધાર નથી.' આ હકીકત બિલકુલ અક્કલ વગરની છે. કારણ કે સોમનાથની મૂર્તિ એ તો એક નક્કર પત્થર હોવો જોઇએ. તે જ પ્રમાણે એક વિશ્વાસઘાતકી હિંદુ ભોમીયાએ મહમૂદને એક નિર્જલ રણમાં લઇ ગયો પણ ખુદાની પ્રાર્થના કરતાં જ તેને પાણી મળી આવ્યું; અથવા, ગૂજરાત પ્રાંત રસાળ હોઇ તેમાં સોનાની ખાણો હોવાથી મહમૂદનું મન ત્યાં જ રહેવાનું થઇ ગયું, પણ ખુરાસાન આપણી જન્મભૂમિ હોવાથી ત્યાં જ રહેવું આપણને વધારે સુખકર છે, એમ કહી તે કલ્પના છોડી દેવા માટે અધિકારીઓએ તેના મનને ફેરવ્યું; આવી વાતો વિશ્વસનીય લાગતી નથી. પાછાં ફરતાં મહમૂદે તે દેશનો રાજ્યકારભાર, નાસી છૂટેલા રાજાના કોઇ સંબંધી અને સંસાર છોડી વિરક્ત થએલા દાબશિલીમને સોંપી દીધો; આ વાત પણ—ગૂજરાતના તે વખતના રાજા ભીમનો તે કાકો થતો હતો અને સાચે જ તે સરસ્વતી નદીના કાંઠે સંન્યાસી થઇને રહેતો હતો એમ બતાવવામાં આવે છે છતાં—તે વિચિત્ર હોઇને તે પર વિશ્વાસ બેસાડવા મરજી નથી. ઇલિયટે આ સ્વારી વિષેના પુષ્કળ ઇતિહાસકારોના ઉતારાઓ આપ્યા છે અને જેમને વિશેષ જાણવાની ઇચ્છા હોય તે વાંચકોએ ઇલિયટના ગ્રંથમાંથી વાંચી લેવા. ઇબ્ન અસીરના મૂળમાં જ અતિશયોક્તિ ભરેલા વૃત્તાન્તમાં વળી મીઠું–મરચું નાંખીને એ ઇતિહાસકારોએ પોતાનું વૃત્તાંત લખેલું હોવાથી તેમનો સારાંશ આપવાની કશી આવશ્યક્તા નથી."

આમ લખીને વૈદ્ય મહાશય ઇબ્ન અસીરે લખેલા વૃત્તાંતનો ટુંક સાર આપે છે, (જે અમે સવિસ્તર ઉપર આપી દીધો છે) અને તેનું પ્રત્યાલોચન કરતાં તેઓ કહે છે કે–"આ વૃત્તાંત સરળ અને વિશ્વસનીય લાગે છે. બ્રાહ્મણોએ કે પછી જોઇએ તો ક્ષત્રિઓએ, મંદિર પાસે, ક્રોધથી સંતપ્ત થઇને પ્રતિકાર કર્યો પણ તે કેવળ મૃત્યુને બોલાવવા માટે જ હતો. ગૂજરાતના રાજા ભીમને સોમનાથની બહાર જ શત્રુનો જોરથી પ્રતિકાર કરતાં આવ્યો હોત. તે પોતાના નામને અને રાજપૂત બિરદને જાળવવા તૈયાર થયો હોત તો તેને, મહમૂદે આણેલા સૈન્ય કરતાં વધારે મોટું સૈન્ય, અધિક શું ઘોડેસ્વારનું હોય પણ, રણાંગણ ઉપર ઊભું કરી શકયો હોત. પરંતુ અહિં એ પણ ધ્યાનમાં રાખવા જેવું છે કે એ વખતે મહમૂદની કીર્તિ, તેણે મેળવેલા સતત વિજયોને લીધે, નેપોલિયન પ્રમાણે પરાકાષ્ઠાએ પહોંચી

ગંઇ હતી. એક નેપોલિયન એટલે લાખ માણસનું સૈન્ય માનવામાં આવતું. પરંતુ આવા નેપોલિયનનો પણ વાટર્લૂના સમરાંગણ ઉપર જર્મન અને ઇંગ્રેજોએ સખત વિરોધ કર્યો. આપત્તિના નિરાશકાળમાં સમ્રાટ્નું તેજ હિંદુલોકોના હાડમાં દેખાઇ આવતું નથી. મતલબ કે બીમે કચ્છમાંના એક કિલ્લાનો આશ્રય લીધો તેમાં કાંઇ આશ્ચર્ય પામવા જેવું નથી. કચ્છના રણમાં પાણીની અડચણ છતાં અને ભરતીના વખતે પાણી વધવાનો સંભવ હોવાથી ત્યાં થઇને જવું ધોકાવાળું હોવા છતાં, સોમનાથ લૂટયા પછી મહમૂદ ત્યાં પણ હુમલો લઇ ગયો એમ કહેવાય છે. વિજેતા મહમૂદ આવે છે એ જાણીને બીમ ત્યાંથી પણ નાસી છૂટયો. પછી રણમાં થઇ સિંધના માર્ગે મહમૂદ ગજની પાછો ફર્યો. રણમાં પાણી મળે તેમ નથી એની તેને ખબર હતી. તે પાણીનો રસ્તો જ ન હતો તો પછી વિશ્વાસ ઘાતકી હિંદી ભોમિયાદ્વારા તેને ફસાવવાનો અવકાશ જ કયાંથી હોય. સિંધના પ્રદેશમાંના ચાંચિયાઓએ માત્ર તેને ખુબ જ ત્રાસ આપ્યો હતો. આ ચાંચિયાઓ જૂડ દેશમાંના (જાટ) હતા એમ જણાય છે. પાછળથી આ જાટો ઉપર છેવટની સ્વારી કરીને મહમૂદે તેમને પણ યથાયોગ્ય શિક્ષા આપી દીધી.

મહમૂદ સોમનાથ આવ્યો તે મુલતાનપરથી મરુભૂમિમાં થઈ, રસ્તામાં આવતા અજમેર અને અણહિલવાડ સર કરી, પૂર્વના રસ્તે આવ્યો; અને કચ્છમાં થઈ પાછા જતાં માર્ગમાં મનસૂર તોડી, મુલતાન અને સિંધૂ નદીના રસ્તે ગયો; એમ કેટલાક કહે છે. માળવાનો પરમાર ભોજદેવ તેની સાથે લડાઈ કરવાની તૈયારી કરતો હતો અને તેણે એને વચ્ચે અટકાવ્યો હોત તેથી તે આ પશ્ચિમના માર્ગે પસાર થયો. હિન્દુલોકો સાથે લડવું પડશે તો કદાચિત્ પોતાની આવી મોટી લૂટ ચાલી જશે એવો તેને ભય લાગ્યો હોવો જોઇએ; એમ પણ કેટલાકોએ લખેલું છે."

આ બધી હકીકત ઉપરથી સોમનાથ ઉપર મહમૂદે કરેલી સ્વારીની સમજણ સારી પેઠે થઈ શકશે અને એ સ્વારીના વિષે જે સન્દેહ ઐતિહાસિકોમાં આજ સુધી થઈ રહ્યો છે તેનો નિર્ણય, અમે પ્રથમ લેખમાં આપેલા જિનપ્રભસૂરિ અને કવિ ધનપાલના ઉલ્લેખોથી, યથાર્થ થઈ જાય તેમ છે. અમારી કલ્પના છે કે-મહમૂદ સોમનાથને સર કરી, જેમ ઇતિહાસોમાં જણાવ્યું છે તેમ, કચ્છમાં થઇને સિંધૂ પ્રાંતમાં નહિ ગયો હશે, પણ તે, કચ્છનું નાનું રણ જે કહેવાય છે તેના કાંઠે કાંઠે વાગડ પાસેના પ્રદેશમાં થઈ, સાચોર જઇને પછી મુલતાન તરફ ગયો હશે. માર્ગમાં જતાં જતાં સાચોરના મહાવીરને લૂટવાનું તેનું મન થયું હશે પણ ગમે તે કારણથી તે તેમાં ભગ્નમનોરથ થયો છતો જલ્દીથી ત્યાંથી કૂચ કરી ગયો હશે. તેના આવા શીઘ્ર પ્રયાણને શ્રદ્ધાળુ લોકોએ મહાવીર દેવના માહાત્મ્યથી બનેલું પલાયન માન્યું અને તેથી તે વિષેના આવા ઉલ્લેખો આ ગ્રંથકારો અને ભક્તજનોએ કર્યા છે.

મૂર્તિપૂજાનું માહાત્મ્ય

અહિં પ્રસંગથી આપણી મૂર્તિપૂજા અને તેના અંગે થએલા આવા અનિષ્ટ આક્રમણોના વિષયમાં કાંઈક વિચારણીય વાતો ઉપર પણ થોડોક ઊહાપોહ કરવાની ઇચ્છા થાય છે. વિચારશીલ જનોને આ વિચારો ખાસ મનનપૂર્વક વાંચવા જેવા છે.

મૂર્તિપૂજાની ભાવનાએ આપણા દેશમાં ઘણાં ઘણાં ઉત્કર્ષો અને અપકર્ષો–બંને ઉપસ્થિત કર્યાં છે. મૂર્તિપૂજાના નિમિત્તે દેશમાં લાખો મંદિરો રચાયાં અને તેથી શિલ્પકળાનો ખૂબ પ્રકર્ષ થયો. મૂર્તિપૂજાએ લોકોમાં વિસ્તૃત ધર્મભાવના ઉત્પન્ન કરી અને તેથી લોકોએ એ નિમિત્તે પોતાની સંપત્તિનો વિનિમય કરી ત્યાગ અને ઉદારતાના ઉંચા ગુણો ખીલવ્યા. મૂર્તિપૂજાના કારણે જનસમાજમાં ભક્તિભાવનો ઈષ્ટ આવિર્ભાવ થયો અને તેના લીધે સાહિત્ય અને સંગીતનો અનેક અંશે ઉચ્ચ વિકાસ થયો. મૂર્તિપૂજાએ ગામેગામ સાર્વજનિક સ્થાનોની સૃષ્ટિ કરી અને તેના યોગે સર્વ સમાનધર્મિઓને, વિનાસંકોચે અને વિનાઆમંત્રણે, એક સ્થાને વારે ઘડીએ ભેગા મળવાનું અને તે દ્વારા પોતાની વિવિધ જીવનપ્રવૃત્તિઓને વ્યવસ્થિત બનાવવાનું સારૂં સાધન મળ્યું. મૂર્તિપૂજાએ નિરાધારોને આધાર આપાવી, અનાથોને સનાથ કરાવી, પાપીઓને પુણ્યાત્મા બનાવી મનુષ્યજાતિને ઘણી શાંતિ અર્પી છે. આમ મૂર્તિપૂજા જ્યારે ઉત્કર્ષક જણાઈ છે ત્યારે બીજી બાજુએ તે અપકર્ષક પણ તેટલી જ થઈ છે. દાખલા તરીકે–મૂર્તિપૂજાના કારણે દેશમાં જે અનેક મોટાં દેવસ્થાનો ઉભાં થયાં તે કાળાંતરે લોકોમાં પરસ્પર કલહના પણ મોટાં સાધનો થઈ પડ્યાં. એ દેવમંદિરોના નિમિત્તે હજારો લડાઈ–ઝગડા થયા. લાખો કરોડો રૂપીઆના અપવ્યયો થયા. સાધર્મિ સંઘો અને જનસમૂહોમાં જીવલેણ વૈરભાવ સર્જાયા. મૂર્તિપૂજાના બ્હાને દંભ અને દુરાચારને પોષણ મળ્યાં. મૂર્તિપૂજાના આચરણ પાછળ સ્વાર્થ અને અહંકાર પોષાયા. મૂર્તિપૂજાના કાલ્પનિક માહાત્મ્યના લીધે આળસ્ય અને અકર્મણ્યતાને ઉત્તેજનો મળ્યાં. આમ મૂર્તિપૂજાની જમે અને ઉધાર બંને બાજુએ બહુ માંડી શકાય તેમ છે.

મૂર્તિપૂજાને લીધે ક્યારેક દેશ ઉપર કેવી આપત્તિ આવી પડે છે અને એવે વખતે કલ્પિત મૂર્તિસામર્થ્ય પ્રજાને કેમ કર્તવ્યશૂન્ય બનાવી દે છે એના ઉલ્લેખો ઇતિહાસોમાં ઘણા મળી આવે છે. સોમનાથ અને મહમૂદની સ્વારીને અંગે પણ આવા વિચારો ઇતિહાસકારોને આવ્યા કરે છે અને તે વિદ્વાનોમાં ચર્ચાયા કરે છે. ઉપર્યુક્ત શ્રી ચિંતામણી વિ. વૈદ્ય મહાશયે, પોતાના **मध्ययुगीन भारत** નામના મનનીય મરાઠી ઐતિહાસિક ગ્રંથમાં (ભાગ ૩)માં, ' હિંદુઓની મૂર્તિપૂજા ' એ નામનું જે એક સ્વતંત્ર પ્રકરણ પરિશિષ્ટરૂપે લખ્યું છે અને તેમાં જે વિચારો એમણે દર્શાવ્યા છે તે, આ વિષય પરત્વે ખાસ મનન કરવા જેવા હોવાથી અહિં આપીએ છીએ.

વૈદ્યજી લખે છે કે–" સોમનાથ સંબંધી મૂર્તિભંગ અને લૂટની હકીકત ઉપરથી હિંદુઓની મૂર્તિપૂજા વિષે સૂઝી આવેલા કેટલાક વિચારો ગિબનની માફક ઇતિહાસનો ક્રમ બંધ કરીને વચ્ચે જ ન આપતાં, અહિં પરિશિષ્ટરૂપે અમે આપીએ છીએ. દસમા સૈકાની અંતે મૂર્તિપૂજાની બાબતમાં ઘણું જ ભોળપણ હિંદુસ્થાનમાં વધી ગયું હતું અને તેથી મુસલમાની ધર્મવાળા લોકોને પોતાનો ફાયદો કરી લેવાનું સાધન મળ્યું હતું. મહમૂદની મૂર્તિભંજક ચઢાઇઓ હિંદુ લોકોની આ ભોળપણ ભરેલી આંખો ઉઘાડવા માટે જ થઈ હતી એમ કહી શકાય. પણ આ ચઢાઇઓ પરથી નીકળતો બોધ, દુર્ભાગ્યે હજીયે, હિંદુઓએ લીધો નથી એમ કહેવું પડે છે. મૂર્તિપૂજા વેદોમાં કહેલી છે કે નહિ, અથવા તે બુદ્ધિને પટે છે કે નહિ આ

ધાર્મિક પ્રશ્ન અહિં ચર્ચવા માગતા નથી. હાલના હિંદુ ધર્મમાં મૂર્તિપૂજા ચોક્કસ માન્ય છે અને ઈશ્વર-પ્રણિધાનની દૃષ્ટિએ તે યોગ્ય રીતે માન્ય છે એમ કહી શકાય. પણ મૂર્તિપૂજાને લીધે કેટલીક ભ્રમણાઓ મનુષ્યના મનમાં રૂઢ થઈ જાય છે. ખાસ કરીને મૂર્તિમાં જ તે દેવની શક્તિ રહેલી છે આવી ભૂલભરેલી માન્યતા થઈ જાય છે. આ વાત હિંદુઓને જ લાગૂ થાય છે એમ નથી પણ છેક પ્રાચીનકાળથી જ્યાં જ્યાં મૂર્તિપૂજા ચાલુ હતી ત્યાં સાં આ વાત હતી જ. બૌદ્ધ ધર્મ, પ્રારંભમાં તો, ઇશ્વરનુંયે અસ્તિત્વ છે કે નહિ એ વિષયસુધામાં મૌન હતો. પણ પછી તે ભયંકર રીતે મૂર્તિપૂજાને માનનારો બન્યો અને ચારે બાજુએ બુદ્ધની જ મૂર્તિઓ પૂજાવા લાગી. હ્યુએનત્સાંગ કેટલોયે વિદ્વાન્ અને તત્ત્વજ્ઞાની હોવા છતાં, તેને બુદ્ધના શરીરાવશેષમાં અથવા બુદ્ધની મૂર્તિમાં ચમત્કારિક સામર્થ્ય હતું એમ માનતો જોઇને આપણને આશ્ચર્ય થાય છે. હિંદુ લોકોમાં મૂર્તિપૂજા પ્રથમથી જ થોડી ઘણી રૂઢ હતી તે બૌદ્ધ ધર્મનો ઉચ્છેદ થયા પછી તેના અનુકરણરૂપે ખૂબજ અધિક વધી ગઇ. મૂર્તિની પવિત્રતા અને તેનામાં રહેલું અદ્દભુત સામર્થ્ય એ વિષયની ભ્રાંત કલ્પના એટલી બધી વધી પડી કે કનોજના પ્રતિહાર સમ્રાટ્, મુસલમાનો પાસેથી મુલતાન પડાવી લેવા સુસમર્થ હોવા છતાં જ્યારે જ્યારે તેઓ મુલતાન સર કરવા જતા ત્યારે ત્યારે ત્યાંના મુસલમાન અધિકારીઓ 'તમે જો આગળ વધશો તો સૂર્યની અહિં જે પ્રસિદ્ધ મૂર્તિ છે તે અમે તોડી નાંખીશું' એવી ધમકીઓ આપતા અને તેથી તેઓ પાછા ચાલ્યા આવતા. પશ્ચિમના દેશોમાંયે, રોમન અને ગ્રીક લોકો, ઇતર લોકોના અપેક્ષાએ તત્ત્વજ્ઞાનમાં આગળ વધેલા હતા છતાં તેમનો પણ કેટલીક મૂર્તિઓના અદ્દભુત સામર્થ્ય પર વિશ્વાસ હતો. ખ્રીસ્તી ધર્મમાં, શરૂઆતમાં નિરાકાર દેવનો ઉપદેશ કરવામાં આવ્યો અને તેનો પ્રસાર મૂર્તિપૂજક રોમન અને ગ્રીક લોકોમાં જે થયો તે મૂર્તિમાં કશું સામર્થ્ય નથી એમ સિદ્ધ કરવાથી જ થયો. સોમનાથના પૂજારીઓની, મૂર્તિભંજક મહમૂદનો નાશ કરવા માટે, સોમનાથની મૂર્તિ આગળ કરાએલી નિરર્થક વીનવણીની પ્રાર્થના વાંચીને, તે પૂર્વે છસો વર્ષ થએલા આલેકઝેંડ્રિયા શહરમાં એ જ પ્રકારના દેખાવનું જે આબેહુબ વર્ણન ગિબને કર્યું છે, તેની આપણને સ્મૃતિ થઈ આવે છે. થિઓડોશિયસ બાદશાહ (ઇ. સ. ૩૮૯)ના હુકમથી અલેકઝેંડ્રિયામાંની સિરૅપિસની વિખ્યાત મૂર્તિ તોડી નાંખવામાં આવી તે વખતના વૃત્તાંતનું વર્ણન કરતાં ગિબન લખે છે કે:—

"અલેકઝેંડ્રિયા શહર સિરૅપિસની દેવતાની મૂર્તિના સંરક્ષણ નીચે સુરક્ષિત છે એવી માન્યતા હોવાથી તે શહેરને સિરૅપિસના શહર તરીકે ઓળખાવવામાં તે નગરને માન લાગતું. તેનું મંદિર, રોમના કૅપિટલ ભાગમાં આવેલી ઇમારત કરતાં વિસ્તીર્ણ અને વૈભવશાલી હતું. શહરની સપાટીથી સો ફુટ ઉંચા બનાવેલા એક કૃત્રિમ પણ પ્રશસ્ત ટેકરા પર એ મંદિર બાંધવામાં આવ્યું હતું. થિઓડોશિયસ્ બાદશાહે મૂર્તિ-પૂજકોની પૂજાવિધિ સર્વત્ર બંધ કરી દીધી હોવા છતાં પણ સિરૅપિસના શહરમાં અને મંદિરમાં તે ચાલૂ હતી. કારણ, આવી ભોળપણની બુદ્ધી ખ્રીસ્તી લોકોમાંયે હતી કે—જો આ વિધિ બંધ કરી દેવામાં આવશે તો નાઇલ નદીમાં પૂર આવશે નહિ, ઇજિપ્તમાં પાક થશે નહિ અને કૉન્સ્ટૅન્ટિનોપલ રાજધાનીને ખાવાનું મળશે નહિ. પણ છેવટ સિરૅપિસનું મંદિર અને તેમાંની મૂર્તિ તોડી નાંખવા માટે બાદશાહનો સખ્ત હુકમ આવ્યો. જૂદી જૂદી જાતની ધાતુઓનાં અનેક પતરાં એક સાથે ભેગાં જડીને સિરૅપિસની ભવ્ય મૂર્તિ બનાવવામાં આવી હતી. તે એટલી મોટી હતી કે ગભારાની બંને ભીંતોને તે અડકી ગએલી હતી. તેના જમણા હાથમાં, રાક્ષસી સ્વરૂપવાળા એક સર્પનું માથું અને ધડ હતું, જેની પૂંછડીને ત્રણ ફાંટા હોઈ તેમના અંતે સિંહ, સિયાળ અને કુતરાનાં ડોકાં લટકેલાં હતાં. આ મૂર્તિનો ઉપાડે કરવા જો કોઇ હાથ ઉઠાવશે તો તરત જ આકાશ અને પૃથ્વી એક થઇને સૃષ્ટિના આરંભકાળ જેવું તોફાન ઊઠશે, આવો બધાનો વિશ્વાસ હતો. એક કાઠી છાતીવાળો સિપાહી હાથમાં કુહાડો લઈ નીસરણી માંડી ઉપર

મૂર્તિપૂજાનું માહાત્મ્ય

અહિં પ્રસંગથી આપણી મૂર્તિપૂજા અને તેના અંગે થએલા આવા અનિષ્ટ આક્રમણોના વિષયમાં કાંઈક વિચારણીય વાતો ઉપર પણ થોડોક ઊહાપોહ કરવાની ઇચ્છા થાય છે. વિચારશીલ જનોને આ વિચારો ખાસ મનનપૂર્વક વાંચવા જેવા છે.

મૂર્તિપૂજાની ભાવનાએ આપણા દેશમાં ઘણાં ઘણાં ઉત્કર્ષો અને અપકર્ષો–બંને ઉપસ્થિત કર્યાં છે. મૂર્તિપૂજાના નિમિત્તે દેશમાં લાખો મંદિરો રચાયાં અને તેથી શિલ્પકળાનો ખૂબ પ્રકર્ષ થયો. મૂર્તિપૂજાએ લોકોમાં વિસ્તૃત ધર્મભાવના ઉત્પન્ન કરી અને તેથી લોકોએ એ નિમિત્તે પોતાની સંપત્તિનો વિનિમય કરી ત્યાગ અને ઉદારતાના ઉચ્ચા ગુણો ખીલવ્યા. મૂર્તિપૂજાના કારણે જનસમાજમાં ભક્તિભાવનો ઈષ્ટ આવિર્ભાવ થયો અને તેના લીધે સાહિત્ય અને સંગીતનો અનેક અંશે ઉચ્ચ વિકાસ થયો. મૂર્તિપૂજાએ ગામેગામ સાર્વજનિક સ્થાનોની સૃષ્ટિ કરી અને તેના યોગે સર્વ સમાનધર્મિઓને, વિનાસંકોચે અને વિનાઆમંત્રણે, એક સ્થાને વારે ઘડીએ ભેગા મળવાનું અને તે દ્વારા પોતાની વિવિધ જીવનપ્રવૃત્તિઓને વ્યવસ્થિત બનાવવાનું સારૂં સાધન મળ્યું. મૂર્તિપૂજાએ નિરાધારોને આધાર અપાવી, અનાથોને સનાથ કરાવી, પાપીઓને પુણ્યાત્મા બનાવી મનુષ્યજાતિને ઘણી શાંતિ અર્પી છે. આમ મૂર્તિપૂજા જ્યારે ઉત્કર્ષક જણાઈ છે ત્યારે બીજી બાજુએ તે અપકર્ષક પણ તેટલી જ થઈ છે. દાખલા તરીકે–મૂર્તિપૂજાના કારણે દેશમાં જે અનેક મોટાં દેવસ્થાનો ઉભાં થયાં તે કાળાંતરે લોકોમાં પરસ્પર કલહના પણ મોટાં સાધનો થઈ પડ્યાં. એ દેવમંદિરોના નિમિત્તે હજારો લડાઈ–ઝઘડા થયા. લાખો કરોડો રૂપીઆના અપવ્યયો થયા. સાધર્મિ સંઘો અને જનસમૂહોમાં જીવલેણ વૈરભાવ સર્જાયા. મૂર્તિપૂજાના બ્હાને દંભ અને દુરાચારને પોષણ મળ્યાં. મૂર્તિપૂજાના આચરણ પાછળ સ્વાર્થ અને અહંકાર પોષાયા. મૂર્તિપૂજાના કાલ્પનિક માહાત્મ્યના લીધે આળસ્ય અને અકર્મણ્યતાને ઉત્તેજનો મળ્યાં. આમ મૂર્તિપૂજાની જમે અને ઉધાર બંને બાજુએ બહુ માંડી શકાય તેમ છે.

મૂર્તિપૂજાને લીધે ક્યારેક દેશ ઉપર કેવી આપત્તિ આવી પડે છે અને એવે વખતે કલ્પિત મૂર્તિ-સામર્થ્ય પ્રજાને કેમ કર્તવ્યશૂન્ય બનાવી દે છે એના ઉલ્લેખો ઇતિહાસોમાં ઘણા મળી આવે છે. સોમનાથ અને મહમૂદની સ્વારીને અંગે પણ આવા વિચારો ઇતિહાસકારોને આવ્યા કરે છે અને તે વિદ્વાનોમાં ચર્ચાયા કરે છે. ઉપર્યુક્ત શ્રી ચિંતામણી વિ. વૈદ્ય મહાશયે, પોતાના **मध्ययुगीन भारत** નામના મનનીય મરાઠી ઐતિહાસિક ગ્રંથમાં (ભાગ ૩)માં, 'હિંદુઓની મૂર્તિપૂજા' એ નામનું જે એક સ્વતંત્ર પ્રકરણ પરિશિષ્ટરૂપે લખ્યું છે અને તેમાં જે વિચારો એમણે દર્શાવ્યા છે તે, આ વિષય પરત્વે ખાસ મનન કરવા જેવા હોવાથી અહિં આપીએ છીએ.

વૈદ્યજી લખે છે કે–" સોમનાથ સંબંધી મૂર્તિભંગ અને લૂંટની હકીકત ઉપરથી હિંદુઓની મૂર્તિપૂજા વિષે સૂઝી આવેલા કેટલાક વિચારો ગિબ્બનની માફક ઇતિહાસનો ક્રમ બંધ કરીને વચ્ચે જ ન આપતાં, અહિં પરિશિષ્ટરૂપે અમે આપીએ છીએ. દસમા સૈકાની અંતે મૂર્તિપૂજાની બાબતમાં ઘણું જ ભોળપણ હિંદુસ્થાનમાં વધી ગયું હતું અને તેથી મુસલમાની ધર્મવાળા લોકોને પોતાનો ફાયદો કરી લેવાનું સાધન મળ્યું હતું. મહમૂદની મૂર્તિભંજક ચડાઈઓ હિંદુ લોકોની આ ભોળપણ ભરેલી આંખો ઉઘાડવા માટે જ થઈ હતી એમ કહી શકાય. પણ આ ચડાઈઓ પરથી નીકળતો બોધ, દુર્ભાગ્યે હજુયે, હિંદુઓએ લીધો નથી એમ કહેવું પડે છે. મૂર્તિપૂજા વેદોમાં કહેલી છે કે નહિ, અથવા તે બુદ્ધિને ગમે છે કે નહિ આ

બંને બાબતો તરફ હિંદુલોકોનું લક્ષ જેટલું ચોંટવું જોઈએ તેટલું ચોંટતું નથી. મૂર્તિપૂજા છોડવાની જરૂર નથી; પણ વિશિષ્ટ મૂર્તિમાં અદ્ભુત સામર્થ્ય રહેલું છે એવી ભોળપણની ભાવના ન વધારતાં, આપણી ભાવનામાં જ એવું કાંઇક સામર્થ્ય રહેલું છે એ ભાવના દૃઢ થવાની જરૂર છે. તે જ પ્રમાણે મંદિર અને મૂર્તિ માટે વધારે દ્રવ્ય ખર્ચવાથી વિશેષ પુણ્ય થાય છે એ કલ્પના પણ ઓછી થવી જોઇએ. કારણ કે આવા દ્રવ્યના સંચયથી મહંતો, પૂજારીઓ અને રક્ષકોની નીતિ બગડે છે અને ચોર અગર મૂર્તિભંજકોની, મૂર્તિને ઉપદ્રવ કરવાની ઇચ્છાને ઉત્તેજન મળે છે.

તો પણ, મનુષ્ય સ્વભાવ એક જ રીતે, મનુષ્યને એક જ કૃત્ય કરાવવા પ્રવૃત્ત કરે છે, એ છેવટે કહી દેવા જેવું છે. મૂર્તિભંજક અને મંદિરધ્વંસક મહમૂદને પણ, એજ સ્વભાવની પ્રવૃત્તિએ, ગજનીમાં એક પ્રચંડ મસીદ બાંધી, લૂટી આણેલા સોના અને હીરામાણેક આદિ ઝવેરાત વડે તેની ભીંતોને સણગારવાની ઇચ્છા ઉત્પન્ન કરાવી. અને જે લોભે તે પ્રેરાયો હતો તે જ લોભ ભવિષ્યના વિજેતાઓ માટે તેણે સર્જી દીધો. ઐતિહાસિક લેખો પરથી એમ દેખાય છે કે–એ મસીદને, એની અંદર રહેલા મૂલ્યવાન સણગારના લોભે, ચીનના મૂર્તિપૂજક પ્રચંડ ટોળાઓએ ઉધ્વસ્ત કરી નાંખી. **જંગિસખાને** બુખારાની જામે મસીદની કરેલી અવમાનના **જુવૈનીના જહાનકુશ** નામના ગ્રંથમાં વર્ણવેલી છે. અને બુખારામાંના તેના એ કૃત્યને, ત્યાંથી નાસી આવેલા એક મુસલમાને, આ નીચે આપેલા નાના સરખા પણ જોરદાર વાક્યમાં વર્ણવેલું છે કે–" મોગલો આવ્યા અને ખોદી, બાળી, કાપી, લૂટીને પાછા ગયા." આ જ જંગિસખાન, જલાલુદ્દીનનો પીછો પકડીને (ઈ. સ. ૧૨૨૬) પાછો ફર્યો ત્યારે તે ગજનીપર આવ્યો હતો. તેણે બધા નગરવાસીઓને બહાર કાઢ્યા અને ગણી લીધા અને તેમાંથી જેટલા કારીગર હતા તેમને બાજુએ રાખી બાકી બધાની કત્તલ કરવાનો હુકમ કર્યો. તેણે શહેરને પણ ઉજ્જડ બનાવી મુકયું અને પછી ઓગતાઇ મરેલાનાં મડદાં દટાવી હિરાત તરફ ચાલી નીકળ્યો (ઇલિયટ ૨, પા. ૩૯૦) બીજા એક ઉતારામાં એમ કહેલું છે કે–ઓગતાઇએ ચાર મહિના સુધી ઘેરો ઘાલીને પછી હલ્લો કરી ગજ્ની શહેર તાબે કર્યું અને તેને પાયા સાથે ખોદી કાઢી તે બાળી મુકયું અને લગભગ બે લાખ માણસોની કત્તલ કરી." (ઇલિયટ. ૨, પા. ૫૬૯)

આ આખા પ્રકરણમાં જણાવેલા વિચારો વર્તમાન જૈન સમાજને પણ બહુ મનન કરવા જેવા છે. મંદિરો અને મૂર્તિઓની પાછળ જૈન કોમનો જે દ્રવ્યવ્યય થઇ રહ્યો છે તેનું કેવું ભવિષ્ય આવે એ કોણ કહી શકે તેમ છે ? એ દ્રવ્યસંચયે જ દેવસ્થાનોને સદા જોખમમાં નાંખ્યા છે. પાલીતાણાનો રાજા જે આજે જૈનોને શત્રુંજયની યાત્રાથી અટકાવી રહ્યો છે તેનું કારણ, આપણા દ્રવ્યસંચયને જોઇને જાગૃત થએલો તેનો દ્રવ્યલોભ જ ખાસ છે, એ દરેક મર્મજ્ઞ સમજી શકે તેમ છે. જૈન કોમે સવેળા ચેતી જવાની જરૂર છે અને દેશકાળને અનુસરતું પોતાનું ધોરણ ઠરાવવાની જરૂર છે.

કવિ દીપવિજયજી લિખિત મહાનિશીથ સૂત્ર પરિચય.

મહાનિશીથ સૂત્ર જૈન આગમો પૈકી એક વિશિષ્ટ સૂત્ર છે. એની ગણના છેદ સૂત્રોમાં થાય છે. નંદિસૂત્ર અને પાક્ષિકસૂત્રમાં આ સૂત્રનું નામ આવે છે. પણ આ સૂત્રની માન્યતાના સંબંધમાં કેટલાક ગચ્છોવાળાનો મોટો મતભેદ છે. તપાગચ્છ, ખરતરગચ્છ આદિ ગચ્છાનુયાયીઓ આ સૂત્રને, અન્ય સૂત્રોની માફક જ પૂર્ણ પ્રમાણભૂત ગણે છે ત્યારે અંચલગચ્છ વગેરે ગચ્છોવાળા એને પૂર્ણ પ્રમાણભૂત માનતા નથી. નંદિસૂત્રમાં આનો નિર્દેશ કરેલો હોવા છતાં, સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયવાળા એને સર્વથા માન્ય કરતા નથી. એ સંપ્રદાયને ન માનવાનું કારણ એ છે કે એમાં જિનચૈત્ય અને જિનપ્રતિમાની પૂજા વગેરે કરવા સંબંધે ૨૫૯ ઉલ્લેખો થએલા છે. માટે, મૂર્તિપૂજાને ન સ્વીકારનાર એ સંપ્રદાયને, આ સૂત્ર, નંદિસૂત્રમાં જેનો નિર્દેશ છે તે જ આ, અસલ સૂત્ર છે એ રીતે માન્ય નથી. એ સંપ્રદાયનું કહેવું છે કે મૂળ મહાનિશીથ સૂત્ર વ્યુચ્છિન્ન થઇ ગયું છે અને તેના ઠેકાણે ચૈત્યવાસિઓએ આ નવું સૂત્ર રચી કાઢ્યું છે. અંચલગચ્છાદિવાળાઓ મૂર્તિપૂજક હોવાથી તેમને એ દૃષ્ટિએ તો એમાંની આ હકીકતમાં વાંધો લેવા જેવું નથી; પણ, યતિઓએ ગૃહસ્થોને ઉપધાન વગેરે કરાવવાની બાબતમાં એ ગચ્છવાળાઓનો મતવિરોધ છે, અને એ સૂત્રમાં એ ઉપધાનાદિનો પણ ઉલ્લેખ છે તેથી તેઓ એ દૃષ્ટિએ એને અસલરૂપે ન માનતાં પાછળથી કોઇ આચાર્યદ્વારા પરિવર્તિત થએલું માને છે. આમ આ સૂત્રની માન્યતાના સંબંધમાં ખાસ મતભેદો છે. વળી, આ મતભેદોને પુષ્ટિ આપે એવી કેટલીક ઐતિહાસિક ભાસતી પંક્તિઓ પણ આ સૂત્રની ઉપલબ્ધ સર્વ પ્રતિઓમાં મળી આવે છે જેથી ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ પણ એની કૃતિના વિષયમાં કેટલીક વિરોધાત્મક વાતો નજરે પડે છે.

આમ છતાં, આ ગ્રંથ બહુ મહત્ત્વનો છે એમાં તો સંશય નથી. આમાં જે વિષયો વર્ણવ્યા છે તે વિશિષ્ટ પ્રકારના હોવાથી, તેમ જ કેટલીક અન્યત્ર અલભ્ય એવી વાતો આવતી હોવાથી, વિદ્વાનોની દૃષ્ટિએ એ એક અભ્યસનીય ગ્રંથ જેવો થઇ પડેલો છે. જર્મનીના વાલ્ટેર શુબ્રીંગ નામના એક સ્કૉલરે એ સૂત્રનો ખૂબ બારીકાઇથી અભ્યાસ કર્યો છે અને તેના પરિણામ રૂપે 'ડસ્ મહાનિસીહસુત્તમ્' એ નામે જર્મન ભાષામાં ઘણું મહત્ત્વનું પુસ્તક લખ્યું છે. જૈન સાધુઓમાં, આજે આ સૂત્રને સમજી શકે એવો કોઈ ભાગ્યે જ હશે. એ સૂત્રમાં શા શા વિષયો આવેલા છે એની પણ કોઇને ખબર નહિ હોય.

લગભગ એક સૈકા પહેલાં વડોદરામાં દીપવિજય નામના એક વિદ્વાન યતિ થઇ ગયા છે તેઓ સારા કવિ અને પંડિત હતા. વડોદરાના રાજ્યમાં તેમને સારું માન મળતું હતું. ખંડેરાવ મહારાજે એ તેમને "કવિબહાદુર"નો ઇલકાબ આપ્યો હતો. સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત ભાષાના બહુ સારા અભ્યાસી હતા. તેમને વડોદરાના જ્ઞાનરસિક શ્રાવક ગાંધી દુલભદાસ ઝવેરચંદ, સા. ઝવેરચંદ દેવચંદ, સા. કહાનદાસ નરસીદાસ, નાયુ ગોવિંદજી વગેરે મળીને મહાનિશીથ સૂત્રના વિષયમાં કેટલાક પ્રશ્નો પૂછ્યા અને કુંકમ આ આખા સૂત્રમાં શા શા વિષયો આવેલા છે તે જાણવાની જિજ્ઞાસા બતાવી. આથી એ કવિરાજે સંવત્ ૧૮૯૦ની સાલમાં આ નીચે આપેલો એ આખા સૂત્રનો સંક્ષિપ્ત પરિચય લખી કાઢ્યો.

વડોદરાના જ્ઞાનભંડારમાંથી આ પરિચયની પ્રત મળી આવી હતી જે ઉપરથી તદ્વત્ નકલ ઉતારીને આ પરિચય અહિં આપવામાં આવ્યો છે. ભાષા, અને જોડણી વગેરેમાં પણ કોઇ જાતનો ફેરફાર કર્યો વગર અસલરૂપે જ એ અહિં છાપવામાં આવ્યો છે. આશા છે કે એ સૂત્રના વિષયમાં આ પરિચયમાંથી જિજ્ઞાસુઓને સારૂં જ્ઞાન મળશે.

असल परिचय.

શ્રી સન્નૃપતિ વિક્રમ સમયાત્ સંવત ૧૮૯૦, શાકે ૧૭૫૫ પ્રવર્તમાને શ્રી ગુર્જર દેશ વડોદરા નગર સ્થાઈ, શ્રી તપાગચ્છીય શ્રીવિજયાનંદસૂરિ પક્ષે દીપવિજય કવિરાજ તેમને સુશ્રાવક, પુણ્યપ્રભાવક ગાંધી દુલ્લભદાસ ઝવેરચંદ, સા૦ ઝવેરચંદ દેવચંદ; સા૦ કાહાનદાસ નરસીદાસ, સા૦ નથુ ગોવિંદજી; તેગણે પૂછા કરી જે મહાનિશીથ સૂત્ર કેતલો મોટો ગ્રંથ છે, કેતલા અધ્યયન છે, અધ્યયન અધ્યયન દીઠ સ્યાસ્યા અધિકાર છે. ત૦ શ્રી જિન પ્રતિમાના પાઠ, દ્રવ્યસ્તવ ભાવસ્તવના પાઠ, ત૦ સંઘયાત્રાના પાઠ, દ્વાદશાંગી સૂત્રની આશાતનાના પાઠ તથા શ્રી જિનવચન ઉત્થાપીને મિશ્રભાવ બોલીને અનંતોકાલ રઝલ્યા તે સાવદ્યાચાર્યની વાત કિહા અધ્યનમાં છે? એ વાત નાગિલ સુમતિ કુશીલીઆની સંગતે ઘણો કાળ ભમ્યા અને નાગિલે ભાવના ભાવતાં કેવલ જ્ઞાન ઉપજાવ્યું એ કિહા અધ્યયનમાં વાત છે? કામ–લોલુપી દુઃખીયા થયા, તથા નંદીષેણજીયે દેશ્યાને ઘરે ધર્મલાભ દીધો, વેશ્યાયે અર્થલાભ કહ્યો. તથા વેશ્યાને ઘરે બારે વરસ રહ્યા. પાછા તર્યો. એ કિહા અધ્યયનમાં વાત છે? તથા પરંપરાગત ઇમ કહે છે જે મહાનિશીથ સૂત્ર સભા મધ્યે વંચાય નહીં તે કારણ સ્યા માટે છે? ઇત્યાદિ પ્રકારે અમારા મનમાં સંશય છે તે મહાનિશીથ સૂત્રને અનુસારે શ્રી જિન આગ્યા પ્રમાણે જેતલું જાણવામેં આવે તે પ્રમાણે સંદેહ નિવારણ કરોઃ એહવું પ્રશ્ન સંઘ–શ્રાવકે પૂછયું. તેનો ઉત્તર શ્રી મહાનિશીથ સૂત્રને અનુસારે કહે છે. પણ પૂછયા પ્રમાણે એ સંશયના ઉત્તર લખ્યા પ્રમાણે સાંભલીને જે કોઇ મનમાં કલ્પના આણસ્યે તે સાવદ્યાચાર્યની પરે ઘણો કાલ રઝલસ્યે. માટે સાંભલીને એ સૂત્રની ત૦ પ્રતિમાની પ્રતીત રાખવી, શ્રદ્ધા રાખવી.

એ મહાનિશીથ સૂત્ર ગ્રંથ ૪૫૪૪ સાડાચાર હજાર ચોમાલીસ શ્લોક પ્રમાણે છે. અધ્યયન ૬ અને ચૂલીકા દોય છેઃ એવં ૮ છે. ચૌથા આરાવરસી મહાકાલમાં સૂત્રવિચ્છેદ જાતા જાણીને શ્રી વલ્લભીપુર મધ્યે શ્રી દેવર્દ્ધી ગણી ક્ષમાશ્રમણજીઇં સર્વસાધુ ભેલા કરીને મુંહે સૂત્ર હતાં તે પુસ્તકે લિખ્યાં. લખતાં ૨ સંવત ૫૧૦ની સાલ માહે શ્રી દેવર્દ્ધી ક્ષમાશ્રમણ પૂજ્યજી સ્વર્ગે ગયા. ત૦ સં. ૫૩૦ ની સાલમાં એક પૂર્વધર સત્યમિત્ર સૂરિજી યુગપ્રધાન સ્વર્ગે ગયા. પાછલથી શ્રી હરિભદ્રસૂરી, શ્રી સિદ્ધસેનસૂરી, વૃદ્ધવાદી, યક્ષસેણ, દેવગુપ્ત, યશવર્ધનગણિ ક્ષમાશ્રમણના શિષ્ય રવિગુપ્તજી, નેમીચંદ્રજી, જિનદાસ ગણી પ્રમુખ મહાપુરુષ ભેલા મલીને એ નિશીથ સૂત્ર પુસ્તક લખ્યું. લખતાં ૨ કેઈ પાઠ આલાવામાં ફેર દીઠા તે કેવલીને ભલાવી ગયા છે. તે ચઉથા અધ્યયનને છેહડે જોઈ લેવું. અને સં૦ ૫૮૫ શ્રી હરિભદ્રસૂરી સ્વર્ગે ગયા. એ પુરુષે વૃદ્ધને ત૦ કેવલીને ભલાવ્યું પણ માથે લીધી નહી. એહવા ભવના ભીરૂ. તેણે એ રીતે મહાનિશીથ સૂત્ર લખ્યું છે. અને આજ વર્તમાન પ્રતિમાની દ્વેષી પ્રતિમાના ઉથાપક તે શ્રી મહાનિશીથમાં પ્રતિમાના પાઠ, સંઘતીર્થ યાત્રાના પાઠ દેખીને ઇમ બોલે છે જે મહાનિશીથ સૂત્ર મોટું રત્ન છે, પણ પાછલથી, જતી આચાર્યો

મલીનેં શ્રી જિનપ્રતિમાના પાઠ નવા ઘાલીને સૂત્ર ડોહળી નાખ્યું છે. એ રીતે પોતાના છીદ્ર ઉઘાડવાના મતલબ સારૂં મોટા પુરુષ ભવ ભીરૂનેં ચોર ઠેહેરાવે છે, બોલે છે. પણ સાવજ્જાચાર્યની પરે અનંતો કાલ રજલસ્યે. સાવજ્જાચાર્યે એવા વચન મિશ્ર ભાષાઇ બોલી ને તીર્થંકર ગોત્રના દલવાડા વિખેરીનેં અનંતો સંસાર વધાર્યો. તો જે કોઈ મોટાને ચોર ઠરાવીને એ સૂત્રને ઉથાપસ્યે તેહની સી વલી થાસ્યે. તથા વલી કોઇ ઇમ બોલે છે જે મહાનિશીથ સૂત્ર સભા સમક્ષ વંચાય નહીં ઇમ કહે છે. તેહનો ઉત્તર ઇમ જે નોકારના મંત્રાક્ષર છે તે પ્રગટ ન વાંચીયે ન બોલીયે. તે મંત્ર ન વાંચે એને અટકે નહી. તથા ચોથા આરાના સાધુની આવી મોટી આલોયણ છે. તે પાંચમા આરામાં થઇ શકે નહીં. એને પણ અડકે નહીં. તથા વલી બોલે છે જે માંહે અસમંજસ વાતો છે તેથી વંચાયે નહી. પણ એહવી વાત માંહે નથી. નિકેવલ સાવદ્ય આરંભ રહિત મુનિ માર્ગની વાત છે અને આજ વર્તમાનમાં મુનિમાર્ગ પાલી શકાય નહી તેવારે જિનપડિમાનો આધાર ગ્રહીનેં, અનંતો લાભ બહુ લાભ વર્ણવીને, બહુ પૂજા કરીનેં, સાવદ્ય વ્યાપાર આરંભ પોતે આદરી બેઠા. તે કહે છે દેહરા ઉપર ઊપરી રહેવું, તીર્થ ઊપર ઊપરી રેહેવું, પત્થરની ખાંણુ કઢાવવી, પત્થર ફોડાવવા, ચૂનો છોહની ભઠ્ઠી પકાવવી, ઇંટનો નીવાહ પકાવવો, કાચા પાણીયે છો ગાર કરાવવી, દેહરા ચણાવવાં, ધર્મશાલા ઉપાશ્રય બણાવવાં, જિનપૂજા, દેવદેવીનેં કારણેં ફલફૂલ ચુંટાવવાં, પ્રતિષ્ઠા અંજનસિલાકા દસ દિગપાલના ભૂત બલી રંધાવવા, પૂજા ભણાવવી, સંઘના આગેવાન થઇનેં સાજવુંઃ ઇત્યાદિ સાવદ્ય આરંભ તે બહુ લાભ અનંત લાભ પોકારી ઘણી ઘણી પુષ્ટી કરીનેં આચાર્ય ઉપાધ્યાય સાધુ તેમણેં આરંભ વ્યાપાર અંગીકાર કરીલી૦...... ....કરાવે, ધ્વજ કરાવે, ધ્વજ કલસ દંડ સહિત જિનપ્રાસાદ કારવે પણ મુનિ પણાનિ..........એહવી વાત... ....થમાં છે માટે સ..................તાની ઉઘડે અને આજીવીકામંદ થાયે માટે સભા સમક્ષ વાંચવાની ના કહે છે. તે સર્વે હકીગત ત્રીજા ચોથા પાંચમા છઠ્ઠા અધ્યયનમાં છે. મહાનિશીથસૂત્ર મોટો રત્ન છે. એ રત્ન છે પણ જિનપડિમાના દ્વેષીયેં પ્રતિમાના પાઠ માટેં ઉત્થાપ્યું માન્યું નહિ. અને માનનારા તેમણે પોતાની આજીવીકા ઘટે માટે સભાસમક્ષ વંચાયે નહીં એહનો ભરમ ઘાલીનેં વાંચ્યું નહીં. પણ સંઘ શ્રાવકે પૂછ્યા પ્રમાણે જેહવી વાત એ સૂત્રમાં છે તે પ્રમાણેં લખ્યું છે. સાવજ્જાચાર્યની પરેં અશુક સંસાર વધારવો નથી.

પ્રથમ અધ્યયનનું નામ શલ્ય ઉદ્ધારણ. એ અધ્યયનના પાંના ૭ છે. સલ્યઉદ્ધરણનો અર્થ એ જે જિમ પગમાંહે કાંટો લાગો તે તેહનું સાલ છે પણ આખા શરીરનેં વેદના કરે તિમ જીવે પાપ કર્યો હોય તે શલ્ય મોટાની સાખે પ્રગટ કહીને નિંદીને આલોઇને ખમાવીનેં પાપ રૂપ સ..................કાંટો કાઢીનેં નિરૂગ થઇ ને પરભવ સમારે તેહનું નામ શલ્ય ઉદ્ધરણ કહીગે. એ અધ્યયનમાં જીવનેં અઢાર પાપ બાંધવાના સ્થાનક કહ્યા છે. હવે પ્રથમ શલ્યઉદ્ધરણ થાવાનેં ઉજમાલ થઇને તિથી વાર નક્ષત્ર ગોગ કરણ ચંદ્રબલ અઠ્ઠમનો તપ પારણું કરીનેં સર્વ ધર્માનુરાગ મુનિ-

રાજને વંદીને સર્વને ખમાવીને, છઠનો તપ, સર્વ મુનિ મંડલને, શ્રી વીતરાગનું દેહરું છે તિહાં પ્રતિમા આગલ જઈને સર્વ જિનબિંબને વાંદીને પછે શ્રુતદેવતાનું સમરણ ધારીને ક્ષરધારે બોલી....? શ્રુતદેવતાના મંત્રાક્ષરની છે. પછે અક્ષીણમાનશી લબ્ધિ મંત્રાક્ષરની ૧ બોલી છે. પછે વીરના મંત્રાક્ષર છે, તથા સર્વે તીર્થંકરના મંત્રાક્ષર છે. પછે શુદ્ધ સાધુના મંત્રાક્ષર છે. પછે શ્રુતજ્ઞાની અવધિજ્ઞાની મનપર્યવજ્ઞાનીના મંત્રાક્ષર છે. પછે પચીસ જાતના કેવલી ભગવંતને વાંદીને પછે આલોયણ લીયે. તે આલોયણના પાઠ આલાવા ઘણા છે તે પાનાથી જોઈ લેવું. ઇતિ સલ્યઉદ્ધરણ અધ્યયન સમાપ્ત. ૧.

બીજું કર્મવિપાક અધ્યયન પાના ૧૧ છે. એહ અધ્યયનમાં કર્મવિપાકની વાત છે. નિગોદિયા એકેદ્રીથી માંડીને દસ ભુવનપતિ, સોલ વ્યંતર, દસ જોતિષી, વિમાનીક છવીસ, પાંચ થાવર, ત્રિણ વિગલેંદ્રી, તીર્યંચ, મનુષ્ય આદિ ચોવીસ ડંડક, ચોરાસી લાખ જીવાજોનીમેં જીવે જે પાપ કર્યાં હોય તે સંભારીને આલોચે નિંદે ગરહે તે ઘણી વાત છે. અધ્યયનને છેહડે સામાયક પોસહાવતની વાત છે. તિહાં ગૌતમે પ્રશ્ન કર્યું જે–ભગવંત! શ્રાવક જિનલિંગ આદરીને છાંડે તે આરાધક કે વિરાધક ? ઉત્તર–ગૌતમ ! શ્રાવક સંસારી સામાયિક પોસહમાં જિનલિંગ ધરીને બેઠા તે ૨ ઘડી ૪ પહેર ૮ પ્રહર ૧૬ પ્રહર જિનલિંગ તેણે દુવિધ ત્રિવિધ ભાંગે ઉચર્યું છે પણ ત્રિવિધ ત્રિવિધ ભાંગે ઉચર્યું નથી. માટે તેહના વ્રતનો કાલ પૂરો થાયે તિવારેં પારીને ઘરે જાયે. એ આરાધક પણ વિરાધક નહીં. અને મુનિયે ત્રિવિધ ત્રિવિધ ભાંગે વ્રત ઉચર્યા છે તે જિનલિંગ મુનિપણું આદરીને છાંડે તે વિરાધક કહીયે. ઇત્યાદિ કર્મવિપાકની વાત તો ઘણા પ્રકારની વરણવી છે. તે પાનાથી જોઇ લેવું. ઇતિ બીજું કર્મવિપાક અધ્યયન સ૦ ૨.

અથ ત્રીજું કુશીલ નામ અધ્યયન છે. પાંના ૧૬ છે. મોટું અધ્યયન છે. એ અધ્યયનમાં કુશીલીયાની વાત છે. નોકારના પંચપરમેષ્ઠી નવ પદની વાત છે. તેહમાં ઉપધાનાદિ દિનમાન તપક્રિયાની વાત છે. પંચપરમેષ્ઠીનું જુદું જુદું વર્ણવ બહુમાન ઘણું છે. પછે નોકારના કહેનારા વખાણ કરનારા અનંતા તીર્થંકર. તે તીર્થંકરનું ઘણું વર્ણવ છે. તીર્થંકરને દેવેંદ્ર નરેંદ્રે સ્તવના પૂજા કરીને દ્રવ્યસ્તવ ૧ ભાવસ્તવ ૨. વલી દ્રવ્યસ્તવ તે જલ ચંદન અક્ષત ધૂપ દીપ ફલ નૈવેદ્ય એ દ્રવ્યપૂજા ૧, અને ભાવસ્તવ તે ગુણગ્રામ અને મુનિરાજપણું ૨. દ્રવ્યપૂજા તે સમકિત વિરતાવિરતી ગુણઠાણું ૧, શ્રાવકની કરણી ૧. અને ભાવપૂજા તે છઠે સાતમેં ગુંણઠાંણે મુનિરાજ ૨. તીર્થંકર ભગવંત તે પૂર્વ ભવથી દશ બોલે ભાવસ્તવ મુનિપણું કેવલ જ્ઞાંન ખજાનો નિકાચીને અવતર્યાં છે. તે પોસાપડિકમણાં નોકાર વ્રત પચખાંણ જિનપૂજા ઇત્યાદિ થોડી પૂંજી સામું જોતા નથી. એક ભાવસ્તવ મુનિરાજપણું કર્મક્ષયને અર્થે આદરે–તપ કરે એ વાત છે. સંસારી તીર્થંકર શુદ્ધ સમકીતી, પણ દેશવીરતી વિરતાવીરતી સર્વવિરતી એકેમાં નહીં; ઇછીએ કે કર્મને અર્થે ભાવસ્તવ મુનિપણું આદરે. દ્રવ્યસ્તવ જિનપૂજા આરંભિક છે, ભાવસ્તવપૂજા અનારંભિક છે, એ

વાત છે. મેરૂપર્વત જેવડુ સોનાનુ પ્રાસાદ કરાવે, પ્રતિમા ભરાવે, પગથિયાં ધજકલસ ડંડ ઘંટા વાજિત્ર તોરણ પ્રમુખ કરાવે, પણ ભાવસ્તવ મુનિરાજપણાને અનંતમે ભાગે નાવે એ વાત છે. વલી દ્રવ્યસ્તવ તે જિનપ્રતિમા પ્રાસાદ પ્રમુખ આરંભિક કામમાં, ભાવસ્તવ મુનિરાજ ઉભા ન રહે અને ઉભા રહે તો અનંત સંસારીક થાય એ વાત છે. ઇત્યાદિ પ્રકારે ઘણી વાત છે તે લેશમાત્ર લખી છે. એ અધ્યયનને ધુરે એ વાત છે જે મહાનિશીથ યોગ્યને ભણાવવો, એ ત્રીજા અધ્યયનમાં છે. એ અધ્યયનના યોગક્રિયાદિકમાં તપની વાત છે, સોલ જાતના કુશીલીયાની વાત છે. આગલ ઓગણત્રીસ જાતની અપ્રશસ્ય કુસીલીયાની વાત છે. વલી બીજા પ્રકારના કુસીલીયાની વાત છે. તથા આઠ પ્રકારે જ્ઞાન કુશીલીયાની વાત છે. નોકાર ઉપધાન વર્ણન છે. તેહમાં દયા વખાંણી છે. અનુકંપાનુ દયાનું વર્ણવ છે. પછે ગૌતમેં નોકાર ઉપધાન વિધિ પૂછી. વીરેં કહ્યું તિથી વાર નક્ષત્ર યોગ-કરણ ચંદ્રબલ મુહૂર્ત જોઇનેં જિન પ્રાસાદ પ્રતિમા આગલ ક્રીયા કરવી. પાંચ દિનમાં પાંચ પદનું અધ્યયન. ઉપર ચૂલીકાના ચ્યાર પદમાંથી બે બે પદનું અધ્યયન માટે ૨ અધ્યયન ચૂલીકાનાં. એવાં સાત અધ્યયન સાત દિનની ક્રીયા આંબીલ તપની વાત છે. આગલ નોકાર પંચ પરમેષ્ઠીનું જુદું જુદું બહુ વર્ણન છે. પછે નોકાર વર્ણન કરનાર તીર્થંકર. તે તીર્થંકરનું પાંચ માંના લગી વર્ણન છે. તીર્થંકરની દેવનરેંદ્રે પૂજા કરી. તેહના ૨ ભેદ. દ્રવ્યસ્તવ ૧, ભાવ-સ્તવ ૨. તેહમાં દ્રવ્યસ્તવ તે વિરતાવિરતી, શીલ, પૂજા, સત્કાર, દાન દેવાં, પ્રતિમાપૂજા ઇત્યાદિ ગૃહસ્થનેં દ્રવ્યપૂજા ભાવપૂજા બેહુ હોય ૧. અનેં ભાવપૂજા ભાવસ્તવ તે ચારિત્ર તપ જપ ક્રીયા સંજમ અનુષ્ઠાન કરવાં ૨ એ વાત છે. પછેં ગૌતમેં વીરને પ્રશ્ન પૂછયો-મુનિઉસન્ન વિહારી સમભાવે કલ્યાણને અર્થે ચારિત્ર લીધાં પછે ઋદ્ધિગારવ--રસગારવે કરીને મહામોહ રાગ દ્વેષ વાળી બુદ્ધિઈ કરીનેં, ભાવપૂજા-મુનિપણું છાંડીને, નહીં શ્રાવકમાં નહીં સાધુમાં, ઉભય ભ્રષ્ટ, નામ માત્ર લિંગ ધારી, નેં ઇમ બોલે ઇમ કહે, જે અરિહંત ભગવાનની પ્રતિમાની જલ ચંદન અક્ષત ધૂપ દીપ ફલ નૈવેદ્ય પ્રમુખે પૂજા કરીને તીર્થ થાપીયે છીયે. એહવું જે બોલે તે, ગોયમા વણોણ (?) તહત્તિ શ્રમણ કહીઇં. તે અનંતો કાલ ભમસ્યે. એથી વિશેષ અધિકાર પાંચમેં અધ્યયનેં આવે છે. તે અધ્યયનેં સાવજ્જાચાર્યની કથા છે તે આગલ લખી છે. વળી પરૂપણા અતીસેં કરે જે જિનપૂજાના ઘણા લાભ છે, એહવી અતી પુષ્ટી કરીનેં ભદ્રક જીવ અનેં પોતે, વિવેક રહિત, ઘણા ફુલ ફળના આરંભ કરીનેં, બેહુ જણનેં, સમકિત બોધી દુર્લભ હોસ્યે. માટે દ્રવ્ય પૂજાથી ભાવપૂજા અધિક છે. ભાવપૂજાનેં અનંતમેં ભાગે દ્રવ્યપૂજાનુ ફલ છે. ભાવપૂજાથી દશાર્ણભદ્ર, ચક્રધર, ભાનુદત્ત, રાષિદત્ત, પ્રમુખ અનંતા જીવ સંસારનો પાર પામીનેં મોક્ષે ગયા, એ વાત છે. આગલ સિદ્ધનું સુખ વર્ણવ્યું છે. ભીલનો તથા રાજાનો દૃષ્ટાંત વર્ણવ્યો છે. સિદ્ધના સુખ આગલ સંસારી સુખ અનંતમેં ભાગે નથી. પછે ગૌતમે પૃચ્છા કરી જે-દેવ તથા ઇંદ્ર અવ્રતી વાંછિતમેં પૂજા કરે છે? ઉ૦-હા ગૌતમ દેવઇંદ્રનેં દેશવીરતી વિરતાવીરતી સર્વવિરતીનો વિયોગ છે, માટે અવ્રતી. એ રીતે સંસારી તીર્થંકર તે પણ

વ્રત પચખાંણ પોસા પડિકમણા નોકાર જિનપૂજા રહિત, આદર્યો છે કઠીન કર્મક્ષય કરવાને અર્થે ભાવપૂજાસ્તવ સંજમ ચારિત્ર જેણે, એ વાત છે. આગલ એ મહાનિશીથ લખનારા મહાપુરૂષનું નામ છે. તે આગલ, બીજા બાર વરસી મહાદુકાલમાં પૂર્વધર વયર સ્વામીયે નોકાર ઉદ્ધરીને મૂલ સૂત્રમાં લખ્યો, એ વાત છે. તે આગલ, ઇરિયાવહી, શક્રસ્તવ, નામસ્તવ, ચૈત્યવંદન પ્રમુખનાં ઉપધાન વહેવાં, તેહના તપદિનમાંન, ક્રીયા વિધિની વાત છે. તે આગલ, વલી, કુશીલીયાના બહુ ભેદ વખાણ્યાં છે. ઘણી ચર્ચા છે. તે પાનાથી જોઇ લેવું. એણી રીતે ત્રીજું કુશીલ અધ્યયન નામેં જાણવું. ૩

ચોથા અધ્યયનમાં નાગિલ સુમતિની વાત છે. નાગિલ સાવક કુસીલનો સંગ વરજીનેં આરાધક થઇનેં તેહી જ ભવમાં અણસણ કરીનેં શ્રાવકપણેં હીજ મુક્તિં ગયો; બીજું, સુમતિયે, કુશીલીયા પાંચ સાધુના સમુદાયમાં પ્રવજ્યા લઇનેં મરીનેં પરમાધામી થયો. તિહાંથી અંડગગોલી થઇનેં બાર માસ વજ્રના ઘરટમાં પીલાયો. તેવી તેવી ૨૭ વાર પીલાઇનેં, અનંતો સંસારમાં રજલીનેં, પછે મુગતે જાસે. એમ જાણીનેં કુશીલનો સંગ ન કરવો: ઈતિ વાત ચોથા અધ્યયનમાં છે. તેથી જાણવું. ૪.

હવે પાંચમું અધ્યયન ગચ્છાચારનું છે, તે વરણવું છું. તે મધ્યે ગચ્છ વરણવ છે. સુદ્ધ આચાર્ય વરણવ, મધ્યમ આચાર્ય વર્ણવ, શુભ જ્ઞાંન દ્વાદશાંગી વરણવ, દ્વાદશાંગી આરાધક વરણવ, દ્વાદશાંગી વિરાધક વરણવ, શ્રુતજ્ઞાંન સૂત્રનાં વચન ઉથાપીનેં સાવજ્જાચાર્ય ઘણો કાલ રજલ્યા, તે વરણવ. તીર્થયાત્રા વરણવ. દેહરાં પ્રતિમા પૂજી આરાધક તથા વિરાધક વર્ણવ: ઇત્યાદિ વરણવ છે. એ અધ્યયનના ૧૬ પાના છે. મોટું અધ્યયન છે. તે લેશ માત્ર લખીયે છીયે. પ્રથમ પાના ૬ લગે ગચ્છ વર્ણવના, આચાર્યના પાઠ આલાવા છે. તે રત્ન સરીખા છે. નવી નવી ઉપમા નવા નવા અર્થ છે. પાના વાંચ્યે સાંભલે ઘણું જાણપણું થાયે. પાંચમા આરાના અંતલગી ગચ્છ નેં, દુપ્પસહ સૂરી આચાર્ય થાસે એ વાત છે. છેહલા ચતુર્વિધ સંઘ ચ્યારના નામ છે: તથા પાંચમા આરાનેં અંતે દુપ્પસહ સૂરી લગે ચાર યુગ-પ્રધાન ખાયક સમકિત વંત થાસ્યે, એ વાત છે. એ હુંડીનો કરનાર પં. દીપકવિરાજને શંકા ઉત્પન્ન થઈ જે શાસ્રોમાં બે હજાર ને ચાર યુગપ્રધાન કહ્યા છે, અને શ્રી મહાનિશીથમાં ચાર યુગપ્રધાન કહ્યા છે. હવે પાંચમા આરામાં આચાર્ય શુદ્ધ તો ઘણા થાસ્યે, પણ જે એકાવતારી, તેહને યુગપ્રધાન કહીએ. અને બીજાનેં એકાવતારીનો મેલ નહી. અને યુગપ્રધાન પણ ચ્યાર ક્ષાયકવંત છે. અને ૨૦૦૦ ક્ષયોપસમ સમકિતવંત તેમને ત્રીજે ભવે ક્ષાયક થાસ્યે. એતલે શ્રી ગૌતમને કેવલ ચેલા ક્ષાયક થયું તે રીતે, બે હજારને ક્ષાયક ભાવે કેવલ થાસ્યે. એ પરમાર્થ જાણવો. આગલ સય્યંભવસૂરીજીઇ, પુત્ર મનકનેં કાજેં, શ્રી દશવૈકાલિક સૂત્ર ગુંથ્યું; તે પાંચમા આરાનાં અંત લગે રહેસ્યે, એ વાત છે. વલી તીર્થ તે તિર્થંકર, વલી તીર્થંકર તે ચતુર્વિધ સંઘ, તે સંઘમાં જ્ઞાન દર્શન ચારિત્ર છે. તે રત્નત્રયી પરમપૂજ્યનો પૂજ્ય છે, એ વાત છે. તે

આગલ, ચ્યારસેં નિવાણું ચેલા અને ગુરુ આચાર્ય—તે ૪૯૯ શિષ્ય ગુરુ આણા વિરાધકની કથા છે. તે લેશ માત્ર લખૈ છૈ—જે પાછલ ત્રેવીસમી ચૌવીસી ઉપર ચોવીસમા તીર્થંકરને મોક્ષ ગયા પછે ચરમશરીર આચાર્ય થયા. તેહને ૪૯૯ શિષ્ય હુંતા. એક દિવસે શિષ્યે કહ્યું, જે સ્વાંમિ તુંમારી આજ્ઞા હોય તો ચંદ્રપ્રભ સ્વાંમીનું જે ધર્મચક્ર તેની યાત્રા જઇયેં. આચાર્યે ના કહી, જે સ્વેચ્છાચારી પણેં યાત્રા જાતાં ન ઘટેં, ગુણવંત સાધુને સાથે યાત્રા જાવું. માટે તુમેં અમેં સાથે જાસ્યું. શિષ્યે પૂછયું યાત્રા જાતાં સ્યું થાયે ? ગુરુ કહે, અસંયમી થાયે. મોટો દોષ લાગે. ઘણા ટોલામાં, ઘણા લોકમાં, મુનિધર્મ પલે નહી. હરીકાય બીજ એકેંદ્રી બેઇંદ્રી પ્રમુખ પ્રાણભૂત જીવ હણાયે, ભંડ ઉપગરણ પડિલેહણનું પ્રમાણ રહે નહી, અનેં વિરાધક થાય. એ રીતે નિત્ય કથા કરતા શિષ્ય ૪૯૯ લડી પડયા. ગુરુનેં મુકીનેં સર્વ વિરાધક થઇનેં, સંયમ ભૃષ્ટ થઇનેં, જાતા રહ્યા. પછે આચાર્ય એક દીવસ થંડિલે જાતાં સાહમો સીહ આવ્યો. તિણેં આચાર્યનેં હણ્યા. આચાર્ય અંતગડ કેવલી થઇનેં, મોક્ષ ગયા. એ કથા છે. ગચ્છ આચાર્ય ઉત્તમ મધ્યમની વાત છે. પછે, દ્વાદશાંગીનું વરણુવ છે. તેહ માંહે પાઠ છે, જે देविंदवखाणं દેવેંદ્ર તે ઇંદ્ર તેહનેં વંદનીક તીર્થંકર, તેહનેં વંદનીક દ્વાદશાંગી શ્રુત જ્ઞાંન એટલે नमो सुअस्स नमो तित्थस्स એ ભાવ, તે આગલ, દસ અચ્છેરાની વાત છે. અનેં મિથ્યાદષ્ટી અંગાર મર્દકાચાર્યની વાત છે. તે આગલ, એક વચન મિશ્ર ભાષાઈ બોલીનેં, દ્વાદશાંગી વિરાધક થઇનેં, અનંતો કાલ રજલ્યા, તે સાવજ્જાચાર્યની પાંચ પાનાની મોટી કથા છે. તે લેશ માત્ર લિખે છે. ગૌતમ ! વર્તમાંન ઋષભની ચોવીસીથી પાછલ ગઇ અનંતમી ચઉવીસી, તેહમાં સાત અછેરા થયા. તેહમાં સાત હાથ પ્રમાંણે દેહમાંન ચોવીસમો તીર્થંકર મુજ સરીખો ધર્મશ્રી નામેં તીર્થંકર થયા. તે તીર્થંકર મોક્ષ ગયા પછે, કાલ દોષેં કરીનેં, મિથ્યાત્વ ઘણું પ્રવર્ત્યું. અને જિનમતિના આચાર્ય તથા સાધુ ઘણા શિથિલ થઇ ગયા. પોતે પોતાના ગચ્છવાસી થઇનેં, પોતાના પરાક્રમેં દ્રવ્ય મેલવીનેં, ગાડી ઘોડા રથ પાલખી રાખતા થયા. પોતાના દ્રવ્ય વડે પોતપોતાના ગચ્છના દેહરા પ્રતિમા ઉપાશ્રા બાંધીનેં રહ્યા. પોતાપોતાના ગચ્છના શ્રાવક દષ્ટી રાગીયા થઇ ગયા. આચાર્ય જતી તે જલ ચંદન અક્ષત ધૂપ દીપ નૈવેંદ્યાદિકે પોતે જ પૂજારા રૂપે જિનપડિમા પૂજવા લાગ્યા, અનેં વીતરાગના વચન વેગલા મુકયા. તે કહે છે, સર્વે પ્રાણી ભૂત જીવ સત્વ એકેંદ્રીથી પંચેંદ્રી લગે 'સંઘાઇયાં સંઘટ્ટીયા ઉદ્દવીયા' પ્રમુખ પર્યાસા અપર્યાસા ત્રિવિધપણેં મનથી વચનથી કાયાથી વેગલા છે જેહનેં; તથા, મૈથુનાદિક સર્વ આરંભાદીકે કરીનેં સદા ભરેલા છે, એહવા લિંગધારી દેહરા પ્રતિમાના પોતે પૂજક થઇનેં કાલ નિગમન કરે છે. ઇહાં ગૌતમેં પ્રશ્ન કર્યું, જે ભગવંત ! સાધુ સાધવી તે દ્રવ્ય પૂજા કરે તેહનેં સ્યો લાભ ? વીર કહે, ગૌતમ ! સાધુ સાધવી ગનિ દ્રવ્યસ્તવ જિનપૂજા કરે નહી. ઘટતી વાત નહી. અનેં કરેં તો, અનન્ત દેવદ્રવ્ય ભક્ષક, ઉન્માર્ગના ચાલનાર, દુષ્ટાચારી, આણાવિરાધક, અનંત સંસારી કહીયે. એહવા લિંગીયા મઠ દેવલવાસી લિંગીયા થઇ ગયા છે. તે સમયમાં, ઘણા

આચાર્ય, મુનિ, ઉત્કૃષ્ટ ગુણના ધારક, રૂડા વ્રતના પાલનાર, શીલ સંતોષી, અત્યંત આસાતનાના ભીરૂ, સાવદ્ય યોગના ત્યાગી, ઉપસમ સમતા રસના દરીયા, ગયા છે રાગ દ્વેષ મોહ મિથ્યાત્વ જેહના, રૂડા ચારીત્રના ગુણે કરીને તીર્થંકર ગોત્રના દલવાડા મેલવ્યા છે જેણે, એહવા કમલપ્રભાચાર્ય ગુણ-સમુદ્ર મુનીંદ્ર છે, નેં, ઘણા સાધુના સમુદાય સાથે વિહાર કરતા ગામ, નગર, ખેટ, કબડ, વણસંડ, દ્રોણમુખ પ્રમુખને વિષે અનેક જીવોને ઉપદેશ કરતા આવ્યા. તે લિંગધારીના ગામને વિષે ધર્મ ઉપદેશમાં, મુનિમારગ વખાણ્યો. મુનિરાજ હોય તો સાવદ્ય યોગના ત્યાગી, અનવદ્ય યોગના ભોગી, પાપથી ન્યારા, દેવ દેહરા પ્રતિમાની દ્રવ્યપૂજા સાવદ્ય પ્રવત્તિ આદરે નહીં. પોતે સાવદ્ય કરણ કરે નહીં. શ્રી જિન પ્રાસાદમાં રહે નહીં. હાથે સાવદ્ય આદરે નહીં. શ્રી જિનપડિમા પૂજે નહીં. દ્રવ્ય રાખે નહીં. ઈત્યાદિક મુનિ ધર્મ વખાણ્યો. શ્રાવકે સાંભલીને લિંગીયાને પૂછ્યું. લિંગીયે ઉત્સૂત્ર પ્રરૂપણા કરીને, સર્વ લોકને, થીર કરીને સર્વ લીંગીયા એકઠા થઇને, સાવજ્જાચાર્ય એહવો મોટા શબ્દે કરીને તાલોટા કુટીને કમલપ્રભાચાર્યનું નામ સાવજ્જાચાર્ય કર્યું. તે આચાર્ય ઝાંખા થયા. માંહોમાંહે લિંગી ચર્ચા કરવા લાગ્યા. પોતાની પુષ્ટી કરવા માંડી જે મુનિ પ્રાસાદમાં રહે, પડયાં આખડયાં સમરાવે, તેહમાં મુનિને દોષ નહી. પ્રભુ ભક્તિમાં બહુ લાભ છે. વલી બીજો પુષ્ટી કરવાને બોલે જે દેહરા પ્રતિમાની સાર સંભાલ રાખે તેહને મોક્ષ નજીક છે. વલી ત્રીજો બોલ્યો:—

ગાથા

जहा णं पासायपडिमापूआसक्कारबलिविहाणाइं ।
तित्थुच्छप्पणा चेव मोक्खगमणं जिणा विंति ॥

અસ્યાર્થઃ પ્રાસાદ પ્રતિમા પૂજા સત્કાર બલિવિધાન તીર્થ થાપનાઃ એ સર્વે કામ મોક્ષ જવાના છે. એ રીતે પુષ્ટી કરીને સંઘલોકને થીર કરે. અને કમલપ્રભાચાર્ય બીજું નામ સાવજ્જાચાર્ય, તે લોકના દંભ પાખંડથી ખસિઆંણા પડીને વિહાર કર્યો. મનમાં વિચાર કર્યો જે સભા પ્રમાણે બોલતાં શ્રી જિનઆજ્ઞાભંગ થાય. વલી દ્વાદશાંગી શ્રુત જ્ઞાનની વિરાધક એહવી કલ્પના કરતાં વિહાર કર્યો. તે સાતે મહિને પાછા આવ્યા, ધર્મ ઉપદેશ દીયે, પણ લિંગીયાની શંકા મનમાં રહે. રખે જે વલી તાલોટા વગાડસ્યે, એહવો ભય રાખે. એહવે સમે કોઇક આર્યા સાધવી આવી. આ તે લિંગીયા સાધુ પ્રમાણે લિંગી સાધવીને આચાર્યે દીઠી. લિંગીના સંકેતે વાંદવા આવી. સભા સમક્ષ વચ્ચે થઈને આચાર્યના પગ ફરસીને વંદના કરી. તિવારે લિંગી લોકે તથા સંઘ લોકે આચાર્યને પૂછ્યું, જે મહારાજ ! સાધવીજી પગે અટકીને વાંદ્યા એ સંઘટ્ટો થયો કે નહિ. તિવારે આચાર્યજી મિશ્ર ભાષાએ બોલ્યા, જે, થાય ને ન થાય. જિન સિદ્ધાંતમાં બે ભેદ છે. એક ઉત્સર્ગ ૧, બીજો અપવાદ ૨, માટે થાયે ન થાયે. એહવી મિશ્ર ભાષારૂપ ઉત્સૂત્ર બોલ્યા. તેથી તીર્થંકર ગોત્રના દલવાડાં વિખરી ગયાં, અને અનંતો સંસાર વધાર્યો, અને

लेंगीया लोके सावज्जा आचार्य कहीने ताली वगाडी. ए सावज्जाचार्य एक वचन उथापीनें सातसें वरस, दोय मास, च्यार दिवस जीवीनें, मरण पांमी, व्यंतरमां गया. तिहांथी वासुदेवनी पुत्री, पुरोहितनी स्त्री, तिर्यंच, मनुष्य, सातमी नरकें, इम चोरासी लाख जीवा जोनीमां रुलीनें, अनंती चोवीसी लगे, चउद राजमां भमीनें, पछिम महा विदेहमां, मनुष्यपणुं पाम्या. एक दिवस तीर्थंकरने वांदवा जातो लोक देखीनें, साथी जाइनें, धर्मोपदेश सांभल्यो, अने दीक्षा लेई केवल ज्ञान पामीनें मोक्षे गया. इहां जे समें श्री पारसनाथ स्वामि विचरता हता, ते समें सावज्जाचार्यनो जीव पश्चिममहाविदेहमां मोक्षें गयो. इति सावज्जाचार्य उत्सूत्र-मिश्र-भाषण अनंत चोवीसी भव भ्रमण संबंध.

पुनः श्री गौतमे पूछयुं, भगवंत ! ते सावज्जाचार्ये किहे समये अनंतो संसार वधार्यो ? उ०—हे गौतम ! ते साधवीए पग फरस्याने संघे संघट्टानुं पूछयुं अने पोते बोल्या जे उत्सर्ग १, अपवाद २, ए मार्गमां आगम छे. एह वचन कहेतां अनंतो संसार वधार्यो. गौतम बोल्या, भगवंत ! उत्सर्ग १. अपवाद २. एहमां आगम कह्यो एहनो शो अर्थ ? उ०—हे गौतम ! उत्सर्ग १, अनें अपवाद २, ए ते, अनेकांत धर्म, एकांत पक्ष नहीं, ए तो प्रमांण छे. पण अधर्म करीनें आगमनुं नाम किम कहीए. ते सांभलो, तेउकाय अपकाय मैथुन प्रमुख सेव्युं एतले आणाभंगी थयो. अने आणा-भंगी ए अनंत संसारी. गौतमे पूछयुं, भगवंत ! तो सावज्जाचार्ये किहां मैथुन सेव्युं ? उ०—हे गौतम ! सेविया सेविये णो सेविया असेवियं जे वेलाये शंका राखीने बोल्या ते वेलां मैथुननो दोष लाग्यो. सूत्रनो आणाभंगी थयो अनंत संसार वधार्यो. भगवंत तीर्थंकर गोत्रना दलवाडां विखरी गया. हे गौतम ! पोताना प्रमाद दोषे सर्व कारण नीपनुं अनंतोकाल राजल्या. ए रीते जे कोइ श्री जिनआणा भांगस्ये ते सावज्जाचार्यनी परे चौद राजयमां भमस्ये. इति महानिशीथे द्वादशांगीश्रुतज्ञानस्य णुवणीयसार तार पंचम अध्याय समत्तं. ५.

छठुं अध्ययन अगीहत्थ व्यवहार नामे पाना १२ छे. ए अध्ययनमां वात ए छे, जे, मुनि तथा श्रावक विषयलोलपी थइनें, श्री जिनआणा भांगीनें, घणो काल भम्या तथा विषयना लोलपी थइनें पाछे शुद्ध आलोयण लेइनें, प्रायश्चित्त लेइनें, सद्गति पाम्या, ए वात, ए अध्यननमां छे. प्रथम नंदीषेणजी दीक्षा लेई व्रत आदरीनें, गोचरीए वेश्यानें घरे गया. धर्मलाभ कह्यो. तदा वेश्याये अर्थलाभ कह्यो. सोनईयानी वृष्टी थई. वेश्याने घरे रह्या. संयम भ्रष्ट थया. नित्य दशदश जणनें प्रतिबोधिनें, श्री वीरजी पासे मोकलीनें, पछे भोजन करे छे, नें छेहले दिवसे नव प्रतिबोध्या, दसमो सोनी मल्यो, प्रतिबोध न पाम्यो, ते समें वेश्या आकुली थइनें बोली, जे, भोजन सीतल थाय छे, दसमा तमो ज. एवुं सांभलीनें, उठी उभा थया. भोग कर्म पुरुं थयुं. ओघो मुहपती लेइनें, महातपस्या करी आत्मानिंदा करी. तेहनुं अर्धुं पानुं छे. एतली भावना छे. गुरु पासे आवी, आलोयण लेइ, केवल ज्ञान पामी, मोक्षें गया छे, ए कथा

છે. તે આગલ, કોઈક આચાર્યનો શિષ્ય, આષાઢનામે, તેણે કૌતિક નિમિત્તે સંજમ વિરાધીને દુરગતિઈ ગયો, એ કથા છે. આગલ, પ્રાયશ્ચિત્ત કેવા પુરુષને દેવુ અને કેહેવા ગુણવાન પુરુષ પાસે આલોયણ લેવી, તે વાત છે. પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાર ધીર વીર સુશીલ પુરુષ ક્ષમાવંત પુરુષ તે ઢુકડા તથા વેગલા કેવલી પાસે પ્રાયશ્ચિત્ત લેવું. તે ન હોય તો, મનપર્યવ અવધિ શ્રુત જ્ઞાની પાસે લેવું. તે ન હોય તો મતિજ્ઞાની મુનિ નિર્મલગુણવંત આચાર-વિચારશીલ ચારિત્રી તપસી પાસે લેવું, એ વાત છે. તથા શ્રાવક શ્રાવિકા પ્રાયશ્ચિત્ત લીઈ, તે શ્રાવક સદાચારશીલ સંતોષી નિર્મલ ગુણવંત આચાર વિચાર તથા સ્વદાર-સંતોષી પરદારત્યાગી ભાવચારિત્રી એહવા હોય તે પ્રાયશ્ચિત્ત લિયે, એ વાત છે. તે આગલ, પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાર આરાધક ઉપરે, ભદ્રાચાર્ય પાંચસે મુનિ સહિત, અને બીજો રજ્જ નામે આચાર્ય, એ બેહુની મોટી કથા છે. રજ્જાચાર્ય મહારોગે પીડિત, તે બીજી સાધ્વી પોતાની આત્મનીંદા કરીને કેવલ જ્ઞાન ઉપજ્યું અને તે કેવલીયે મોટો ઉપદેશ દીધો, તે ઉપદેશમાં બહુ વાત છે. બીજી રજ્જા સાધવીની જે ઉંના પાંણીના દોષણ કાઢીયા, તેની વાત છે. તે આગલ; લખમણા રાજપુત્રી, ચોરીમાંથી જ રંડા થઈ, તેણે અવસરે દિક્ષા લીધી, મોટું સંયમ પાલ્યું, એક દિવસ ચકલાચકલીનો મૈથુન દેખીને મનમાં વિષય વાસના આંણી, તેની આલોયણ લીધી નહી. તે વિચારે જે મનુષ્ય ભવ પામીને જન્મરંડાપો થયો, વિષય સુખ દીઠાજ નહીં: એહવો વિચાર કરીને, પાછો જીવાત્માને વાલીને એહવો વિચાર કર્યો, તેહનો પાપ નિવારવાને મહાતપ આચર્યો સ્વચ્છંદથી સોલ માસ પાસ ખમણ અઠાઈ છંઠ અઠમ પ્રમુખ મહાતપ કર્યો. પણ ગુરુ આગલ કહીને આલોયણ લીધી નહીં, લાજને લીધે વાત કહી નહીં. આલોયણ લીધી નહીં [તેથી] પચાસ વરસનો મોટો તપ લેખે આવ્યો નહિં. સાલ સહિત મરણ પાંમીને ઘણો કાલ ભમ્યો. પાછલી ચોરાસીમી ચોવીસીના ચોવીસમા તીર્થંકરનાં વારે એ લખમણાં સાધવી થયાં. તે પદ્મનાભ તિર્થંકરને વારે મોક્ષે જાસ્યે. માટે સલ્ય ઉપર લખમણા સાધવીની કથા છે. તે આગલ, ગર્ભથી તે કેવલ પાંમે તિહાંલગે તીર્થંકરની વાત છે. તે તીર્થંકરે ઉપગારને અર્થે તીર્થ થાપ્યું. ઉપદેશમાં પ્રાયશ્ચિત્ત આલોયણ વરણવી, એ વાત છે. પુંડરીક કુંડરીકની હકીગત વર્ણવી. એ વાત છે. ધરમ ઉપદેસની બહુ વાત છે, તે પાનાથી જોઈ લેવું. ઇતિ છઠું અધ્યયન સમાપ્ત. ૬.

પહેલી ચૂલીકાના પાનાં ૧૨ છે. એહમાં પ્રાયશ્ચિત્ત આલોયણ દસ જાતની વરણવી છે. પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાર દેનાર પુરુષ વર્ણવ. પ્રાયશ્ચિત્ત લીધે નફો સ્યો થાય, એ વાત છે. પછે, જિનપ્રતિમા આગલ વિધી કરવો, એ વાત છે. પછે નામ ૧ ઠવણ ૨ દ્રવ્ય ૩ ભાવ ૪ એ ચાર આલોયણની કથા છે. આલોયણ વિના મરે એ વાત છે. આલોયણ લેનારને પાપ રહિત મુનિની વાત છે. ઇતિ પ્રથમ ચૂલિકા ૭.

બીજી ચૂલિકાના પાંના ૧૩ છે. એહમાં, આલોયણ, પ્રાયશ્ચિત્ત, આરાધક વિરાધકની વાત છે. પ્રથમ સુસઢ ચરિત્રની મોટી કથા છે. સુસઢ જિનઆણાવિરાધક થઈને સંસાર

ભમ્યા, વલી ગોવિંદ બ્રાહ્મણની સ્ત્રી તથા મંજનસિરીની કથા છે. કુલવાલુઆ નારિંદ શ્રમણી કથા છે. કુલવાલુયા નરિંદ શ્રમણી વિરાધક થઈ સંસાર ભમીને ૭-૮ ભવે સિદ્ધિ વરસ્યે, અને શિષ્ય સર્વે મોક્ષ ગયા. એ કથા છે. ઈત્યાદિ બહુ વાત છે તે પાનાથી જોઈ લેવું. ઇતિ દ્વિતીય ચૂલિકા સમાપ્તા.

ઇતિ શ્રી મહાનિશીથે ૬ અધ્યયન, ૨ ચૂલિકા-જુમલે ૮ નો લેશ અર્થ વર્ણવ્યો. જે પ્રમાંણે મહાનિશીથ સૂત્ર તે પ્રમાણે એ હુંડી રૂપ હકીગત લિખી છે. પોતા પોતાના મતલબ નહી સરે અને એ સૂત્ર ઉપર દ્વેષ કરસ્યે તે તે સાવજ્જાચાર્યની પરે અનંત ચોવીસી લગે અનંતો કાલ રજલસ્યે. અમે તો જેહવું સૂત્ર માંહી દીઠું તે પ્રમાણે લખ્યું છે. ઠાંણાંગ સૂત્રના અક્ષર ગોપવીને દ્વાદશાંગી જિનઆણાના વિરાધક થઈને સંસારમાં ભમવો નથી. પ્રત્યક્ષમાં રાજાની દુવાઇ ભાગે છે તે પ્રગટ બંધીખાનું ભોગવે છે, દુઃખ પામે છે, તો જે કોઈ જિનઆણા ભાંગસ્યે તે ભવોભવ વધ બંધન તાડન તર્જન મરણ અનંતો કાલ દુઃખ પાંમસ્યે. આરાધક સિદ્ધિ વરસ્યે.

ઇતિશ્રી તપાગચ્છ વિજયાનંદસૂરિપક્ષે દીપવિજય કવિરાજ ઉદ્ધરિત મહાનિશીથ સૂત્ર લેશમાત્ર ભાવાર્થ સંવત ૧૮૯૦ શાકે ૧૭૫૬ પ્રવર્તમાને, શિષ્ય હસ્તે, પૃચ્છાકારક શ્રાવક અર્થે, શ્રી ગુર્જરદેશમાં વડોદરા નગર મધ્યે એ ગ્રંથ રચ્યો છે, વાંચીને વાકપ થાસ્યૌ. ઇતિ મહાનિશીથના બોલ સમાપ્ત શુભં ભવતુ. ગ્રંથાગ્રં. ૩૦૦.

કડુઆ મતની પટ્ટાવલી

થરાદ, રાધનપુર, અમદાવાદ વગેરે સ્થાનોમાં કડુઆમતી શ્રાવકોનાં કેટલાંક ઘરો હજીયે વિદ્યમાન છે. એ કડુઆ મત તે શું અને તેના પ્રવર્તક તે કોણ; એની આજે ભાગ્યે જ કોઇને ખબર હશે. આ પટ્ટાવલી મળ્યા પહેલાં અમને તો તે બરાબર ન હતી જ. આ પટ્ટાવલી પરથી એ લુપ્તપ્રાય કડુઆ મતની કલ્પના આવે છે. આ પટ્ટાવલી કલકત્તા નિવાસી વિદ્વાન્ બાબૂ શ્રી પૂરણચંદજી નાહાર એમ. એ. એલ્. એલ્. બી.ના વિશાલ ગ્રંથ ભંડારમાંથી અમને મળી છે. અસલ કોઈ જૂની પ્રતિ ઉપરથી ઉક્ત બાબુજીએ પોતાની પ્રતિ લખાવી લીધી છે. લખનારે ભાષામાં કેટલોક ફેરફાર કરી દીધો હોય તેમ જણાય છે. કારણ કે મૂળ પટ્ટાવલી પ્રાચીન ગૂજરાતી કે રાજપૂતાની ભાષામાં હોવી જોઇએ. તેના ઠેકાણે લખનારે પોતાની અશુદ્ધ હિંદી એમાં મુકી દીધી છે. આ પટ્ટાવલી, જેમ એના છેવટે જણાવ્યું છે, સંવત્ ૧૬૮૪ માં બનાવેલી છે તેથી તે પછીની એ મતની પટ્ટાવલી મેળવવી બાકી રહે છે. ઇતિહાસ રસિક મુનિઓ કે શ્રાવકો જો આ વિષયમાં પ્રયત્ન કરશે તો તે ઉપયોગી થશે.

કડુઆ મત સા કડુઆએ ચલાવેલો છે, તે આ પટ્ટાવલીથી સ્પષ્ટ જણાય છે. કડુઆ મતના પ્રવર્તકોનું એવું કથન હતું કે હાલના કાળમાં શાસ્ત્રોક્ત નિર્ગ્રંથ આચાર પાળી શકાય તેવા સંયોગો નથી અને જેઓ પોતાને નિર્ગ્રંથ, મુનિ કે સાધુ તરીકે પૂજાવે-વંદાવે છે તે દોષના ભાગી છે. કારણ તેઓમાં એ યથાર્થ સાધુ ધર્મના ગુણો છે જ નહિ. આ કાળમાં સાધુ ધર્મનું પાલન અતિ દુષ્કર હોઈ તે વિચ્છિન્નપ્રાય છે માટે જેના મનમાં ત્યાગ ભાવના થતી હોય તેણે પોતાને " સંવરી " ના નામે ઓળખાવવું અને તેણે સંવરી તરીકે અમુક અમુક નિયમોનું પાલન કરવું, પણ સાધુ તરીકે ઓળખાવવું નહિં.

સા કડુઆના સમયમાં વેષધારી શિથિલાચારીઓનો બહુ પ્રચાર થઈ ગયો હતો અને તેઓ પોતે જે રીતે પોતાનું વર્તન ચલાવે છે તે બધું ભગવાન મહાવીરના શાસ્ત્રને સંમત જ છે એમ લોકોને સમજાવી પોતાની સ્વાર્થસાધના કરી રહ્યા હતા. એવા જમાનામાં સા કડુઆ, અને સા લુંકા જેવા કેટલાક ત્યાગ ભાવનાવાળા મુમુક્ષુ ગૃહસ્થો નીકળ્યા અને તેમણે પોતાના ધ્યેય પ્રમાણે પોતપોતાના નવા સંપ્રદાયો સ્થાપી સમાન વિચારવાળાઓની ચિત્તસમાધિ માટે નવાં સ્થાનકોની યોજના કરી, જૂના વાડામાં ફસાઇ રહેવાથી ટંકાળેલાઓને સ્થાનાંતર કરવાની સગવડ કરી આપી.

જેમ હમેશાં બને છે તેમ, રૂઢ સંપ્રદાયવાળાઓને આ નવા સંપ્રદાયો શત્રુભૂત લાગ્યા અને તેથી તેમણે એમના વિરુદ્ધ પોતાની હીલચાલ શરુ કરી. એ નવા સાંપ્રદાયિકોના વિચારો ઉપર ખંડનાત્મક પ્રહારો ચાલૂ થયા. મોટાં ટોળાઓ ભેગાં મળીને આ અલ્પસંખ્યક નવા હરીફોને સંઘ બહાર નાત બહાર વ્યવહાર બહાર વગેરે અનેક પ્રકારના બહિષ્કારોથી કસવા માંડ્યા. કેટલાક પ્રખર પંડિતોએ એમની ઉપર તીવ્ર આલોચનાત્મક વાગ્બાણોની વર્ષા ચલાવીને એમને નષ્ટચેતન બનાવવાના પ્રયત્નો કર્યા. એ બધા વિરોધો સામે ટકી રહેવા માટે આ નવા સંપ્રદાયોએ પણ પોતાની સાધન સામગ્રી પ્રમાણે બનતું કર્યું અને એમ કરતાં કરતાં કાળાન્તરે એ પણ જૂના વાડાઓ પાસે પોતાના વાડાઓ બાંધીને 'વાડાઓના સંઘમાં' દાખલ થઈ ગયા.

કડુઆ સાએ ચલાવેલા સંપ્રદાયની માન્યતાના ખંડનમાં તપાગચ્છના કટ્ટર પક્ષપાતી વાદી શ્રી ધર્મસાગરોપાધ્યાયે પોતાના ઉત્સૂત્ર કંદ કુદ્દાલ ઊર્ફે **પ્રવચન પરીક્ષા** નામના મોટા ગ્રંથમાં કેટલુંક લખ્યું છે અને દિગંબર, ખરતર, અંચલ, પાયચંદ વગેરે મતોની માફક જ આ મતને પણ ઉત્સૂત્રભાષક બતાવ્યો છે.

કડુઆ સાએ કેટલીક પ્રતિષ્ઠાઓ પણ કરેલી છે અને ગૂજરાતી ભાષામાં કેટલીક રચનાઓ પણ કરેલી છે.

कडुआ मतकी पट्टावली

(१) प्रथमतः सा कडुआ नांडोलाइ ग्रामे महं काहानजी भार्या बाइ कनकादे. संवत् १४९५ प्रसूतपुत्र नामतः महं कडुआ वैराग्यवान् आंचलीयाका श्रावक नियागी वेशधरका उपदेशसें वैराग्य हुवा। मातपिताकी आज्ञा न मीलनेसे वहांसे चलकर अमदावाद सं० १५१४में आव्या। रूपपुरमे आगमिआ गच्छका पन्यास हरिकीर्ति पासे शास्त्र पढे। और चैत्यवासीका आचरण जाण्या। दशमा अच्छेरा "संपय दसम अच्छेरए" इत्यादि षष्टिशतक ग्रंथे, तथा "सेसा हुंडाव०" इत्यादि संघपट्टक ग्रंथे, श्रीमहानिशीथसूत्रमें श्रीवीर भाख्या है कि मेरेसें १२०० वर्ष पीछे कुगुरुओ पेदा होगा। तब पन्यासे कह्युं कि तुम संवरी श्रावक हो। तबसे संवरी वैरागी बालब्रह्मचारी अकिंचनी सममत्व हो करके ग्रामोग्राम विचरने लगे। वहोत प्राणीओकों प्रबोधे। और इसमुजब प्ररूपणा प्रवृत्ति व्यवहार चलाया—मंदिरमें पाघडी उतारके देव वांदवा १. श्रावककी प्रतिष्ठा २. पुनमकी पाखी ३. पर्युषणा चोथकी ४. मुहपत्ति चरवलो धरणा ५. बहुधा सामायिक करना ६. पर्व शिवाय पोसह लेना ७. द्विदल टालना ८. मालारोपण नहि ९. स्थापना प्रमाण १०. तीन थुई कहेवी ११. वासी कठोल तजवा १२. पोषध त्रिविहार चोविहार १३. पंचांगी सूत्रानुसार मान्य १४. सामायिक लेके इरियावही करना १५. वीर पंचकल्याणक मान्य १६. बीजुं वांदण बेठेहि देना १७. साधुकृत्यविचार १८. अधिक श्रावणे दुजे श्रावणे पजोसण तथा द्वितीयकार्तिके चोमासी १९. स्त्रीयां प्रभुपूजा करे २०. संप्रति दशमा अच्छेरा चलते है २१. इत्यादि वहोत बोल प्ररूप्या। शास्त्राक्षर मुजब सामायिक पडिक्कमण करणा, और संवरी गृहस्थका १०१ बोल प्ररूप्या। ते इत्थं—संयमार्थी संवरी गृहस्थके वेशमे रहकर दीक्षाका परिणाम रखे और इस मुजब वर्ते—नीची दृष्टिसे चले १. रात्रे बिना पूंज्या न चले २. स्थंडिल सिवाय राते बहार न जाय ३. मार्गे चालतां बोलना नहि ४. सचित्त भोजन वर्जे ५. दो घडि दिन थके चोविहार ६. अजीठुं गुठुं न छांडे, अतिमात्राए न जिमे, जिमतां न बोले ७. द्विदल टाले ८. हाथसे किसी चीजको फेकना नही ९. किसी चीजको खेंचना नही १०. स्थंडिलकी शुद्धि करना ११. लघुशंका शुद्धि करना १२. मूत्र भाजन भरके न रखना १३. पुंजी प्रमार्जी परठना १४. कठोर भाषा न बोले १५. पूंज्या विना खूजली न खणे १६. पांच स्थावरकी जयणा १७. निवाणसे स्वयं जल नहि लेना १८. अणछाण्या जले वस्त्र प्रक्षालना नहि १९. स्वयं आरंभ न करे २०. वींजणे पवन न ढोले २१. स्वयं हरिकाय न छेदे २२. त्रस-जीवको न दूभे २३. त्रीस जीवको न हणे २४. सर्वथा मृषा न बोले २५. अदत्त न लेवे २६. मानुषी ओर पशु स्त्रीका संघट्ट टाले २७. स्वयं परिग्रह न राखे २८. पीछली राते चार घडी पछी न सूवे २९. उघाडे मुखे न बोले ३०. राते प्रथम प्रहरे न सूवे ३१. कारण विना दिवसे

न सूवे ३२. नित्य एकासण व्रत ३३. नित्य गंठसहि पचक्खाण करे ३४. देववंदन उभयकालावश्यक पडिलेहणा करे ३५. नित्य चैत्यवंदन ५–७ करे ३६. नित्य १ गाथा अवश्य पडना ३७. नित्यप्रते ५०० गाथा भणना ३८. कुदर्शनीका संग न करणा ३९. नित्य सामायिक बहोत करणा ४०. नित्यप्रते एकहि विगय लेना ४१. नित्य पावसेर घृतसे ज्यादे न लेना ४२. पनर दिनमां अपवास दो करणा ४३. लोगस्स १० तथा १५ नो काउसग्ग करणो ४४. एकवर्षसे ज्यादे एक ठामे न रहेवुं ४५. अपने लीए घर और हाट न करणा ४६. वस्त्र धोना नहि, पांच पोतसे ज्यादे न रखना ४७. गदेला तलाइ ओशीका न रखणा ४८. पल्यंग मांचडा खाटले सुना वेठना नहि ४९. चाकला गद्दीपर नहि वेठना ५०. कलशीयो १ कटोरी १ से ज्यादे न रखणा ५१. दर्द हुवे पीछे त्रण दिन पीछेसे दवा करणा ५२. स्त्रीके साथे एकांत न करणा ५३. नववाडे सील पालना ५४. मास पर्यंत एक दिशा रखणा ५५. स्त्रीका एकांत संघट्ट टाले ५६. क्लेश कषाय न करे ५७. कषाय उत्पन्न हुवे तब विगय त्याग करे ५८. अभ्याख्यान न देणा ५९. परनिंदा न करे ६०. तेलादि सुगंध विलेपन न करे ६१. नित्य १३ द्रव्यसे ज्यादे न खाना ६२. पान सोपारी मुखवास न खाना ६३. बहुमूला वस्त्र न लेवे ६४. रेसमी वस्त्र न लेवे ६५. तैलादि मसलके स्नान न करे ६६. स्वयं रसवती न पकाना ६७. हरिकाय न खाना ६८. चोमासेमें खजूर आदि न लेना ६९. स्त्रीयां सुनते हुवे रागताल न करणा ७०. जेवर नहि पहना ७१. दो पुरुषे एक सिज्जामें न सूना ७२. स्त्री सुवे वहां न सूना ७३. लुंकामतीना धान पाणी न खाना ७४. देवद्रव्य होवे उसके घेरे न जिमे ७५. एकेली स्त्रीको न पढाना ७६. मंदिरकी भूमिई न सूना ७७. संबंधीके लीए याचना नही करणा ७८. पारका द्रव्य उसकी मंजुरी सिवाय धर्ममे लगाना नही ७९. दो दिनसे ज्यादे एक घेरे न खाना ८०. मिथ्यात्वी जो संवरी होवे तो उसके घेरे तीन दिनसे ज्यादे न जिमे ८१. घेवर प्रमुख उत्कट आहार न करे ८२. सांघोडा सूका नीला न खाना ८३. डगला कुडता पहेरवेकी जयणा ८४. परका लडका न लडाना ८५. स्वजन सिवाय जिमे वहां न जिमना ८६. हलवाइकी मिठाइकी जयणा ८७. रात्रिका रांध्या हुवा भोजन न खाना ८८. गृहस्थके घेरे वेठके वातां नहि करणा ८९. जुता नहि पहनना ९०. वाहन पर नहि वेठना ९१. मासमें एक दफे नख उतारावना ९२. कुलेर पकवानादि वासी न राखना ९३. मार्गमें स्त्री साथ वाता नहि करना ९४. पंचरंगी वस्त्र न पहेरना ९५. स्त्रीयोंका झुंडमे जाना नहि ९६. गानतान गाना सुनाना नहि ९७. लोकविरुद्ध न करना ९८. पारका घेरे जातां खुंकारी करके जाना ९९. इत्यादि बीजा बोल बहोत जानना। तथा सीलपालवा संबंधी १०४ बोल सो अन्यत्रसे जानना। स्त्रीयोंको शील पालवा विषे ११३ बोल छे ते अन्यत्रसे जानना। कडुआ साहे बहोतको संवरी बनाया जैसा के—सा खीमा, सा तेजा, सा कर्मसी, सा राणा, सा कर्मण, सा शवसी, सा पुंजा, सा धीगा, सा वीरा, सा देपा, सा थिरपाल, सा धीरु, सा लांबा, सा सीधर, सा कवा, सा सवगण, सा लुणा, सा मांगजी, सा जसवंत, सा डाया, सा वेला, सा जीवा, पटेल हांसा पढाया, सा रामा, कर्णवधी इत्यादि बहोत साथे पाटण

राजनगर खंभात राधनपुर थराद जुनागढ प्रमुखे घणा संवरी थया, ते विस्तार वडी पट्टावलीथी जाणजो। सं० १५२४ थी ते सं० १५६४ लगे विचरी चरम चोमासो पाटण पधार्या। तत्र सां खीमाने पद स्थापन कीया और अणसण २१ दिन पाली दिवंजगाम। दुसरा संवरीए अनशन कीधा। भस्मगृह उतरते सा कडुए धर्म दीपाव्यो। श्रीवीरसे ४७० वर्षे विक्रम अने विक्रमसे १५२४ कडुआ हुवा एवं सा कडुआ १९ वर्ष गृहस्थ पर्याय, १० सामान्य संवरी, ४० वर्ष पटोधर, सर्व आयु ६९. संवत १५६४ दिवंगतः।

(२) तत्पदे सा खीमा–सो पाटणमे प्रागवाड (पोरवाड) वृद्ध शाखायां सा कर्मचंद भार्या कर्मादे पुत्र खीमा, १६ वर्ष गृहस्थ पर्याय, १४ वर्ष सामान्य संवरी, ७ वर्ष पटोधर पर्याय, सर्वायु वर्ष ४७ परिपाल्य, श्रीवीराने पद स्थापना कर, संव० १५७१ पाटणमे दिवंगतः।

(३) तत्पदे सा. वीरा–सो नाडोलाइ ग्रामे वृद्ध शाखायां श्री श्रीमाली दोशी कुरपाल भार्या कोडं-दे, पुत्र सा वीरा, सा कडुआना वचनथी संवरी थया, १४ वर्ष गृहस्थपर्याय, २५ वर्ष सामान्य संवरी, ० वर्ष पटोधर, सर्वायु ६९ परिपाल्य, जीवराजने पद स्थापन करी दिन ७ अणसण पाली नंडोलाइ मे सं० १६०१ दिवंगतः।

(४) तत्पद्दे सा० जीवराज–सो राजनगरे श्री श्रीमाली परीख जगपाल भार्या सोभीपुत्र सा जीवराज. श्रीवीरानां वचनथी संवरी, १२ वर्ष गृहस्थ पर्याय, ११ वर्ष सामान्य संवरी, ४३ वर्ष पटोधर, सर्वायु ६६ वर्ष। श्रीमाली दोसी रायचंद भार्या कनकाइ पुत्र तेजपाल श्रीजीवराजना वचनथी संवरी थया ते तेजपालने पाटे थापी राजनगरमां दिन ३ अणसण करी दिवंगतः।

(५) सं० १६४४ में, सा तेजपाल–१३ वर्ष गृहस्थ पर्याय, २१ वर्ष सामान्य संवरी, पटोधर २ वर्ष, सर्वायु ३६ वर्ष। श्रीरत्नपालने पट्ट स्थापी पाटणमें संव० १६४६ दिवंगतः।

(६) सा रत्नपाल स्थंभतीर्थे समीप कंसारीग्रामे दोसी वस्ता भार्या बाई रीडी पुत्र रत्नपाल. सा जीवराजना वचनथी संवरी थया. १० वर्ष गृहस्थ पर्याय, २१ वर्ष सामान्य संवरी, १५ वर्ष पटोधर सर्वायु ४६. श्री जिनदासने पाटे थापी खंभातमें सं. १६६१ दिवंगतः।

(७) सा जिनदास स्थिरपद्रे श्रीश्रीमाली वहुरा जेसंग भार्या जमणादे पुत्र जिनदास. सा नरपति सामान्य संवरीना वचनथी संवरी थया. १७ वर्ष गृहस्थ, ३३ वर्ष सामान्य संवरी, ९ वर्ष पटोधर, सर्वायु ५९. अमदावादमे तेजपालने पाटे थापी सं० १६७० दिवंगतः।

(८) सा तेजपाल थंभतीर्थे श्रीश्रीमाली सोनी वसुपाल भार्या कीकीपुत्र तेजपाल. श्रीजिनदासना वचनथी संवरी हुवा, सं. १६५५ में। १४ वर्ष गृहस्थ, १५ वर्ष सामान्य संवरी, सं० १६७१ पटोधरत्वं आगतं। सांप्रत सं० १६८४ लगे विराजमान अष्टमपदे उद्योतकारक सा कल्याणादि शिष्ययुतेन सुखेन पृथ्व्यां विहरति।

(९) सा कल्याण, सो रथंभर्तार्थे दोसी हर्षा भार्या सहिजलदे सं० १६५२ जन्म, सा मावजीना वचनथी सं. १६६४ मां संवरी थया, सं० १६८३ लगे श्रीतेजपालकी साथे सुखे समाधे विचरते है। आठपाटनां चतुर्मासा श्रावक प्रमाविक संघप्रतिष्ठा प्रवेशादि अनशन प्रमुख वहोत धर्मक्रियाका विचार हमेरी की हुइ वृद्ध गुरुपट्ट दीपिकासे जाननां ॥ इति कडुआ मति लघु पट्टावली सा० कल्याणेन कृता। सं० वेदवसुकला १६८४ संवत्सरे। यावचंद्रसूर्यौ तावत्काल कडुआ मतिनु संघ दीपो। इति कडुआ मतिना गच्छकी लघु पट्टावली।

श्री गौतमाय नमः ॥ १ प्रथम साहा कडुआ, २ तत्पदे सा श्री खीमा, ३ तत्पदे सा श्री वीरा, ४ तत्पदे सा श्री जीवराज, ५ तत्पदे सा श्री तेजपाल, ६ तत्पदे सा श्री रत्नपाल, ७ तत्पदे सा श्री जिनदास, ८ तत्पदे सा श्री तेजपाल—सांप्रतं अष्टमपटे विराजमान सा कल्याणादि शिष्ययुतेन श्रीसंघस्य

शुभं भवतु इति ॥

उज्जयिनीना संघनुं विनंतीपत्र

આ નીચે આપેલું વિનંતીપત્ર ઉજ્જયિનીના સંઘ તરફથી તપાગચ્છના આચાર્ય શ્રીવિજયપ્રભસૂરિને મોકલવામાં આવ્યું હતું. આ વિનંતી ચાતુર્માસ એટલે પર્યુષણા પર્વ સંબંધી છે. આગળના વખતમાં દરેક ગામના સંઘો, પર્યુષણ વગેરે ચોમાસાના મુખ્ય પર્વો થઇ રહ્યાં પછી 'ખમતખામણા'ના પત્રો જેવાં વિનંતીપત્રો પોતપોતાના ગચ્છના નાયક આચાર્ય જે ઠેકાણે ચાતુર્માસ રહેલા હોય ત્યાં મોકલતા. એ વિનંતીપત્રો બહુ લાંબાં અને ખૂબ લખાણથી ભરેલાં થતાં. કેટલાકમાં તો અનેક પ્રકારનાં ચિત્રો પણ દોરવવામાં આવતાં. આગ્રાના સંઘે શ્રીવિજયસેનસૂરિને મોકલેલું વિનંતીપત્ર જે જૈન સાહિત્ય સંશોધકના પ્રથમ ખંડમાં પ્રકટ કરેલું છે તેનું ચિત્રકામ એક ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારની ચિત્રકળાના નમુના જેવું છે અને ચિત્રવિદ્યામાં પ્રવીણ ગણાતા વિદ્વાનો તેની ખાસ પ્રશંસા કરે છે.* આ વિનંતીપત્રો કેવી વિવિધતાવાળાં લખાતાં હતાં તેનું વર્ણન અમે અમારા विज्ञप्तित्रिवेणी નામના પુસ્તકમાં સવિસ્તર કરેલું છે.

આ નીચે આપેલું વિનંતીપત્ર માત્ર સાદું જ છે અને તે ગૂજરાતીભાષામાં લખાએલું છે. આની ઉપયોગિતા એ છે કે એમાં મહોપાધ્યાય શ્રીવિનયવિજયજીનો ઉલ્લેખ છે. આ મહોપાધ્યાય શ્રીમદ્યશોવિજયજીના સમકાલીન હોઇ તેમના ગાઢમિત્ર હતા. લોકપ્રકાશ નામે જૈનપદાર્થના સર્વ સંગ્રહ જેવો મહાન્ ગ્રંથ રચીને એમણે પોતાના પાંડિત્યને અમર બનાવ્યું છે. એમની જ રચેલી કલ્પસૂત્ર ઉપરની સુબોધિકા નામે ટીકાનું વાચન શ્રવણ પ્રાયઃ દરેક તપા-

* શ્રીયુત એન. સી. મહેતા. આઇ. સી. એસ્. એમણે પોતાના Studies in Indian Painting નામના કિંમતી પુસ્તકમાં એ વિનંતીપત્ર વિષે વિદ્વત્તાભરેલું એક આખું પ્રકરણ લખ્યું છે.

ગચ્છીય સંઘમાં દરવર્ષે થાય છે. એ મહોપાધ્યાયના ચાતુર્માસ વખતે જ ઉજ્જયિનીના સંઘે આ પત્ર લખેલું છે. કમનસીબે આમાં સાલ આપેલી નથી તેથી આપણે એ જાણી શકવા નથી પામતા કે કયા વર્ષે શ્રીવિનયવિજયોપાધ્યાય એ નગરીમાં ચાતુર્માસ વિરાજમાન હતા, પણ ગચ્છનાયક તે વખતે વિજયપ્રભસૂરિ હતા તેથી અનુમાન કરી શકાય છે કે સંવત્ ૧૭૧૨ પછી અને ૧૭૩૫ ની વચ્ચેના કોઇ વર્ષે આ ચાતુર્માસ થએલું હતું. ગચ્છનાયક તે વખતે મારવાડમાં આવેલા વગડી ગામે ચોમાસું રહેલા હતા અને તે સમયે મારવાડ ઉપર જસવંતસિંહજીનું રાજ્ય ચાલતું હતું એ પણ આ પત્ર ઉપરથી જણાય છે.

વિનંતી પત્ર

स्वस्ति श्रीभवनं मनोज्ञवचनं त्रैलोक्यलोकावनं,
विद्यावल्लिवनं महद्गुवनं सौभाग्यशोभावनं ।
क्लृप्तैनोलवनं शिवाध्वजवनं श्रेयोवनिजीवनं,
सद्धर्मैक[1]निकेतनं सुवदनं पार्श्वं स्तुवे पावनं ॥ १ ॥
स्वस्ति श्रीरमणस्तनोतु सततं मीतेः सतां संततिं,
श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वरः कमलिनीनेतेव पंकेरुहां ।
भोक्केवायतचक्षुषां मधुरगीर्दातेव वित्तार्थिनां,
छायेवोत्तमभूरुहां पथि चरत् ग्रीष्मार्कतप्तांगिनां ॥२॥

સ્વસ્તિ શ્રી આદિજિનં પ્રણમ્ય, સ્વસ્તિશ્રી શાંતિજિનં પ્રણમ્ય, સ્વસ્તિશ્રી નેમિજિનં પ્રણમ્ય, સ્વસ્તિશ્રી મહાવીરજિનં પ્રણમ્ય; સકલ નગરશિરોમણિ નર સમુદ્ર વાપી કૂપ તડાગ વાડી વનખંડ આરામ સરોવર સુશોભિત શ્રી જિનપ્રાસાદ સુંદર શિખર કનકકલશ ધજ મનોહર ઉપાશ્રય સાધર્મિક જન સ્થાન નિત્યોત્સવ મંડિત વિવિધ વસ્તુ કૃયાણક સંપૂર્ણ અનેક વ્યાપારી વ્યવહારી વિરાજમાન ચોરાસી ચતુષ્પથ સુશોભીત ન્યાયપ્રવીણ નરપતિ મહારાજાશ્રી જસવંતસિંહજી પ્રતિપાલિત શુભસન્નિવેશ મરૂધરાસીમંતિની તિલકાયમાન નગર ઉત્તમ શ્રીપૂજ્ય ચરણકમલ ન્યાસપવિત્રિતે શ્રીવગડી મહાનગરે શુભસ્થાને પૂજ્યારાધ્ય ઉત્તમોત્તમ પરમ પૂજ્ય અર્ચનીય ચરણ ચારિત્રપાત્રચૂડામણિ કુમતાંધકારનભોમણિ કલિકાલગૌતમાવતાર સરસ્વતીકંઠાભરણ અબોધજીવપ્રતિબોધક સકલશાસ્ત્રપારગામી વાદિવિજય લક્ષ્મીશરણ ચ્યારગતિના દુખના ટાલણહાર વાદીમદગંજન વાદીમુખભંજન વાદીકદલીકૃપાણ વાદીતમભાણ વાદીઘૂકભાસ્કર વાદીસમુદ્ર અગસ્તિ વાદીવૃક્ષઉન્મૂલનહસ્તિ વાદીસુરઇંદ્ર વાદીગરૂડગોવિંદ વાદીહરિણહરિ વાદીજ્વરધનવંતરિ વાદીયૂથમલ્લ વાદીહૃદયશલ્ય વાદીગોધૂમઘરટ્ટ મર્દીતવાદીમરટ્ટ ઇત્યા અનેક વાદ સરસ્વતીલબ્ધ પ્રસાદ. એકવિધ અસંયમના ટાલણહાર, દ્વિવિધધર્મપરૂપક, ત્રણિ તત્ત્વના જાણ, ચ્યાર ગતિના દુખના ટાલણહાર, પંચમહાવ્રતના પાલણહાર, છકાયના પીહર, સાતભયનિવારક, અષ્ટમદચૂરક, નવવાડિ વિશુદ્ધ બ્રહ્મચર્યધારક, દસવિધસાધુધર્મઆરાધક, એગ્યાર અંગના જાણ, બાર ઉપાંગના પાઠક, તેર કાઠિઆના ક્ષપક, ચઉદ વિદ્યાનિધાન,

[1] पापाक्षेपवनं मुशान्तिभुवनं-પાઠાંતર.

પનરભેદ સિદ્ધના જાણ, સોલકલાસંપૂર્ણ સસિવદન, સત્તરભેદ સંયમના આરાધક, અઢારસહસસીલાંગરથનાં ધારક, ઓગણીસ કાઉસગના દોષનિવારક, વીસવીસી દયાના પાલક, એકવીસ શ્રાવકના ગુણના પ્રરૂપક, બાવીસ પરીસહાના ક્ષપક, ત્રેવીસ સુગડાંગ અધ્યયનના જાણ, ચોવીસ તીર્થંકરની આજ્ઞાના આરાધક, પંચવીસ કિરિઆના નિવારક, છવીસ દસા કલ્પ વ્યવહાર ઉદ્દેસણ કાલના જાણ, સત્તાવીસ સાધુગુણે કરી વિરાજમાન, અઠાવીસલબ્ધિ વિરાજમાન, ઓગણત્રીસ પાપશ્રુત પ્રસંગનિવારક, ત્રીસ મોહણીથાનક નિવારક, એકત્રીસ સિદ્ધના ગુણના દેખાડણહાર, બત્રીસ યોગસંગ્રહધારક, તેત્રીસ આશાતના ગુરૂની તેહનાં નિવારક, ચોત્રીસ તીર્થંકરના અતિશયના ઉપદેશક, પાંત્રીસ વાણીગુણે કરી સુશોભિત, છત્રીસ સૂરિગુણે કરી વિરાજમાન, શ્રી કુંથુનાથનિ સાત્રીસ ગણધરના પ્રરૂપક, શ્રીપાર્શ્વનાથનિ અડત્રીસ હજાર સાધવીના પ્રરૂપક, મનુષ્યક્ષેત્ર માંહિ ઓગણચાલીસ કુલપર્વતના પ્રરૂપક, શ્રીમેરૂપર્વતની ચૂલિકા ચ્યાલીસ જોયણ ઉન્નત તેહના પ્રરૂપક, શ્રીનમિનાથનિ એકતાલીસ હજાર સાધવીના પ્રરૂપક, શ્રીમહાવીરઈ બઈતાલીસ વરસ સાધુપણું પાલ્યું તેહના ઉપદેશક, ત્રઈતાલીસ કર્મવિપાક અધ્યયનનાં જાણ, ધરણેંદ્રનિ ચઉઆલીસ લાખભુવનના પ્રરૂપક, શ્રીધર્મનાથ પઈતાલીસ ધનુષ ઉન્નત તેહના પ્રરૂપક, દૃષ્ટિવાદનાં છઈતાલીસ માત્રિકાપદ તેહના જ્ઞાપક, શ્રીઅગ્નિભૂતિ ગણધરનિ સડતાલીસ વરસ ગૃહસ્થ પર્યાયના જાણ, અડતાલીસ હજાર પાટણના સ્વામી શ્રીચક્રવર્તિ તેહનિ પૂજ્યનીક, ત્રઈંદ્રીનૂં ઉત્કૃષ્ટું ઓગણપચાસ દિવસનૂં આઉખું તેહના પ્રરૂપક, શ્રીમુનિસુવ્રતસ્વામિનિ પંચાસ ધનુષનૂં શરીરમાન તેહના પ્રરૂપક, સુપ્રભનામિ બલદેવં તેહનૂં એકાવનલાખ વરસનૂં આઉખુ તેહના જાણ, મોહનીકર્મના બાવન નામ તેહના જાણ, સમૂર્છિમ ઉરપરિસર્પનૂં ૫૩ હજાર વરસનૂં ઉત્કૃષ્ટું આઉખુ તેહના જાણ, શ્રીનેમિનાથના ચઉપ્પન દિવસ છદ્મસ્થ પર્યાયના જાણ, શ્રીમહાવીરદેવઈ પંચાવન અધ્યયન કલ્યાણફલવિપાકીઆં છેલિ રાત્રે પ્રરૂપ્યાં તેહના જાણ, જંબૂદ્વીપનિ વિષઈ છપ્પન નક્ષત્રના જાણ, મલ્લિનાથનિ સત્તાવન મનપર્યાય જ્ઞાનીના જાણ, પહિલિ બીજી પાંચમી ત્રણિ પૃથિવી મલિનિં અઠાવન લાખ નરકાવાસાના જાણ, શ્રીમલ્લિનાથનિ ઓગણસઠિસઈ અવધિજ્ઞાનીના જાણ, એક અહોરાત્રિનિ સાઠિ ઘડી તેહના જાણ, મેરૂપર્વતનૂ પહિલૂ કાંડ એકસઠિહજાર જોયણ ઉન્નત તેહના જાણ, એકયુગનિ વિષેં બાસઠિ પૂનિમ તેહના જાણ, શ્રી ઋષભદેવ પ્રભુઇ ત્રિસઠિલાખ પૂર્વ વરસ રાજ્ય પાલૂ તેહના જ્ઞાપક, ચમરેંદ્રનેં ચોસઠિ હજાર સામાનિક દેવતાના જાણ, જંબૂદ્વીપનિ વિષઈ પાસઠિ સૂર્યમાંડલીના જાણ, શ્રેયાંસનાથનિ છાસઠિ ગણધરના જાણ, એક યુગનિ વિષેં સડસઠિ નક્ષત્રમાસના જાણ, ધાતકીખંડનિ વિષેં અડસઠિ રાજધાનીના જાણ, મનુષ્યક્ષેત્રનિ વિષેં મેરૂવિના ઓગણોત્તર વર્ષધર પર્વતના જાણ, શ્રીપાર્શ્વનાથેં સિત્તરિ વરસ સાધુપર્યાય પાલ્યો તેહના જાણ, વીર્યપ્રવાદપૂર્વના એકોત્તરિ પાહુડાના જાણ, બોહોત્તરિ કલા પુરૂષની તેહના જાણ, વિજય બલદેવનૂં ત્રહોત્તરિ લાખ વરસનૂં આઉખું તેહના જાણ, અગ્નિભૂત ગણધરનૂં ચઉત્તેર વરસનૂં આઉખૂં તેહના જાણ, શ્રીશાંતિનાથ પંચોત્તરિ હજાર વરસ ગૃહસ્થપણાઈ રહ્યા તેહના જાણ, છહોત્તરિલાખ વિદ્યુત્કુમારના ભુવનના જાણ, એક મૂહુર્તના સત્તોતરિ લવના જાણ, અકંપિત ગણધર અઠોત્તરિ વરસનૂં આયુષ્યં પાલ્યું તેહના જાણ, જંબૂદ્વીપના એક દ્વારથી બીજા દ્વારનૂં ઓગણાસી હજાર જોયણનૂં આંતરુ તેહના જાણ, અચલ બલદેવ અસી ધનુષ ઉન્નત તેહના જાણ, કુંથુનાથનિ એકાસી સત મનપર્યાય જ્ઞાનીના જાણ, શ્રીમહાવીરદેવ બ્યાસી અહોરાત્ર દેવાનંદા બ્રાહ્મણીનિ કુંખઇ વસ્યા તેહના જાણ, શ્રીશીતલનાથના ત્र्यાસી ગણધરના જાણ, શ્રીઋષભદેવનૂં ચોરાસીલાખપૂર્વનું આઉખું તેહના જાણ, ધાતકીખંડના મેરુપર્વત પંચ્યાસી હજાર જોયણ ઉન્નત તેહના જાણ, શ્રીસુવિધિનાથનિ છાસી ગણધરના જાણ, મેરુપર્વતથી ગોસ્તુપઆવાસપર્વત સત્યાસી હજાર જોયણ આંતરું હોઈ તેહના જાણ, એક ચંદ્રમાનિ અઠાસીગ્રહનો પરિવાર તેહનાં જાણ,

શ્રીઋષભદેવ ત્રીજા આરાના નવ્યાસી પખવાડા થાકતેં મુગતિ પધાર્યા તેહના જાણ, શ્રીશીતલનાથ નેઉ ધનુષ ઉન્નત તેહના જાણ, કુંથુનાથનિં એકાણું અવધિજ્ઞાનીના જાણ, શ્રીગૌતમસ્વામિનૂં બાણૂં વરસ આઉખું તેહના જાણ, શ્રીચંદ્રપ્રભસ્વામિના ત્ર્યાણું ગણધર તેહના જાણ, શ્રીઅજીતનાથના ચોરાણું શત અવધિજ્ઞાનીના જાણ, લવણસમુદ્રના બેહુપાસેં પંચાણું પંચાણું હજાર જોયણ અતિક્રમિનિ મહાપાતાલ કલશ છે તેહના જાણ, છન્નુ કોડી ગામના સ્વામી ચક્રવર્त्ति તેહનેં પૂજ્યનીક, હરિષેણ ચક્રવર્ત્તિ સત્તાણુસઇ વરસ ગૃહસ્થાવાસેં રહી દીક્ષા લીધી તેહના જાણ, નંદનવનથી પંડકવન અઠાણું હજાર જોયણનું આંતરું તેહના જાણ, મેરુપર્વત નવાણું હજાર જોયણ ઉન્નત તેહના જાણ, જંબૂદ્વીપ સો હજાર જોયણ આયામવિષ્કંભ તેહના જાણ, એકોત્તરિઆના કુલદીપક કુલમંડન કુલઉદ્યોતકારક, જાઇસંપન્ને કુલસંપન્ને બલસંપન્ને રૂપસંપન્ને દંસણસંપન્ને ચરિત્તસંપન્ને લજ્જાલાઘવસંપન્ને ઓયંસિ તેયંસિ વચંસિ જસંસિ, જીયકોહે જીયમાણે જીયમાએ જીયલોહે જીઇંદિએ જીયપરીસહે જીવિઆસમરણભયવિપ્પમુક્કે, સમુદ્રનિંપરિં ગંભીર મેરુની પરિ ધીર, ભારંડ પંખીનિંપરિં અપ્રમત્ત, સૂર્યનિં પરિં પ્રતાપવંત, ચંદ્રમાનિ પરિ સૌમ્ય, સીહનિં પરિ સૂરવીર, પરદેશપંચાયણ, વાચા અવિચલ, ગંગાજલપરિ નિર્મ્મલ, મહિમા સમુદ્ર, મહાસોભાગી, મહાવઇરાગી, મહાગુણરાગી, મહાત્યાગી, મહાજ્ઞાની, મહાધ્યાની, મહાદાની, મહાતપસ્વી, મહાયશસ્વી, મહાવચસ્વી, ધન્યતે દેશ ધન્ય તે ગામ ધન્યતે નગર જિહાં શ્રીપૂજ્યજી વિહાર કરિં, ધન્ય તે રાજા ધન્ય તે પ્રજા ધન્ય તે માડંબિ કોડંબિ સેઠ સેનાપતિ ઇભ્ય વ્યવહારિઆ, ધન્ય તે શ્રાવક ધન્ય તી શ્રાવિકા જે પ્રાતઃકાલે શ્રીપૂજ્યજીના ચરણકમલ વાંદે, અનિ શ્રીપૂજ્યજીનિ અમૃતમય દેસના સાંભલેં, શ્રીપૂજ્યજીનઈ મુહડઇ પોસહ–સામાયિક વ્રતપચ્ચખાણ કરેં સંસારસમુદ્ર તરેં પુણ્યલક્ષ્મી વરેં પુણ્યભંડાર ભરેં મનુષ્યાવતાર સફલ કરેં, શ્રીપૂજ્યજીના ગુણ અનંત મેં એકે જીભેં કિમ વર્ણવ્યા જાઇ.

દૂહા

ગયણંગણ કાગલ કરૂં, લેખણ કરૂં વનરાય,
સાયર ઘોલિ મસિ કરૂં, તુમ્હ ગુણ લિખ્યા ન જાય. ૧
આમ હીયડૂં દાડિમ કલી, ભરિઓ તુમ્હ ગુણેણ;
અવગુણ એક ન સંભરઇ, વિસારા જે સેણ. ૨
કિહાં કોયલ કિહાં અંબવન, કિહા મોરા કિહાં મેહ,
વિસારા નવિ વિસરેં, ગીરૂઆ તણા સનેહ. ૩
સમય સમય નિત સાંભરેં, માસ માંહિ સો વાર,
તે સુહગુરૂ કિમ વીસરેં, જસ ગુણનો નહીં પાર. ૪
દોય નારિ અતિ સાંમલી, પાણિમાંહિ વસંત,
તે તુમ્હ દરિસણ દેખવા, અલજો અતિહિ કરંત. ૫
મન પસરિ જિમ માહરું, તિમ જો કર પસરંત,
ચરણ ગ્રહી સરહું રહી, અમૃતવાણિ સુણિંત. ૬
चिरं तुह पासत्थं तुह गुणमुणणेण सवणसंतोसो,
जीहा नामग्गहणे एकागी दिट्टि तडप्फडई । ७
यथा स्मरति गोवच्छं चक्रवाकी दिवाकरं,
सती स्मरति भर्तारं तथाहं तव दर्शनं । ८

भरमज्झंमि जे वसे आगलि कन्न ठविज्ज ।
ए दोइं अक्षर जोडि करि अह्म ऊपरि चिंतिज्ज. ९

ઇત્યાદિક શ્રીપૂજ્યજીના ગુણ કિમ વર્ણવ્યા જાઈ. यतः—

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्
तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारे परार्द्धं गणितं यदि स्यात्
भवद्गुणानां गणना तदा स्यात् ॥ १०

ઇત્યાદિ સર્વ ઉપમાયોગ્ય ભટ્ટારક શ્રીશ્રીશ્રીશ્રીશ્રી વિજયપ્રભસૂરીસર ચરણાનકમલાન્ શ્રી ઉજેણિ નગરાત્ સદા આદેશકારી ચરણસેવક દાસાનુદાસ પાયરજરેણુ સમાન, સેવક સં. જયતસિંહ પ્રમુખ સમસ્તસંઘકેન ત્રિકાલવંદના અવધારવી. યત ઇહાં શ્રીપૂજ્યજીનિ પ્રસાદઈ કરી ધર્મકાર્ય સુખદ પ્રવર્તઈ છિ. શ્રીપૂજ્યજીના સુખસંયમ નિરાબાધપણાના લેખ પ્રાસાદ કરી સેવકનિ સંતોષ ઉપજાવવો. તથા શ્રી પૂજ્યજીનઈ આદેશઇ ઉપાધ્યાય શ્રીવિનયવિજયગણિ ઇહાં ચોમાસું પધાર્યા. શ્રી ઉપાધ્યાયજી ઘણું બહુશ્રુત ઘણું સંવેગી ઘણું ગુણવંત કિરિઆપાત્ર જેહવા શ્રીપૂજ્યજીના ગીતાર્થ જોઇઈ તેહવા છે. અનિ શ્રીઉપાધ્યાયજીનો સંઘાડાપતિ પં. ઋદ્ધિવિજય પ્રમુખ સર્વ યતી ઘણું સંવેગી કિરિઆપાત્ર ભલા સાધ છે. તે દેખી સંઘને ઘણી શાંતી ઉપની છે. સંઘ ઘણું અનુમોદન કરે છે. શ્રી ઉપાધ્યાયજી ઇહાં પધારતાં ઘણાં શ્રાવકશ્રાવિકાના બોધિબીજ નિર્મલાં થયાં છે. શ્રીઉપાધ્યાયજીની દેશનાં સાંભલીનિ ઘણે શ્રાવકે વ્રત-પચ્ચક્‌ખાણ સંવર કીધા છે. અનિ ઘણા શ્રાવક નિત્ય પ્રતિ દેશના સાંભલિ છિ તથા પર્યુસણપર્વ મહા-મોહોત્સવપૂર્વક નિર્વિઘ્નપણે થયાં છિ. આ સમય માંહિ પણિ માછી કસાબ ધોબી સોનાર લુહાર ઘાંચી મોચિ ભાડભુંજા પ્રમુખ સર્વ જીવની અમારી પલી છે. તથા નવ વખાણ પયૂસણના મહામોહોત્સવ મોહા આડંબર પૂર્વક પણે સુખશાંતિ થયાં છિ. પાસ ખમણ અઠાઇ અઠમ છઠ પ્રમૂખ વિશેષ તપ થયાં છિ તથા સાહમીવત્સલ પારણાં પ્રભાવના પ્રમુખ વિશેષ ઉત્સવ થયા છે. સંવત્સરી દાન પણિ વીશેષથી દેવાણાં છે. બીજાં પણિ ઉપધાન માલારોપણિ વ્રતઉચ્ચાર પ્રમુખ ધર્મકાર્ય થયાં તથા થાઈ છે. પાખીપાખીઇ પોસહતિને તે બોલ દેવાઇ છે. તથા ઉપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયગ. પં. ઋદ્ધિવિજય ગ. પં. મતિવિજય ગ. પં. માનવિજય. પં. હર્ષવિજય, ઋ. ભાણજી. મુ. ભાણવિજય, મુ. કેસરવિજય, મુ. પુણ્યવિજય; સાધ્વી સહજશ્રી પ્રમુખ સમસ્ત સંઘાડાની વંદના અવધારવી. પંડિત શ્રી હેમવિજય ગ., પંડિત શ્રી વિમલવિજય, પંડિત શ્રીઉદયવિજય, પં. સત્યવિજય, ગ. પ્રતાપવિજયં પ્રમુખ સર્વ શ્રીપૂજ્યજીના પરિ-વારનિ સંઘની વંદના અવધરાવવી. તથા શ્રીઉપાધ્યાયજી વખાણમાંહિં શ્રીપૂજ્યજીના ગુણ ઘણા વર્ણઈ છે તેણે કરી અનતા સંઘનિ શ્રીપૂજ્યજીના ચરણકમલ ભેટવાની ઘણી ઉત્કંઠા ઉપની છે. તે માટિ શ્રી પૂજ્યજીઇ ઉજેણિના સંઘ ઊપરિ કૃપા અવધારીનિ શ્રી **મગસીપાર્શ્વનાથ** જુહારવા સારુ પધારવું. માલવો દેશ પાવન કરવો. જિમ શ્રીપૂજ્યજીને વાંદવાનાં મનોરથ સફલ થાઇ. શ્રીપૂજ્યજી મેઘની પરિ ઉપગારી છો. તે માટે કૃપા કરીનિ ઇહાં અવસ્ય પધારવું. જિમ સંઘના મનોરથ સફલ થાઈ તિમ અવ-ધારવુંજી. સેવક સરીષાં કાર્ય કામ પ્રસાદ કરતાં. તીર્થયાત્રાઇ સેવકનિ સંભારવા.

અધ્યાપક હર્મન યકોબી લિખિત

समराइच्च कहानी પ્રસ્તાવના

[અનુવાદક–શ્રીયુત ચીમનલાલ જેચંદ શાહા. બી. એ.]

કલકત્તાની એશિયાટિક સોસાયટી ઑફ્ બેંગાલ તરફથી, આચાર્યવર્ય શ્રીહરિભદ્રસૂરિ-રચિત समराइच्च कहा નામની સુપ્રસિદ્ધ જૈનકથા જર્મનીના પ્રખ્યાત પ્રો. ડૉ. હર્મન યાકોબીના હાથે સંપાદિત થઇને થોડા જ સમય ઉપર સંપૂર્ણરૂપે પ્રકટ થઇ છે. એ કથાની પ્રસ્તાવના તરીકે ગ્રંથના પ્રારંભમાં ઉક્ત અધ્યાપકે લગભગ ૩૦ પાના જેટલી 'ઇન્ટ્રોડક્શન' લખી છે જેમાં–૧ હરિભદ્રનો સમય, ૨ હરિભદ્રનું જીવન, ૩ હરિભદ્રની કૃતિઓ, અને ૪ સમરાઇચ્ચકહાઃ આ ૪ મુદ્દાઓ ઉપર એમણે ઉપયોગી ઉહાપોહ કર્યો છે. એમાંના પ્રથમના ત્રણ મુદ્દાઓ ઉપરના લખાણનું આ સંપૂર્ણ ભાષાંતર છે.

હરિભદ્રસૂરિના સમયનિર્ણયના વિષયમાં ડૉ. યાકોબીનો ખાસ સ્વતંત્ર અને દૃઢ ભિન્ન મત હતો. એ ભિન્ન મતના સંબંધમાં એમની સાથે શ્રીયુત મોતીચંદ ગિરધર કાપડીઆ વગેરે વિદ્વાનોએ ખૂબ ચર્ચા પણ ચલાવેલી હતી પરંતુ તેથી એમને સંતોષ થયો ન હતો અને એ પોતાના મતને દૃઢ રીતે વળગી રહ્યા હતા. પરંતુ ૧૯૧૯ માં પૂના ખાતે ભરાએલી ભારતની 'પ્રથમ પ્રાચ્યવિદ્યાવિદ્વત્પરિષદ્' આગળ 'हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णयः' એ વિષેનો જે સંસ્કૃત નિબંધ અમે વાંચ્યો હતો અને એ નિબંધમાં હરિભદ્ર સૂરિનો જે સમય અમે નિશ્ચિત કર્યો હતો, તે વાંચીને એ સમર્થ સત્યસંશોધક વિદ્વાને પોતાનો પૂર્વમત ઝટ લઇને બદલી નાંખ્યો અને અમારા કરેલા નિર્ણયને સર્વથા સહમત થઇ તેનો સાદર સ્વીકાર કર્યો. એમના એ સ્વીકારનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ આ નીચે આપેલી પ્રસ્તાવનાના પ્રારંભમાં જ વાંચકોને મળી આવશે. યુરોપના એક મહાન્ અભ્યાસી અને બહુશ્રુત વિદ્વાનને જ્યારે આ રીતે સત્ય જણાઇ આવે છે ત્યારે તે તુરત પોતાના મતને તદનુકૂળ બનાવી લેવાની અને પોતાની ભૂલને સુધારી લેવાની કેટલી કાળજી રાખે છે તેનો આ એક ઉદાહરણભૂત દાખલો છે. જ્યારે આપણા દેશના લેભાગુ પંડિતંમન્યો, કશું સમજ્યા વગર, સમજવાની જરાએ ઇચ્છા રાખ્યા વગર, પકડયું 'તે પકડયું' કરીને પોતાના નિર્મોલ્ય મતને પણ આખર સુધી જોવા–તપાસવાની દરકાર કરતા નથી. હરિભદ્રસૂરિ યથાર્થ જ કહે છે કે—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

*સંપાદક.

* હરિભદ્રસૂરિના સંબંધમાં એક જૂનામાં જૂનો પ્રાકૃત પ્રબંધ જે ભદ્રેશ્વરસૂરિના કથાવલી નામના ગ્રંથમાં આવેલો છે તે અને બીજી પણ કેટલીક નવી વિગતો આ પછીના અંકમાં આપવાનો અમારો વિચાર છે.—સંપાદક.

૧. હરિભદ્રનો સમય.

સમરાઇચ્ચકહાના કર્તા હરિભદ્ર જૈન પરંપરા પ્રમાણે વિક્રમ સંવત ૫૮૫ માં અથવા વીર સંવત ૧૦૫૫ માં એટલે ઈ. સ. ૫૨૯ માં [1]કાળ પામ્યા. આવી જૈન માન્યતા ઇ. સ. ના ૧૩ માં સૈકાની શરૂઆતથી નજરે પડે છે. છતાં આ તારીખ ખોટી ઠરાવવામાં આવી હતી;[2] કારણ કે ઇ. સ. ૬૫૦ માં થએલા ધર્મકીર્તિના તાત્ત્વિક વિચારોથી હરિભદ્ર પરિચિત હતા. એ વખતે નીચેની બાબત ઉપરથી ચર્ચા ઉભી થઇ હતી. સિદ્ધર્ષિ કે જેણે ઉપમિતિભવપ્રપંચા કથા ઇ. સ. ૯૦૬ ના મે માસની ૧ લી તારીખે પૂર્ણ કરેલી તે ગ્રંથની પ્રશસ્તિમાં હરિભદ્રને " धर्मबोधकरो गुरुः " એમ સંબોધે છે. હવે સવાલ એ ઉદ્‌ભવ્યો કે હરિભદ્ર સિદ્ધર્ષિના સાક્ષાત્ ધર્મગુરુ હતા કે પરંપરા ગુરુ હતા. આ બાબતમાં મેં જે અભિપ્રાય બાંધ્યો હતો તે ભૂલભરેલો હતો.[3] આ અરસામાં જૈનોએ હરિભદ્રના સંખ્યાબંધ ગ્રંથો પ્રકાશિત કર્યા, અને એ દ્વારા કેટલીક ઉપયોગી બાબત બહાર આવી.[4] પણ જે પુરાવાએ હરિભદ્રની તારીખ છેવટે નક્કી કરી આપી તે પુરાવો, એમના ગ્રંથોએ નહિ, પરંતુ ઉદ્યોતનના કુવલયમાલા નામના પ્રાકૃત ગ્રંથે પુરો પાડેલો. આ ગ્રંથ શક સંવત્ ૭૦૦ ના છેલ્લા દિવસે[5] એટલે ઇ. સ. ૭૭૯ ના માર્ચની ૨૧ મી તારીખે પુરો કરવામાં આવ્યો હતો. આ ગ્રંથની પ્રશસ્તિમાં ઉદ્યોતન હરિભદ્રને પોતાના દર્શનશાસ્ત્રના ગુરુ તરીકે જણાવે છે, અને ઘણા ગ્રંથોના કર્તા તરીકે વર્ણવે છે; આ બીજી બાબત ઉપરથી એ તો

---

૧ હરિભદ્રકૃત લઘુ ક્ષેત્રસમાસવૃત્તિની જેસલમેર ખાતેની એક પુરાણી હસ્તલિખિત પ્રતના અંતે, એ ગ્રંથ પૂર્ણ કર્યાની મિતિ વિષે બે કડીઓ આવેલી છે. તેમાં એ ' વિક્રમ ૫૭૫, જ્યેષ્ઠ સુદી ૫, શુક્રવાર, પુષ્ય નક્ષત્ર ' હોવાનું જણાવેલું છે; આ મિતિ ઇ. સ. ૫૨૮ની ૯મી મેને મંગળવાર અથવા તો ઇ. સ. ૫૨૯ ની ૨૮મી એપ્રીલને વાર શનિ સાથે મળતી આવે છે. પહેલા દાખલામાં પુષ્ય નક્ષત્ર ચાલતું હતું અને બીજામાં પુનર્વસુ ચાલતું હતું. બન્ને દાખલાઓમાં વાર ખોટા નીકળતો હોવાથી એ મિતિ બનાવટી છે એમ માનવું જોઇએ. નક્ષત્રનું પ્રમાણ ઓછી વજુદવાળું લેખાય, કારણ ચાંદ્રવર્ષના પ્રત્યેક દિને સામાન્યતઃ કેવળ ત્રણ નક્ષત્રોમાંનું એક ચાલતું હોય છે અને એ પહેલીથી પણ નક્કી કરી લેવાય છે.

૨ ઉપમિતિભવપ્રપંચકથાની મારી આવૃત્તિ જુઓ (બીબ્લીઓથિકા ઇન્ડીકા) પ્રસ્તાવના પૃ. ૮

૩ જુઓ એ જ ગ્રંથની પ્રસ્તાવના પાનું ૫.

૪ હરિભદ્રના ગ્રંથો, તેના ટીકાકારો અને તે ટીકાકારોના સમય વિષેની તમામ વિગતોની પૂર્ણ માહિતી માટે જુઓ મુનિ કલ્યાણવિજય સંપાદિત હરિભદ્રની ધર્મ સંગ્રહિણીની આવૃત્તિમાંનો ગ્રંથકારપરિચય (દેવચંદ લાલભાઇનું જૈનપુસ્તકોદ્ધાર ક્રમાંક ૪૨; મુંબઇ. ૧૯૧૮)

૫ चोद्दसीए चित्तस्स किण्हपक्खम्मि અર્થાત્ ચૈત્ર વદી ૧૪. આ મિતિ પંચાંગના દૃષ્ટિબિંદુથી રસ પડે એવી છે. ચૈત્રાદિ વર્ષ હમેશાં ચૈત્રના શુકલ પક્ષથી શરૂ થાય છે. એથી કરીને ઉક્ત મિતિ પૂર્ણિમાન્ત યોજના જેમાં કૃષ્ણપક્ષ શુકલપક્ષની પૂર્વે આવે છે, તેને અનુસરીને નોંધાયલી જણાશે. પરંતુ કિલહોર્ને (ઇન્ડીઅન એન્ટીક્વરી. ૧૮૯૬ પૃ. ૨૭૧ અને તે પછી) લેખપત્રોમાંની મિતિઓ ઉપરથી બતાવ્યું છે તે પ્રમાણે શક વર્ષોના સંબંધમાં લગભગ હમેશાં અમાન્ત મહીનાઓનો પ્રયોગ થાય છે. તેથી કરીને ઉક્ત મિતિનો પ્રથમ દરાને જણાતો અર્થ અત્યંત શંકાસ્પદ બને છે. એમ છતાં, ચર્ચાતા વર્ષમાં નિજ માસની પૂર્વે આવતો અધિક ચૈત્ર હતો એથી કરીને આ દાખલામાં બનવું જોઇએ તે પ્રમાણે જો વર્ષ નિજ ચૈત્રથી શરૂ થયું હોય તો અધિક ચૈત્ર વદી ૧૪ એ વીતી ગયેલા વર્ષનો છેલ્લાનો પહેલો દિવસ હોવો જોઇએ. કારણ ખરા ચૈત્રનો આરંભ કરતો પડવાનો ચંદ્ર મેષ સંક્રાન્તિની લગોલગ પૂર્વે હતો. એટલા માટે હું માનું છું કે સ્વામી કન્નુપિલ્લાઇ જે એમ કહે છે કે (અધિક ચૈત્ર હોય ત્યારે વર્ષ તેનાથી માંડીને ગણાય છે) એ કેવળ આધુનિક રિવાજને જ લાગુ પડે છે.

નિઃસંદેહ જેવું છે કે આમાં એ મહાન્ હરિભદ્રનો જ ઉલ્લેખ કર્યો છે.[६] આ ફકરો તેમ જ એમાં રહેલી સમયને લગતી બાબત જો કોઇ પ્રથમ બરાબર સમજ્યા હોય તો તે મુનિરાજ શ્રીજિનવિજય છે. તેમણે ૧૯૧૯ ના નવેંબરમાં, પૂનામાં ભરાએલી પ્રથમ ઓરિયેન્ટલ કોન્ફરન્સમાં વાંચેલા અને જૈન સાહિત્ય સંશોધક ગ્રંથમાલા, પૂના, એમાં "श्री हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णय" એ મથાળા હેઠળ છપાયેલા, "હરિભદ્રનો સમય" એ નામના પોતાના લેખમાં આ આખો પ્રશ્ન સારીપેઠે ચર્ચ્યો છે, પુરાવા તપાસ્યા છે, અને તદ્દન સ્પષ્ટ રીતે પોતાની બાબત રજુ કરી છે. નીચેની હકીકત, ઘણું કરીને, એમના એ નિબંધને આધારે જ આપેલી છે.

જ્યારે ઉદ્યોતને પોતાનો ગ્રંથ લખ્યો ત્યારે હરિભદ્ર જીવતા હતા કે નહિ તે આપણે એના કહેવા ઉપરથી કળી શકતા નથી, પરંતુ એટલું તો ખરૂં કે એની પહેલાં વીશ કે ત્રીશ વર્ષ ઉપર તો એઓ ઉદ્યોતનના ગુરૂ હશે જ. આ ઉપરથી આપણે એ સમય, અગર ઇ. સ. ૭૫૦ કે તે પછીનો સમય એમના સાક્ષરજીવન તરીકે લઇ શકીએ; અને સંખ્યાબંધ પ્રકરણો જે એમણે તૈયાર કર્યાં તે ઉપરથી આ સમય ઓછામાં ઓછો વીશ કરતાં વધારે વર્ષનો જરૂર મૂકી શકીએ. પોતાના ગ્રંથોમાં એ ઘણા બ્રાહ્મણ, બૌદ્ધ તથા જૈન ગ્રંથકારોનો ઉલ્લેખ કરે છે. જિનવિજયજીએ એમાંના ત્રીસ નામોની એક યાદી તારવી કાઢી છે એમાંથી દિગ્નાગ, ધર્મકીર્તિ, ભર્તૃહરી (વાક્ય પદીયના કર્તા, આશરે ઇ. સ. ૬૫૦) અને કુમારિલને આપણે કાળક્રમની દ્રષ્ટિએ મહત્ત્વના ગણી શકીએ. હરિભદ્ર પોતાના નન્દીસૂત્રના વિવરણમાં, જિનદાસ ગણિ મહત્તરનું નામ આપ્યા સિવાય તેમની કરેલી એ સૂત્રની ચૂર્ણિમાંથી કેટલાક ભાગોનો ઉતારો કરે છે. એ ચૂર્ણિ શક વર્ષ ૫૯૮ માં એટલે ઇ. સ. ૬૭૭ માં તૈયાર થઈ હતી. વળી સિદ્ધસેન દિવાકર કે જેમનો ઉલ્લેખ હરિભદ્ર કરે છે તે પણ લગભગ આજ અરસામાં થએલા હતા. કારણ કે, જો કે તેઓ ધર્મકીર્તિનું નામ સ્પષ્ટ રીતે નથી આપતા; પરંતુ એના વિચારોનો તેઓ ઉપયોગ કરે છે.[७] આ ઉપરથી આપણે જોઇ શકીએ છીએ કે હરિભદ્રે પોતાથી આગલી સદીમાં થએલા કેટલાએ પ્રસિદ્ધ વિદ્વાનોનો

---

૬ છંદ દર્શાવે છે એમ હરિભદ્રના ઉલ્લેખવાળો ફકરો ભ્રષ્ટ પાઠવાળો છે. ડેક્કન કોલેજની હસ્તપ્રત જેના સિવાય અન્ય કોઇ પ્રત પ્રાપ્ય હોય એમ જણાતું નથી તેમાં એ આમ છેઃ सो सिद्धंतगुरु पमाणनाएण जस्स हरिभद्दो । बहुगंथसत्थवित्थरपयडसच्चत्था ॥ મુનિરાજ જિનવિજયે આ પાઠ સંતોષકારક રીતે સુધાર્યો છે અને ખુટતા અક્ષરો નીચે મુજબ પૂર્યા છેઃ सो सिद्धन्तम्मि गुरूः प्रमाणनाए य जस्स हारिभद्दो । बहुगन्थसत्थवित्थरपयडसमत्तसुयसच्चत्थो ॥ પ્રથમ પાદ, ઉદ્યોતનના ગુરૂ વીરભદ્રની પ્રસંસા કરતી આગલી કડી સાથે સંબંધ ધરાવે છે; અને આની પછીની કડીમાં તેના પિતાનું નામ વટેશ્વર હોવાનું જણાવેલું છે. વટેશ્વર ક્ષત્રિયજાતિનો હતો અને ક્ષમાશ્રમણ બન્યો હતો.

૭ ધર્મકીર્તિ માત્ર પ્રત્યક્ષને જ અભ્રાંત કહે છે (અને ધર્મોત્તર સ્પષ્ટ કહે છે भ्रान्तं हि अनुमानम्) જ્યારે સિદ્ધસેન દિવાકર ન્યાયાવતારમાં (S ff) પ્રત્યક્ષ તેમ જ અનુમાન બન્નેને અભ્રાંત કહેવાનો દાવો કરે છે; એ જ પ્રમાણે એ સ્વાર્થ અને પરાર્થનો ભેદ જે ખરી રીતે કેવળ અનુમાનને લાગુ પડે છે તેને વિસ્તારીને એ પ્રત્યક્ષને પણ લાગુ પાડે છે (તે જ ગ્રંથ ૧૨ f). દેખીતી રીતે, સૂક્ષ્મ ભેદોને એક એકને ઉડાવી આમ સર્વ સામાન્યનું રૂપ આપીને એણે ધર્મકીર્તિમાં સુધારો કરવાનો વિચાર કરેલો । એ તત્ત્વાર્થવૃત્તિના કર્તા સિદ્ધસેન ગણિથી ભિન્ન વ્યક્તિ છે. કારણ સિદ્ધસેનગણિ હરિભદ્રની નંદીસૂત્ર ઉપરની ટીકામાંથી ઉતારો ટાંકે છે ad. II,25. જુઓ કલ્યાણવિજય l. c. પૃ. ૨૯; આથી કરીને હરિભદ્ર બન્ને સિદ્ધસેનોના વચ્ચેના ગાળામાં થઇ ગયા. એ પણ નોંધવા જેવું ગણાય કે વધુ સિદ્ધસેન, આર્ય સિદ્ધસેન કે સિદ્ધસેન દિવાકર હોય વા ન પણ હોય, તેની એક કડીનો ઉતારો કરે છે. ad. I. 10.

ઉલ્લેખ કર્યો છે. જ્યારે બીજી બાજુ શંકરનો તેઓ કંઇ જ ઉલ્લેખ કરતા નથી. શંકર પોતાના વખતના વિદ્વાનોમાં એટલા તો પ્રખ્યાત અવશ્ય થઇ ગયા હતા કે જેથી હરિભદ્ર જો એમના સમયના કે એમના પછીના હોત તો એમને ભૂલી શકયા નહોત. આ ઉપરથી આપણે એટલું કહી શકીએ છીએ કે શંકરના અનુયાયીઓ જે તેમને ઇ. સ. ૭૮૮ થી ૮૨૦ ના ગાળામાં મૂકવાની માન્યતા ધરાવે છે તે ખરી છે, અગર તો છેવટે તદ્દન ખોટી નથી. વળી જિનવિજયજીના કહેવા મુજબ હરિભદ્ર માયાવાદ વિષે કશીએ ચર્ચા કરતા નથી. જોકે તેઓ અદ્વૈત વાદને જાણે છે અને પોતાના શાસ્ત્રવાર્તા સમુચ્ચયમાં એની કેટલીક શાખાઓનું ખંડન પણ કરે છે,[८] પરંતુ આમાંની એક પણ માયાવાદને મળતી નથી જણાતી. આ બાબત પણ ઠીક ઉપયોગી છે; કારણ કે એ ઉપરથી એમ ફલિત થાય છે કે, શંકર પહેલાં, ઔપનિષદોની બહાર માયાવાદ લગભગ અજ્ઞાત જેવો જ હતો. અલબત્ત શંકરના ગુરુના ગુરુ ગૌડપાદે, એ પૂર્વે ઔપનિષદોમાં તો એનું પ્રતિપાદન કર્યું હતું; પણ કોઇપણ સંપ્રદાયે પોતામાં રહેલી વસ્તુના આધારે યા પોતાના શિક્ષણની નૂતનતાને લીધે આખાય હિંદુસ્તાનમાં એમને એમ પ્રસિદ્ધિ નથી મેળવી, સિવાય કે કોઇ ગ્રંથકાર એ વસ્તુનો પદ્ધતિસર સવિશેષ પ્રચાર કરે અને દરેક વિરોધી પ્રવાહની સામે એને બરાબર ટકાવી રાખે. આવા ગ્રંથકારની કીર્તિ ઘણું કરીને મૂળ વિચારક કે જેની શક્તિ સ્વાભાવિક રીતે જ ભૂલાઇ જવાય છે, તેના કરતાં પણ વધુ વિસ્તાર પામે છે.[९]

૨. હરિભદ્રનું જીવન.

હરિભદ્રના જીવન વિષે એમના પોતાના શબ્દોમાં આપણને ભાગ્યે જ કંઇ જાણવા મળે છે. એમના લખેલા ગ્રંથોમાંથી એમના વિષે જે કાંઇ આપણે જાણી શકીએ તેમાં નીચેની હકીકતો ગણાવી શકીએ તેમ છીએઃ–(૧) તેઓ સિતામ્બરો (શ્વેતામ્બરો) ના આચાર્ય જિનભટની આજ્ઞા માનતા હતા, (૨) વિદ્યાધર કુલ (ગચ્છ) ના શણગાર રૂપ આચાર્ય જિનદત્તના શિષ્ય થતા હતા, અને (૩) સાધ્વી યાકિની મહત્તરાના ધર્મપુત્ર કહેવાતા હતા.[१०]

આ ઉપરાંત જે કેટલીક બીજી બાબતો હરિભદ્રના પુસ્તકો ઉપરથી સીધી જણાઈ આવે છે તે આ છેઃ— (૪) પોતાના લગભગ ઘણાખરા ગ્રંથોના છેલ્લા શ્લોકમાં એમણે 'વિરહ' શબ્દનો ઉપયોગ કર્યો છે, અને તે એમના જીવનની કોઇ ખાસ બાબતને સૂચવતો હોય તેમ લાગે છે; (૫) કેવળ જૈનધર્મ વિષેનું જ નહિ, પરંતુ બીજા સંપ્રદાયો વિષેનું પણ એમનું ચોક્કસ જ્ઞાન એમના અનેકાન્ત-જયપતાકા અને તેની ટીકામાં, તેમ જ દિગ્નાગકૃત ન્યાયપ્રવેશ ઉપરના તેમના ટિપ્પણમાં જણાઈ આવે છે; (૬) એમના લખેલા ગ્રંથોની સંખ્યા ઘણી મોટી હતી.

---

૮ આ ગ્રંથમાં હરિભદ્ર આપે છે તેના કરતાં વિશેષ વિગતો જાણવાનું આપણને આવશ્યક લાગે છે; કદાચ અર્ચિત ફકરા વિષે પોતાની સ્વોપજ્ઞવૃત્તિમાં એમણે એ આપી પણ હોય. પરંતુ આ વૃત્તિ મને અપ્રાપ્ય છે.

૯ આ પ્રમાણે જ્યાંસુધી કારિકાઓમાંના કોઇ અજ્ઞાત કર્તાના મૂળ પ્રબંધ (treatise) ઉપર આનંદવર્ધને ધ્વન્યાલોક નામની ટીકા નહોતી રચી અને એમ કરીને ધ્વનિવાદને એટલો બધો સુવ્યક્ત નહોતો કર્યો કે એની પછીના પ્રાયઃ સર્વ અલંકારશાસ્ત્રીઓ એનો સ્વીકાર કરે ત્યાંસુધી એ વાદની પણ અવગણના જ થઇ જણાય છે. એથી કરીને હું એમ સમજવાને પ્રેરાઉં છું કે પૂર્વકાલીન બૌદ્ધધર્મમાં શૂન્યવાદી નાગાર્જુન અને વસુબંધુએ તે તે મતોને શાસ્ત્રીય પદ્ધતિએ સુપ્રકાશિત ન કર્યા ત્યાંસુધી તે મતો અણુદીઠ રહ્યા અને એની સામે કંઇ પ્રતિરોધ જાગ્યો નહિ.

૧૦ ઉપર્યુક્ત તમામ વિગતો આવશ્યક સૂત્ર ઉપરની શિષ્યહિતા નામની એમની ટીકાના અંતભાગમાં આપેલી છે; અન્ય સ્થળોએ માત્ર એક વા બીજી વિગતનો જ ઉલ્લેખ હોય છે.

એ તો વગર કહે સમજાય તેમ છે કે હરિભદ્રના સમકાલીન લોકો તેમના વિષે ઉપરની ૭ બાબતોમાં જે લખ્યું છે તેના કરતાં ઘણું વધારે જાણતા હોવા જોઇએ; પરંતુ તેની સાથે એ પણ એટલું જ સાચું છે કે ઐતિહાસિક વિગત ધીમે ધીમે દંતકથાઓની વાર્તાનું રૂપ લઇ લે છે, અને કાળાંતરે સાચી તેમ જ બનાવટી બાબતોનો એકવિચિત્ર શંભુમેળો થઇ જાય છે કે જેથી એમાંથી અમુક જ વિગત, મર્યાદિત સત્યની દૃષ્ટિએ એકએકથી જુદી પાડવી સરલ હોઇ શકે છે. બાકી કેટલીએ ચાલી આવતી બાબતો બીલકુલ બનાવટી અને એના મૂળનાયકથી તદ્દન અસંબદ્ધ જેવી હોય છે. આ પ્રમાણે જોતાં હરિભદ્રને લગતી જે ૪થી બાબત છે તે વિષે લોકોને કાંઇક સહજ કુતૂહલ થયું હશે અને તેથી તેને સંતોષવા જતાં હરિભદ્રના જીવનને લગતી કેટલીક અમૂલક વાતોમાં ઘણી વિચિત્ર અને સાવ પાયાવગરની હકીકતોનો ઉમેરો થયો હશે. એમના જીવન વિષેની બીજી બધી વાતો કરતાં આ બાબતનો ઉમેરો જ વધુ વધી જાય છે, કે જેનો જુના ગ્રંથોમાં કંઇયે નિર્દેશ નથી મળતો.

હરિભદ્ર વિષેની કિંવદંતીઓનું પૃથક્કરણ કરૂં તે પહેલાં એના મૂળભૂત સાધનોનો ઉલ્લેખ કરવા ઇચ્છું છું.

(૧) હરિભદ્રના ઉપદેશપદની મુનિચંદ્રની ટીકાના અંતનો એક નાનો પારેગ્રાફ. આ ટીકા વિક્રમ સંવત ૧૧૭૪ એટલે ઇ. સ. ૧૧૧૮ માં પુરી થઇ હતી; આ ભાગ કલ્યાણવિજય અને જિનવિજયે છાપ્યો છે.

(૨) સંવત ૧૧૬૯ અને ૧૨૧૧ અથવા ઇ. સ. ૧૧૧૨ અને ૧૧૫૪ની વચમાં લખાયેલા જિનદત્તના ગણધરસાર્દ્ધશતકની આઠ ગાથાઓ (૫૨-૫૯) મૂળ ગ્રંથ A. Weber ની Verzeichniss der Sanskrit und Prakit Handschriften II p. 982 માં છપાયો છે.

(૩) સંવત્ ૧૩૩૪ યા ઇ. સ. ૧૨૭૮ માં પ્રભાચંદ્રે રચેલા પ્રભાવક ચરિતનો નવમો શૃંગ. (૧૯૦૯ ની એન. એસ. આવૃત્તિમાં ગ્રંથકર્તાનું નામ ભૂલથી ચંદ્રપ્રભ આપ્યું છે)

(૪) સંવત ૧૪૦૫ યા ઇ. સ. ૧૩૪૯ માં લખાએલો રાજશેખરનો પ્રબંધકોશ. કલ્યાણવિજયે આમાંના થોડા ફકરા આપ્યાનું હું જાણું છું.

(૫) સંવત્ ૧૨૯૫ યા ઇ. સ. ૧૨૩૯ માં પૂર્ણ થએલ સુમતિગણિની ગણધરસાર્દ્ધ શતકની વૃત્તિ. (જુઓ ૨) સુમતિગણિની હકીકત સર્વરાજગણિની લઘુવૃત્તિમાં ટુંકાણમાં આપી છે.

(૬) ભદ્રેશ્વરની કથાવલી, સમય હજુ જણાયો નથી; જિનવિજયજીના લખાણો ઉપરથી આ વાત હું જાણી શકયો છું, બીજી રીતે મને તેની ખબર નથી.

હવે હું હરિભદ્રના જીવનને લગતી કેટલીક કિંવદન્તીઓ કે જે, ખરેખર સાચી પણ માની શકાય, તે બાબત ચર્ચા કરીશ.

૧, ૩, ૪ અને ૫ મા લખ્યા મુજબ હરિભદ્રનું જન્મસ્થાન ચિત્રકૂટ એટલે હાલનું ચિતોડ હતું. લગભગ ૭ મી સદીથી માંડીને ૧૫૬૯ સુધી આ પર્વતના શિખર[૧૧] ઉપરના જુના કિલ્લામાં મેવાડની રાજ્યધાની હતી, અને ત્યારબાદ ઉદેપુર એ રાજ્યનું મુખ્ય મથક થયું. પોતે દીક્ષા લીધી ત્યાંસુધી હરિભદ્ર ઘણું કરીને ચિતોડમાં હતા, પરંતુ ત્યારપછી સાધુ તરીકેનું એમનું જીવન ઘણુંખરૂં રાજપૂતાનાના આસપાસના સ્થળોમાં અને ગુજરાતના પ્રદેશમાં પસાર થયું હોય તેમ લાગે છે. કારણ, એ પ્રદેશમાં વસતા ઉદ્યોતનના તેઓ ગુરુ થતા હતા.[૧૨] હરિભદ્રના ગુજરાતના કાર્યપ્રદેશની બીજી સાબીની જૈન

૧૧ જમાંની ઉક્તિ અર્થાત્ શ્રી ચિત્રકૂટાચલનિવાસિનો સ્પષ્ટતયા પર્વત ઉપરના એ પ્રાચીન નગરને ઉદ્દેશીને છે.

૧૨ કુવલયમાલામાંથી શ્રી જિનવિજયજીએ (l. c., પૃ. ૫૫) ટાંકેલા ફકરાની ગાથી અને છઠ્ઠી કડીઓ સાબીત કરે છે કે ઉદ્યોતન ગુજરાતમાં પાંગરેલી યતિ પરંપરામાંના હતા.

કુટુંબોની વંશાવળીમાં મળી આવે છે. કારણ કે કલ્યાણવિજયજીના કહેવા મુજબ હરિભદ્રે પોરવાલોની (પોરવાડ, પ્રાગ્વાટ) જાતિને સંગઠિત કરી, અને એમને જૈન બનાવ્યા. હવે, नेमिनाहचरियं[13]માંથી આપણને એમ જાણવા મળે છે કે પોરવાલ જાતિ પ્રથમ [14]શ્રીમાલમાં ઉત્પન્ન થઈ હતી, અને એ જાતિના નિમય નામના એક સૈનિક માણસને વનરાજે (ઇ. સ. ૭૪૬–૮૦૬) પોતાની નવી રાજ્યધાની અણહિલ્લપાટણમાં વસવા માટે આમંત્રો અને ત્યાં તેણે વિદ્યાધરગચ્છ માટે ઋષભદેવનું મંદિર બંધાવ્યું. પોરવાલની જાતિને સંગઠિત કરનાર હરિભદ્ર વિદ્યાધર ગચ્છના જ[15] હતા એટલે સંભવ છે કે એ જાતિ આ ગચ્છ તરફ કોઇક પ્રકારની વફાદારી ધરાવતી હોય, અને નેમિનાહચરિયંની એ હકીકત આ બાબતની સાબીતી પુરી પાડતી હોય તેમ લાગે છે. જો કે હરિભદ્ર જીવનના મોટા ભાગમાં ગુજરાતમાં અને તેની બાજુના રાજપૂતાનાના પ્રદેશમાં રહ્યા હોય, પરંતુ એક સાધુ તરીકે તેઓ હિંદુસ્તાનના દૂર દેશાવરોમાં પણ જરૂર ફર્યા હશે. સમરાઇચ્ચકહામાંથી એમના હિંદુસ્તાનના જ્ઞાન બાબત કેટલીક હકીકત મેળવી શકાય તેમ છે. આ બાબતમાં ખાસ વિચારવા જેવું એ છે કે તેઓ પોતાની કોઇપણ કથાની ઘટનાનું ક્ષેત્ર ડેક્કન યા દક્ષિણ હિંદુસ્તાનના એકાદ જાણીતા શહેરમાં કલ્પતા નથી.[16] પરંતુ જે જે શહેરો જાણી શકાય તેવા છે[17] તે બધા ઉત્તર હિંદસ્તાનમાં હસ્તિનાપુરથી તાક્ષલિપ્ત સુધીમાં આવેલા છે. અયોધ્યા અને ચંપા વચ્ચેના પૂર્વ હિંદુસ્તાનથી તેઓ વિશેષ પરિચિત દેખાય છે; આ પ્રદેશોમાં ત્યારે બૌદ્ધધર્મ પ્રચલિત હતો, અને તેથી એવો સંભવ છે કે હરિભદ્રે ત્યાં બૌદ્ધધર્મ વિષે ચોક્કસ જ્ઞાન મેળવ્યું હોય, જો કે ખાસ કરીને તો દિગ્નાગ અને ધર્મકીર્તિએ જે પ્રતિપાદન કરેલું છે તેને જ આધારે તેઓએ એ વિષયનું જ્ઞાન મેળવેલું લાગે છે.

૫ માં એમ બતાવવામાં આવ્યું છે કે હરિભદ્ર જાતે બ્રાહ્મણ હતા,[18] અને ૩ માં પણ એ જ વાત કહેલી છે. ત્યાં એમ કહ્યું છે કે તેઓ રાજા જિતારિના[19] પુરોહિત હતા, જો કે ૧ અને ૨ માં આવું કંઇ નથી, પરંતુ મને આના સાચાપણા વિષે કંઇ શંકા નથી લાગતી. હરિભદ્રનું જૈનધર્મ બાબતનું બહુ-વ્યાપીજ્ઞાન આપણે બાજુએ મૂકીએ તોપણ એમનું અન્યાન્ય વિષયનું જ્ઞાન એવા પ્રકારનું છે કે જે બ્રાહ્મણને જ સ્વાભાવિક હોય છે. પરંતુ જૈનસાહિત્યને બ્રાહ્મણવિદ્યાની એક નવીન પ્રેરણા મળી તે પહેલાં

૧૩ જુઓ Abhandlungen der Bayerischen Akademie der Wissenschaften, Munchen 1921 માંની સનત્કુમાર ચરિતની મારી આવૃત્તિ પૃ. ૧૫૨, ૮ ૯. અને એજ ગ્રંથના પૃ. ૬૬ાની વધારાની નોંધ.

૧૪ મારવાડની અત્યંત દક્ષિણે આવેલું આધુનિક ભીન્માલ ઉદ્યોતનસૂરિ 1. c., એ નગરનું નામ સિરિભિલ્લ-માલ હોવાનું જણાવે છે. પ્રથમ ચાપોત્કટ વા ચાવડા રાજા વનરાજે અનહિલ્લ પાટકની સ્થાપના કરી તે પહેલાં એ ગુજરાતનું પાટનગર હતું.

૧૫ કારણ, એ પોતાના ગુરૂ જિનદત્તને વિદ્યાધર ગચ્છનું એક ભૂષણ કહે છે. હર્ષનંદનગણિ (૧૬૧૬ ઇ. સ.)ના કહેવા પ્રમાણે એ વૃદ્ધગચ્છીય હતા. જુઓ કલ્યાણવિજય 1. c., પૃ. ૧૧ b,

૧૬ દક્ષિણભારત વિષેના પરિચયની એમની ઉણપનું કારણ, કદાચ, એ હતું કે એમના સમયમાં તાપીની દક્ષિણે જો શ્વેતાંબર સમાજ કોઇ ઠેકાણે વસતો હશે તો તેની સંખ્યા નહિ જેવી જ હશે.

૧૭ કથાનકવર્ણિત અપર વિદેહના દેશોમાંનાં નગરો સાથે, અલબત્ત આપણે કંઇ લેવાદેવા નથી.

૧૮ 1. c., પૃ. ૫ a, નોંધ કલ્યાણવિજય.

૧૯ સ્પષ્ટ રીતે, જૈનોની અસંખ્ય આખ્યાયિકાઓ અને કથાઓમાં આવતા જિતશત્રુ નામના રાજાનું બનાવટી નામ. આ રાજા, હું જાણું છું ત્યાં સુધી કોઇપણ ઐતિહાસિક દસ્તાવેજ, લેખપત્ર ઇત્યાદિમાં કદિ જોવામાં આવેલ નથી. મેવાડના ગુહિલ રાજાઓની યાદીમાં પણ આ નામ આવતું નથી. જુઓ મેબેલ ડફની ક્રોનોલોજી ઓફ એન્શન્ટ ઇન્ડીઆ. પૃ. ૨૮૨.

બીજા કોઇના વિષે આવી યોગ્યતા તદ્દન અપવાદ રૂપ જ કહી શકાય. મુનિચંદ્ર (૫) હરિભદ્રને જે "આઠ વ્યાકરણોના અભ્યાસી તરિકે, અને સમગ્ર દર્શનશાસ્ત્રોને લગતી ચર્ચાઓ કરી સ્થિરબુદ્ધિ પ્રાપ્ત કરનારાઓના આગેવાન તરિકે" વર્ણવે છે, તે સત્ય છે. હવે પછીના પારેગ્રાફમાં કહેવામાં આવશે તે મુજબ મુખ્યત્વે હરિભદ્રને લીધે જ શ્વેતાંબરોની સંસ્કૃત એ અભ્યાસ ભાષા થઇ; અને એમના સાહિત્યના કેટલાક વિભાગોમાં પ્રાકૃતનું સ્થાન એણે લીધું. જો એમનો સંસ્કૃત ઉપર પૂરેપુરો કાબુ ન હોત તો એમની આટલી અસર ન પડત, અને આવી સિદ્ધિમાટે ચાલી આવતી બ્રાહ્મણવિદ્યાની જ જરૂર રહે છે. સંસ્કૃતમાં ચાલતી દાર્શનિક ચર્ચા બાબતનું એમનું આધિપત્ય એવા પ્રકારનું છે કે એમની ટીકાવાળી અનેકાન્તજયપતાકા, એ સમયના દાર્શનિક વિષયને લગતા કોઇપણ પુસ્તકની સાથે સારી રીતે સરસાઇમાં ઉતરી શકે તેમ છે.[૨૦] આમાં એટલું એ પણ ઉમેરી શકાય કે હરિભદ્રના ધર્મપરિવર્તન બાબતની કથા કે જેની મુખ્ય હકીકત આપણા જુનામાં જુના મૂળમાં (૧) સમાએલી છે તેથી પણ એજ નિર્ણય થાય છે કે તેઓ જાતિએ બ્રાહ્મણ હતા.

હરિભદ્ર યાકિની સાધ્વીને પોતાની ધર્મમાતા (धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनुः) તરીકે સ્વીકારી તેણીને લીધે પોતાનું 'સાચા ધર્મ'માં પરિવર્તન થયું એમ કહેવા માગે છે. આ એક જાતનું પુનર્જન્મ જ કહી શકાય. આ પરિવર્તન કેમ બનવા પામ્યું તે જો કે ચાલી આવતી કિંવદંતીઓ ઉપરથી લખવામાં આવ્યું છે, પરંતુ એ ઘણા ભાગે વિશ્વાસપાત્ર છે. હરિભદ્રના જીવનના આ પરિવર્તનને લગતું પ્રભાવક ચરિતમાં આપેલું કેટલુંક વર્ણન હું અહિં આપીશ અને પછી તેની ચર્ચા કરીશ.

"ચિત્રકૂટ શહેરમાં હરિભદ્ર જિતારિ રાજાના પુરોહિત હતા. પોતાના જ્ઞાન માટે એમને એટલું અભિમાન હતું કે તેઓએ જાહેર કરેલું કે જેનો પક્ષ પોતે નહિ સમજી શકે તેના તેઓ શિષ્ય થઈ જશે, અને આ પ્રતિજ્ઞા એક સોનાના પતરા ઉપર કોતરાવી કાઢી હતી ને તેને તેઓ પોતાના પેટ ઉપર બાંધી રાખતા હતા. એક વખત એક નાસી છુટેલો મસ્ત હાથી જ્યારે રસ્તાઓમાં કેર વર્તાવી રહ્યો હતો ત્યારે હરિભદ્ર એની આગળ થઇને નાઠા, અને એક જૈનમંદિર ઉપર ચઢી જઈ પોતાનો બચાવ કર્યો. ત્યાંથી અંદર જઈ એમણે એક તીર્થંકરની પ્રતિમા જોઈ, અને એક શ્લોકમાં એની હાંસી કરી. (वपुरेव तवाचष्टे इत्यादि) બીજે દિવસે જ્યારે તેઓ ઘરે ગયા ત્યારે એક વૃદ્ધ સાધ્વીને એક ગાથા[૨૧] ઉચ્ચારતી સાંભળી જે એમને બીલકુલ સમજાઈ નહિ. એ સાધ્વીને એમણે એ ગાથા સમજાવવા કહ્યું, પરંતુ તેણીએ એમને પોતાના ગુરુ પાસે જવાની સૂચના કરી. આથી બીજે દિવસે તેઓ તેમની પાસે ગયા. રસ્તે જતા પેલા મંદિર પાસે થઇને નીકળ્યા, અને પોતાનો પ્રથમનો જ શ્લોક બોલ્યા, પરંતુ તેમાં એક શબ્દનો એવો ફેરફાર કર્યો કે જેને લીધે જિનની સ્તુતિ થઈ. ત્યાં તેમણે જિનભટ સૂરીને જોયા કે જેમણે હરિભદ્રને સાધુ થયા પછી શીખવવાનું વચન આપ્યું. તેઓ સાધુ થયા અને મહત્તરા યાકિનીને પોતાની ધર્મમાતા તરીકે સ્વિકારી તેઓ જૈનશાસ્ત્રોમાં એટલા બધા નિપુણ થયા અને એમનું ચારિત્ર એવા પ્રકારનું બન્યું કે ગુરુએ એમને પોતાના ગાદીધર બનાવ્યા. આ પ્રમાણે હરિભદ્ર યુગપ્રધાન બન્યા."

૨૦ એ સાચું છે કે આવા જ વર્ણનના ઘણા પ્રાચીન ગ્રંથો બૌદ્ધોની પાસે હતા. પરંતુ બૌદ્ધો, તત્વજ્ઞાની બ્રાહ્મણસંપ્રદાયોની તાત્વિક ચર્ચાના સંબંધમાં ઘણા પૂર્વેના સમયથી જ આવ્યા હતા. અને એમના ઘણા મહાન ગ્રંથકારો સ્વયં પ્રસિદ્ધરીતે બ્રાહ્મણ જાતિના હતા.

૨૧ આ ગાથા આવશ્યક નિર્યુક્તિમાં આવે છે.

હવે આ હકીકતમાંની મુખ્ય મુખ્ય બધી બાબતો, ઉપર જણાવેલા મુનિચંદ્રના સંક્ષિપ્ત ઉલ્લેખમાં[22] આપેલી છે. ફક્ત મસ્ત હાથીનો બનાવ અને હરિભદ્રનું જિતારિ રાજાનું પુરોહિત હોવું એ બે એમાં નથી. ત્યાં પણ એ જ ગાથા અને એ જ શ્લોક આપેલા છે, પણ ગુરુનું નામ જિનભટને[23] બદલે જિનભદ્ર આપેલું છે જે ભૂલથી લખાયું હોય તેમ લાગે છે. અલંકારરૂપે કહી શકાય એવી કેટલીક વિસ્તૃત બાબતો એમાંથી ઉડાવી દીધી છે. આ વાત ઘણે ભાગે જુની છે, અને એમાં ખાસ કંઈ વધારો પડેલું કે ન મનાય તેવું નથી, એટલે આપણે એને લગભગ સત્ય તરીકે ગણી શકીએ છીએ.

ગણધર સાર્દ્ધશતકમાં આપેલી એક વિચિત્ર બાબત કહેવાની રહે છે: "કેટલાક નામની સમાનતાને લઇને હરિભદ્રને ચૈત્યવાસિ સાધુ કહેલા છે જે ખોટી રીતે કહેવામાં આવ્યું છે." ચૈત્યવાસિઓ એવા સાધુઓ હતા કે જેઓ મંદિરમાં રહેતા હતા, જ્યારે તેમના પ્રતિસ્પર્ધિઓ વસ્તિનિવાસી એટલે કે ગૃહસ્થોના ઘરોમાં (પરગૃહ) રહેવાનું પ્રતિપાદન કરતા હતા. બંને પક્ષો થોડો વખત સાથે ચાલ્યા હોય તેમ લાગે છે, અને વિરોધીરૂપે બાહેર ન પડયા હોય તેમ જણાય છે. શીલાંક[24] એક ચૈત્યવાસી હતા એમ કહેવામાં આવે છે. પરંતુ છેવટે તો ચૈત્યવાસ લુપ્ત થઈ ગએલો અને ખરતરગચ્છના સ્થાપક જિનેશ્વરસૂરિએ પોતાના અનુયાયીઓ માટે સંવત્ ૧૦૮૦ યા ઈ. સ. ૧૦૨૪માં વસ્તિનિવાસ સ્થિર કરેલો.

એવો સંભવ છે કે જ્યારે આ બન્ને પક્ષો વચ્ચે પૂર જોસમાં શત્રુતા હશે ત્યારે ચૈત્યવસિઓએ જાણીતા હરિભદ્રને પોતાના તરીકે ગણાવ્યાં હોય, અને સામાવાળાઓએ એમના એ દાવાને તદ્દન પાયા વગરનો અને નકામો ઠેરવ્યો હોય. પરંતુ આ પણ એટલું જ ચોક્કસ છે કે, જો હરિભદ્રના વખતમાં સાધુઓનું નિવાસસ્થાન એ જ મતભેદનો એક મુખ્ય વિષય થવા પામ્યો હોય, તો હરિભદ્રે કયો પક્ષ સ્વિકાર્યો હશે તે બાબતમાં કંઈ શંકા જેવું રહે તેમ નથી, સમરાઇચ્ચિ કહામાં સાધુજીવનનાં જે વર્ણનો આપ્યાં છે તે એમના વખતના સાધુઓની રીતભાતનું યા જે તેમને પોતાને સંમત હતું તેનું ચિત્ર પુરૂં પાડે છે. તે કથા પ્રમાણે તો સાધુઓ શહેર નજીકના ઉદ્યાનમાં રહેતા, અને એમના અનુયાયીઓ તથા એમના દર્શન માટે ઉત્સુક એવા માણસો ત્યાં જતા. એ વર્ણનમાં એ કાંઈ સ્પષ્ટ કહ્યું નથી કે સાધુઓ ત્યાં મંદિરમાં જ રહેતા, પરંતુ હરિભદ્ર સાધુઓને ગૃહસ્થોના, યા લોકોએ તૈયાર કરાવી આપેલા તેમના માટેના મકાનોમાં રહેવાનું યોગ્ય ધારતા તે એમાંથી કાઢી નાંખ્યું હોય તેમ લાગે છે.

૩. હરિભદ્રની કૃતિઓ.

હરિભદ્રની યુગપ્રધાન તરીકેની ખ્યાતિ એમણે જૈન ધર્મને ખાતર કરેલી સાહિત્યસેવા ઉપર

---

૨૨ ગણધર સાર્ધશતકની લઘુવૃત્તિ ૬. ૫૬, પૃ. ૬ માંનો અતિસંક્ષિપ્ત ઉલ્લેખ આની સાથે મેળતો આવે છે. તદુપરાંત હ૦ પોતાના પેટ ઉપર જે સોનાનું પત્રું બાંધતા તેનો તેમાં ઉલ્લેખ છે.

૨૩ ઉપરની નોંધમાં દર્શાવેલી લઘુવૃત્તિમાં એ નામનું એ જ રૂપ આપેલું છે.

૨૪ લઘુવૃત્તિમાંના ૬. ૬૦ એ આધાર પ્રમાણે અને ખરતરગચ્છની પટ્ટાવલીના કથન પ્રમાણે શીલાંક હરિભદ્રના ઉત્તરાધિકારી હતા. પરંતુ એ અસંભવિત છે, કારણ એમની આચારાંગ ટીકાની સાલ શક ૭૯૮=ઈ. સ. ૮૭૨ની હોવાનું અર્થાત્ હરિભદ્ર પછી એક સૈકા કરતાં વધારે હોવાનું કહેવાય છે. એ જ આધાર પ્રમાણે શીલાંકના ઉત્તરાધિકારી તે ઉદ્યોતનસૂરિ જે જિનેશ્વરના ગુરુ અને પુરોગામી એવા વર્ધમાનસૂરિના પુરોગામી હતા. નિશંકપણે આ લખાણો કપોલકલ્પિત અને છેક ખોટાં છે. કારણ ઉદ્યોતનસૂરિ જેમણે પોતાનો મહાન્ ગ્રંથ ઈ. સ. ૭૭૯માં રચ્યો તે, જિનેશ્વરસૂરિ જેઓ ત્યારબાદ બે સૈકા કરતાં વધારે પાછળના કાળમાં થઇ ગયા. તેમની અને ઉદ્યોતનસૂરિની વચ્ચે એક જ ગુરુ થયા જેટલો ગાળો હોય એ ન બની શકે એવી વાત છે. દેખીતી રીતે, ખરતરગચ્છની સ્થાપનાની પૂર્વેના સમય સંબંધી જો કોઇ પણ પરંપરા ચાલુ હોય તો તે વજુદવાળી નહોતી.

અવલંબે છે. જૈનસાહિત્યમાં એમણે જેટલાં પુસ્તકો લખ્યાં, અને જુદા જુદા જે વિષયો હાથ ધર્યા તે જોતાં તેઓ મહાન લેખકોમાંના એક કહી શકાય. જિનવિજય હરિભદ્રના ૨૮ ગ્રંથોને ખાસ પ્રસિદ્ધ તરીકે ગણાવે છે, અને તેમાંના વીસ છપાઈ ચૂકેલા છે, જ્યારે કલ્યાણવિજયે ખાસ સચવાઈ રહેલા છે તેમાંથી, અને ઉતારાઓ ઉપરથી એમના બધાય ગ્રંથોની એક યાદી તૈયાર કરી છે, અને તેમાં ૮૮ નામોનો સમાવેશ કરેલો છે. જો કે આમ તો આ સંખ્યા જ ખાસી મોટી છે, પરંતુ ૧૪૦૦ પ્રકરણોની ચાલી આવતી વાત માનીએ તો તેનો આ એક અલ્પાંશ જ લાગશે.[25] હરિભદ્રના જીવનને લાગતા આપણા જુનામાં જુના ગ્રંથોમાં (૧ અને ૨) પણ એ ગ્રંથ સંખ્યાની વાત છે, અને ત્યારબાદ ઈ. સ. ૧૦૬૮માં તૈયાર થયેલી અભયદેવની હરિભદ્રના પંચાશક ઉપરની ટીકામાં પણ એ જ હકીકત વધારે સ્પષ્ટ રીતે જોવામાં આવે છે. પણ આ બધું તદ્દન બીન પાયાદાર હોય તેમ લાગે છે? કે જૈનોની એટલી બધી બેદરકારી સૂચવે છે કે તેઓ પોતાના એક જાણીતા ગ્રંથકારના પુસ્તકોના મોટા ભાગના નામો પણ એની પછી થોડી સદીઓમાં ભૂલી ગયા હશે? બીજી બાજુએ જ્યારે તત્ત્વાર્થ લઘુવૃત્તિ અને પિણ્ડનિર્યુક્તિ એ હરિભદ્રના બે અધૂરા રહેલા ગ્રંથો પણ સચવાઈ રહેલા મળી આવે છે. આથી કાં તો ૧૪૦૦ની સંખ્યા અતિશયોક્તિ ભરેલી યા અર્થ વગરની હોય, અથવા આપણે માની લેવું જોઈએ કે આ બાબતમાં પ્રકરણ એ પદ્ધતિસર તૈયાર કરેલો જુદો ગ્રંથ નહોય, પરંતુ પંચાશકના ૫૦ પ્રકરણો, અષ્ટકના ૩૨, ષોડશકના ૧૬, વિગેરે એવા મર્યાદિત અર્થમાં એનો ઉપયોગ થયો હોય. પણ તેમના બીજા ગ્રંથોમાં શા ધોરણે આટલા બધા પ્રકરણો પાડવા તે સમજી શકાતું નથી.

હરિભદ્રે મોટા ભાગે જૈન માન્યતાની પૂર્તિને ખાતર સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં તેમ જ ગદ્ય અને પદ્યમાં લખ્યું છે. એમના સાક્ષર જીવનની બે પ્રવૃત્તિઓ ખાસ નોંધવા જેવી છે. એક તો આગમ ગ્રંથો ઉપરની એમની સંસ્કૃત ટીકાઓ અને બીજી બ્રાહ્મણો અને બૌદ્ધોના સિદ્ધાંતો ઉપરની એમની તલસ્પર્શી ચર્ચાઓ.

આગમ ગ્રંથો ઉપરના જૂના ટીકા ગ્રંથો જેવા કે નિર્યુક્તિઓ, ચૂર્ણિઓ અને ભાષ્યો એ બધા જ પ્રાકૃતમાં છે.[26] ઉપર કહ્યું તે મુજબ નન્દીસૂત્ર ઉપરની જિનદાસગણિની ચૂર્ણિ ઈ. સ. ૬૭૭માં પૂર્ણ થઇ, અને તે પણ પ્રાકૃતમાં જ લખાયેલી છે. પોતાના પૂર્વગામીના લખાણનો ઉપયોગ કરી હરિભદ્રે એ જ ગ્રંથો ઉપર નવી ટીકા લખી, અને તે સંસ્કૃતમાં લખી. તેમ જ એમણે બીજા સૂત્રો ઉપરની ટીકાની બાબતમાં પણ તેમ જ કર્યું. શ્વેતાંબર સાહિત્યમાં આપણે એથી વધારે કોઈ જૂની સંસ્કૃત ટીકાના વિષયમાં જાણતા નથી એટલે કહી શકાય કે આ ફેરફાર હરિભદ્રથી જ થયો હતો, અને છેવટે એટલું તો ચોક્કસ છે જ કે આ નવી પદ્ધતિને એમણે વ્યવસ્થિત રૂપ આપ્યું હતું. જો કે પાછળથી તો એમાં પણ પ્રગતિ થયેલી છે. પ્રોફેસર લૉયમેનના કહેવા મુજબ હરિભદ્ર મૂળ ગ્રંથ ઉપર સંસ્કૃતમાં ટીકા લખતા, પરંતુ કથાનકોને અને ચૂર્ણિના અમુક ઉતારાઓને મૂળ પ્રાકૃતમાં જ રહેવા દેતા, જ્યારે શીલાંક કે જે એમના પછી એક સદી બાદ થયા તે પોતાની ટીકામાં આવાં પ્રાકૃત અવતરણો ન આપતાં તેમનો સંસ્કૃત અનુવાદ જ આપે છે.

---

૨૫ રાજશેખર (૧૩૪૯ ઈ. સ.) કહે છે કે એમણે ૧૪૮૦ પ્રકરણો રચ્યાં અને (૧૫-૧૮ સૈકાઓ વચ્ચેના) ચાર ગ્રંથકારો કહે છે કે એમણે ૧૪૪૪ પ્રકરણો રચ્યાં. જુઓ કલ્યાણવિજય 1. c., પૃ. ૧૧ b, ૧૨ a

૨૬ જુઓ પ્રોફેસર લૉયમેનનો દશવૈકાલિક સૂત્ર અને નિર્યુક્તિ વિષેનો વિદ્વત્તાભર્યો નિબંધ. ઝેડ્. ડી. એમ્. જી. વો. ૪૬ પૃ. ૫૮૧ ff.

પારિભાષિક અર્થમાં જોઇએ તો આપણે ખાસ કહેવું જોઇએ કે હરિભદ્ર પ્રકરણોના જ કર્તા છે. પદ્ધતિસર શાસ્ત્રીય રૂપમાં જે ગોઠવાયેલું હોય તે પ્રકરણ કહેવાય છે. ગમે તેમ લખાયેલા અને આડી અવળી કથાઓથી ભરપૂર એવા આગમોથી આ તદ્દન નિરાળી વસ્તુ છે. આ પ્રમાણે લખવાની પદ્ધતિ મૂળ તો બ્રાહ્મણોથી શરૂ થઈ, અને એમનું આવું કેટલુંક જૂનું સાહિત્ય જોવામાં આવે છે. ઉમાસ્વાતિનું યા ઉમાસ્વામિનું તત્ત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર એ જૈન સાહિત્યમાં આ પ્રકારનો પહેલો દાખલો છે, અને શ્વેતાંબર તેમ જ દિગંબર બંને આ ગ્રંથ પોતાનો હોવાનો દાવો કરે છે. દિગંબરો કે જેઓ સિદ્ધાંતને માનતા નથી તેઓનું જૂનું સાહિત્ય બહુધા સંસ્કૃત તેમ જ પ્રાકૃતમાં લખાયેલાં પ્રકરણોનું જ બનેલું છે; પરંતુ શ્વેતાંબરોમાં આપણે પ્રકરણોના પહેલા લેખક તરીકે સિદ્ધસેન દિવાકરને નિઃશંકપણે ગણાવી શકીએ. હરિભદ્ર કે જેઓ એમનાથી, ઉપર બતાવ્યું તેમ, વધારેમાં વધારે બે ત્રણ જમાનાજ દૂર કહી શકાય તેમણે શ્વેતાંબરોના સાહિત્યને પૂર્ણતાની ઉંચી ટોચે પહોંચાડયું, જો કે એમના ગ્રંથોમાંના કેટલાક પ્રાકૃતમાં છે, પરંતુ ઘણા ખરા તો સંસ્કૃતમાં જ છે. આમાં જૈન સંપ્રદાયના પદાર્થવર્ણન ઉપરાંત વિરોધી મતવાળા બ્રાહ્મણો તેમ જ બૌદ્ધોના સાંપ્રદાયિક ધોરણો બાબત એક ટુંકો ખ્યાલ, અને કેટલીક ચર્ચા તથા એનાં ખંડનો પણ છે. આ જાતના ગ્રંથોમાં હરિભદ્રની દિગ્નાગના ન્યાયપ્રવેશ ઉપરની ટીકા, જો કે તે એક પ્રકરણ નથી, બહુ ઉપયોગી અને મહત્ત્વની છે. જૈનોને પ્રમાણનિરૂપણનો કોઈ ગ્રંથ પુરો પાડવાના ઇરાદાથી સિદ્ધસેન દિવાકરે ન્યાયાવતાર નામનો ગ્રંથ કે જે બાહ્યરૂપે પ્રાયઃ ધર્મકીર્તિના ન્યાયબિન્દુની છાયા જણાય છે, તે રચ્યો હતો. જો કે ધર્મકીર્તિના ઉક્ત સર્વોત્કૃષ્ટ ગ્રંથની જગ્યા લેવા તે રચાયો હતો, પરંતુ નિઃસંદેહ તે તેનાથી તો ઉતરતી કક્ષાનો છે. પ્રમાણની બાબતમાં પણ જૈન સિદ્ધાંત સ્થાપવાને બદલે હરિભદ્રે દિગ્નાગ ઉપર ટીકા લખીને જૈનોને બૌદ્ધ પ્રમાણ શાસ્ત્રીઓના ગ્રંથોનું અધ્યયન કરવાની પ્રેરણા કરી. આ રીતે દેખાવમાં તો એમણે એ લોકોની ભારે મહત્તા સ્વિકારી, પરંતુ પોતાના અનેકાંતજયપતાકા ગ્રંથમાં ધર્મકીર્તિના પ્રમાણ વિષેના કેટલાક સિદ્ધાંતોનું સારૂં ખંડન પણ કર્યું. એમના પછી ઘણા વર્ષો સુધી જૈનોને બૌદ્ધોના પ્રમાણ નિરૂપણમાં રસ રહ્યો હતો. અને એને લીધે જ અત્યારે આપણે ધર્મકીર્તિનું ન્યાયબિન્દુ અને ધર્મોત્તરની ન્યાયબિન્દુ ટીકા ઉપલબ્ધ કરી શકયા છીએ. કારણ કે આ ગ્રંથોની જૂનામાં જૂની પ્રતો અને બીજા ગ્રંથ ઉપરની ટીકાનો અમુક ભાગ આપણને જૈન ભંડારોમાંથી જ મળેલા છે.

સિદ્ધસેન દિવાકર તથા હરિભદ્ર જેવા મહાન આચાર્યોના, હિંદુસ્તાનની બૌદ્ધિક સંસ્કૃતિની ઉંચી પાયરીએ શ્વેતાંબર સાહિત્યને લાવવાના પ્રયત્નોનો ઉત્કર્ષક પર્યવસાન હેમચંદ્રના જીવનથી થયું. હેમચંદ્રે પોતાના ધર્મને લગતા ખાસ ગ્રંથો તૈયાર કરવા ઉપરાંત ભારતીય મુખ્ય મુખ્ય શાસ્ત્રોને લગતા બીજા પણ કેટલાક પ્રશંસનીય ગ્રંથો રચીને તૈયાર કર્યા. આ પ્રમાણે શ્વેતાંબરો કે જે બીજાઓની સાથે સરખાવતાં અત્યાર સુધી એકલવાયા તરીકે અંધારામાં હતા તે સાતમી સદીમાં બહાર આવ્યા, અને છેવટે ગૂજરાત તથા તેના બાજુના પ્રદેશોમાં તેઓ એક જબરી લાગવગવાળી ધાર્મિક કોમ તરીકે જાહેર થયાં, અને તે એટલે સુધી કે કુમારપાલના વખતમાં એક રાજ્યધર્મ તરીકે જૈનધર્મ સ્વીકારાયો.

વળી, હરિભદ્રના ગ્રંથો તરફ નજર નાંખતા આપણે જોઇ શકીએ છીએ કે તેઓ દરેકના છેલ્લા શ્લોકમાં "વિરહ" શબ્દ વાપરે છે, જે એમના એક ચિન્હ તરીકે જાણીતો છે. જ્યાં જ્યાં આ ચિન્હનો ઉપયોગ થયો છે તે તે વિભાગો કલ્યાણવિજયે પુરેપુરા ટાંકયા છે. તેઓ દશવૈકાલિક, આવશ્યક તથા પ્રજ્ઞાપન વિગેરે સૂત્રોની ટીકાઓને, અને સમરાદિત્ય કથા, ષડ્દર્શન સમુચ્ચય તથા લોકતત્ત્વનિર્ણય

વિગેરેને અપવાદ તરીકે ગણાવે છે. સમરાદિત્ય કથાને અપવાદરૂપ ગણવી કે કેમ તે શંકાસ્પદ છે, કારણ કે ત્રણ પ્રતોમાં "વિરહ" શબ્દ છેલ્લા શ્લોકમાં છે. કિંવદંતી પ્રમાણે આ 'વિરહ' ચિન્હનું કારણ હરિભદ્રના ભાણેજ અને શિષ્યો હંસ અને પરમહંસનું મરણ છે; જો કે આ બાબત એમના પોતાના કોઇ લખાણમાં જોવામાં આવતી નથી. આ વાતમાં વખતે કંઇક સત્ય પણ હોય, પરંતુ આને જો એક બનેલી હકીકત કહી શકતા હોઇએ તો આ સામાન્ય બાબતમાંથી એક વિચિત્ર બનાવોથી ભરપૂર એવી એક લાંબી કથા ઉદ્‌ભવી, અને તેણે હરિભદ્રના જીવનને લગતી ચાલતી વાતોમાં એક મોટો ભાગ ભજવ્યો છે. પ્રભાવકચરિતમાં આપ્યું છે તે મુજબ એમાંનો એક ભાગ અહિંયા હું ટાંકુ છું.

"એમની બ્હેનના પુત્રો હંસ અને પરમહંસે કંટાળીને પોતાના બાપનું ઘર છોડયું, અને એમના શિષ્યો થઇ એમની પાસે પ્રમાણવિદ્યા શીખવા લાગ્યા. તેઓ બૌદ્ધોના કોઇ શહેરમાં એ લોકોના શાસ્ત્રો શીખવા ઇચ્છતા હતા, પરંતુ હરિભદ્રને એમાં આપત્તિ દેખાવાથી એમને ન જવા સમજાવ્યું. છતાં પણ તેઓએ હઠ પકડી અને વેશ બદલી ત્યાં ગયા અને કોઈ બૌદ્ધ ભિક્ષુ પાસે અભ્યાસ કર્યો. જૈન ધર્મ સામેના બૌદ્ધ ધર્મના વાંધાઓ બરાબર સમજી લઇ તેઓએ કેટલાક પાંનાઓ ઉપર બધાનું ખંડન લખ્યું. પવનના ઝપાટાથી એ પાનાં પેલા ભિક્ષુ પાસે ઉડીને ગયાં, તેથી એને લાગ્યું કે પોતાના શિષ્યોમાં કોઇ જૈન યતિ છે. આ શોધી કાઢવા માટે તેણે દરવાજાની વચમાં જિનની એક મૂર્તિ મૂકાવી કે જેથી દરેકને તેના ઉપર થઇને ચાલવું પડે, પરંતુ પેલા બે ભાઇઓએ મૂર્તિની છાતી ઉપર ચાકવડે યજ્ઞોપવીત ચીતર્યું એટલે પછી એના ઉપર પગ મૂકવાનો એમને કંઇ વાંધો ન રહ્યો. હવે બૌદ્ધ ભિક્ષુએ બીજી યુકિત કરી. ઉપરના કોઇ ઓરડામાં એણે બધાય શિષ્યોને પુરી એમની પાસે ચોકીયાત ગોઠવ્યા, અને જ્યારે બધા સુઇ ગયા ત્યારે તેમણે મકાનની ઉપરના ભાગ ઉપરથી માટીના ઘડા ગગડાવવા માંડયા. ઉંઘતા શિષ્યો ભયમાં એકદમ ઝબકી ઊઠયા, અને પોતપોતાના ઇષ્ટ દેવતાઓની પ્રાર્થના કરવા લાગ્યા. આ પ્રમાણે જિનની પ્રાર્થના કરતા પેલા બે ભાઇઓ પકડાઇ ગયા, પરંતુ તે બંનેએ બે છત્રીઓ લીધી અને બારીમાંથી બહાર કુદી પડયા. બીલ્કુલ ઇજા વગર તેઓ નીચે આવ્યા, અને ત્યાંથી જોસભેર નાઠા. બૌદ્ધ સૈનિકો એમની પાછળ પડયા, અને જ્યારે નજદીકમાં આવ્યા ત્યારે હંસે પોતાના ભાઇને પાસેના શહેરના સુરપાલ રાજાનું રક્ષણ લેવાની સૂચના કરી, કે જે તેને રક્ષણ આપે તેમ હતું. એ પછી હંસે પોતાના શત્રુ સાથે લઢી, ઘણાઓનો સંહાર કર્યો, અને છેવટે મરણ પામ્યો. પરમહંસ સુરપાલ પાસે રક્ષણ માટે પહોંચ્યો કે થોડા વખતમાં પાછળ પડેલા સૈનિકો ત્યાં આવી લાગ્યા, અને સુરપાલ પાસે એની માગણી કરી. પરંતુ રાજાએ પોતાને આશ્રે આવેલાને સોંપવાનો ઇન્કાર કર્યો, અને કહ્યું કે એક વાદ ગોઠવવો જોઇએ, અને એમાં એ જો હારી જાય તો પછી એ સ્થિતિમાં મને જેમ યોગ્ય લાગશે તેમ હું એની સાથે વર્તીશ. બૌદ્ધો કબુલ થયા, પરંતુ એક શરતે કે એમની સામીવાળાએ પડદા પાછળ રહેવું કે જેથી એવા હલકા માણસનું મુખ એમને જોવું ન પડે. જે વાદવિવાદ ચાલ્યો તેમાં બૌદ્ધો તરફથી એમની શાસનદેવતા હતી, કે જે અદશ્ય હતી, પરંતુ કોઇ ઘડાના મુખમાંથી બોલતી હતી. જ્યારે વિવાદ આમ થોડા દિવસ ચાલ્યો ત્યારે પરમહંસ કંટાળ્યો અને એના ગચ્છની શાસનદેવી અમ્બાને પ્રાર્થના કરી. તેણીએ તેની સામે કોણ હતું તે કહ્યું અને વિવાદ કેમ આગળ ચલાવવો તે સમજાવ્યું. આ પ્રમાણે પરમહંસે પોતાના વિરોધીઓને હરાવ્યા, અને પછી પડદો ઉંચો કરી ઘડાના ચુરેચુરા કરી નાંખી બૌદ્ધો ઉપર કપટાઇ ભર્યા વર્તનનું આળ પણ મૂકયું. રાજા બૌદ્ધોની દુષ્ટ વૃત્તિ સમજી ગયો હતો, એટલે એણે કહ્યું કે જે એને હરાવ્યા પછી પકડશે તે તેમ વગર વાંધે કરી શકશે. પછી તેણે પરમહંસને ઇશારો કર્યો, અને એ એનો અર્થ સમજી તુર્ત ત્યાંથી જેમ બને

તેમ જલ્દી નાઠો. આમ છતાં ઘોડેસવારો એની બહુ જ નજદીક આવી પહોંચ્યા અને એમાંથી એ નીચેની યુક્તિ કરી છુટ્યો. એક ધોબીને કામ કરતો જોઇ પરમહંસે એને એક ઓચીંતી ચઢાઈ આવે છે એમ કહી ત્યાંથી નાસી જવા સમજાવ્યો અને પોતે એનું કામ કરવું શરૂ કર્યું.[27] જ્યારે એક ઘોડે સ્વારે એને, કોઇને એ રસ્તે જતો જોયાનું પૂછ્યું ત્યારે એણે લાંબે દૂર જતા પહેલા ધોબીને બતાવ્યો. સૈનિકોએ ધોબીને પકડ્યો અને પાછા ફર્યા. આ પ્રમાણે પોતાની પાછળ પડેલાઓથી છુટયા પછી પરમહંસ થોડા દિવસો બાદ ચિત્રકૂટ પહોંચ્યો અને હરિભદ્રને મળ્યો. પોતે અને હંસે શું કર્યું હતું તે બધું તેણે એમને કહ્યું, અને જ્યારે પોતાના ભાઈની મૃત્યુની વાત કરી ત્યારે શોકથી એની છાતી એટલી બધી ભરાઇ ગઇ કે એ ત્યાં જ મરણ પામ્યો. આ પ્રમાણે પોતાના ભાણેજ શિષ્યોના મરણથી હરિભદ્રને બહુ જ દુઃખ લાગ્યું. એમને બૌદ્ધો પ્રત્યે અત્યંત તિરસ્કાર થયો, અને એમનો નાશ કરવાનો એમણે નિશ્ચય કર્યો. તેઓ ત્યારબાદ સુરપાલ પાસે ગયા અને એને પોતાનો ઇરાદો જણાવ્યો. રાજાને ખાત્રી હતી કે હરિભદ્ર એના વિરોધીઓને હરાવશે એટલે એણે બૌદ્ધોના શહેરમાં દૂતને મોકલાવ્યો, અને એ લોકોના ઉપરીને સમજાવી નક્કી કર્યું કે વિવાદમાં જે હારી જાય તેણે ઉકળતા તેલના તાવડામાં ડુબી જવું. બૌદ્ધોને માનીતા ક્ષણ ભંગૂરતાના સિદ્ધાંત ઉપર જ ચર્ચા ચાલી. હરિભદ્રના રદિયાઓનો જવાબ ન આપી શકવાથી સામે વાળા બૌદ્ધને નક્કી કરેલી શીક્ષા સહન કરવી પડી. બીજા કેટલાક બૌદ્ધોએ પણ વિવાદમાં તે જ શીક્ષા સહન કરી. પોતાને મદદ ન આપવા અને હરાવવા બદલ બૌદ્ધોએ તારાદેવીની ખુબ નિન્દા કરી, અને દેવીએ એમને સમજાવ્યું કે હંસ અને પરમહંસને મારી નાંખ્યા તેનું તેજ વ્યાજબી ફળ હતું.

જિનભટે જ્યારે હરિભદ્રે આ પ્રમાણે ઘાતકી વેર લીધાનું સાંભળ્યું ત્યારે એમણે બે ભિક્ષુઓ દ્વારા સમરાદિત્ય કથાના સૂચનવાળી ત્રણ ગાથાઓ એમને મોકલી. હરિભદ્ર આનો અર્થ સમજી ગયા. જેમ અગ્નિશર્માનો ક્રોધ નવ જન્મો પર્યંત ચાલ્યો તેમ એમની બૌદ્ધો તરફની શત્રુતાએ પણ એમને માટે એવું ભયંકર રૂપ પકડ્યું હોત. તેથી તેઓએ એકદમ રાજાની રજા લીધી, અને પોતાના ગુરુ પાસે ગયા. ખુબ ગ્લાનિપૂર્વક એમણે એમની માફી માગી, અને ગુરુના કહ્યા પ્રમાણે તપશ્ચર્યા કરી. અમ્બાદેવીએ એમને પોતાના દુઃખ માટે હજુ પણ શોક કરવા બદલ ઠપકો આપ્યો. પોતાની પાછળ શિષ્યોની પરંપરા તરીકે પોતે કોઇને ન મૂકી શકયા તે તો એમના કર્મને આધીન હતું. એના બદલામાં એમના પુસ્તકો તેઓનું સ્થાન લેશે. પોતાના ગુરુએ મોકલાવેલી ત્રણ ગાથાના આધારે એમણે સમરાદિત્ય કથા તૈયાર કરી, અને ૧૪૦૦ પ્રકરણો લખ્યા. તે બધામાં પોતાના ભાણેજ શિષ્યોની સ્મૃતિ માટે " વિરહ " ચિહ્ન જોવામાં આવે છે. "

પ્રભાવક ચરિતની આ કથા ટુંકામાં કાવ્યની તદ્દન નવી જ શૈલીમાં લખાયેલી છે, અને કેટલીક જગ્યાએ મૂળ પાઠ બરાબર ન સચવાયો હોવાથી કેટલુંક સમજાતું પણ નથી. એક જાતના રાસને લગતી કોઈ જાણીતી વાત ઉપરથી એ રચાયેલી લાગે છે. આને લગતી બીજી એક વાત પણ આપણને રાજ-શેખરના કથાકોષના અમુક વિભાગના આલેખન ઉપરથી મળે છે. એ વાત તે ઉપર કહી તેને લગભગ મળતી જ છે, પરંતુ કેટલીક વિસ્તૃત બાબતોમાં ફેરફાર પણ છે. કલ્યાણવિજયે એમાંનો કેટલોક ભાગ આપ્યો છે તે નીચે મુજબ છેઃ

" હંસ અને પરમહંસે જિનની મૂર્તિ ઉપર ત્રણ રેખાઓ કરી અને બૌદ્ધની મૂર્તિમાં તેનું પરિવર્તન

૨૭ આ જગ્યાએ મૂળપાઠ ભ્રષ્ટ થયેલા છે. પરિશિષ્ટ પર્વ viii, 275 ff

કર્યું. આ જોતા બૌદ્ધ ગુરુને શંકા પડી, પરંતુ તેઓએ માંદા પડયાનો ઢોંગ કરી બૌદ્ધને લગતી કંઈ નિશાની લઈ ત્યાંથી નાસી છુટયા. એ નિશાની પાછી મેળવવા રાજાએ એમની પાછળ સૈન્ય મોકલ્યું, પરંતુ હંસ અને પરમહંસ સહસ્ર યોદ્ધાઓ[૨૮] હતા એટલે એમને હરાવ્યા. ત્યારબાદ રાજાએ એક મોટું લશ્કર મોકલ્યું, અને તેની સાથે હંસ લડવામાં રહ્યો, જ્યારે પરમહંસ પેલી નીશાની લઈ ત્યાંથી નાઠો. શત્રુઓના સંખ્યાબળને લીધે હંસ હારી ગયો, અને તે લોકોએ એનું માથું કાપી લઈ રાજા પાસે રજુ કર્યું, પરંતુ ગુરુએ નિશાની મેળવવાની હઠ પકડી, તેથી સૈનિકો પરમહંસની શોધમાં પાછા નીકળ્યા, અને એને ચિત્રકૂટના દરવાજા આગળ સૂતો જોઈ એનું માથું કાપી લઈ ગયા. હરિભદ્રે જ્યારે એમના ભાણેજ શિષ્યનું શબ જોયું ત્યારે એમને ભયંકર ક્રોધ થયો. તેમણે ઉકળતા તેલના તાવડા તૈયાર કર્યા અને મંત્રવડે ૧૪૪૦ બૌદ્ધોને[૨૯] આકાશ માર્ગે આકર્ષી એમનું બલિદાન કરવા આરંભ્યું. એટલામાં એમના ગુરુએ ત્રણ ગાથાઓ મોકલી જેથી હરિભદ્રનો ક્રોધ શાંત પડ્યો, અને પોતાના વિકાર અને પાપના નિવારણ માટે એમણે ૧૪૪૦ ગ્રંથો બનાવ્યા."

જેને દંતકથાઓની પ્રગતિ વિષે કંઈ જાણવું હોય તેને આગળ કહી તે કથા અને આ કથાની સરખામણી ભલે રસપ્રદ થાય, પરંતુ ઝીણવટથી જોનાર અભ્યાસી, આ બંનેને હરિભદ્રના જીવનના ઐતિહાસિક મૂળ તરીકે બીલકુલ નહિ સ્વીકારે. હરિભદ્રને હંસ અને પરમહંસ નામના બે ભાણેજ શિષ્યો હતા, અને તેઓ બૌદ્ધ સિદ્ધાંત ચોરી છુપીથી શીખવા જતા મરણ પામ્યા તે આ દંતકથાનો મૂળ પાયો કહેવાય, અને આમાં કંઈ ખાસ ન મનાય તેવું નથી, પરંતુ એટલું પણ બહુ જ સાવચેતીપૂર્વક સ્વીકારવું જોઈએ. હરિભદ્રે સમરાઇચ્ચકહા તૈયાર કર્યા બાબતની દંતકથાને આપણે બીજા પ્રકરણમાં ચર્ચીશું.

પ્રભાવક ચરિતમાં બીજી પણ કેટલીક બાબતો નોંધવા જેવી છે. તેથી હું એ ગ્રંથના ૯ મા શૃંગના છેવટના વિભાગનો અમુક ભાગ અહિં ઉમેરૂં છું.

"હરિભદ્રે કાર્પાસિકને એના ભારત અને ઇતિહાસ તરફના મોહમાંથી દૂર કર્યો, અને ધૂર્તોની પાંચ કથાઓ[૩૦] કહી એને જૈનધર્મ તરફ આકર્ષ્યો. એમણે એના પોતાના ગ્રંથોની એક નકલ કરાવીને યતિ લોકોમાં તે વ્હેંચવાનો આદેશ કર્યો. બીજા લોકો પાસે એમણે ૮૪ મંદિરો એક પીઠ ઉપર કરાવરાવ્યા. એક જીર્ણ પ્રત ઉપરથી એમણે મહનિશીથ સૂત્ર રચ્યું. છેવટે અનશન કરી પોતાના જીવનનો અંત આણી હારિભદ્ર સ્વર્ગે ગયા."

---

૨૮ યુદ્ધપૂર્વે એમના દૃષ્ટિમેલાપક નો ઉલ્લેખ છે જેનો અર્થ સ્પષ્ટ નથી.

૨૯ આ વિગત મહાભારતમાં (અધ્યાય ૧, શ્લોક ૫૧)માં આવતા જનમેજયના સર્પસત્રનું રૂપાંતર છે.

૩૦ આમાં સ્પષ્ટ રીતે એમના પ્રાકૃત ગ્રંથ ધૂર્તાખ્યાનનો ઉલ્લેખ છે.

મહાકવિ ધનપાલ વિરચિત વિરોધા ભાસાલંકારમય

श्री महावीर स्तुति

[વિવેચક–પં. શ્રી બેચરદાસ જીવરાજ]

સંપાદકશ્રીએ મહાકવિ ધનપાલનો પરિચય આગળ આપેલો છે, મારે તો માત્ર એમની કવિત્વપૂર્ણ સ્તુતિઓ, સ્તુતિઓની ભાષાનો ચમત્કાર, પ્રાકૃતભાષાનું ગાંભીર્ય એ વિષે થોડુંક સૂચવવાનું છે.

આ સ્તુતિઓ મહાકવિ ધનપાલની છે એ તો સ્તુતિઓના અંતિમ કાવ્યમાં કવિએ પોતાનો નામનિર્દેશ ભંગ્યંતરથી કરેલો છે તે દ્વારા જાણી શકાય છે. પણ ધનપાલ નામના કવિઓ એકકરતાં વધારે થયા છે એટલે એમ સંદેહ થાય કે, આ સ્તુતિઓ કયા ધનપાલની છે? તિલકમંજરીના પ્રણેતા ધનપાલ કવિની છે કે બીજા કોઇ ધનપાલની? એ પ્રશ્નનું નિરાકરણ પણ પ્રભાવકચરિત્રના ઉલ્લેખથી થઇ જાય છે. પ્રભાવકચરિત્રના પ્રણેતા પ્રભાચંદ્રસૂરિએ મહેન્દ્રસૂરિના પ્રબંધમાં જ્યાં ધનપાલના ચરિતનું વર્ણન છે ત્યાં જણાવ્યું છે કે, શોભનમુનિના ભાઇ અને તિલકમંજરીના પ્રણેતા ધનપાલ મહાકવિએ ભગવાન મહાવીરની વિરોધાભાસ અલંકારથી અલંકૃત એવી મનોરમ સ્તુતિઓ બનાવેલી છે. આ ઉપરથી હવે એ શંકાને સ્થાન જ નથી કે 'આ સ્તુતિઓ કયા ધનપાલની છે'?

ભગવાન મહાવીરમાં સ્તુતિકારની શ્રદ્ધા અચલ અને ભક્તિ અતિશયિત છે એ તો સ્તુતિઓ વાંચતાં જ સમજાઇ જાય છે. સ્તુતિઓમાં કવિત્વ તો પદે પદે મ્હેંકી રહ્યું છે. સ્તુતિઓની ભાષા પ્રાકૃત છે, મહાકવિ ધનપાલનો પ્રાકૃતભાષા ઉપરનો અંકુશ પણ અસાધારણ દેખાય છે. કહેવાય છે કે, પ્રાકૃતભાષા જેવી કોમલ છે તેવી ગંભીર પણ છે. આ સ્તુતિઓને વાંચનાર એ હકીકતને સ્પષ્ટપણે સમજી શકે એમ છે. એકએક પ્રાકૃત શબ્દનું મૂળ સંસ્કૃત કેવી કેવી વિલક્ષણ રીતે ઉદ્ભવે છે એ તો આ સ્તુતિઓ દ્વારા કૌતૂકપૂર્વક વાંચનાર જોઇ શકશે. પ્રાકૃતભાષાના આવા વિલક્ષણ ગાંભીર્યને લીધે જ કદાચ એમ કહેવામાં આવ્યું હોય **एगस्स सद्दस्स अणंतो अत्थो।**

આ બધા શ્લેષવાળી સ્તુતિઓમાં ક્યાંય શબ્દથી અને ક્યાંય અર્થથી એમ બન્ને રીતે વિરોધાભાસને ગોઠવવામાં આવ્યો છે. એ બન્ને અલંકારોને સમજાવવાનું આ સ્થાન નથી પણ આચાર્ય હેમચંદ્રે પોતાના કાવ્યાનુશાસનમાં શ્લેષ અને વિરોધાભાસનાં જે લક્ષણો આપ્યાં છે તેને જ અહીં દર્શાવી દઉં છું:—

अर्थभेदभिन्नानां भंगाभंगाभ्यां युगपदुक्तिः श्लेषः ।

કાવ્યાનુશાસન–અ. ૫. પૃ. ૨૨૭.

अर्थानां विरोधाभासो विरोधः ।

કાવ્યાનુશાસન–અ. ૬. પૃ. ૨૬૯.

આ સ્તુતિનો અનુવાદ કરતાં અનુવાદકના ચિત્ત ઉપર મહાકવિ ધનપાલની જ્વલંત ભક્તિની ઉંડી છાપ પડી છે અને એમ પણ થઇ આવ્યું કે, જો સંતો પ્રત્યે આવી ભક્તિ પ્રકટે, હૃદયમાં ઉતરે તો આ કલિયુગમાં પણ જીવનવિકાસ વિશેષ દૂર ન રહે. શાસનદેવ એવી ભક્તિ તરફ સૌને પ્રેરો.

[પં. સુખલાલજી પુરાતત્ત્વ મંદિરને કામે પાટણ ગયેલા તે સમયે તેઓ ત્યાં રહેલા મુનિરાજો પાસે પણ ગયેલા. ત્યાં એક મુનિશ્રી પાસે એમણે પોતે કોઇ અસલ પ્રત ઉપરથી ઉતારેલું આ સ્તુતિ-

ઓનું પાનું હતું, તે પાનાને પંડિતજી પાછા ફર્યા ત્યારે સાથે લાવેલા અને એ ઉપરથી જ આ અનુવાદ થએલો છે. મુનિશ્રીએ પોતાના નામને પ્રકટવાની અનિચ્છા દર્શાવેલી તેથી તેઓનું નામ અહીં નથી આપી શકતો પણ તેમને ધન્યવાદ તો જરૂર આપું છું.]

હવે નીચે મૂળસાથે સ્તુતિઓનો અનુવાદ આપવામાં આવે છેઃ-

निम्मलणहे वि अणहे जिणाण चलणुप्पले पणमिऊण ।
वीरमविरुद्धवयणं थुणामि स-विरुद्धवयणमहं ॥ १ ॥

ભાવાર્થ—તે હું શ્રીજિનોના ચરણોને પ્રણમીને શ્રીવીરની સ્તુતિ કરૂં છું.

કેવા છે શ્રી વીરના ચરણો ?–' નિમલણહ ' યુક્ત છતાંય ' અણહ '.

કેવા છે શ્રી વીર ?–' અવિરૂદ્ધવયણ ' છતાંય ' સવિરૂદ્ધવયણ '.

સ્પષ્ટીકરણ—निम्मलणह. अणह.—' નખ ' શબ્દનું પ્રાકૃતરૂપ 'ણહ' થાય છે એથી 'નિમ્મલણહ' યુક્ત એટલે નિર્મલ નખવાળા. આવા છતાંય એ ચરણો 'અણહ' એટલે નખવિનાના (અ = નહિ, ણહ = નખ)–જે ચરણો નિર્મલ નખયુક્ત હોય તે અનખ કેમ હોય ? આ રીતે તો આ કથનમાં વિરોધ થાય છે.

તેનો પરિહાર આ પ્રમાણે કરવો–

'અણહ' એ પ્રાકૃતરૂપનાં સંસ્કૃત બે રૂપો થાય છે. અનખ અને અનઘ. 'અનખ' તો ઉપર વિરોધી અર્થમાં આવી ગયું. 'અનઘ' એટલે નિષ્પાપ–પવિત્ર (અ = નહિ, અઘ = પાપ) અર્થાત્ એ ચરણો નર્મલ નખવાળા છે અને અનઘ–નિષ્પાપ–પવિત્ર–છે આ રીતે વિરોધનો પરિહાર થયો.

अविरुद्धवयणं. सविरुद्धवयणमहं.—જેનું વચન પરસ્પર અવિરૂદ્ધ છે એવા વીર ભગવાન્. વળી કેવા ? તો કહે છે કે, એ વીર અવિરૂદ્ધ વચન છતાંય સવિરૂદ્ધ વયણ–અવિરૂદ્ધ વચન–છે. અહિં જે વીર અવિરૂદ્ધવચન હોય તે અવિરૂદ્ધવચન કેમ હોઈ શકે ? એ વિરોધ થયો.

सविरुद्धवयणमहं.—આ શબ્દનું ' અવિરૂદ્ધવચનમથમ્ ' એવું પણ સંસ્કૃત રૂપ થાય છે. એનો અર્થ સવિરૂદ્ધવચનોને મથનાર અર્થાત્ જેઓ પરસ્પર વિરૂદ્ધવચનોવાળા છે–એકાંતવાદીઓ છે–કદાગ્રહશીલ છે તેઓને મથનાર–તેવા ઉપર વિજય મેળવનાર એવા વીર સ્વામી છે. આ પક્ષમાં ' અહમ્ ' શબ્દને ' **थुणामि** ' ઉપરથી અધ્યાહૃત સમજવો.

કેટલાક સ્તુતિકારો '**सः**' અને '**अहम्**' એ બન્ને સર્વનામોને એક જ સાથે પ્રયોજે છે. સરખાવો–

" **सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश** "
ભક્તામર સ્તોત્ર. શ્લો. ૫.

' **सः** ' સર્વનામમાં પરોક્ષતાનો અને ' **अहम्** ' સર્વનામમાં પ્રત્યક્ષતાનો ભાવ છે અર્થાત્ તે એવો હું–પરોક્ષ એવો હું–અપ્રસિદ્ધ એવો હું. આ ઉપરથી એમ જણાય છે કે, '**सः**' અને '**अहम्**'નો પ્રયોગ સાથે મૂકવાથી પ્રયોગ કરનાર પોતાની જાતનો નિરભિમાનભાવ સૂચવે છે. આ સ્તોત્રનો રચયિતા ધનપાલ પણ આ ગાથામાં એકપક્ષે ' **सः** ' અને '**अहम्**' ને સાથે મૂકીને પોતાની નમ્રતા દર્શાવે છે.

अणह ઉપરથી अनख, अनघ.

सविरुध्धवयणमहं ઉપરથી सविरुध्धवचनम् अहम्
—सविरुध्धवचनमथम्

જુઓ ૮–૧–૧૮૭ તથા ૮–૧–૧૭૭ હૈમ-પ્રાકૃત વ્યાકરણ.

(અહીં જે સૂત્રો આપવામાં આવ્યાં છે તે હૈમ પ્રાકૃત વ્યાકરણના જ જાણવા.)

પ્રાકૃત સૂત્રોમાં બહુલાધિકારની પ્રધાનતા છે એ વાત કોઈ પણ પ્રાકૃતપ્રયોગની સિદ્ધિ કરતાં ભૂલવી જોઈતી નથી.

खवियकसायचउक्को वि नो कसायक्खयं कह करेसि ।
कह नट्ठनाम-गुत्तो जयगुरू जयपायडो होसि ? ॥ २ ॥

સ્તુતિકાર ધનપાળ કહે છે કે—

હે ભગવાન! તમે તો ચારે કષાયોનો—ક્રોધ માન માયા લોભનો—સમૂળ નાશ કરેલો છે. છતાંયે તમે અમારા એ કષાયોનો ક્ષય શી રીતે કરી શકો છો?

કોઇનો ક્ષય કરવા માટે ક્ષય કરનારમાં ક્રોધ વગેરેની વૃત્તિઓ હોય છે એ લોકપ્રતીત છે. એ ઉપરથી જ કવિ કહે છે કે તમે તો ક્રોધ વગેરેની વૃત્તિથી તદ્દન ઉપરત છો છતાં અમારી એ ક્રોધ વગેરેની વૃત્તિઓનો ક્ષય કરી શકો છો એ આશ્ચર્ય કહેવાય.

કલ્યાણમંદિરના પ્રણેતા સન્મતિ સિદ્ધસેન પણ એ જ કહે છે કે—

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा बत कथं किल कर्मचौराः । श्लो. १३

હે ભગવન્! તમે સૌથી પ્રથમ ક્રોધને ભગાડી મૂક્યો. તો પછી જે કર્મચૌરો શેષ રહેલા હતા તેને શી રીતે ભગાડયા? ચૌરોને ભગાડવા માટે તો ક્રોધની જરૂર છે.

આ વિરોધના સમાધાનમાં મહાકવિ ધનપાળ કહે છે કે, જેમ કેટલીક વાર ભગાડવામાં ક્રોધની વૃત્તિ અપેક્ષિત હોય છે પણ એ તો સાધારણ મનુષ્યોમાં તેમ હોય, આ મહાપુરુષ તો અસાધારણ કોટિના છે એટલે એમણે પ્રથમ ક્રોધનો ધ્વંસ કરી પોતાની વૃત્તિમાં અત્યંત શીતળતા ભરી દીધી, અને એ શીતળતા દ્વારા જ એમણે બાકીના કર્મચૌરોને નસાડી મૂક્યા. અત્યંત શીતળ હિમ પડવાથી પણ હજારો ક્ષેત્રો બળીને ભસ્મ થઈ જાય છે એ વાત કાંઈ અપ્રસિદ્ધ નથી. અર્થાત્ શીતળતા પણ એક જાતનું ધ્વંસક શસ્ત્ર છે. એ જ પ્રમાણે ભગવાને પોતાના ચારે કષાયોને ખપાવી નાખ્યા છે. છતાં જે એમના પ્રભાવથી અમારા એ કષાયો મરી જાય છે એ કાંઈ આશ્ચર્ય નથી એ તો એમની શીતળતાનો જ પ્રભાવ છે.

સરખાવો—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मंति एसधम्मो सनंतनो ॥
धम्मपद, यमकवर्ग श्लो. ५

कृतापराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥
આચાર્ય હેમચંદ્ર, સકલાર્હતસ્તોત્ર શ્લો. ૨૭

पन्नगे च सुरेन्द्रे च कौशिके पादसंस्पृशि ।
निर्विशेषमनस्काय श्री वीरस्वामिने नमः ॥
યોગશાસ્ત્ર, પ્રારંભમાં જ.

એ તો થયું પૂર્વાર્ધ હવે ઉત્તરાર્ધ લઇએ—

મહાકવિ ધનપાળ કહે છે કે,—હે ભગવન્? જેમનાં નામ અને ગોત્રો પ્રસિદ્ધ હોય છે તે જ સંસારમાં પ્રકટ પુરુષ તરીકે અને માન્ય તરીકે ઓળખાય છે. પણ તું તો નામ અને ગોત્રનો નાશ કરીને જ જગતમાં પ્રકટ થયો છે અને જગદ્ગુરુ તરીકે પૂજાય છે એ શું આશ્ચર્ય નથી?

એ આશ્ચર્યના સમાધાન માટે નીચે પ્રમાણે સમજવાનું છે.

'નામ' અને 'ગોત્ર' શબ્દના બે અર્થ છે. એક અર્થ તો જે પ્રસિદ્ધ છે તે અને બીજો અર્થ નામ એટલે નામકર્મ (નામ સંસ્કાર પોષક કર્મ) ગોત્ર એટલે ગોત્રકર્મ (ગોત્ર સંસ્કારપોષકકર્મ) અર્થાત્ જૈનયોગીઓનો એ આત્મ-અનુભવ છે કે, જ્યાં સુધી નામકર્મ અને ગોત્રકર્મનો નાશ ન થાય ત્યાં સુધી કોઇ પુરુષને પરમપૂર્ણતાએ પહોંચેલ સુપ્રસિદ્ધ કે જગદ્ગુરુ તરીકે ન માની શકાય. જૈનેતર ભાષામાં કહીએ તો નામાતીત અને ગોત્રાતીત થયા સિવાય પરમપૂર્ણતાએ પહોંચાતું નથી—અમુક નામ કે અમુક ગોત્ર એ પણ એક પ્રકારની સંકીર્ણતા છે. અર્થાત્ નામ અને ગોત્ર નષ્ટ થવાથી જ ભગવાન્ સુપ્રસિદ્ધ અને જગદ્ગુરુ છે. એમાં કાંઈ આશ્ચર્ય નથી પણ

એ તો બરાબર બંધબેસતું છે. આ હકીકતમાં રહેલી અત્યંત વિશાળતા કાંઈ અજાણી રહે એવી નથી.

આ ગાથામાં શબ્દનો વિરોધ થતો નથી. પણ ભાવનો વિરોધ થાય છે.

कह नायकुलुप्पण्णो वि नाह सुरसंपयं न पत्थेसि ।
उव्वहसि मोहनिदारओ वि कह सासयं वोहं ? ॥ ३ ॥

આ ગાથામાં પહેલી ગાથાની જેમ શબ્દચ્છલ છે.

नायकुलुप्पण्णो. सुरसंपयं—હે નાથ! જે મનુષ્ય 'નાય' (નાગ) કુલમાં જન્મેલો હોય તે તો સરસ દુગ્ધપાનની જ ઇચ્છા રાખે. પણ તું તો નાય (જ્ઞાત) કુલમાં જન્મેલો છતાં સુરસ દુગ્ધપાનને કેમ નથી ઇચ્છતો ?

અથવા **सुरसंपयं**-હે નાથ! જે મનુષ્ય નાય (જ્ઞાત) કુલમાં એટલે સુપ્રસિદ્ધ કુલમાં જન્મેલો હોય તે તો સુરસંપદાની અભ્યર્થના કરે અર્થાત્ પોતે જે પ્રસિદ્ધ કુળવટ ભોગવતો હોય તે કરતાં અધિક સમૃદ્ધિને ઇચ્છે પણ તું તો એવો છતાંય સુરસંપદાને નથી વાંછતો એ કેવું આશ્ચર્ય ?

मोहनिद्दारअ—વળી, હે નાથ! તું મોહનિદ્દારઅ (મોહનિદ્રામાં રત) છતાં ય શાશ્વત બોધને ધારણ કરી શકે છે. જે લોકો મોહનિદ્રામાં રત હોય છે તેઓને તો કશું ભાન જ નથી હોતું, પણ તું તો તેવો છતાં ય તેથી વિપરીત છે એ કેવું વિચિત્ર ?

પૂર્વાર્ધના વિરોધનો પરિહાર આ પ્રમાણે છેઃ—

सुरसं पयं नाऽह न पत्थेसि—ભગવન્! તું જ્ઞાત નામના કુલમાં જન્મેલો છે એથી જ સુરસ પદને એટલે સારા રસવાળા સ્થાનને અર્થાત્ અચળ સ્થાનને નથી ઇચ્છતો એવું નથી અર્થાત્ ઇચ્છે જ છે.

ઉત્તરાર્ધના વિરોધનો પરિહાર—

ભગવન્! તું **मोह निद्दारअ** (મોહ નિર્દારક) એટલે મોહનો નાશ કરનારો હોવાથી જ શાશ્વત બોધને ધારણ કરે છે-શાશ્વત બોધની પ્રાપ્તિ તેને જ સંભવે જેણે મોહનો નાશ કરેલો હોય.

આ ઉત્તરાર્ધ સાથે સરખાવો—

अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकाशहेतुः ।

કલ્યાણમંદિરસ્તોત્ર, શ્લો. ૩૦

अज्ञानवति-એ એક અખંડ સપ્તમ્યંત પદ અને **अज्ञान् अवति** આ બે પદ-એક કર્મ અને બીજું ક્રિયાપદ.

કલ્યાણમંદિરસ્તોત્રના આ શ્લોકમાં જેમ પદચ્છેદના વૈચિત્ર્યને લીધે જે વિરોધી અને અવિરોધી ભાવ નિષ્પન્ન થાય છે તેમ એ જ બન્ને ભાવ, આ ઉત્તરાર્દ્ધમાં '**मोहनिद्दारअ**' શબ્દનાં 'મોહનિદ્રારત' અને 'મોહનિર્દારક.' એવાં બે સંસ્કૃતરૂપો દ્વારા પ્રકટ થાય છે.

'**नाय**' ઉપરથી 'જ્ઞાત' અને 'નાગ' માટે જૂઓ ८-१-१७७ ।

न ज्ञीर्णः— ८-२—४२ ।

सुरसंपयं (सुरसं पयः)
„ (सुरसं पदम्)
„ (सुरसंपदम)

'**नाथ, न.अय,**' '**सुरसं पयं, सुरसंपयं**' આ બન્ને પદોમાં તો પદચ્છેદની વિચિત્રતા છે. पयं ઉપરથી પયઃ અને પદ માટે જૂઓ ८-१-१७७

'**मोहनिद्दारअ**' ઉપરથી મોહનિદ્રારત તથા મોહનિર્દારક એ બન્ને માટે જૂઓ ८-१-१७७, ८-२-७९

न + अय = नाथ = नाह માટે જૂઓ ८-१-१८७

अरिहसि न मुत्तिअग्घं कह तं गयरायमत्थयमणी वि ।
कह पहु ! पहुअरयणासओ वि रयणत्तयं वहसि ? ॥ ४ ॥

આ ગાથામાં પણ માત્ર શાબ્દિક વિરોધ છે.

न मुत्तिअग्घे गयरायमत्थयमणी.–હે પ્રભો! તું મોતીના અર્ઘ્યને યોગ્ય નથી. તો પછી ગજરાજના મસ્તકમાં જે ઉત્તમ મણિઓ છે તેના અર્ઘ્યને તો કેમ યોગ્ય હો અર્થાત્ ન જ હો છતાં એ યોગ્યતા તારામાં લાગે છે. એ પહેલો વિરોધ.

पभूअरयणाऽऽसओ रयणत्तयं-વળી, તું ઘણા રત્નોનો આશ્રયરૂપ છો અર્થાત તારી પાસે તો રત્નોનો ભંડાર છે છતાં તું ત્રણ જ રત્નને કેમ ધારણ કરે છે? એ બીજો વિરોધ.

नमु त्ति अग्घं, गयरायमत्थयमणी.–હે પ્રભો! તું ગતરાગમસ્તકમણિ છો એટલે વીતરાગોમાં શ્રેષ્ઠ છો માટે જ તું '**नमः**' એ જાતના અર્ઘ્યને યોગ્ય છો એ પહેલા વિરોધનો પરિહાર.

पहूअरयणासओ. रयणत्तयं–હે પ્રભો! તું પ્રભૂત-પુષ્કલ રજો એટલે પાપોનો નાશક છો માટે જ રત્નત્રયને-પરાકાષ્ઠાપ્રાપ્ત સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રનો ધારક છો. જે મહાપુરુષ સમસ્ત પાપોનો નાશક હોય તે જ ઉત્તમકોટિ પ્રાપ્ત એ સમ્યગ્દર્શનાદિને ધારણ કરી શકે છે એ વાત જૈન શાસ્ત્ર સંમત છે.

અથવા **पहूअरयणाऽऽसओ रयणत्तयं**–હે પ્રભો! તું અનેક પ્રકારની શાસ્ત્રરચનાનો આશ્રય છો અર્થાત્ સમસ્ત દ્વાદશાંગગણિપિટક તારી ત્રણ શબ્દ રચનામાંથી જ–'**उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**' એ ત્રિપદીમાંથી જ–વિસ્તર્યું છે એથી તું રચનાત્રયનો ધારક છો એ વ્યાજબી જ છે. એ બન્ને ભાવથી બીજા વિરોધનો પરિહાર.

न मुत्तिअग्घं = न मौक्तिकार्घम् ।
नमु त्ति अग्घं = नम इति अर्घम् ।
गयरायमत्थयमणी = गजराजमस्तकमणीन् ।
अथवा गतरागमस्तकमणिः ।
पहूअरयणाऽऽसओ = प्रभूतरत्नाश्रयः ।
पहूअरय-णासओ = प्रभूतरजोनाशकः ।
पहूअरयणाऽऽसओ = प्रभूतरचनाश्रयः ।
रयणत्तयं = रत्नत्रयम्
अथवा रचनात्रयम् ।

रत्न ઉપરથી **रयण** માટે જૂઓ ८-२-१०१.

ભગવાન બહુરત્નવાળા છે છતાં માત્ર ત્રણ રત્નો જ ધારણ કરે છે એ વિરોધી ભાવ સાથે સરખાવો.

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वम् ।

કલ્યાણમંદિર શ્લો. ૩૦

હે જનપાલક ભગવાન્! તું વિશ્વનો ઇશ્વર છતાં ય દુર્ગત છો એટલે તને કોઇ જાણતું પણ નથી. (દુર્ગતના બે અર્થ 'દરિદ્ર' અને 'દુર્ગમ્ય').

कह गयकलहो वि भवोअहिम्मि पोओसि समणसीहाणं ।
एणारी वि महायस ! कह देसि सुहं सुहत्थीणं ? ॥ ५ ॥

गयकलहो. समणसीहाणं. पोओ.–હે મહાયશસ્વી મહાવીર! તું હાથીના બચ્ચાં જેવો છતાંય સંસારસમુદ્રમાં ફરતા **મનસ્વી સિંહોના પોત** (બચ્ચા) જેવો છે એ કેમ બની શકે?–જે હાથીનું બચ્ચું હોય તે સિંહશાવક કેમ હોઈ શકે?–

एणारी. सुहत्थीणं.–વળી, હે ભગવન્! તું એણારિ (મૃગોનો શત્રુ અર્થાત્ સિંહ) છતાંય **સુહસ્તિઓને** સુખ કેમ આપી શકે?–સિંહ હસ્તિઓને સુખ આપે એવું તો ક્યાંય જાણ્યું નથી.

વિરોધનો પરિહાર—

गयकलहो. समणसीहाणं. पोओ–હે મહાયશવાળા વીર! તું કલહરહિત છો માટે જ ભવસમુદ્રમાં ફરતા શ્રમણસિંહોને **પોત** (વહાણ) સમાન છો અને **एणारी सुहत्थीणं** તું **એણારી** (પાપનો શત્રુ) છો માટે જ સુખાર્થિઓને સુખ આપી શકે છે.

આ ગાથામાં પણ શબ્દ ચમત્કાર જ છે.

कलह ઉપરથી કલભ અને કલહ માટે જૂઓ. ૮-૧

पोत એટલે બાળક તથા વહાણ.

" पोतः शिशौ प्रवहणे "

હૈમ-અનેકાર્થ સં० ૨, ૧૭૮.

समण ઉપરથી સમનસ્ તથા શ્રમણ

पणारि ઉપરથી पण + अरि पणारि અને

पनोऽरि पनस् + अरि = पणस् + अरि જૂઓ नो णः ૮-૧-૨૨૮

पण + अरि = अन्त्यव्यञ्जनस्य ૮-૧-૧૧

पणारि = समानानां तेन दीर्घः ૧-૨-૧

એનસ્ એટલે પાપ.

" वृजिनं कलिनमेनो दुष्कृतम् "

ધનંજયનામમાલા. ૧૩૨

सुहत्थी ઉપરથી सुहस्ती અને સુખાર્થી માટે

જૂઓ—૮-૨—૪૫ स्त=थ

૮-૧-૧૮૭ ख=ह

૮-૨—૭૯ रेफलोप

૮-૨—૮૯ 'थ'નો द्विर्भाव

परिणयवयं सुराऽऽवज्जियं पि संतावयं पि नयणसुहं ।
कह सत्तहत्थमाणं पि वहसि नवहत्थमप्पाणं ॥ ६ ॥

હે ભગવન્! તું સાત હાથના દેહને ધારણ કરે છે, એ દેહ કેવો છે? તો કહે છે કે,

सुराऽऽवज्जियं पि परिणयवयं,-એ દેહ સુરાથી (મદિરાથી) આવર્જિત છે છતાંય પરિપક્વ મતવાળો કે પરિપક્વ વચનવાળો છે. ખરી રીતે તો દારૂડિયાના દેહમાં નથી હોતું પરિપક્વ મત કે તેવું વચન. તું તો તેવો છતાંય વળી મતમાં અને વચનમાં પરિપક્વતા ધરાવે છે એ આશ્ચર્ય છે.

संतावयं-વળી, તારો દેહ સંતાપક (સંતાપ દેનારો) છતાંય નયનોને સુખરૂપ લાગે છે.-જે વસ્તુ સંતાપ દેતી હોય તે આંખને સુખરૂપ કેમ હોઇ શકે?

सत्तहत्थमाणं पि नवहत्थमप्पाणं-વળી, એ દેહ કેવો છે? તો કહે છે કે, દેહ તો સાત હાથનો છે છતાંય નવ હાથનો છે એ કેવી વાત? જે સાત હાથ ઉંચું હોય તે નવ હાથ ઉંચુ કેમ હોઇ શકે?

વિરોધનો પરિહાર—

सुराऽऽवज्जियं,-હે ભગવન્! તારી આસપાસ સુરો (દિવ્યપુરુષો, યોગીઓ, અનુભવીઓ અને જ્ઞાનીઓ) વિંટળાઇ રહેલા છે તેથી જ એમ જણાય છે કે, તારૂં મત અને વચન પરિણત-પરિપક્વ-છે અથવા હે ભગવન્! તારો આત્મા શુરાવર્જિત (શૌર્યથી આવર્જિત) છે તેથી જ તારા મતમાં અને વચનમાં પરિપક્વતા છે. (અહીં 'શુર' શબ્દ ભાવપરક-શૌર્યપરક ઘટાવવો).

संतावयं,-તથા તારો દેહ શાંતાપદ (આપત્તિઓથી મુક્ત) છે એથી જ આંખોને પ્રિય લાગે છે.

न वहत्थं अप्पाणं,-અને તું તારી જાતનો ઉપયોગ કોઇના વધ માટે નથી જ કરતો, એ પણ પ્રિયતાનું બીજું કારણ છે.

परिणयवयं ઉપરથી પરિણતમત અને પરિણતવચસ્-

संतावयं ઉપરથી સંતાપદં અને શાંતાપદમ્-

सुराऽऽवज्जियं ઉપરથી सुरा + आवर्जित

सुर + आवर्जित

शूर + आवर्जित

'शूर'નું પ્રાકૃત 'सूर' થાય છે. સ્તોત્ર કાવ્યોમાં હ્રસ્વદીર્ઘનો ભેદ નથી ગણાતો તેથી જ મૂલના હ્રસ્વ 'सुर'ને દીર્ઘ 'सूर' માનીને પણ અર્થયોજના કરેલી છે.

नवहत्थ ઉપરથી नवहस्त અને न वधार्थ.

'नवहस्त' સમજતી વખતે એ એક અખંડ પદ છે અને 'न वधार्थ' સમજતી વખતે એ બે પદ છે-એક નિષેધાર્થક 'न' અને બીજું वधार्थ.

गयगारवं पि गरुअं नयणाण महूसवं पि सिसिरमहं ।
तं विंति खीणमोहं पि कह णु पढमं गुणट्ठाणं ॥ ७ ॥

गयगारवं. गरुअं.–હે ભગવન્! તું ગતગૌરવ છતાંય તને લોકો ગુરુરૂપ કહે છે–ગુરુરૂપ તો તે જ હોઈ શકે જે ગૌરવયુક્ત હોય ત્યારે તું તો ગૌરવરહિત છતાંય ગુરુરૂપ છે એ આશ્ચર્ય છે.

महूसवं. सिसिरमहं.–વળી તું, નેત્રોની પ્રસન્નતાને માટે મધૂત્સવરૂપ છતાંય તને લોકો શિશિરોત્સવરૂપ જાણે છે–મધૂત્સવ ચૈત્ર માસમાં હોય છે અને શિશિરોત્સવ કાર્તિક-માગશર માસમાં હોય છે એથી જે મધૂત્સવરૂપ હોય તે શિશિરોત્સવરૂપ કેમ હોઇ શકે?

खीणमोहं. पढमं गुणट्ठाणं.–તું ક્ષીણુ મોહ છતાંય તને લોકો પ્રથમ ગુણુસ્થાનરૂપ સમજે છે. (જૈનપરિભાષામાં આત્મવિકાસની ચૌદ શ્રેણીઓ દર્શાવવામાં આવી છે. તેમાં પહેલી શ્રેણીનું નામ 'પ્રથમ ગુણુસ્થાન' છે અને છેલ્લી શ્રેણીનું નામ 'ક્ષીણુમોહ' છે.) તો હે ભગવન્! તું ક્ષીણુમોહનામક છેલ્લી શ્રેણીએ પહોંચેલો છે છતાંય તને લોકો પ્રથમ ગુણુસ્થાનરૂપ સમજે છે એ તો મોટો વિરોધ ગણાય.

गयगारवं. गरुअं.–'ગૌરવ' શબ્દનો એક અર્થ તો 'ગુરુત્વ' થાય છે; અને બીજો અર્થ ઋદ્ધિ, રસ અને સુખની લોલુપતા છે. આ બીજો અર્થ માત્ર જૈનપરિભાષામાં જ પ્રસિદ્ધ છે.

વિરોધીભાવ સમજતી વખતે પહેલો અર્થ યોજવાનો છે અને પરિહાર કરતી વખતે આ બીજો અર્થ ઘટાવવાનો છે. અર્થાત્–હે ભગવન્! તું 'ગતગારવ' એટલે ધનાકાંક્ષા, સ્વાદાકાંક્ષા અને સુખલોલુપતા રહિત છો માટે જ લોકો તને ગુરુરૂપે સમજે એ ઉચિત છે. વળી,

महूसवं. सिसिरमहं.–તું આંખોની પ્રસન્નતા સારૂ મહોત્સવરૂપ છો માટે જ તને શીતળરૂપ સમજવો એ અવિરૂદ્ધ વાત છે. અથવા તું મહોત્સવરૂપ છો અને જડતાનો જડમૂળથી મથક–નાશક–છો માટે જ તને મહોત્સવરૂપે અને 'શિશિરમય'રૂપે માનવો વ્યાજબી છે. તથા,

खीणमोहं. पढमं गुणट्ठाणं.–તું ક્ષીણુમોહ છો માટે જ લોકો તને ગુણુના પ્રથમસ્થાનરૂપે સમજે એ પણુ ઉચિત છે. જે ક્ષીણુમોહ–વીતરાગ–હોય તે જ ગુણોના આવસ્થાનરૂપે હોઈ શકે, બીજો એવો કેમ હોઈ શકે?

વિરોધી ભાવ સમજવા માટે **पढमं गुणट्ठाणं** ના પૂર્વોક્ત જૈનપારિભાષિક અર્થની ભાવના કરવી અને તેના પરિહાર માટે એ શબ્દ ઉપરથી જ નીકળતા સાદા ભાવને લક્ષ્યમાં રાખવો.

અથવા **नयणाण महूसवं सिसिरमहं.**–હે ભગવન! તું નયણુ એટલે નગ્ન લોકોને અર્થાત્ જે લોકો અચેલક છે–ગમે તેવો હિમ પડતો હોય તો પણુ એક ચિંથરૂં પણુ રાખતા નથી; તેવા તપસ્વીઓને માટે મહોત્સવરૂપ છો છતાં તેઓને સારૂ એક (ભયંકર) શીયાળા જેવો છો. અર્થાત્ તું એ તપસ્વીઓને સારૂ મહોત્સવરૂપ હોવાથી 'શિશિરમહરૂપ' કેમ હોઇ શકે?

વિરોધપરિહાર—

હે ભગવન્! તું 'શિશિરમહ' એટલે જડતાનો નાશક હોવાથી એ નગ્ન તપસ્વીઓને મહોત્સવરૂપે છો એ બરાબર યુક્તિયુક્ત છે.

'**गारव**'નું સંસ્કૃત ગૌરવ, તેના બે અર્થ સમજવા–એક જૈનપારિભાષિક અને બીજો વિશ્રુત.

'**नयणाण**'નું '**नयनानाम्**' એ એકરૂપ અને બીજું '**नमानाम्**' રૂપ. '**नम**' શબ્દનું '**नगिण**' અને '**नगन**' એવાં બે પ્રાકૃત રૂપો થાય છે. તેમાંના '**नगन**' ઉપરથી અર્વાચીન પ્રાકૃતમાં '**नयण**' પણુ થઈ શકે.

'**महसव**' ઉપરથી '**मधूत्सव**' અને મહોત્સવ એવાં બે રૂપો થાય છે.

'**सिसिरमह**' ઉપરથી શિશિરમહ અને શિશિરમથ "**शिशिरो जडः तुषारः शीतलः**"– અમર૦ ૧, ૧૯

અહીં 'શિશિર' શબ્દ ભાવવાચક એટલે જડતાનો સૂચક છે.

'**खीणमोह**' અને '**पढमगुणट्ठाण**' એ બન્ને શબ્દના અબ્બે અર્થ સમજવા–એ પણ એક જૈન-પારિભાષિક અને બીજો પ્રસિદ્ધ.

वरधम्मधरो वि अ-मग्गणासणो गुणनिही वि गयगव्वो ।
कह निक्कारणमित्तो वि होइ भुवणस्स अवयंसो ॥ ८ ॥

वरधम्मधरो. अ-मग्गणासणो.–હે ભગવન્! તું વરધર્મધર એટલે ઉત્તમ ધનુર્ધર છતાંય અમાર્ગણાસન છે–જે ધનુર્ધર હોય તે તો માર્ગણોનો–બાણોનો અસન–ફેંકનારો હોય, ત્યારે તું તો ઉત્તમધર્મ-ધનુષ્યનો ધરનારો છતાંય માર્ગણોનો ફેંકનાર નથી એ એક વિરોધ.

વળી, જે ઉત્તમધનુર્ધર હોય તે તો માર્ગોનો–મૃગના–હરણના સમૂહનો નાશક હોય છે ત્યારે તું તો ઉત્તમ ધનુર્ધર છતાંય માર્ગોનો નાશક નથી, એ બીજો વિરોધ.

अ मग्गणासणो—વળી, જે ઉત્તમ ધર્મનો ધારક હોય તે તો માર્ગનો પોષક હોય ત્યારે તું તો ધર્મનો ધારક છતાંય માર્ગનો નાશક છે, એ ત્રીજો વિરોધ.

गुणनिही. गयगव्वो—વળી, તું ગુણનિધિ છતાંય ગજગર્વ છે.–જે ગુણનિધિ હોય તે તો ગજવત્ ગર્વને ધરાવનાર ન હોય.

निक्कारणमित्तो अवयंसो.—તથા હે નાથ! તું જગતનો નિષ્કારણ મિત્ર છતાંય અવયંસ (અવયસ્ય) અમિત્ર છો એ કેવી વાત?

વિરોધનો પરિહાર—

वरधम्मधरो. अ-मग्गणासणो—હે ભગવન્! તું વર ધર્મધર–ઉત્તમ ધર્મનો ધારક છો એથી જ અમાર્ગનો (હિંસાદિ કુમાર્ગનો) નાશક છો–જે ઉત્તમધર્મનો ધારક હોય તે જ કુમાર્ગનો નાશ કરી શકે છે. અથવા,

वरधम्मधरो अ मग्गणासणो—હે ભગવન્! તું ઉત્તમ એવા દાનધર્મનો ધારક છો માટે જ માર્ગણોને–ભિક્ષુકોને–યાચકોને આશન–ભોજન આપનારો છો. ભગવાને પોતે વાર્ષિક દાનને સમયે અનેક આજન્મ દરિદ્રીઓનાં દારિદ્ર્ય ફેડ્યાં છે એ વાત સુવિખ્યાત છે. અને,

गयगव्वो–ગુણનો નિધિ છતાંય ગર્વિષ્ઠ નથી–ગત-ગર્વ છો. વળી,

अवयंसो–જગતનો નિષ્કારણમિત્ર છો માટે જ જગતમાં અવતંસરૂપ છો–શિખરાયમાણ છો એ બરાબર છે.

ધર્મ એટલે અહિંસાદિ ધર્મ. અથવા દાનાદિ. બીજો અર્થ ધર્મ એટલે ધનુષ.

धर्मो यमोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसु ।

હૈમ–અનેકાર્થ૦ ૨,૩૧૯

अमग्गणासणो એ પદનો પદચ્છેદ આ રીતે કરવો:—

अमग्गण + असण = બાણોનો ફેંકનારો નહિ.

अमग्ग + णासण = મૃગના સમૂહનો નાશ કરનારો નહિ.

अ मग्ग + णासण = 'અ' એટલે 'ચ' અને માર્ગનો નાશ કરનારો.

अमग्ग + णासण = અમાર્ગનો–કુમાર્ગનો–નાશક.

अ मग्गण + आसण = 'અ' એટલે 'ચ' અને માર્ગણોને યાચકોને આશન–ખવડાવનારો.

मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् ।

—પ્રભાવક ચરિત્ર

मार्गणं याचनेऽन्वेषे मार्गणस्तु शरोऽर्थिनि ।

હૈમ–અનેકાર્થ સં૦ ૩,૨૧૦

गयगव्वो ઉપરથી ગજગર્વ અને ગતગર્વ. આ પદ મૂળ પ્રતમાં શંકિત જેવું લાગે છે એથી અહીં પણ એમ જ રાખેલું છે અને એ શંકિત ઉપરથી જે અર્થ સૂઝ્યો તે દર્શાવ્યો છે.

अवयंस ઉપરથી અવયસ્ય અને અવતંસ જુઓ ૮–૧–૨૬

पावकसिणं पि चित्तं सारं पि धरेसि कह जसं सेयं ।
जिण सियवायक्खायं पि सव्वहा सामलच्छायं ॥ ९ ॥

पावकसिणं-હે જિન ! તું જે પવિત્ર અને વિચિત્ર શ્વેત યશને ધારણ કરે છે તે તો પાપકૃષ્ણ છે-યશ શ્વેત અને પવિત્ર હોય તે પાપકૃષ્ણ કેમ હોઈ શકે ? વળી,

सियवायक्खायं. सामलच्छायं—તે યશ સંસારમાં સિતવાદને નામે ખ્યાત છે છતાં શ્યામલ-કાંતિવાળો છે-જેની ખ્યાતિ સિતવાદ (શ્વેતવાદ) ને લીધે થએલી હોય તે શ્યામલકાંતિ પણ કેમ હોઈ શકે ?

પરિહાર—

पावकसिणं—હે જિન ! તું જે પવિત્ર અને વિચિત્ર શ્વેત યશને ધારણ કરે છે માટે જ તારો એ યશ પાપકપી-પાપનુંકપણ કરનારો-છે પાપોનું છેદન કરનારો છે. વળી,

सामलच्छायं--તારો એ યશ **सिअयाय**-સ્યાદ્વાદના સિદ્ધાંત-ને લીધે ખ્યાત છે એટલે તું સ્યાદ્વાદી તરીકે સુપ્રસિદ્ધ છે; અથવા તારો એ યશ સિતવાદને લીધે ખ્યાત છે એટલે શ્વેતાંબરવાદને લીધે સુપ્રસિદ્ધ છે માટે જ એ નિર્મળ કાંતિએ કરી સહિત છે.

'**कसिणं**' ઉપરથી કૃષ્ણ અને કપિન્. કૃષ્ણ= કાળું. અને કપિન્ = નાશકરનાર.

જૂઓ ૮-૨-૧૧૦.

'**सिअवाय**' ઉપરથી સિતવાદ અને સ્યાદ્વાદ જૂઓ ૮-૧-૧૭૭ તથા ૮-૨-૧૦૭.

'**सामलच्छायं**' ઉપરથી શ્યામલચ્છાય=કાળી કાંતિ વાળું. **स अमलच्छाय = सामलच्छाय** = નિર્મળ કાંતિસહિત.

કવિ શ્વેતાંબરમાર્ગી છે માટે જ ભગવાનના યશને 'સિતવાદખ્યાત' કહીને પણ વર્ણવેલો છે.

कयकिच्चं पि अकिच्चं रयतममुक्कं पि नरयतममुक्कं ।
थिरपसमं पि जणं कह अप्पसमं कुणसि कयसेवं ॥ १० ॥

कयकिच्चं अकिच्चं—હે ભગવન્ ! તું કૃતકૃત્ય છો છતાંય અકૃત્ય છો. તથા,

रयतमुक्कं न रयतममुक्कं—રજસ્તમથી મુક્ત છો છતાંય રયતમમુક્ક-રજતમથીમુક્ત-નથી,

थिरपसमं अप्पसमं—અને જે સ્થિર પ્રશમ-વાળો મનુષ્ય તારી સેવા કરે છે તેને તું अप्पसम-અપ્રશમ-પ્રશમ વિનાનો કરી મૂકે છે એ કેવું વિચિત્ર કહેવાય ?

પરિહાર—

कयकिच्चं अकिच्चं--હે ભગવન્ ! તું કૃતકૃત્ય છો માટે જ અકૃત્ય-(કૃત્ય = શત્રુ, અ = રહિત) છો-શત્રુથી રહિત છો, જેને કાંઈ કરવાપણું શેષ ન હોય તેને શત્રુ શેના હોય ? અર્થાત્ એ તો શત્રુથી રહિત જ હોય.

रयतममुक्कं नरयतममुक्कं--વળી, હે ભગવન્ ! તું રજસ્તમથી મુક્ત છો માટે જ નરકરૂપ તમથી મુક્ત છો, જે રજસ્તમથી મુક્ત હોય તે જ નરકરૂપ તમથી મુક્ત હોય.

थिरपसमं अप्पसमं--તથા, હે ભગવન્ ! જે સ્થિર પ્રશમવાળો મનુષ્ય તારી સેવા કરે છે તેને તું અપ્પસમ-આપસમો-તારા જેવો કરી શકે છે એ પણ સમુચિત છે. સરખાવોઃ-

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।

ભક્તામર. શ્લો. ૧૦

अकृत्य-કૃત્યવિનાનો-કૃત્ય = કાર્ય તથા શત્રુ.

कृत्यो विद्विषि कार्ये च ।

હૈમ-અનેકાર્થ સં० ૨,૩૪૫

न-रयतममुक्कं = ન રજસ્તમોમુક્ત તથા નરક-તમોમુક્ત.

अप्पसम = અપ્રશમ તથા આત્મસમ.

જૂઓ. ૮-૨-૫૧

संतमसंतं न करेसि निप्फलं न य वहेसि सलहं तं ।
निच्चं सकज्जलग्गो न होसि कहं तं जगपईवो ॥ ११ ॥

હે ભગવન્! તું જગત્પ્રદીપ શી રીતે હોઇ શકે? તારામાં પ્રદીપના ગુણો હોય તો તું પ્રદીપ કહેવાય તે ઉચિત છે, પણ તારામાં તો પ્રદીપનો એક પણ ગુણ નથી.

પ્રદીપ **संतमसंतं**—સંતમસનો-અંધારાનો નાશ કરે છે,

सलहं—પ્રદીપની ચારે બાજુ પતંગો નિષ્ફલપણે ઉડતા ફરે છે.

सकज्जलग्गो—પ્રદીપનો અગ્રભાગ સકજ્જલ-કાજળે કરીને હમેશા યુક્ત-હોય છે. ત્યારે તું કાંઈ અંધારાનો નાશ કરતો નથી, તારી આસપાસ પતંગો આવતા નથી અને કાજળની સાથે પણ તારો સંબંધ નથી. એથી તને જગત્પ્રદીપ કેમ કહેવો? મોટા મોટા અનુભવી પુરૂષો તો તને 'જગત્પ્રદીપ' કહીને ઓળખાવે છે પણ એમ કેમ થઈ શકે?

પરિહાર—

હે ભગવન્! તું 'જગત્પ્રદીપ' છો એ સમુચિત છે, કારણ કે, જેમ દીવો પોતાના પ્રકાશે આખા ઘરને ઉજાળે છે તેમ '**जयपईवो**'-તેં તારા પવિત્ર પ્રકાશે જગતને-સમસ્ત સંસારને પ્રદીપ-ઉજાળ્યું છે. અથવા જેમ દીવો દરેક વસ્તુને પ્રકાશમાં આણે છે તેમ તેં સમસ્ત સંસારને પ્રકાશમાં આણ્યો છે. અથવા જેમ દીવો પ્રત્યેક વસ્તુને ઓળખાવે છે તેમ તેં જગતનો પ્રત્યેક પદાર્થ સ્વરૂપથી સમજીને ઓળખાવેલો છે. અને તું જગત્પ્રદીપ છો માટે જ

सन्तमसन्तं न करेसि સત્ ને અસત્ નથી કરતો અર્થાત્ જે જેવું હોય છે તેને તું તેવું જ ઓળખાવે છે-સતને સત્ કહે છે, અસતને અસત્ કહે છે. અથવા **सान्तमसान्तम्** જે સાંત વિનાશ-શીલ હોય છે તેને તું અસાંત-અવિનાશશીલ-નથી કરતો-કહેતો. અથવા,

शान्तमशान्तम्—જે શાંત હોય છે તેને તું અશાંત નથી કરતો. વળી,

निप्फलं सलहं તું જગત્પ્રદીપ છો માટે જ નિષ્ફળ શ્લાઘા-ખોટી પ્રશંસા-ને ધારણ નથી કરતો. તથા,

सकज्जलग्गो સ્વકાર્યમાં લગ્ન છે અર્થાત્ તું તારા સ્વરૂપરમણરૂપ કાર્યમાં મગ્ન છે માટે જ તું જગત્પ્રદીપ છે એ બરાબર છે. સરખાવો—

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥

ભક્તામર. શ્લો. ૧૬.

संतमसंतं ઉપરથી **सन्तमसन्तम्, सान्तमसान्तम्, शान्तमशान्तम्** જુઓ ૮-૧-૮૪ તથા ૮-૧-૨૬૦

सलहं ઉપરથી **शलभम्** જુઓ ૮-૧-૧૮૭

श्लाघाम् જુઓ ૮-૨-૧૦૧.

सकज्जलग्गो ઉપરથી **सकज्जलाग्र** જુઓ ૮-૨-૭૯.

स्कार्यलग्न જુઓ ૮-૨-૨૪ તથા ૮-૨-૭૮

केवलनाणुव्वहणो वि दुव्वहं कह चरित्तमुव्वहसि ? ।
सचारित्तो वि कहं निचारित्ते गुणे धरसि ? ॥ १२ ॥

केवलनाणुव्वहणो-હે ભગવન્! તું કેવલ માત્ર-જ્ઞાનનો જ ધારક છતાં દુર્વહ ચારિત્રને શી રીતે ધરી શકે છે અર્થાત્ જે માત્ર જ્ઞાનનો જ ધારક હોય-શુષ્કજ્ઞાની હોય તે દુર્વહ ચારિત્રને ધારણ ન કરી શકે. તથા,

सचारित्तो निचारित्ते,-તું સચ્ચારિત્ર છતાં

એવા ગુણોને ધારણ કરે છે જે નિસ્ચારિત્ત હોય. જે સચ્ચારિત્ત હોય તે તો નિચ્ચારિત્ત ગુણોને ન જ વહે છતાં તું એમ કરે છે એ તો કૌતુક કહેવાય.

પરિહાર—

केवल-नाणुव्वहणो-હે ભગવન્! તું કેવલ જ્ઞાનનો-સંપૂર્ણ જ્ઞાનનો ધારક છો માટે જ દુર્વહ ચારિત્રને પણ વહી શકે છે-જે અપૂર્ણ જ્ઞાનવાળો હોય તે દુર્વહ-જેને બીજા ન વહી શકે એવું-ખાંડા ની ધાર જેવું-ચારિત્ર ન જ વહી શકે. અને,

सच्चारित्तो निच्चारित्ते તું સચ્ચારિત્રનો ધારક છો માટે જ નિત્ય અરિક્ત-અમોઘ એવા ગુણોનો ધારક છો-સચ્ચારિત્રીના જ બધા ગુણો અમોઘ હોય છે. અથવા તું નિત્ય અલિપ્ત એવા ગુણોનો ધારક છો-જે સચ્ચારિત્રવાળો હોય તે જ નિત્ય અલિપ્ત-નિર્મળ અમિશ્રિત રહિત ગુણોને ધરી શકે છે. અથવા તું સચ્ચારિત્રશીલ છો માટે જ તારા ગુણો નિત્યારિત્ર છે. નિત્યારિત્ર એટલે હમેશાં શત્રુથી રક્ષણ આપનાર-જેમ કવચ શત્રુના ઘાથી રક્ષા આપે છે તેમ તારા ગુણો અન્તરંગ શત્રુના ઘાથી તને રક્ષા આપે એવા છે.

केवलनाण.-૧-કેવલ = માત્ર, જ્ઞાન = જ્ઞાન અર્થાત્ એકલું જ્ઞાન જ. ૨ કેવલનાણ = સંપૂર્ણજ્ઞાન (જૈનપારિભાષિક).

'**निच्चारित्ते**' ઉપરથી **नित्य + अरिक्त**

જુઓ ૮-૨-૧૩ તથા ૮-૨-૭૭

नित्य + अलिप्त '**अलिप्त**' પદ ઘટાવતી વખતે **र** અને **ल** નું ઐક્ય સમજવાનું છે. જે શ્લેષ કાવ્ય માં સંભવી શકે છે.

नित्य + अरित्र જુઓ ૮-૨-૭૯

कह तं समारुहंतो सोहम्मसणंकुमारभावम्मि ।
ईसाणलंतयाऽऽरणअच्चुअसीलो जए होसि ॥ १३ ॥

सोहम्मसणंकुमारभावम्मि, ईसाणलंतयारणअच्चुअसीलो-હે ભગવન્! તું સૌધર્મ અને સનત્કુમાર નામક સ્વર્ગના ભાવ ઉપર ચડેલો છતાં ઈશાન, લાંતક, આરણ્ય અને અચ્યુત નામક સ્વર્ગના શીલ જેવો જગતમાં કેમ કહેવાય છે?

જૈન પરિભાષામાં પ્રથમ સ્વર્ગનું નામ સૌધર્મ છે, ઈશાન, સનત્કુમાર, લાંતક, આરણ્ય અને અચ્યુત એ બધાં પણ અનુક્રમે બીજા, ત્રીજા, છઠ્ઠા, અગીયારમા અને બારમા સ્વર્ગનાં નામો છે. હવે જે પુરુષ સૌધર્મ અને સનત્કુમાર સ્વર્ગના ભાવે ચડેલો હોય તે ઈશાન વગેરે બીજા બીજા સ્વર્ગના શીલવાળો કેમ હોઈ શકે? હે ભગવન્! તારૂં ચરિત્ર તો એથી વિપરીત છે. એ કેમ ઘટી શકે?

પરિહાર—

सोहं मसणं कुमारभावम्मि ईसाऽणलंत-यारण! अच्चुअसीलो-હે ઈર્ષ્યારૂપ અનલના અંતના કારણ! તું કુમારપણામાં રૂડી શોભાએ અથવા સુંવાળા મહેલ ઉપર ચડેલો છતાં ઈર્ષ્યાના દાહને શાંત કરનારો હોવાથી જ જગતમાં અચ્યુત-શીલયુક્ત કહેવાય છે.

सोहम्मसणंकुमारभावम्मि અથવા **सोहं मसणं कुमारभावम्मि** આમ બે રીતે પદચ્છેદ કરવાથી જુદા જુદા ભાવ નીકળે છે.

सोहं ઉપરથી **सौधम्** અથવા **शोभाम्**
मसणं ઉપરથી **मसृणम्** અથવા **मसृणाम्**

જૂઓ ૮-૧ તથા ૮-૧

ईसाणलंतयारणअच्चुअसीलो અથવા **ईसा-णलंतयारण ! अच्चुअसीलो** આમ પદવિભાગ કરવાથી જુદા જુદા ભાવ સમજી શકાય છે.

ईसा = ईर्ष्या જૂઓ ૮-૧-૪૩
अणल = अनल તથા ૮-૨-૭૮, ૭૯
अंतयारण = अन्तकारण

निव्वाणगओ जगप्पईव ! भुवणाइं कहं पयासेसि ।
सयलभुवणप्पयासो वि अप्पयासो कहं होसि ? ॥ १४ ॥

निव्वाणगओ—હે જગનાદીપક ! તું નિર્વાણ પામેલો છે છતાં ભુવનોને પ્રકાશિત કરે છે એ કઈ રીતે સમજવું ? જે દીપક નિર્વાણ પામેલો હોય (ઓલવાએલો હોય–ઠરી ગએલો હોય–બુઝાએલો હોય) તે કોઇ વસ્તુને પ્રકાશિત ન જ કરી શકે. ત્યારે તું નિર્વાણ પામેલો છતાં ભુવનોને પ્રકાશિત કરે છે એ મહત્ આશ્ચર્ય છે.

भुवणप्पयासो अप्पयासो—વળી, તું સકલ ભુવનોને પ્રકાશિત કરનારો છતાંય અપ્રયાસ–અપ્રકાશ–કેમ છે ? જે કોઈ બધાં ભુવનોને પ્રકાશિત કરી શકે તે પોતે જાતે અપ્રકાશ કેમ હોઈ શકે ?

પરિહાર—

निव्वाणगओ—હે જગતના દીપક ! તું નિર્વાણ (મુક્તિ) ને પામેલો છે માટે જ બધાં ભુવનોને પ્રકાશે છે. તથા,

अप्पयासो—તું અપ્રયાસ છે–પ્રયાસવિનાનો છે–રાગદ્વેષાદિ વૃત્તિ જન્ય પ્રયાસ વિનાનો છે માટે જ સકલ ભુવનોનો પ્રકાશક છે, એ બરાબર છે.

निव्वाण = નિર્વાણ. નિર્વાણ એટલે દીવાનું ઠરી જવું અથવા મુક્તિ.

अप्पयास ઉપરથી **अप्रकाश** અથવા **अप्रयास**

જૂઓ ૮–૧–૧૭૭

सासायणाण जंतूणं सासितो अणंतसंसारं ।
आसाइयधम्माणं अइरा कह देसि सिद्धिसुहं ॥ १५ ॥

सासायणाण—હે ભગવન્ ! જે જંતુઓ (પ્રાણીઓ–મનુષ્યો) આશાતના કરનારા હોય છે અર્થાત્ દેવ ગુરુ અને ધર્મની અવમાનના કરનારા હોય છે તેઓ સંસારમાં રખડયા જ કરે છે, એમ તેં કહેલું છે, છતાંય

आसाइयधम्माणं તું ધર્મને **आसाइय-आशातित**–કરનાર મનુષ્યને શીઘ્ર મુક્તિ આપે છે. એ કેમ થઇ શકે ? એક તરફ તારૂં વચન અને બીજી તરફ તારી પ્રવૃત્તિ એ બન્નેમાં વિરોધ આવે છે તો હે ભગવન્ ! એ એમ કેમ હોઇ શકે ?

પરિહાર—

હે ભગવાન્ ! જે મનુષ્યો આશાતના કરનારા હોય છે તેઓ તો સંસારમાં રખડ્યા જ કરે છે એમ તેં કહેલું છે તે બરાબર છે, કારણ કે, જેઓ ધર્મને **आसाइय-आसादित** કરનારા હોય છે–જેઓએ ધર્મને બરાબર પ્રાપ્ત કરેલો હોય છે તેને જ તું શીઘ્ર મુક્તિ આપે છે પણ બીજા આશાતના કરનારને નહિ.

आसाइय ઉપરથી **आशातित** એટલે આશાતના કરનાર.

आसादित એટલે પ્રાપ્ત કરનાર.

જૂઓ ૮–૧

सासायणाण-ઉપરથી **साशातनानाम्** એટલે આશાતના. સહિત=આશાતના કરનારા. તથા.

सास्वादनानाम् એ બીજું પણ પ્રાકૃત રૂપ થાય છે. **सास्वादनानाम्** એટલે સાસ્વાદન નામનું બીજું ગુણસ્થાનક–જે જીવો સાસ્વાદન ગુણસ્થાનકે વર્તનારા હોય છે તેઓ પણ સંસારમાં ફર્યા કરે છે.

જૂઓ ૮–૧–૧૭૭; ૮–૨–૭૯

समणाण वीयमूओ वि सत्तमो संजयाण कह णु तुमं ? ।
कह सत्तजिट्ठो वि नट्ठमोहो सि भुवणम्मि ? ॥ १६ ॥

---

१ મૂળ પાઠમાં 'नामितो' ને બદલે मामितो પાઠ છે પણ 'नामितो' પાઠ કરતાં 'नासितो' પાઠ બરાબર લાગે છે માટે એ પાઠને અહિં સ્વીકારેલ છે. લખેલી પ્રતમાં 'स' ને બદલે 'म' ભ્રમથવાની ભ્રમણા લાગતી છે.

२ મૂળ ગ્રંથમાં 'संजयाणु' પાઠ છે પણ 'संजयाण' ને બદલે લેખકે પ્રમાદથી 'संजयाणु' લખ્યું લાગે છે. પણ અહિં 'संजयाणु' પાઠ કરતાં 'संजयाण' પાઠ જ બરાબર બંધ બેસે છે.

समणाण बीयभूओ-હે ભગવન્! તું તો શ્રમણોમાં બીજ ભૂત-બીજ જેવો લઘુ-છે. છતાં સંયતોમાં સત્તમ-ઉત્તમ છે એ શી રીતે? જે બીજ ભૂત હોય તે સત્તમ કેમ હોઈ શકે? વળી,

सत्तजेट्ठो नट्ठमोहो-તું સક્ત પુરુષોનો વડો છે છતાં નષ્ટમોહ છે એ પણ કેમ ઘટી શકે. જે સક્ત-આસક્ત-પુરુષોનો વડો હોય તે તો અત્યંત મોહી હોય ત્યારે તું તો તેવો છતાંય નષ્ટમોહ-મોહરહિત છે, એ આશ્ચર્ય જેવું છે.

પરિહાર—

समणाण बीयभूओ-હે ભગવન્! તું શ્રમણોનો બીજભૂત છે એટલે શ્રમણમાર્ગની ઉત્પત્તિ-પ્રવૃત્તિનો કારણભૂત છે એટલે જ તું સંયત પુરુષોમાં ઉત્તમ ગણાય એ વ્યાજબી જ છે. અથવા,

समणाण बीयभूओ-તું શમ જ્ઞાનના બીજરૂપ છે એટલે શાંતિમાર્ગના કારણરૂપ છે માટે જ સંયતોમાં ઉત્તમ મનાઓ છો. અને,

सत्तजेट्ठो તું શક્ત પુરુષોમાં ઉત્તમ છે-વિશેષ શક્તિવાળા હોય તે જ મોહનો નાશ કરી શકે છે. અથવા હે ભગવન્! તું સત્ત્વે-બળે કરીને જ્યેષ્ઠ છે માટે જ નષ્ટમોહ છે, એ બરાબર છે.

समणाण-श्रमणानाम् નિર્ધારણષષ્ઠી. અથવા,
शमज्ञानबीज-કારણ અથવા બીજ જેવું લઘુ.
'सत्त' ઉપર **शक्त** અને **सत्त्व**
જૂઓ ૮-૨-૭૭ તથા ૭૯

कह पयडीअ दिसासं पि वहसि रूवं पयासिअदिसासं।
जिण! नयणामयभूअं पि कारणं दंसणवरस्स ॥ १७ ॥

कहऽपयडीअदिसासं पयासिअदिसासं-હે જિન! તું જે જાતના રૂપને ધારણ કરે છે તે અપ્રકટિતદિગાસ્ય છતાંય - પ્રકાશિતદિગાસ્ય છે-ખરી રીતે તો જે રૂપ દિશામુખોને ન પ્રકટાવતું હોય તે દિશામુખોને પ્રકાશિત કરી શકે ખરું? ન જ પ્રકાશિત કરી શકે. આમ છતાં ય તારું રૂપ તો વિચિત્ર છે. આ પૂર્વાર્ધ બરાબર સમજાતું નથી

વળી, **नयणामयभूअं कारणं दंसणवरस्स**-એ રૂપ નયનોને આમય-રોગરૂપ છતાંય ઉત્તમદૃષ્ટિનું કારણભૂત છે-જે રૂપ નેત્રોને રોગ રૂપ હોય તેજ રૂપ ઉત્તમદૃષ્ટિનું કારણ કેમ થઈ શકે? છતાંય તારું રૂપ ઉત્તમદર્શનનું કારણ છે એપણ વિચિત્ર વાત કહેવાય.

પરિહાર—

नयणामयभूअं-વળી, હે જિન! જે રૂપને તું ધારણ કરે છે તે નયનામૃત રૂપ-આંખોને અમૃત-સમાન છે માટે જ એ રૂપ ઉત્તમ દર્શનનું કારણ છે, એ બરાબર છે.

नयणामय ઉપરથી **नयन × आमय = नयनामय**
नयन × अमय = नयनामृत
જૂઓ ૮-૧-૧૭૭ તથા ૮-૧-૧૨૬

अविरामं पि जइमयं अवरिट्ठं तिहुअणस्स वि वरिट्ठं।
कह निच्छिअं पि मुणिवइअणिच्छिअं देसि सुहनिवहं ॥ १८ ॥

अविरामं जइमयं-હે મુનિપતે! તું જે સુખ-સમૂહનું પ્રદાન કરે છે તે છે તો અવિરામ પણ યતિમય છે યતિ એટલે વિરામ, યતિમય-વિરામમય. અર્થાત્ એ સુખસમૂહ અવિરામ છતાંય યતિમય કેમ સંભવી શકે? તથા,

अवरिट्ठं वरिट्ठं એ સુખસમૂહ અવરિષ્ઠ છતાં વરિષ્ઠ પણ કેમ હોઈ શકે? અવરિષ્ઠ એટલે વરિષ્ઠ નહિ. વરિષ્ઠ એટલે ઉત્તમ.

निच्छिअं अणिच्छिअं એ સુખસમૂહ નિ-શ્ચિત છતાં અનિશ્ચિત પણ કેમ હોઈ શકે? નિશ્ચિત એટલે નિશ્ચિત અને અનિશ્ચિત એટલે નિશ્ચિતથી વિપરીત.

પરિહાર—

अविरामं जइमयं-હે જિન! હે મુનિપતે! તું જે સુખસમૂહને આપે છે તે અવિરામ-અંતવિ-

નાનો છે માટે જ એ યતિમત છે યતિ-સંયમવાળા-ઓને સંમત છે. તથા,

अवरिट्ठं वरिट्ठं-એ સુખસમૂહ અવરિષ્ટ-અપરેષ્ટ-બીજાઓને-જેઓ તારા અનુયાયી નથી તેઓને-પણ ઇષ્ટ છે માટે જ તે વરિષ્ઠ છે-ઉત્તમ છે. તથા,

निच्छिअं मुणिवइअणिच्छिअं-તે સુખસમૂહ નિશ્ચિત છે. માટે જ મુનિપતિ જનોને ઇષ્ટ-પ્રિય છે. અર્થાત્ નિશ્ચિત એવા સુખસમૂહને મોટા મોટા મુનિઓ પણ ચાહે છે.

जइमय ઉપરથી **यतिमय** તથા **यतिमत**
अवरिट्ठ ઉપરથી **अवरिष्ठ** તથા **अपरेष्ट**
જૂઓ ૮-૨

निच्छिअ ઉપરથી **निश्चित**

मुणिवइ-अणिच्छिअ ઉપરથી **मुनिपते! अनिश्चित** તથા **मुनिपतिजनेच्छित।**

सामपउत्तिपसत्तो कहं सि वेअत्तइक्कसत्तू वि ।
कह णु विसंको वि य पयावइ त्ति पयडं वहसि सद्दं ? ॥ १९ ॥

सामपउत्तिपसत्तो वेअत्तइक्कसत्तू હે જિન! તું ત્રણ વેદનો-ઋગ્વેદ, યજુર્વેદ અને સામવેદ-એ ત્રણે વેદનો શત્રુ છતાંય સામની-સામવેદની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત છો. જે ત્રણ વેદનો વિરોધી હોય એ સામવેદની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત કેમ હોઇ શકે? અથવા તું ત્રણે વેદોનો-પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ અને નપુંસકવેદ-એ ત્રણે વેદનો શત્રુ છતાંય શ્યામા-સ્ત્રીની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત છો. જે પુરુષાદિ વેદ ત્રયનો શત્રુ હોય તે સ્ત્રીની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત કેમ હોઇ શકે. વળી,

विसंको पयावइ-તું વૃષથી-બળદથી અંકિત-ચિહ્નિત છો છતાં પ્રકટપણે 'પ્રજાપતિ' શી રીતે કહેવાય? જે વૃષાંકિત હોય તે તો મહાદેવ કહેવાય, પ્રજાપતિ-બ્રહ્મા ન જ કહેવાય

પરિહાર—

सामपउत्तिपसत्तो वेअत्तइक्कसत्तु-હે ભગવન્! તું પુરુષાદિ ત્રણ વેદનો શત્રુ છે માટે જ સામપ્રવૃત્તિ-શાંતિની પ્રવૃત્તિમાં પ્રસક્ત છે, એ બરાબર છે, તથા

विसंको पयावइ તું વૃષથી-ધર્મથી અંકિત છે માટે જ લોકો તને પ્રકટપણે પ્રજાપતિ-પ્રજાનો સ્વામી-કહીને ઓળખે છે.

सामपउत्ति-ઉપરથી

सामप्रवृत्ति=૧ સામવેદની પ્રવૃત્તિ
श्यामाप्रवृत्ति=૨ શ્યામાની(સ્ત્રીની)પ્રવૃત્તિ
सामप्रवृत्ति=૩ સામ-શાંતિની પ્રવૃત્તિ

वेद=લોકપ્રસિદ્ધ ત્રણ વેદ તથા જૈનપરિભાષામાં પ્રસિદ્ધ પુરુષાદિ ત્રણ વેદ.

वृष-બળદ અથવા ધર્મ

पयावइ-બ્રહ્મા અથવા પ્રજાનો સ્વામી-પાલક

कह मंसलुद्धरयणियरपरिगयं पुंडरीयरिंछोलिं ।
वारिअअसइपरिग्गह परिग्गहे कुणसि चलणाणं ॥ २० ॥

હે ભગવન્! હે પરિગ્રહના પ્રતિબંધક! અથવા હે અસતી (અસતી=ક્રૂર જીવ) પરિગ્રહના વારક? તું એવો છતાંય તારા ચરણોને મૂકવા માટે

मंसलुद्धरयणियरपरिगयं पुंडरीयरिंछोलिं—માંસલોલુપ રજનિચરથી વ્યાપ્ત એવી વાઘ અને રીંછની ટોળીનો ઉપયોગ કરે છે એ કેવું કહેવાય. અર્થાત્ જે પરિગ્રહનો નિવારક હોય વા જે ક્રૂર જંતુઓના પરિગ્રહનો પ્રતિબંધક હોય તે પોતાના કામ માટે વાઘ કે રીંછની ટોળીનો ઉપયોગ કેમ કરીને કરે?

પરિહાર—

હે ભગવન્! પરિગ્રહના વારક! તું તારા ચરણોને મૂકવા માટે પુષ્ટ અને ઉર્ધ્વ એવા રજસમૂહથી વ્યાપ્ત એવી કમળની શ્રેણીનો ઉપયોગ કરે છે તે વ્યાજબી જ છે.

સરખાવો—

येषां विकचारविन्दराज्या
ज्यायःक्रमकमलावलिं दधत्या ।
सदृशैरिति संगतं प्रशस्यं
कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः ॥

नमोस्तु, श्लोक. २

तथा

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति–
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाऽभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

ભક્તામર સ્તોત્ર, શ્લો. ૩૨

मंसलुद्ध ઉપરથી **१ मांसलुब्ध, २ मांसल उर्ध्व**
रयणियर ઉપરથી **१ रजनीचर, २ रजोनिकर**
पुंडरीय=૧ વાઘ, ૨ કમળ
रिंछोली=૧ રીંછની ઓળી–શ્રેણી, ૨ ઓળી–પંક્તિ

गयविसयगामतत्ती कहं सि नेआवि अक्खवडलस्स ।
इंदिअपहू वि कह पहू नो इंदिअनिग्गहं कुणसि ? ॥ २१ ॥

गयविसयगामतत्ती नेआवि अक्खवडलस्स હે પ્રભો ! તું ગતવિષયગ્રામતૃપ્તિ–વિષયસમૂહની તૃપ્તિથી પર છતાં ય અક્ષપટલનો–ઇંદ્રિયસમૂહનો નેતા કેમ હોઈ શકે ? તથા તું ઇંદ્રિયનો સ્વામી છતાં ય અમારી ઇંદ્રિયોનો નિગ્રહ કેમ કરી શકે ? જે વિષયસમૂહમાં તૃપ્તિ માનનારો હોય તે જ ઇંદ્રિયગણનો નેતા થઈ શકે અને જે ઇંદ્રિયોનો પોષક હોય તે જ ઇંદ્રિયનો સ્વામી પણ થઈ શકે.

પરિહાર –

अक्खवडलस्स હે પ્રભુ ! તું વિષયગ્રામથી થતી તૃપ્તિથી પર છે માટે જ **अक्खवडल**–આત્મસમૂહનો નેતા છો અને તું અમારી ઇંદ્રિયોને પણ વશ રાખી શકે છે.

अक्ख ઉપરથી અક્ષ=૧ ઇંદ્રિય, ૨ જીવ

कह सासयविन्नाणं निव्विन्नाणं भवम्मि जीवाणं ।
सिवसुक्खमकल्लाणं कल्लाणं जिण ! पणामेसि ॥ २२ ॥

सासयविन्नाणं निव्विग्नाणं–હે ભગવન્ ! જીવોને ભવ–સંસારમાં શાશ્વત વિજ્ઞાન છે છતાં ય નિર્વિજ્ઞાન કેમ છે ? શાશ્વતવિજ્ઞાન હોય ત્યાં નિર્વિજ્ઞાનતા કેમ સંભવે ?

अकल्लाणं कल्लाणं–હે જિન ! તું કલ્યાણરૂપ જે શિવસુખ આપે છે તે અકલ્યાણરૂપ કેમ હોઈ શકે ?

પરિહાર—

હે જિન ! જે જીવો સંસારમાં **निर्विण्ण** છે–ઉદાસીન છે તેઓને જ શાશ્વતવિજ્ઞાન થવાનો સંભવ છે. અને તું જે કલ્યાણરૂપ શિવસુખ આપે છે તે કલ્યાણ–સુવર્ણ–હેમવિનાનું જ હોય તે પણ બરાબર છે.

निव्विन्नाणं ઉપરથી **निर्विज्ञानम्** અથવા **निर्विण्णानाम्**

कल्याण એટલે ૧ મંગલ તથા ૨ સોનું
" कल्याणं हेम्नि मङ्गले "
હેમ–અનેકાર્થસં० ૩, ૧૮૬

नाह परिणाममहुरं विसन्नवीसामठामभूअंपि ।
कह पण्णवेसि कन्नामयं पि मुणिसम्मयं धम्मं ॥ २३ ॥

कन्नामयं मुणिसम्मयं–હે નાથ ! તું જે ધર્મને પ્રરૂપે છે તે પરિણામે મધુર છે, ખિન્ન મનવાળાઓ માટે વિસામારૂપ છે છતાં ય એ ધર્મ **कन्नामय**–કન્યામત હોઈને મુનિસમ્મત કેમ હોઈ શકે ? જે

ખેલકુદનો વિચાર નાની બાલિકાને ગમતો હોય તે મુનિજનોને કેમ ગમે ?

પરિહાર—

હે નાથ ! તું જે ધર્મને પૂર્ણપણે પ્રરુપે છે તે ધર્મ પરિણામે મધુર છે, સંસારથી કંટાળેલાને વિસામારુપ છે, અને **कर्णामृत**–કાનને અમૃત સમાન છે માટે જ મુનિજનોને સમ્મત છે.

कन्नामय–૧ કન્યામત ૨ કર્ણામૃત

सच्छंदयं सम्मुव्वह सव्वं परमप्पयं व पिच्छंतो ।
जं पुण जियसयलक्खो वि अप्पसत्तो सि तमजुत्तं ॥ २४ ॥

सच्छंदयं परमप्पयं હે ભગવન્! તું બીજા બધાને અલ્પ–પોતાથી ઊતરતા–જોતો થકો સ્વચ્છંદતાને ધારણ કરે એ તો ઠીક, પણ

जियसयलक्खो अप्पसत्तो–શતલક્ષને જિત્યા પછી તું જે અલ્પસત્ત્વ દેખાય છે એ તો અયુક્ત છે.

પરિહાર—

सच्छं दयं परमप्पयं जियसयलक्खो अप्पसत्तो—હે ભગવન્! તું બીજા બધાને તારી પોતાની પેઠે સમજતો થકો સ્વચ્છ એવી દયાને ધારણ કરે છે. અને તારા પોતાના લક્ષ્યને તેં મેળવેલું છે માટે જ તું **अप्रसक्त–अनासक्त** છે.

सच्छंदयं ઉપરથી **स्वच्छन्दताम्**
અથવા **स्वच्छां दयाम्**

परमप्पयं ઉપરથી **परमल्पकम्**
અથવા **परमात्मकम्**

सयलक्खो ઉપરથી **शतलक्षः** અથવા **स्वकलक्षः**

अप्पसत्तो ઉપરથી **अल्पसत्त्वः** અથવા **अप्रसक्तः**

अमयरसोहालिद्धा अमच्छरिद्धा असारसरहंगा ।
कह निच्चमसंखोहा जलयरवसही वि तुह वाणी ॥ २५ ॥

जलयरवसही–હે ભગવન્! તારી વાણી જલચર વસતી (જલચરોના રહેઠાણ) રુપ છતાંય

अमयर–મગર વિનાની છે,

अमच्छ–માછલાં વિનાની છે,

असारस–સારસ અને ચક્રવાકથી રહિત છે,

असंखोहा–શંખલાના ઓઘથી પણ રહિત છે.

જે જલચરવસતી રુપ હોય તેમાં તો મગરો હોય, માછલાં હોય, સારસ હોય અને શંખલા પણ હોય. ત્યારે તારી વાણી જલચરવસતી રુપ છતાં પ તેવી નથી એ કેમ સંભવે ?

પરિહાર—

जलयरवसही–હે ભગવન્! તારી વાણી જલદરવસખી–મેઘના શબ્દની સખી છે. માટેજ એ,

अमयरसोहा–અમૃતરસના સમૂહથી તરબોળ છે,

अमच्छरि–મત્સરતા–માત્સર્ય રહિત છે,

असारसरहंगा–અસાર સ્વરને તોડનારી છે, અને

असंखोहा–અસંખ્ય ઊહ–તર્કથી ભરેલી છે.

जलयरवसही–ઉપરથી १ **जलचरवसती**
२ **जलदरवसखी**

अमयरसोहालिद्धा–ઉપરથી १ **अमकरशोभाश्लिष्टा**, २ **अमृतरसौघाश्लिष्टा**

अमच्छरिद्धा–ઉપરથી १ **अमत्स्यऋद्धा**
२ **अमात्सर्यऋद्धा**

असारसरहंगा ઉપરથી १ **असारसरथाङ्गा**
२ **असारस्वरभङ्गा**

निच्चमसंखोहा ઉપરથી १ **नित्यमशङ्खौघा**
२ **नित्यमसंख्योहा**

સરખાવો—

बोधागाधं सुपदपदवीनीरपूराभिरामं,
जीवाहिंसाविरललहरीसंगमागाहदेहम् ।
चूलावेलं गुरुगममणीसंकुलं दूरपारं
सारं वीरागमजलनिधिं सादरं साधु सेवे ॥

संसारदावा स्तुति, श्लो. २

कह कीरउ पडिओसो असमो सरणागयाण जंतूणं ।
सुरसेविएण तुह जिणवरिंद ! पायारविंदेण ॥ २६ ॥

पडिओसो असमो सरणागयाण–હે જિનવરેંદ્ર! શરણાગત જંતુઓને સુરસેવિત તારા ચરણારવિંદ વડે જે અસમ–અસાધારણ પ્રતિદ્દોષ કરવામાં આવે છે, તે શી રીતે? તારા ચરણારવિંદ તો દોષોનો નાશ કરવા માટે સુપ્રસિદ્ધ છે. છતાં એનાથી આવું વિપરીત કેમ થઈ શકે?

પરિહાર—

पडिओसो अ समोसरणागयाण–હે જિનવરેંદ્ર! સમવસરણમાં આવેલા જંતુઓને સુરસેવિત તારા ચરણારવિંદ વડે જે પ્રતિતોષ થાય છે એ બરાબર જ છે–તારા ચરણો તો જંતુઓને–પ્રાણિઓને તોષ આપનારાં જ છે.

पडिओसो ઉપરથી **प्रतिद्दोष** અને **प्रतितोष** જુઓ ૮–૧–૧૭૭ તથા ૮–૧–૨૦૬

असमो सरणागयाण ઉપરથી **असमः शरणागतानाम्**

अ समोसरणागयाण ઉપરથી **च समवसरणागतानाम्**

समणजणवायसोहविभूसिअं विसमदिट्ठिवायं पि ।
दसवेआलियपयडं पि पयडिआणंतमग्गणयं ॥ २७ ॥

निज्जुत्ति जुत्तिगरुअं जइ गुरुमइरामयं पि मोहहरं ।
सारंगसंगयं गयमयं पि कह सासणं तुम्ह ॥ २८ ॥　　(युग्म)

હે ભગવન્! શાસન તારૂં આવું કેવું છે?—

निज्जुत्ति जुत्तिगरुअं નિર્યુક્તિ છતાં યુક્તિના ગૌરવાળું છે.

समणजणवाय० विसमदिट्ठि—શ્રમણ જનવાદની શોભાથી વિભૂષિત છે છતાં વિષમદષ્ટિવાળું છે–જે શાસન, શ્રમણ–જનવાદની સમતાયુક્ત મુનિજનવાદની–શોભાથી વિભૂષિત હોય તેમાં વિષમ-મમતારહિત દષ્ટિવાદની ગંધ પણ કેમ ઘટે? વળી,

गुरुमइरामयं मोहहरं એ, ગુરુમદિરામય છે છતાં મોહહર છે–જે મદિરાથી ભરેલું હોય તે તો મોહને વધારે એવું હોય છતાં તારૂં શાસન મદિરામય હોઇને પણ મોહહર કેમ થઈ શકે?

दसवेआलियपयडं पयडियाणंतमग्गणयं–વળી, એ, દશવૈકાલિકમાં પ્રકટ છે છતાં અનંતમાર્ગરૂપ નયવાદને પ્રકટ કરનારૂં છે–જે દશસંખ્ય વૈચાલિકમાં પ્રકટ હોય તે અનંતમાર્ગરૂપ નયવાદને કેમ પ્રકાશી શકે?

વળી, **सारंगसंगयं गयमयं** એ સારંગ–મૃગ સંગત છે. છતાં ગતમૃગ કેમ છે? જે સારંગસંગત હોય તે તો ગતમૃગ ન જ હોય

પરિહાર—

निज्जुत्तिजुत्ति–નિર્યુક્ત નામક વ્યાખ્યાઓના યુક્તિપૂર્ણ ગૌરવવાળું.

विसमदिट्ठिवायं હે ભગવન્! તારૂં શાસન શ્રમણજનવાદની શોભાથી યુક્ત છે, અને એમાં કઠણ એવું દષ્ટિવાદનામનું શાસ્ત્ર છે એ કાંઈ વિરોધ નથી.

दसवेआलिय–દશવૈકાલિક નામના આગમમાં તારૂં શાસન પ્રકટ છે અને એ અનંતમાર્ગરૂપ નયવાદને પ્રકટ કરનારૂં છે.

जइगुरुमइरामयं–યતિ અને ગુરુજનની બુદ્ધિને રમણ કરાવનારૂં છે માટે જ એ મોહને હરનારૂં છે, અને **सारंग**–સારાંગ–સારભૂત અંગો–અંગ ગ્રંથોથી સંગત છે માટે જ ગતમદ–મદનું નાશક છે.

समणजणवाय-श्रमणजनवाद-श्रमणसंस्कृति-સમતા પ્રધાનસંસ્કૃતિ.

विसमदिट्ठिवाय विषम-સમતારહિત દૃષ્ટિઓનો વાદ અથવા **विषम**-દુર્ગમ-કઠણ એવું દૃષ્ટિવાદ નામનું ચૌદમા બિંદુસાર પૂર્વનું એક પ્રકરણ.

सारंग-સારંગ તથા સારાંગ

"सारंगो विहगान्तरे द्विपेशबलेषु च"

હેમ-અનેકાર્થસં० ૩, ૧૨૨-૧૨૩

આ ૨૭-૨૮-શ્લોક યુગ્મરૂપ છે.

हयपच्चूहाण नमो तुह निचफुरंतनहमणिगणाणं ।
संतावयाण जणपत्थणिज्जछायाण पायाणं ॥ २९ ॥

હે ભગવન્! તારા પાદોને નમસ્કારહો. એ પાદો **हतप्रत्यूह**-વિઘ્નનાશક છે, સ્ફુરાયમાણ નખરૂપ મણિગણથી યુક્ત છે, શાંતાપદ-આપદોને શમાવનાર-છે, જનપ્રાર્થનીય છાયાવાળા છે-મનુષ્યો એ પાદોની છાયાને પ્રાર્થે-એવા એ છે.

બીજો અર્થ-સૂર્યના કિરણો પ્રત્યે ઘટે એવો છે તે આ રીતે-સૂર્યનાં કિરણોને નમસ્કાર હો જે કિરણો **हतप्रत्यूष**-પ્રભાતકાને મટાડનારા છે અર્થાત દિવસને ઉગાડનારા છે, સ્ફુરાયમાણ નભમણિ-સૂર્ય-ના કણરૂપ છે, **संतापक**-તપનારાં, તપાવનારાં છે અને એ કિરણોની કાંતિને મનુષ્યો પ્રાર્થે છે.

हयपच्चूह-	१. हतप्रत्यूह
	२. हतप्रत्यूष
नहमणिगण-	१. नखमणिगण
	२. नभोमणिकण
संतावय-	१. शान्तापद
	२. संतापक

छाया-એટલે છાંયો અથવા શોભા-કાંતિ

इय सयलसिरिनिबंधण पालय पचल तिलोअलोअस्स ।
भव मज्झ सया मज्झत्थगोअरे संथुइ गिराणं ॥ ३० ॥

હે સકલશ્રીના કારણ, હે પાલક, હે ત્રિલોક લોકમાં સમર્થ, હે મહાપૂજ્ય! અથવા હે મધ્યસ્થ! એવા હે ભગવન્! તું એ પ્રમાણે મારી સ્તુતિગિરાઓનો વિષય થા અથવા મારી સ્તુતિગિરાઓના અર્થનો વિષય થા, અર્થાત હું તારી સ્તુતિ કરનારો થાઉં, અને તું મારી સ્તુતિનો વિષય થા.

આ અંતિમકાવ્યમાં—

निबंधणपालय એ શબ્દથી કવિએ પોતાના 'धनपाल' નામની સૂચના પણ કરેલી છે.

सया मज्झत्थगोअरे ઉપરથી **सदा मध्यस्थगोचरे** અથવા **सदा महय! अर्थगोचरे**

॥ इति श्रीमहावीरविज्ञप्तिका पंडितधन्य-धनपालविरचिता संपूर्णेयं ॥

जैन तत्त्वचर्चा

(૧) સ્ત્રીજાતિને દૃષ્ટિવાદ અંગ ભણવાના નિષેધ પર એક વિચાર.

સમાનતા—*વ્યવહાર અને શાસ્ત્ર એ બન્ને સ્ત્રીજાતિને* શારીરિક અને આધ્યાત્મિક વિકાસમાં પુરુષજાતિની સમાન સિદ્ધ કરે છે. શારીરિક બળમાં પ્રો૦ રામમૂર્તિથી કુમારી તારાબાઇ કોઈપણ રીતે ઉતરે તેવી નથી. તેવી જ રીતે વક્તૃત્વકળામાં અને અનેક પ્રકારના વિચારમાં વિદુષી એનીબિસેંટ કોઈ પણ વિચારક કે વક્તા પુરુષથી ઉતરે એવા નથી. તે જ પ્રકારે કવિત્વશક્તિમાં કોઈપણ પ્રસિદ્ધ પુરુષ કરતાં શ્રીમતી સરોજિની દેવી પાછાં પડે તેવાં નથી. ખરી રીતે નિયમ એ છે કે સમાન સાધન અને અવસર મળે તો સ્ત્રી પણ પુરુષ જેટલું સામર્થ્ય પ્રાપ્ત કરી શકે છે. શ્વેતાંબર આચાર્યોએ સ્ત્રીને પુરુષની બરાબર કેવલ જ્ઞાન અને મોક્ષની અધિકારિણી અર્થાત્ શારીરિક અને આધ્યાત્મિક વિકાસની અધિકારિણી સિદ્ધ કરેલ છે. પ્રમાણ માટે જૂઓ પ્રજ્ઞાપના સૂ૦ ૭, પૃ૦ ૧૮; નંદી સૂ૦ ૨૧, પૃ૦ ૧૩૦.

આ વિષયમાં મતભેદ ધરાવનાર દિગંબર આચાર્યો સામે તેઓએ (શ્વેતાંબરાચાર્યોએ) બહુ લખ્યું છે. જુઓ નંદી–ટીકા પૃ૦ ૧૩૧,–૧૩૩; પ્રજ્ઞાપના–ટીકા પૃ૦ ૨૦–૨૨. શાસ્ત્રવાર્તા સમુચ્ચય–ટીકા પૃ૦ ૪૨૫–૪૩૦.

આલંકારિક પંડિત રાજશેખરે મધ્યસ્થભાવપૂર્વક સ્ત્રીજાતિને પુરુષજાતિની સમાન વર્ણવી છે.—

"पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः । संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते । श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रतिबुद्धाः कवयश्च ।"

કાવ્યમીમાંસા–અધ્યાય ૧૦

અર્થાત્ સ્ત્રીઓ પણ પુરુષની જેમ કવિ થઇ શકે, કારણ કે સંસ્કાર–શિક્ષા એ આત્મામાં ઊતરે છે તે કાંઇ સ્ત્રીજાતિ કે પુરુષજાતિના ભેદની અપેક્ષા–પરવા નથી કરતો. સાંભળવામાં આવે છે અને જોવામાં પણ આવે છે કે રાજપુત્રીઓ, મહામંત્રીની પુત્રીઓ, ગણિકાઓ અને નટભાર્યાઓ શાસ્ત્રજ્ઞ તેમ જ કવિ હતી અને છે.

વિરોધ—સ્ત્રીને દૃષ્ટિવાદ ભણવામાટે જે નિષેધ કરાયેલો છે તેમાં બે પ્રકારે વિરોધ આવે છે (૧) તર્કદૃષ્ટિથી, અને (૨) શાસ્ત્રની મર્યાદાથી.

(૧) એક તરફ સ્ત્રીને કેવલજ્ઞાન અને મોક્ષ સુદ્ધાંની અધિકારિણી માનવી અને બીજી તરફ દૃષ્ટિવાદની–શ્રુતજ્ઞાન વિશેષની–પણ અધિકારિણી ન માનવી–અયોગ્ય ઠરાવવી એ એવું વિરુદ્ધ જણાય છે જેમ કોઇને રત્ન સોંપીને કહેવું કે તું કોડીની રક્ષા નહિ કરી શકે.

(૨) દૃષ્ટિવાદના અધ્યયનનો નિષેધ કરવાથી શાસ્ત્રકથિત કાર્ય–કારણ મર્યાદામાં પણ બાધ આવે છે. તે આ રીતે–શુક્લધ્યાનના પહેલા બે પાદ–અંશ પ્રાપ્ત કર્યાવિના કેવલ જ્ઞાન ઉત્પન્ન નથી થતું. પૂર્વનામક શ્રુતના જ્ઞાનની પ્રાપ્તિવિના શુક્લધ્યાનના પ્રથમના બે પાદ પ્રાપ્ત નથી થતા અને પૂર્વશ્રુત એ દૃષ્ટિવાદનો એક હિસ્સો છે. આ મર્યાદાશાસ્ત્રમાં નિર્વિવાદ સ્વીકારવામાં આવી છે.

"शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः" તત્ત્વાર્થ અ૦ ૯, સૂ૦ ૨૧

આ કારણથી સ્ત્રીને દૃષ્ટિવાદના અધ્યયનની અધિકારિણી ન માની કેવલ જ્ઞાનની અધિકારિણી માનવી એ સ્પષ્ટ વિરુદ્ધ જણાય છે.

દૃષ્ટિવાદના અનધિકારના કારણોના વિષયમાં બે પક્ષ છે. પહેલો પક્ષ જિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ આદિનો. એ પક્ષ સ્ત્રીમાં તુચ્છત્વ, અભિમાન, ઇંદ્રિયચાંચલ્ય, મતિમાંદ્ય આદિ માનસિક દોષો બતાવીને તેને દૃષ્ટિવાદના અધ્યયનનો નિષેધ કરે છે. તે માટે જુઓ વિશેષા૦ ભા૦ ગા૦ ૫૫૨

બીજો પક્ષ હરિભદ્રસૂરિ આદિનો છે. આ પક્ષ અશુદ્ધિરૂપ શારીરિક દોષ બતાવીને તેનો નિષેધ કરે છે. જેમ કે—

"कथं द्वादशांगप्रतिषेधः ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात् । "

લલિતવિસ્તરા, પૃ૦ ૧૧૧

નયદૃષ્ટિથી વિરોધનો પરિહાર—દૃષ્ટિવાદના અનધિકારથી સ્ત્રીને કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવામાં જે ઉપર પ્રમાણે તત્ત્વાર્થ કથિત કાર્ય-કારણ ભાવનો વિરોધ દેખાય છે, તે વસ્તુતઃ વિરોધ નથી. કારણ કે શાસ્ત્ર સ્ત્રીમાં દૃષ્ટિવાદના અર્થની યોગ્યતા માને છે પણ ફક્ત શાબ્દિક અધ્યયનનો તે નિષેધ કરે છે.

" श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद्भावतो भावोऽविरुद्ध एव " ।

લલિતવિસ્તરા તથા એની મુનિચંદ્રસૂરિકૃત પંજીકા, પૃ૦ ૧૧૧

તપ ભાવના આદિથી જ્યારે જ્ઞાનાવરણીયનો ક્ષયોપશમ તીવ્ર થઈ જાય છે ત્યારે સ્ત્રી શાબ્દિક પાઠ સિવાય જ દૃષ્ટિવાદનું સંપૂર્ણ અર્થજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરી શકે છે અને શુક્લધ્યાનના બે પાદ પ્રાપ્ત કરીને કેવલજ્ઞાન પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે.

"यदि च शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावादाद्यशुक्लध्यानद्वयप्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः । अध्ययनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात, इति विभाव्यते, तदा निर्ग्रन्थीनामप्येवं द्वितयसंभवे दोषाभावात् ।" शास्त्रवार्तास० पृ० ४२६

ગુરુમુખથી શાબ્દિક અધ્યયન કર્યાવિના અર્થબોધ ન થાય એવો નિયમ નથી, કારણ કે અનેક માણસો એવા દેખાય છે કે જેઓ કોઇપણ માણસ પાસે ભણ્યાવિના જ મનન અને ચિંતનદ્વારા પોતાના ઇષ્ટ વિષયનું ઉંડું જ્ઞાન મેળવી શકે છે.

હવે રહ્યો શાબ્દિક અધ્યયનનો નિષેધ. તે નિષેધ આ પ્રશ્ન ઉપર અનેક તર્ક-વિતર્ક ઉત્પન્ન કરે છે. જેમ કે જે મનુષ્યની અંદર અર્થજ્ઞાનની યોગ્યતા માની શકાય, તે મનુષ્યને શાબ્દિક અધ્યયન માટે અયોગ્ય માનવો એ કેટલું સંગત છે ? શબ્દ એ તો અર્થજ્ઞાનનું સાધન માત્ર છે. તપ-ભાવના આદિ અન્ય-સાધનોથી જે માણસ અર્થજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરી શકે છે તે, તે જ્ઞાનને શબ્દદ્વારા સંપાદન કરવામાં અયોગ્ય છે એમ કહેવું તે ક્યાં સુધી વ્યાજબી છે ? શાબ્દિક અધ્યયનના નિષેધ માટે જે તુચ્છપણું, અભિમાન આદિ માનસિક દોષ દેખાડવામાં આવ્યા છે. તે શું પુરુષજાતિમાં નથી હોતા ? જો વિશિષ્ટ પુરુષોમાં તે દોષોનો અભાવ હોવાથી પુરુષસામાન્ય માટે શાબ્દિક અધ્યયનનો નિષેધ ન કર્યો તો શું પુરુષ-સમાન વિશિષ્ટ સ્ત્રીઓનો સંભવ નથી ? અને જો અસંભવ હોય તો સ્ત્રી મોક્ષનું વર્ણન પણ કેમ સંભવી શકે ? શાબ્દિક અધ્યયન માટે જે શારીરિક દોષોની સંભાવના કરી છે તે પણ શું બધી સ્ત્રીઓને લાગુ પડે છે ? જો કેટલીક સ્ત્રીઓમાં લાગુ પડતી હોય તો શું કેટલાક પુરુષોમાં પણ શારીરિક અશુદ્ધિની સંભાવના નથી ? આવી દશામાં પુરુષજાતિને છોડી સ્ત્રીજાતિ માટે શાબ્દિક અધ્યયનનો નિષેધ શા માટે કરાયો ? આ તર્કોના સંબંધમાં સંક્ષેપમાં એટલું જ કહેવાનું છે, કે માનસિક અથવા

શારીરિક દોષ બતાવીને શાબ્દિક અધ્યયનનો જે નિષેધ કરાયેલો છે તે પ્રાયિક જણાય છે. અર્થાત્ વિશિષ્ટ સ્ત્રીઓ માટે અધ્યયનનો નિષેધ નથી. આના સમર્થનમાં એમ કહી શકાય કે જો વિશિષ્ટ સ્ત્રીઓ દૃષ્ટિવાદનું અર્થજ્ઞાન, વીતરાગભાવ, કેવલજ્ઞાન અને મોક્ષને પ્રાપ્ત કરવામાં સમર્થ થાય છે તો પછી તેનામાં માનસિકદોષની સંભાવના પણ કેમ હોઈ શકે? તેમ જ વૃદ્ધ, અપ્રમાદી અને પરમપવિત્ર આચારવાળી સ્ત્રીઓમાં શારીરિક અશુદ્ધિ પણ કેમ બતાવી શકાય? જેને દૃષ્ટિવાદના અધ્યયન માટે યોગ્ય માન્યા તે પુરુષો પણ—જેવા કે સ્થૂલિભદ્ર, દુર્બલિકા પુષ્યમિત્ર આદિ તુચ્છત્વ સ્મૃતિદોષ વિગેરે કારણોથી દૃષ્ટિવાદની રક્ષા ન કરી શક્યા.

"तेण चिंतियं भगिणीणं इड्ढिं दरिसेमि त्ति सीहरूवं विउव्वइ।"

આવશ્યકવૃત્તિ પૃ० ૬૯૮–૧.

"ततो आयरिएहिं दुब्बलियपुस्समित्तो तस्स वायणारिओ दिण्णो ततो सो कइवि दिवसे वायणं दाऊण आयरियमुवट्ठितो भणइ–मम वायणं देंतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहियं, अतो मम अज्झरंतस्स नवमं पुव्वं नासिहि त्ति। ताहे आयरिया चिंतेति–जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ठं चेव।"

આવશ્યકવૃત્તિ પૃ० ૩૦૮

આવી વસ્તુસ્થિતિ હોવા છતાં પણ સ્ત્રીઓ માટે જ ભણવાનો નિષેધ કેમ કરાયો? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર બે રીતે આપી શકાય—(૧) સમાન સામગ્રી મળવા છતાં પણ પુરુષોની સરખામણીમાં પુરુષો કરતાં સ્ત્રીઓનું થોડી સંખ્યામાં તૈયાર થવું, અને (૨) બીજી ઐતિહાસિક પરિસ્થિતિ.

(૧) જે પશ્ચિમ વિગેરે દેશોમાં સ્ત્રીઓને ભણવા વિગેરેની સામગ્રી પુરુષો સમાન પ્રાપ્ત થાય છે ત્યાંનો ઇતિહાસ જોવાથી આ જાણી શકાય છે કે સ્ત્રીઓ પુરુષોની તુલ્ય થઈ શકે છે. પરંતુ યોગ્ય વ્યક્તિઓની સંખ્યા સ્ત્રીજાતિની અપેક્ષાએ પુરુષજાતિમાં વધારે થાય છે.

(૨) દિગંબર આચાર્ય કુંદકુંદ સરખાએ પણ શારીરિક અને માનસિક દોષોના કારણથી સ્ત્રીજાતિને દીક્ષા માટે અયોગ્ય ઠરાવી છે.

लिंगम्मि य इत्थीणं, थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि।
भणिओ सुहमो काओ, तासं कह होइ पव्वज्जा॥

ષટ્પાહુડ–સૂત્રપાહુડ ગા० ૨૪–૨૫

અને વૈદિક વિદ્વાનોએ શારીરિક શુદ્ધિને અગ્રસ્થાન આપીને સ્ત્રી અને શુદ્ર જાતિને વેદના અધ્યયન માટે અયોગ્ય ઠરાવી, "**स्त्री शुद्रौ नाधीयाताम्**" એમ કહ્યું છે.

આ વિરોધી સંપ્રદાયોની એટલી બધી અસર પડી કે તેના લીધે સ્ત્રીજાતિની યોગ્યતા પુરુષ સમાન માનનાર શ્વેતાંબર આચાર્યો પણ તેને વિશેષ અધ્યયન માટે અયોગ્ય બતાવવા લાગ્યા હશે.

અગીયાર અંગ આદિ ભણાવવાનો અધિકાર માનતા છતાં પણ ફક્ત બારમા અંગના નિષેધનું કારણ એ પણ લાગે છે કે વ્યવહારમાં દૃષ્ટિવાદનું મહત્ત્વ સચવાય. તે કાળમાં વિશેષપણે શારીરિક શુદ્ધિપૂર્વક ભણવામાં વેદ આદિ ગ્રંથોની મહત્તા સમજાતી હતી. દૃષ્ટિવાદ બધા અંગોમાં પ્રધાન હતું એટલા

માટે વ્યવહાર દૃષ્ટિથી તેની મહત્તા બતાવવા માટે બીજા મોટા પાડોશી સમાજનું અનુકરણ થવું સ્વાભાવિક છે. આ કારણથી પારમાર્થિક દૃષ્ટિએ સ્ત્રીને સંપુર્ણ રીતે યોગ્ય માનતા છતાં પણ આચાર્યોએ વ્યાવહારિક દૃષ્ટિથી શારીરિક અશુદ્ધિનો વિચાર કરી તેને ફક્ત શાબ્દિક અધ્યયન માટે અયોગ્ય બતાવી હોય એમ લાગે છે.

ભગવાન ગૌતમબુદ્ધે સ્ત્રીજાતિને ભિક્ષુપદ માટે અયોગ્ય ઠરાવી હતી પરંતુ ભગવાન મહાવીરે તો પ્રથમથી જ તેને પુરુષની સમાન ભિક્ષુપદની અધિકારિણી ઠરાવી હતી. આ કારણથી જૈન શાસનમાં ચતુર્વિધ સંઘ પ્રથમથી જ સ્થાપિત છે અને સાધુ તથા શ્રાવકોની અપેક્ષાએ સાધ્વિઓ તથા શ્રાવિકાઓની સંખ્યા આરંભથી જ અધિક રહેલી છે. પરંતુ પોતાના પ્રધાન શિષ્ય આનંદના આગ્રહથી ગૌતમબુદ્ધે જ્યારે સ્ત્રીઓને ભિક્ષુપદ આપ્યું ત્યારે તેની સંખ્યા ધીમે ધીમે ઘણી વધી અને કેટલીક શતાબ્દિઓ પછી અશિક્ષા કુપ્રબંધ આદિ કેટલાંક કારણોથી તેમાંથી ઘણી સ્ત્રીઓ આચારભ્રષ્ટ થઈ જેને લીધે બૌદ્ધ સંઘ એક પ્રકારે દૂષિત મનાવા લાગ્યો. સંભવ છે કે આ પરિસ્થિતિની જૈનો ઉપર પણ કાંઈ અસર પડી હોય, જેથી દિગંબર આચાર્યોએ તો સ્ત્રીઓને ભિક્ષુપદ માટે પણ અયોગ્ય ઠરાવી અને શ્વેતાંબર આચાર્યોએ એ પ્રમાણે નહીં કરતાં સ્ત્રીજાતિનો ઉચ્ચ અધિકાર કાયમ રાખીને પણ તેમાં દુર્બળતા ઇંદ્રિયચપલતા આદિ દોષો વિશેષરૂપથી બતાવ્યા. કેમ કે સહચર સમાજોના વ્યવહારોનો એકબીજા પર પ્રભાવ પડે તે અનિવાર્ય છે.

–પંડિત સુખલાલજી

(૨) અવ્યવહારરાશિ ને વ્યવહારરાશિની કલ્પના

આ લેખ લખવાનો ઉદ્દેશમાત્ર એક જ છે, ને તે એ છે કે અવ્યવહારરાશિ ને વ્યવહારરાશિની કલ્પના માત્ર કલ્પિત છે કે તથ્યભૂત છે?

(૧) જૈનદર્શન કથનાનુસાર જીવોની અનંતાનંતતા છે, ને તે અવ્યહાર ને વ્યવહારરાશિ એમ બે વર્ગમાં વ્હેંચાએલી છે. અવ્યવહારરાશિ સ્થાન જેને કહેવામાં આવે છે, તેમાં માત્ર સૂક્ષ્મ નૈગોદિક જીવો છે, ને તે સિવાય જે જીવો છે, તે સર્વે વ્યવહારરાશિમાં ગણાય છે.

(૨) એ અવ્યવહારરાશિસ્થિત જીવો પોતાનું અવ્યવહારરાશિસ્થાન ક્યારે પણ છોડતા નથી. તેઓના ઉપર આજસુધીમાં અનંત ઉત્સર્પિણીઓ ને અવસર્પિણીઓ ચાલી ગઈ, પણ તેઓ હજી તે સ્થાન (સૂક્ષ્મ નૈગોદિકસ્થિતિ)માં રહ્યા છે. હવે પણ તેઓના ઉપર તેટલી કાલચક્રતા જશે, તો પણ તે જીવો પોતાના સ્થાનમાંથી ખસવાના નથી.

(૩) વ્યવહારરાશિગત જીવો ભલે એકેન્દ્રિયમાંથી માંડી પંચેન્દ્રિય સુધી અથવા નારકથી માંડી દેવ સુધી ગત્યાગતિ કરે; ને ત્યાંથી અનુક્રમે કદાચ વિકાસ પામતા મુક્ત સ્થાનમાં જાય. પણ આ અવ્યવહારરાશિસ્થ જીવો પંચેન્દ્રિયત્વ તો શું પણ સ્થૂલ એકેન્દ્રિયત્વને પામવાને પણ ક્યારેય સમર્થ થવાના નહિ.

(૪) આમ હોવામાં તે જીવોને પોતાના કર્મની પ્રધાનતા છે. એટલે આટલી છેક છેલ્લી અધઃસ્થિતિ પામવામાં તે જીવોને મિથ્યાત્વ (અવિદ્યા–અજ્ઞાન) અવિરત્યાદિ આશ્રવોની તીવ્રતા, ને આર્ત રૌદ્રાદિ મલિન–નિકૃષ્ટમાં નિકૃષ્ટ પરિણામોની ઉગ્રતા છે. તે જીવો પોતાના મૂળ (નૈગોદિક) સ્થાનમાંથી આગળ વધવા જાય, પણ, જેમ કોઈ જલાશયમાં રહેલી માંછલીઓને ઠંડીમાં બરફરૂપ આવરણો માથું બહાર કહાડવા દેતા નથી, તેમ તેમનાં પ્રખર–ગાઢ ચીકણા મિથ્યાત્વાદિ અગ્રાહ્યકલવત્ આવરણો બહાર ઉપરની કોટિમાં તેમને આવવાં દેતા નથી.

(૫) આ પ્રમાણે આ અવ્યવહાર ને વ્યવહાર રાશિઘટક ઘટના જૈનદર્શનમાં જણાય છે. આ ઘટના ગમે તે પુસ્તક ઉપરથી ઉપસ્થિત થઈ હોય, વા, ગમે તે પરંપરા પરિચિત વિચારો ઉપરથી થઈ હોય. આ આગમ સમ્મત છે કે કેમ એ તપાસીએ તે પહેલા કોઈપણ ઈસમ એમ પ્રશ્ન કરશે કે આ અવ્યવહાર ને વ્યવહારરાશિ ઘટના શા આધારે થઈ? એમ હોવામાં શું પ્રમાણ છે? એવો શો નિયમ કે જીવ કેદી કેદખાનામાં પોતાની શિક્ષા પૂરી કર્યા પછી પણ કેદખાનામાંથી ન જ છૂટી શકે? એટલે કે પ્રકૃતિબંધ, રસબંધ વિગેરે બંધસ્વરૂપને-બદલામાં દુઃખરૂપ સંપૂર્ણ ફલને-વેદ્યા પછી શાને વિકાસ (ઉન્નત કોટિ)માં ન આવી શકે?

(૬) મતલબ એ છે કે કોઈપણ જૈનદર્શનના સારામાં સારા અભ્યાસીને આ વાર્તા વિચાર કરતાં શૃંખલાબદ્ધ છે એમ તો નહિ જ લાગે. ત્યારે એમ કહેવામાં આવશે કે ભવ્ય ને અભવ્યની ઘટના જેમ ઘટાડવામાં આવી છે તેમ આ પણ છે. ઉત્તર એ થશે કે તે ઘટના આગમસિદ્ધ છે, પણ આગમ વિરૂદ્ધ નથી. પણ આ ઘટના આગમોક્ત હોય તેમ જણાતી નથી. ઉલટી આગમ વિરૂદ્ધ છે એમ આગમ વિચારતાં લાગશે. આગમમાં અવ્યવહાર ને વ્યવહાર રાશિ એવા શબ્દો જણાતા નથી, તેમ આ ઘટના જે બતાવી, તે પણ જણાતી નથી.

(૭) આગમ (શાસ્ત્ર)કારો ઉપર્યુક્ત વિચારોથી તદ્દન જુદા પડી જાય છે. કારણ એ છે કે, જીવો પોતાની ક્રિયાથી જ ઉપર જાય છે, ને નીચે આવે છે. જે ક્રિયાના બલથી જીવ જે સ્થાન (ગતિ)માં જાય છે, ત્યાં તે ક્રિયાનું બલ (ભોગવવારૂપ ફલ) પૂર્ણ થતાં તે ત્યાંથી છૂટી જાય છે. અર્થાત્ નિગોદ કે એવી એક પણ કોઈ ગતિ નથી, કે જે જીવનું અનાદિત્વ કે અનંતત્વ રાખી શકતી હોય, સંસારસ્થિતિએ જીવનું ભલે અનાદિત્વ ઠરતું હોય, પણ કોઈ ગતિ-સ્થિતિએ જીવનું અનાદિત્વ સાબિત થતું નથી. આમ જો ન માનીએ તો જુઓ પ્રજ્ઞાપના સૂત્ર (ઉપાંગ પૈકી ચોથું ઉપાંગ).

(૮) ૧૮માં કાયસ્થિતિપદમાં તે સૂત્ર કહે છે કે-જીવ, સૂક્ષ્મ નિગોદમાં જઘન્યમાં જઘન્ય (ઓછામાં ઓછો) રહે તો એક અંતર્મુહૂર્ત, ને ઉત્કૃષ્ટમાં ઉત્કૃષ્ટ અસંખ્ય ઉત્સર્પિણી ને અવસર્પિણી રહે છે. પછી જરૂર નિકલી જીવ સ્થાનાંતર કરે છે. એમ નહિ તો જુઓ વ્યાખ્યા પ્રજ્ઞપ્તિ (આગમોદય સમિતિ) શતક ૧૨ મું, ઉદ્દેશ ૭ મો. સૂત્ર *૪૫૭-૪૫૮, પત્ર ૫૭૯-૫૮૦

'આખા આ વિશાલ લોકમાં એક પરમાણુ પુદ્ગલ માત્ર રહી શકે તેવો એક સૂક્ષ્મ પ્રદેશ ખાલી રહી શક્યો નથી કે જેમાં આ જીવે જન્મ ને મૃત્યુની પ્રવૃત્તિ ન કરી હોય. વાડામાં રહેલું ઘેટાનું ટોળું જેમ વાડાના નાનામાં નાના દરેક ભાગને પોતાના શરીરના દરેક દરેક અશુચિ પદાર્થોથી, ને દરેક દરેક શરીરના અવયવોથી સ્પર્શ્યા વિના બાકી રાખતું નથી, તેમ આ જીવે લોકના કોઈપણ પ્રદેશને સ્પર્શ્યા વિના બાકી રાખ્યો નથી.' (સૂત્ર ૪૫૭) વળી, જુઓ-

'રત્નપ્રભા પૃથ્વીમાં ત્રીશ લક્ષ નરકાવાસ છે. તેમાં દરેકમાં પૃથ્વીપણે યાવત્ વનસ્પતિપણે ને નૈરયિકપણે આ જીવ અસકૃત્ (અનેક વખત) અથવા અનંત વખત ઉત્પન્ન થયો છે. એમ જ સાતે નરકમાં, તિર્યંચ યોનિમાં, મનુષ્યની સર્વ યોનિમાં, અસુર કુમારના ભવનમાં, તેમ ત્યાં રહેલા શયન આસન ઉપકરણ વગેરેમાં ને ત્યાં જે દેવ દેવી હોય તે સર્વમાં, આ જીવ અનેક વખત વા અનંત વખત જઈ આવ્યો છે. એ જ પ્રમાણે સર્વ વ્યંતર, સર્વ જ્યોતિષી ને સર્વ વૈમાનિકના સ્થલમાં પૃથ્વી જલ વનસ્પતિમાં શયનાસનમાં ને અનુત્તરોપપાતિક દેવ સિવાય સર્વ દેવદેવીમાં આ જીવ અનેક વખત વા અનંત વખત જઈ આવ્યો છે. એમ સર્વ જીવો સર્વ સ્થલે અનુકૂળ પ્રતિકૂલ સર્વ સંબંધપણે જઈ આવ્યા છે.'

(સૂત્ર ૪૫૮)

* મૂલ સૂત્રો વિસ્તીર્ણ હોવાથી દાખલ કર્યાં નથી.

(૯) આ ઉપર્યુક્ત આગમકારોના કથન ઉપરથી સ્પષ્ટ સમજી શકાશે કે સર્વ જીવોને પોતાની શક્તિનો હ્રાસ કરવામાં ને વિકાસ કરવામાં સંપૂર્ણ સ્વતંત્ર અવકાશ છે. નૈગોદિક જીવો વિકાસને ન પામે તેમ નથી, ને સ્વર્ગીય વૈમાનિક જીવો હ્રાસને ન પામે તેમ પણ નથી. હ્રાસને વિકાસનો આરંભ તેઓની પ્રવૃત્તિ ઉપર આધાર રાખે છે.

વિચારકો આ ઉપર સારી રીતે વિચાર કરશે ને આ કરતાં વિશેષ મૂલ-આગમ સ્પર્શી ખુલાસો બહાર મૂકશે

–શ્રીહર્ષચંદ્રજી સ્વામી

(૩) કેટલાક વિચારવા લાયક પ્રશ્નો

જૈન વિદ્વાનો માટે ખરી ચર્ચાનું મેદાન

૧. અંગ્રેજો પૃથ્વીનો પરિઘ એટલે ઘેરાવો લગભગ પચીશ હજાર મૈલ બતાવે છે એ વાત રદ કરવા કોઈ જૈન વિદ્વાન સ્પષ્ટ પ્રમાણ આપી શકે છે?

૨. અહીં જ્યારે સૂર્ય આથમે છે ત્યારે અમેરિકામાં ઉદય થાય છે. ત્યાં આથમે છે ત્યારે અહીં ઉદય થાય છે. અને તે વાત તારથી પણ લોકોએ સિદ્ધ કરી છે. ત્યારે અમેરીકા ખંડને કયા ક્ષેત્રમાં ગણવો?

૩. અમેરિકા જવું હોય તો પશ્ચિમના માર્ગે એટલે મુંબઇથી હિંદી મહાસાગરના રસ્તે કેપગુડહોપ વટાવી, આટલાંટિક મહાસાગર ઓલંઘીને પણ અમેરિકા જઇ શકાય છે. અને પૂર્વના માર્ગે એટલે મદ્રાસથી મહાસાગરના પૂર્વ ભાગમાંથી શિંગાપોર, ચીન, જાપાન થઇને પાસિફિક મહાસાગર પસાર કરીને પણ અમેરિકા પ્હોંચી શકાય છે. એમ એકથી ઉલટી દિશાએ અમેરિકા-ચિકાગો જેવા શહેરમાં લોકો પ્હોંચી શકયા છે. તે પૃથ્વી દડા જેવી ગોળ હોય તો જ બને એમ અંગ્રેજો કહે છે. તે વાતને કોઇ જૈન તોડી નાખવા સમર્થ છે?

૪. સૂર્ય માગશર પોષમાં જ્યારે છેક દક્ષિણાયન થાય છે ત્યારે ઠેઠ લવણ સમુદ્રમાં ૧૧૯ માંડલા કરે છે. વારૂ ત્યારે છેક દક્ષિણાયન વેળા જો સૂર્યપરથી સમશ્રેણીની સીધી અધોલીટી લઇએ તો તે લવણમાં પડે. તો એ સમ અધોલીટીથી જે દક્ષિણમાં દેશ હોય તે જંબુદ્વીપમાં ગણવો કે લવણમાં? તેમ છેક ઉત્તરાયણ થાય છે ત્યારે ઠેઠ નિષધ પર્વત ઉપર હોય ત્યારે તેથી ઉત્તરના દેશોને શું મહા-વિદેહમાં ગણવા?

ઉપરના પ્રશ્નો ઉપરથી એ શંકા થાય છે કે લવણ સમુદ્રની જગતી કેમ ઉલંઘી દક્ષિણમાં જવાય? અને વૈતાઢ્યાદિ પર્વતો ઉલંઘીને ઉત્તરમાં કેમ જવાય? અને હિંદુસ્તાનના લોકો ઉત્તર અને દક્ષિણમાં ઉપલી હદો-એટલે મકરવૃત્ત અને કર્કવૃત્તની આગલ જાય છે આવે છે તેનું શું કારણ? આવનાર અને જનારને સાશ્વતી પ્રતીમાઓ, જુગલીઆના ક્ષેત્રાદિ વચમાં આવતા નથી તે કેમ?

ઉપરના ૪ પ્રશ્નો કચ્છ-કોડાયના પ્રોફેસર રવજી દેવરાજના છે. હવે નીચેના પ્રશ્નો હું લખું છું.–

૧. સૂર્યના ૧૮૪ માંડળાના યોજન ૩૬૮ થાય. તો હમણાના ભૂગોળનાં નકશામાં મકરવૃત્ત અને કર્કવૃત્તની લીટીઓ સપ્રમાણ દેખાડી દીધી છે. તેના મૈલ પણ ચોકસ છે. તો આપણે જોજન કેટલા ગાઉનું માનવું?

૨. અસલનાં વિમાનો ૧૭ હજાર જોજન ઉંચે ચડીને પછે જ્યાં જવું હોય ત્યાં જતા. ત્યારે હમણાના વિમાનો અઢીગાઉ (પાંચ મૈલથી) વધારે ઉંચે (ઠંડીના કારણથી) નથી જઈ શકતા, તેની કેમ સમાધાની કરવી?

૩. જૈન જ્યોતિષના બે સૂત્રો અને કેટલાક ગ્રંથો છે. પણ તે ઉપરથી ગણિત કરી ગ્રહણાદિ વર્તી શકાતા નથી! તેમ હાલના પ. ખંડો–૧ એશિયા, ૨ યુરોપ, ૩ આફ્રિકા, ૪ આસ્ટ્રેલીયા અને ૫ અમેરીકા એ છે તો તેમાં સૂત્રમાં કહેલથી વધારે થાય છે તેનું કેમ?

૪. શ્રી મહાવીરપ્રભુ ચૈત્ર સુદી ૧૩ ના જન્મ્યા અને કાર્તિકની અમાસે (પુનમીઆ મહીના પ્રમાણે આસોની અમાસે) મોક્ષે પધાર્યા તો ૭૨ વર્ષ પુરાં કેમ થાય? અને તે વખતે જૈન પંચાંગોની ગણત્રી શી હતી?

૫. જૈનાગમોની ભાષા કેટલી પ્રાચીન છે તેનું નિર્ણય ભાષાશાસ્ત્રાધારે અતિ બારીક રીત્યા થવું જોઇએ. તેમ જૈન નિગમો અને ચાર વેદો તથા દિગંબરોના મૂલ પુસ્તકો–ધવલ, જયધવલ અને મહા-ધવલનું પણ નિર્ણય થવું એટલું જ જરૂરનું છે.

૬. ચંદ્રની ચાલ કરતાં ગ્રહની ચાલ ઉતાવલી છે, તો પછી નિત્યરાહુ ચંદ્ર સાથે હમેશ રહી એક એક કલા કેમ દબાવી શકે? અને ચંદ્ર તથા સૂર્યના વિમાનથી ગ્રહના વિમાન અર્ધા છે તો ખગ્રાસ ગ્રહણ કેમ થાય? નાનો પદાર્થ મોટાને સંપૂર્ણ આચ્છાદી ન શકે.

૭. શ્રીભદ્રબાહુ સ્વામી વિષે 'જૈન સિદ્ધાંત ભાસ્કર'માં જે સપ્રમાણ શિલાલેખો યુક્ત પુરાવા છે, તેવા કે તેનાથી અધિક સબલ પુરાવા આપણાં (શ્વેતાંબરોમાં) છે ખરા? હોય તો અંધારામાં રાખવાનું શું કારણ છે?

–લિ૦ મુનિ, કચ્છી.

નોટ—આપણાથી દક્ષિણમાં રહેનારા લોકોને સૂર્ય હમેશ ઉત્તરમાં રહે છે. તે આસ્ટ્રેલિયા, આફ્રિકા અને અમેરીકાના અમુક અમુક ભાગો છે. અને જેઓને ઉલંગીને સૂર્ય ઉત્તરમાં જતો જ નથી એટલે જેને સદાએ સૂર્ય દક્ષિણાયન રહે છે તે એશિયા ખંડ, યુરોપ અને અમેરીકાના અમુક ભાગો છે કે જે નકસામાં જોવાથી સમજાશે. આટલો ખુલાસો પ્રો. સ્વચ્છ દેવરાજના પ્રશ્નોને અંગે છે.

∴ આ પ્રશ્નોના ઉત્તરો જો કોઈ વિદ્વાન વિચારપૂર્વક લખી મોકલશે તો તે આદરપૂર્વક પ્રકટ કરવામાં આવશે.—**સંપાદક.**

પંન્યાસ પદ.

આજકાલે જેવી રીતે 'પંન્યાસ' પદારૂઢ એક સામાન્ય સાધુ પણ બીજા સાધુને પંન્યાસ પદ અર્પણ કરે છે તેવી રીતે પ્રાચીન કાલમાં નહોતું થતું. પન્યાસ પદ અર્પણ કરવાનો અધિકાર આચાર્યને જ હોય એમ પ્રાચીન ઉલ્લેખોથી જણાય છે. 'પંન્યાસ' એ પદનો ખરો અર્થ 'પંડિત' છે. 'પંડિત' પદ કરતાં 'પંન્યાસ'નું કોઈ જુદું પદ નથી. પૂર્વે કાલમાં જે સાધુઓ બાહુશ્રુત થતા તેમને ગચ્છાધિપતિ તરફથી 'પંડિત' પદ પ્રદાન કરવામાં આવતું. પંડિત પદ પછી જો વધારે યોગ્યતા વધતી તો પછી ઉપાધ્યાયની પદવી અપાતી અને તેનાથી પણ જો અધિક યોગ્યતા પ્રાપ્ત થતી તો છેવટે આચાર્ય પદે અભિષેક થતો. **सोमसौभाग्य, गुरुगुणरत्नाकर, हीरसौभाग्य** અને **विजयप्रशस्ति** આદિ કાવ્યોમાં અનેક વ્યક્તિઓના સંબંધમાં આવા ઉલ્લેખો થયેલા છે. આજે જેવી રીતે અમુક અમુક સૂત્રોનાં યોગોદ્વહન કરવાથી જ માત્ર પંન્યાસ થવાય છે પરંતુ જ્ઞાન સંબંધી યોગ્યતા ઉપર બીલકુલ ધ્યાન અપાતું નથી તેમ પૂર્વે નહોતું થતું. પૂર્વે તો અમુક દરજ્જા સુધીની વિદ્વત્તા પ્રાપ્ત કરનારને જ એ પદની પ્રાપ્તી થતી હતી. તપાગચ્છના આચાર્ય વિજયપ્રભસૂરિની પછી યતિયોમાં વધારે શિથિલાચાર પ્રવિષ્ટ થયો અને તેના લીધે યતિવર્ગ સ્વપદથી ભ્રષ્ટ થયો ત્યારે એ ધોરણમાં પણ ફેરફાર થયો. પાછળના બસો ત્રણસો વર્ષમાં તો એ પદ સંબંધી ઘણી જ અવ્યવસ્થા થઈ. એ સમયમાં નથી જોવાતી જ્ઞાન સંબંધી યોગ્યતા કે નથી જોવાતી

ચારિત્રસંબંધી યોગ્યતા. એ વખતે તો જેટલા યતિ તેટલા જ 'પંન્યાસ' ! સંભળાય છે કે જે યતિ શ્રી પૂજ્યને ભેટ રૂપે થોડાક રૂપીઆ આપતો તેને શ્રીપૂજ્ય તરફથી બદલામાં પંન્યાસ પદ મળતું. પરંતુ એટલું અવશ્ય બંધારણ હતું કે જ્યાં સુધી શ્રીપૂજ્ય તરફથી પંન્યાસપદ અપાયેલું જાહેર થતું નહિ ત્યાં સુધી કોઇ પણ યતિ પોતાના નામ સાથે 'પં.' શબ્દનો ઉપયોગ કરી શકતો નહિ. જેવી રીતે આજે સરકાર તરફથી પ્રજાના કોઈ પ્રતિષ્ઠિત જનને તેની યોગ્યતા અનુસાર 'રાય બહાદુર' કે 'રાજા' આદિના ખેતાબો આપવામાં આવે છે ત્યારે તે વ્યક્તિ ઉપર તે ખેતાબ બાબતનો સર્ટિફીકેટ મોકલવામાં આવે છે તેમ આચાર્ય પણ જ્યારે જે યતિ–સાધુ ને પંન્યાસ પદ આપતા ત્યારે તે બાબતનું પોતાના હસ્તાક્ષરોવાળું પ્રમાણપત્ર તેના ઉપર મોકલી આપતા. આ પ્રમાણપત્રો ઘણાભાગે ૪-૫ આંગળ જ લાંબા ચોડા થતાં હતાં પત્રના મથાળે આચાર્ય પોતાનાં હાથે ફક્ત 'सही'* આવા બેજ અક્ષરો મ્હોટા કદના લખતા. બાકીનું બધું વૃત્તાંત તેમની પાસે જે મુખ્ય યતિ મનાતો તે લખતો. જુના ભંડારોમાં આવી જાતના સેંકડો પ્રમાણપત્રો મ્હારી દૃષ્ટિગોચર થયાં છે. વાચકોના અવલોકન માટે એ જાતના બે પત્રોની નકલ અત્રે આપવામાં આવે છે.

सही

॥ प र्दं० ॥ ॐ नत्वा भ । श्री श्री विजय धर्म सूरीश्वर चरणसेवी उ । श्रीहितविजय गणि लिखितं । पं । देवविजय ग । पं । विनीत स । योग्यं । अपरं तुम्हारा शिष्य ग । कुशलविजयनइं श्रीजीयइं पं० पद प्रसाद कीधो छइं । मिति सं । १८११ वर्षे प्रथ । ज्येष्ठ व । ८ । पोडाडार नगर मध्ये ।

पं० देवविजय ग । योग्यं ।

सही

॥ प र्दं० ॥ ॐ नत्वा भ । श्री श्रीविजय-जिनेन्द्रसूरीश्वर चरणसेवी । पं । सौभाग्य-विजय । ग । लिखितं । मु । विनयविजय । पं । कल्याण स । योग्यं । अपरं तुम्हां ने श्रीजीइं पं० पद प्रसाद कीधो छें । मिति संवत १८४८ ना व । महावदि १ दिने पेटलाद मध्ये ।

पं० विनयविजय ग । योग्यं ।

આવી જાતનું પ્રમાણપત્ર મળ્યાં પછી જ તે વ્યક્તિ પોતાના નામ સાથે 'પં૦' અક્ષરનો પ્રયોગ કરી શકતી હતી. તેમ જ આ પદ આપ્યાની ગચ્છના દરેક યતિને આચાર્ય તરફથી ખબર આપી દેવામાં આવતી હતી. જેથી બીજા યતિયો તે વ્યક્તિની સાથે પત્રવ્યવહારાદિ કરે ત્યારે 'પં૦' શબ્દવિશિષ્ટ જ તેનું નામ લખે. જો ખબર હોવા છતાં પણ કોઇ યતિ વ્યક્તિના નામ સાથે એ શબ્દ ન લખે તો તેથી માનહાનિ થએલી મનાતી અને તે બદલ શ્રીપૂજ્ય તરફ ફર્યાદ કરવામાં આવતી !

આજના સુધારાવાળા જમાનામાં એ પદવીના સંબંધમાં પણ કેટલોક સુધારો થએલો જોવામાં આવે છે. આજે એ પદવી આપવામાં નથી રહ્યું પૂર્વનું જ્ઞાનસંબંધી યોગ્યતાનું બંધારણ કે નથી રહ્યું આચાર્ય દ્વારા જ તે મેળવવાનું સાધન ! આજે તો જેમને પંચપ્રતિક્રમણ પણ બરોબર શુદ્ધ નહિ આવડતા હોય તે પણ એ પદવી પ્રદાન કરી શકે છે અને ગ્રહણ કરી શકે છે ! બંધારણમાં માત્ર અમુક સમય સુધી તપનું સેવન જ બાકી રહ્યું છે. આશા છે કે જેમ જેમ સુધારાની પ્રગતિ થતી જશે તેમ તેમ સાધુઓ એ બાબતમાં પણ પોતાની ઉદારતા બતાવતા જશે !

* ઉદયપુર-(મેવાડ)ના મહારાણાના જુના કાગળોમાં પણ મથાળે આવા જ જાતના 'सही' એવા બે અક્ષરો મ્હોટા કદમાં લખેલા હોય છે. જુઓ, બેંકટેશ્વર પ્રેસનો પ્રકટ કરેલો ટૉડનો 'राजस्थान इतिहास' ભાગ ૧ના પરિશિષ્ટમાં

વાચકોને નિવેદન

પ્રસ્તુત અંક સાથે જૈનસાહિત્યસંશોધકનું ત્રીજું વર્ષ પૂર્ણ થાય છે. દર ત્રણ મહીને એ નિયમિત રીતે બહાર પડે એવી પ્રબળ આકાંક્ષા જેમ વાચકોને રહે છે તેમ એવી જ આકાંક્ષા એના સંપાદકને પણ હમેશાં રહી છે એ હું જાણું છું. અને તેથી જ તેની યોગ્ય વ્યવસ્થા ગયા વર્ષથી અમદાવાદમાં કરવામાં આવેલી. પરન્તુ વાચકોની જાણ બહાર નહિ હોય કે શ્રીમાન્ જિનવિજયજી ઉપર માત્ર સંશોધકના સંપાદનનો ભાર ન હતો પણ પુરાતત્ત્વ મંદિરના આચાર્ય તરિકેની જવાબદારી ઉપરાંત એ મંદિર તરફથી પ્રસિદ્ધ થતાં કેટલાંક પુસ્તકોનાં સંપાદનનો અને બીજાં પણ પુસ્તકોના સંપાદનનો ભાર તેમને શિર હતો જ. આર્થિક ખોટની ચિન્તા ધ્યાનમાં ન લઇએ તોપણ આવાં બૌદ્ધિક કાર્યોને સતત કરનારના અનારોગ્યના કારણને ધ્યાન બહાર રાખી શકાય નહિ. એ કારણોને લીધે જ નિયત સમયે અંકો પ્રસિદ્ધ કરી શકાયા નહિ.

વાચકોને કાંઇ પણ લાગવાનો સંભવ હોય તો તે એટલો જ છે કે ચાલુ વર્ષનો છેલ્લો અંક ધાર્યો કરતાં લગભગ ત્રણ મહીના મોડો તેઓની સેવામાં પહોંચે છે. પરન્તુ કોઇ પણ અભિજ્ઞ વાચક જોઇ શકશે કે તેઓ ધારે તે કરતાં કેટલી વધારે સેવા સંશોધકે તેઓની કરી છે. ૪૫ ફરમાને બદલે ૫૦ ફરમાનું વાચન, એ બાહ્ય લાભ તરફ દૃષ્ટિ ન આપીએ તોપણ સંશોધકમાં પ્રસિદ્ધ થએલા લેખો એજ મુખ્ય લાભની વસ્તુ છે. જૈન સમાજના નાના મોટા ત્રણે ફિરકા તરફથી ગુજરાતી, હિન્દી, મરાઠી અને ઇંગ્રેજી સુદ્ધાંમાં અનેક પત્ર–પત્રિકાઓ નીકળે છે. એમાંથી કોઇ પત્ર કે પત્રિકા સંશોધકની કક્ષાનું ગવેષણાપૂર્ણ અને નિષ્પક્ષવાચન પૂરૂં પાડતા હોય એમ હું અદ્યાપિ નથી જાણતો. જો વખતસર પ્રસિદ્ધ થવાના બાહ્યનિયમનો કાંઇક ભંગ સંશોધકથી થયો હોય તો તે એ ખોટને મુકરર કરેલ લવાજમમાં ધાર્યો કરતાં વધારે ફરમાઓ આપવાના આંતરિક નિયમના ભંગથી દૂર કરે છે એટલે ગ્રાહકોને તો એકંદર લાભ જ છે. અસ્તુ. આ નિવેદનમાં મારૂં મુખ્ય વક્તવ્ય તો બીજું જ છે અને તે એ છે કે આ અંકને સંપાદિત કરી તેને પ્રસિદ્ધ કરવાનું કામ અણધાર્યું મારે માથે આવી પડયું. અને તે પ્રમાણે મેં યથાશક્તિ અને યથાસામગ્રી તેનો નિર્વાહ કર્યો છે. આ અંકનું સંપાદન તેના સંપાદક શ્રીમાન્ જિનવિજયજીને હાથે થયું હોત તો વાચકો કરતાં હું જ વધારે ખુશ થાત. પણ ધાર્યું કોનું થાય છે? એક બાજુ તેઓએ પ્રસ્તુત અંક છપાવવાની શરુઆત કરી એકાદ ફરમો છપાયો કે અચાનક જ તેઓશ્રીની જર્મની જવાની તારીખ જે પહેલાં જુન જુલાઇમાં ધારેલી તે મે માસમાં નક્કી થઇ અને તે પ્રમાણે તેઓ તા. ૧૨ મીએ જર્મની માટે વિદાય પણ થઇ ગયા. માત્ર જૈનસમાજ કે ગૂજરાતમાંથી જ નહિ પણ હું જાણું છું ત્યાં સુધી આખા હિંદુસ્તાનમાંથી પ્રૌઢ અભ્યાસી અને વિદ્વાન તરીકે જૈનસાહિત્યના સંશોધનનો મુખ્યપણે

અભ્યાસ કરવા જનાર શ્રીજિનવિજયજી જ પહેલા છે. તેઓએ આજસુધીમાં એકનિષ્ઠાથી સાહિત્યસેવાને જ પોતાનું ધ્યેય બનાવેલું છે. અને જર્મની વગેરે પશ્ચિમના દેશોમાંથી નવી જ્ઞેય સમ્પત્તિ લાવી તેઓ સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં આજસુધીમાં કર્યું છે તે કરતાં વધારે કિંમતી અને વધારે સંગીન કામ કરવાના છે. એવી દૃઢ આશા–જનિત પ્રસન્નતામાં મારે પોતાની યોગ્યતા વિષેની ખામીનું દુઃખ અને નથી સાલ્યું. અને તેથી જ આ અંક પ્રસિદ્ધ કરી શકાયો છે. આશા છે વાચકો મારી ખામી ઉદારતાથી નભાવી લેશે. અને મારી સાથે પ્રભુ–પ્રાર્થનામાં સંમિલિત થશે કે પોતાનો ધારેલો અભ્યાસ સંપૂર્ણ રીતે પૂર્ણ કરી શ્રી જિનવિજયજી સુખરૂપ પાછા ફરે અને છેલ્લામાં છેલ્લી ગવેષણાઓ તેમજ પદ્ધતિના લાભો જૈનસમાજમાં રજુ કરી સ્પૃહણીય જૈનસાહિત્યની વિશિષ્ટ અભિવૃદ્ધિ અને તેના ગૌરવને વધારે અને તે દ્વારા ભારતીય સાહિત્યનો ઉત્કર્ષ સાધે.

હવે એકજ પ્રશ્નનો ખુલાસો કરવો બાકી રહે છે. પ્રશ્ન એ છે કે શ્રીમાન્ જિન-વિજયજી વિદેશથી પાછા ફરે ત્યાં સુધીમાં સંશોધક ચાલુ રાખવું કે નહિ અને રાખવું તો કેવી રીતે ? કેટલાક સહૃદય વાચકોના પત્રો એવી મતલબના આવી રહ્યા છે કે સંશોધક ચાલુ રાખવું. શ્રી. જિનવિજયજીની પણ વિદેશ જવાની ઇચ્છા થઇ ત્યારે અને છેલ્લે વિદાય થવાના દિવસે પણ એ જ ઇચ્છા હતી કે સંશોધક ચાલુ રહે. પરન્તુ એ ઇચ્છાને માન આપી સંશોધક ચલાવવું હોય તો ચલાવે કોણ ? એ પ્રશ્ન આવ્યો. સંમતિ-તર્કના દુઃસહ બોજા અને બીજાં કેટલાંક કારણસર એના સંપાદનનું કાર્ય (રુચિ છતાં પણ) કરવાની મારી અશક્તિ મેં સ્પષ્ટ જણાવી. અત્યારે રા. રા. મોહનલાલ દલીચંદ દેશાઇ બી. એ. એલ. એલ. બી. સિવાય બીજો કોઇ આ પત્ર ચાલુ રાખે તેવો નજરમાં ન આવવાથી તેમના તરફ સ્વાભાવિક રીતેજ દૃષ્ટિ ગઈ. તેઓ પોતાના ઉપર અનેક પ્રકારના કાર્યનો બોજો છતાં સદ્‌ભાવના ખાતર સંશોધકના સંપાદનનું કાર્ય કરવા કબુલ થયા. પરન્તુ એવી સરતે કે બાહ્યવ્યવસ્થા અને આર્થિકખોટની ચિંતા તેઓ ઉપર ન રહે.

બધી બાહ્યવ્યવસ્થા કરવાની કબુલાત મેં આપી પણ ખોટનો પ્રશ્ન ઉભો છે જ. કાગળ, છપામણી, બ્લૉક, ફોટા અને પોસ્ટનો જ ખર્ચ ગણતાં લગભગ ૪૦૦ રુપિઆની ખોટ આ વર્ષમાં આવી છે. પોણોસો ગ્રાહક વધે તો એ ખોટ પૂરાય અને માત્ર ખોટ પડવાને કારણે સંશોધક બંધ ન રહે. સંશોધકના વાચકોને એ કહેવાની ભાગ્યેજ જરૂર હોય કે સાહિત્યસેવકો આર્થિકખોટનો બોજો હમેશાં નભાવી ન શકે. તેથી એ ખોટની ચિંતાથી મુક્ત રાખી સંશોધકનું કામ ચાલુ રખાવવાની ફરજ તેના સહૃદય વાચકો ઉપર આવી પડે છે. દરેક ગ્રાહક એકએક નવો ગ્રાહક બનાવવાની પોતાની ફરજ સમજે તો કોઈ એકના ઉપર ભાર પડયા સિવાય ખોટ પૂરી થાય અને ઉદાત્ત સાહિત્યનું વાચન વધી ક્રમશઃ સમાજમાં વિદ્યાવૃદ્ધિ થાય.

તેથી હું દરેક વાચકને આ નિવેદન દ્વારા જણાવવા રજા લઉં છું કે તેઓ સાહિત્ય-સંશોધકને ચાલુ રાખવા અને ગ્રાહક બની રહેવા તૈયાર છે ? તેમજ તેઓ બીજા નવા

ગ્રાહકો મેળવવા કાંઈ 'મૂર્ત' પ્રયત્ન કરશે ? આ બે પ્રશ્નોના ઉત્તરો સંશોધકના વાચકો તરફથી સત્વર આવવાની આશા રાખવી એ અસ્થાને નથી એ ઉત્તરો આવ્યા પછી જો સંતોષકારક પરિણામ જણાશે તો ચોથા વર્ષના સંશોધકના સંપાદનનું કાર્ય સત્વર હાથ ધરવામાં આવશે. તેમજ સાહિત્યની વિવિધ શાખાઓના રૂચિકર તેમજ ઉપયોગી વાચન પૂરૂં પાડવાનો યથાસાધ્ય પ્રયત્ન થશે.

વાચકોએ એટલું સ્મરણમાં રાખવું કે શ્રીમાન્ જિનવિજયજી માત્ર અભ્યાસમાં મુખ્યપણે ગુંથાયા હશે છતાં જો અહિં તેમનું પ્રિયપત્ર ચાલુ હશે તો કાંઈ ને કાંઈ નવી વાનગી મોકલતા રહેશે અને વિદેશી અવલોકન તેમજ ત્યાંના અભ્યાસની ભાત સંશોધક દ્વારા જૈનસાહિત્યમાં પાડતા રહેશે એમ હું દ્રઢપણે માનું છું. સાહિત્ય સંશોધકના લેખોએ જે વાચકોના હૃદયમાં ખરી જિજ્ઞાસા અને સાહિત્યનિષ્ઠા જન્માવી હશે તેવા વાચકો સંપાદકના નવ અભ્યાસની થોડી પણ નવીન વાનગી મેળવવા આતુર હોય અને તે માટે તેઓ સંશોધક ચાલુ રાખવા પોતાથી બનતો ફાળો આપે એ પણ સ્વભાવિક છે. એજ ધારણાથી વચકો પ્રત્યે નિવેદન કરવા પ્રેરાયો છું. આશા છે તેઓ ઉત્તર આપવામાં વિલંબ નહિ કરે.

સુખલાલ.



વિષયાનુક્રમણિકા

जैन साहित्यसंशोधक

'पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । सच्चस्साणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ।'

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ; जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।'

'दिट्ठं, सुयं, मयं, विण्णायं, जं एत्थ परिकहिज्जइ ।'

—निर्ग्रन्थप्रवचन—

खंड ३] महावीरनिर्वाण संवत् २४५४—फाल्गुन [अंक ४

श्रीविबुधप्रभुविनिर्मिता

श्रीऋषभकुन्तलवर्णन—पञ्चविंशतिका

चञ्चत्पञ्चमुष्टिकुन्तलततिः प्रा[१]चीपतिप्रार्थना-
ऽनुत्खाता तव राजति श्रवणयोः पार्श्वे युगादिप्रभो ! ।
स्नेहद्रोहसमिद्धमानहृदयध्यानप्रदीपोद्भवा,
ऽऽस[२]ज्जेवाञ्ज[३]नमञ्जरी श्रुतियुगद्वाभ्यां विनिर्गत्वरी ॥ १ ॥

श्रीनाभेय ! भवान् नवाभ्युदायिनः श्रीधर्मभूमीपतेः,
प्रासादोऽभिनवोऽस्ति सर्वभुवनप्रीत्यै धृतस्वस्तिकः ।
स्कन्धे तच्चिकुरच्छलादुभयतो ह[४]ग्दोपमोक्षक्षमा,
नीलीचर्चितचीरखण्डयुगली लोलेयमालोक्यते ॥ २ ॥

---

१ प्राचीपतिः—इन्द्रः । २ आसज्जा—लग्ना । ३ अञ्जनमञ्जरी—अञ्जनाशिला । ४ हग्दोषः—नजर लागवी इति लोकभाषायाम् ।

गोस्वामिन्नसहाय एव वृषभस्कन्धस्थलीस्थायिनं,
त्वं प्राग् यं विभराम्बभूविथ महाधुर्यौं (र्यो) युगादौ स्थितः ।
भारे राज्यरथस्य तत्र भरतस्कन्धार्पिते कुन्तल-
व्याजादंसतटे तव व्रणकिणश्रेणिर्ध्रुवं दृश्यते ॥ ३ ॥

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवत्सल ! जगन्नाथ ! प्रपद्य त्वया,
किं त्यक्ताऽहमितीव विज्ञपयितुं सम्प्रेषिता पद्मया ।
तद्देहाम्बुरुहोपजीवनपरा स्वामिन् ! सुवाणिभेव-
त्कर्णान्ते निष्ट (भृ) ता विभाति चिकुरव्याजेन भृङ्गावलिः ॥ ४ ॥

क्षेत्रे श्रीभरतेऽत्र तत्र समये केनाऽप्यतीर्णं पुरा
प्राक् संसारमहार्णवं प्रतरतः स्वामिंस्तव स्कन्धयोः ।
लग्ना शैवलवल्लरी ध्रुवमियं नीलालकालिच्छलात्,
पश्चात्तीर्णवतामियं यदजितादीनां तु न व्यज्यते ॥ ५ ॥

श्रीमन् ! नाभिनरेन्द्रपुत्र ! भवतो हृन्मध्यभागे सदा,
शुद्धध्यानधनञ्जयस्य दहतः कर्मद्रुमाणां वनम् ।
उन्मील [द्] कुटिलालकावलिलताव्याजेन निर्जग्मुषी,
रेजे श्यामलधूमधोरणिरियं श्रोत्रद्वयद्वारतः ॥ ६ ॥

क्षीयेऽहं बहिरङ्गवायुपटलेनाऽपि त्वया तु प्रभो !,
यस्याभ्यन्तरवायुरप्यनुचरो योगार्जितं तन्मनः ।
तन्मे वायुजयं वदेति जलदः प्रष्टुं कचच्छद्मना,
कर्णान्तः स्थितवान् परोपकरणक्रीडासनीडस्तव ॥ ७ ॥

स्वामिन् ! यद् भवता व्रतं कलयता सामायिकास्त्रोर्जितैः,
रागद्वेषमहाभटद्वयपराभूतिः समाम्नायते ।
तेनेयं मरुदेविसम्भव ! तव स्कन्धोपरिष्टात् कच-
श्रेणी संतनुते प्रशस्तियुगली सत्यं मषीवर्णभाक् ॥ ८ ॥

त्रैरत्न-त्रिपदी-त्रिकालविषयज्ञान-त्रिलोकाद्भुत-
स्वामित्वप्रभृतिच्छदत्रयभृतः सद्ब्रह्मवृक्षस्य ते ।

१ धनञ्जयः-अग्निः । २ सनीडः-व्यसनी । ३ कलयता-स्वीकुर्वाणेन । ४ त्रैरत्नं-ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मकम् । ५ त्रिपदी-' उप्पन्ने इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा ' इतिरूपा । ६ त्रिकालविषयं ज्ञानं-अतीतानागतवर्त्तमानकालीनं ज्ञानम् ।

श्लिष्टस्कन्धतटाः शिरोरुहजटाः पुण्यैकलभ्यं सदा,
पादाधःस्थितविश्ववैभवनिधिं संसूचयन्ति प्रभो ॥ ९ ॥
सन्मार्गे व्रजतां सतामभिमुखीभूतत्रिलोकीवधू–
शीर्षालङ्करणं शिवाय भवसि त्वं पूर्णकुम्भ ! प्रभो ! ।
पूर्णस्य प्रशमामृतेन भवतः कर्णोपकण्ठे लुठ–
त्केशौघव्यपदेशतो विलसति श्रीवृक्षपत्रावलिः ॥ १० ॥
त्वं स्वामिन् ! परितापहृत् त्रिजगतामानन्दनश्चन्दनः
कुण्डं ज्ञानसुधारसस्य सुगुणश्रेणीमणीनां निधिः ।
युक्तं त्रिष्वपि रूपकेषु भवतः स्कन्धे कचानां कुलं;
नीलाम्भोजविभं निलीनभृङ्गीनिभं गीयते.... ॥ ११ ॥
दोर्दण्डद्वयदम्भतो रणमहास्तम्भाग्रजाग्रद्गुरु–
स्कन्धप्रोन्नतकुम्भकोटिविलसत्केशौघभूतच्छदः ।
वक्त्राम्भोरुहविभ्रमभ्रमदलिव्याजोल्लसत्तोरण (णः)
स्र(स)ग्रम्योद्धुतसिद्धिसौधपुरतो द्वारायसे त्वं प्रभो ! ॥ १२ ॥
स्मेरत्पक्ष्मकपाटनेत्रयुगलीवातायनप्रान्तयोः,
स्कन्धाक्रीडनगोपरि श्रुतिलताव्यालम्बि दोलाद्वयम् ।
वक्त्रे गौरकपोलभित्ति भवतो वाग्देवता–पद्मयोः,
क्रीडासौधमुपान्तयोरुपवनप्रायोल्लसत्कुन्तलम् ॥ १३ ॥
त्वद्वक्त्रस्य सुधारुचेः पुर इह स्थातुं न शक्तो द्विपा–
प्याह्लादकमस्य चारिमगुणं व्यालोकितुं चोत्सुकः ।
उच्चैःस्कन्धगिरीन्द्रयोरुभयतो भीत्या निलीय प्रभो !,
मन्ये श्यामलकुन्तलच्छलमुपादायाऽन्धकारः स्थितः ॥ १४ ॥
योगिन्नाह ननः कानने सुरभिणि ज्योतिष्प्रधाने
त्यक्त्वा शाश्वतमत्सरं निवसतः पाथोजचन्द्रश्रियौ ।
तस्मिन् बुद्धिष्टचिपसङ्गमनयोरप्राप्नुवन्तौ ध्रुवं,
पर्यन्ते चिकुरच्छलेन मधुपश्रेणिकलङ्कौ स्थितौ (?) ॥ १५ ॥
नित्यं कान्तिकलः कलङ्कविकलस्त्वद्वक्त्रचन्द्रो यथा,
देव ! त्वं वद तादृशः कथमयं मत्पुत्रचन्द्रो भवेत् ।

१ उपकण्ठे–निकटे । २ सुधारुचिः–चन्द्रमाः । ३ चारिमगुणः–सौन्दर्यम् ।

एवं मट्टमिवाभितः श्रुतियुगं सङ्कुच्य कल्लोलिनी-
कान्तः कुन्तलकैतवादुपययौ गाम्भीर्यमन्त्रं तव ॥ १६ ॥
सौरभ्यातिशयेन ते यदि मुखं श्रीसद्म पद्मं स्फुर-
ज्ज्योतिःपाथसि कण्ठनालमभितः पङ्क्न्ति तत् कुन्तलाः ।
विश्वाह्लादिविभावशाद् यदि मुखं चन्द्रोऽथ तत्पृष्ठत-
स्तत्कान्ता चिकुरच्छलेन रजनिः केनाऽत्र नो मन्यते ॥ १७ ॥
स्वामिस्त्वन्नयनाद्भुताद्भुततमश्रीनिर्जिता लज्जया,
न स्थातुं पुरतः क्षमा कुवलयश्रेणिर्निलीय ध्रुवम् ।
माग्मित्रीकृतचन्द्रतोऽप्यतिसुखं द्रष्टुं त्वदीयं मुखं,
मान्तस्कन्धशिलोच्चयोपरि समारूढा शिरोजच्छलात् ॥ १८ ॥
नित्यं मानवदेवदानवदृशां व्यूहेन लेह्याऽप्यसौ,
श्रीनाभेय ! भवन्मुखौषधिपतेज्योत्स्ना कथं क्षीयताम् ? ।
य(त)स्मादत्र जगत्रयीपरिदृढमान्तद्वये कुन्तल-
व्याजाद् राजति कृष्णचित्रकलताजालप्रवालावलिः ॥ १९ ॥
आलोक्य त्रिदिवापगां परिलसत्कैलासशैलासना-
ऽध्यासीनस्य वृषध्वजस्य शिरसि प्रेङ्खोलनादुन्मदाम् ।
संहर्षादिव देव ! ते रविसुता मूर्धानमासेवते,
केशश्रेणिमिषाद् वृषाङ्कविमलक्ष्माभृत्तटीमण्डनम् ॥ २० ॥
श्रीशत्रुञ्जय एष कुञ्जरवरः प्रोद्दामसौदामिनी-
श्लिष्टाम्भोदमिषेण हेमखचितमत्यग्ररङ्गद्गुडः ।
तत्रोच्चैस्तरचैत्यकोष्टकगतो धर्मं दधानः प्रभो !,
विश्लिष्यद्वि(ष्यन्) विषमेषुमद्भुतगुणं त्वं नाभिभूतो भटः ॥ २१ ॥
दृश्या कुन्तलदम्भतोऽसतटयोस्त्वत्पृष्ठवद्धोल्लस-
त्तूणीरद्वयबाणसंचयशिखासंदोहपिच्छच्छविः ।

१ कल्लोलिनीकान्तः-समुद्रः । २ "गोभिर्यमत्रं" ज । ३ पाथः-जलम् । ४ पङ्कमिवाऽऽचरन्तीत्यर्थः । नामधातुरयम् । ५ विभा-कान्तिः । ६ औषधिपतिः-चन्द्रः । ७ परिवृदः-प्रभुः । ८ योः प्र. ९ त्रिदिवापगा-गंगानदी । १० वृषध्वजः-शिवः । ११ प्रेङ्खोलनं-हिन्दोलनम् । १२ उन्मदा-उन्मत्ता । १३ रविसुता-यमुनानदीत्यर्थः, सा किल कृष्णजलेति कुन्तलसाम्यम् । १४ वृषाङ्कः-ऋषभो जिनः । १५ सौदामिनी-विद्युत् । १६ गुडः-हस्तिपीठगतमास्तरणम् । १७ विषमेषुः-कामः ।

जेतव्यस्तव संज्जितस्त्रिभुवनद्रोहश्च मोहः स्फुर–
द्रागद्वेषकषायपञ्चविषयमायमवीरैर्वृतः ॥ ॥ २२ ॥

उच्चांसस्थलसंस्थकुन्तललताजालेमवालाश्रित–
मत्यासन्नविलोलकर्मलतिकापाशद्वयत्रासतः ।
देव ! त्वत्ककपोलचन्द्रयुगलस्यैणौ प्रणश्य ध्रुवं,
त्वद्वीक्षारसिकौ स्थितौ पुर इमौ श्रीधर्मचक्रान्तिके ॥ २३ ॥

अश्रान्तां विबुधप्रभृतिकत्रैलोक्यलोकस्तुति–
र्वर्षन्ती परितः सुधां श्रवणयोः प्रान्ते तव स्फूर्जति ।
तस्याऽऽस्यन्दवशादिवोद्गतमिदं स्वामिंस्तवांसस्थले–
श्रीनाभेय ! शिरोजराजिमिषतो दूर्वावनं प्रावनम् ॥ ॥ २४ ॥

एवं नाभितनूद्भव मतिलवं कृत्वा मनः सौष्ठवं,
स्वामिन् ! वर्णितकुन्तलं तव नवं यः पापठीति स्तवम् ।
प्राप्य प्राग् विबुधप्रभुत्वविभवं मुक्त्वा च दूरे भवं,
स प्राप्नोति सुखं गलत्परिभवं निःश्रेयसश्रीभवम् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीऋषभकुन्तल [वर्णन] पञ्चविंशतिकास्तवनम् ॥

---

१ सज्जितः–परिहितकवचः । २ "लान्तरालश्रि–" प्र. । ३ एणः–हरिणः । ४ त्वद्वीक्षारसिकौ–त्वद्दर्शनरसिकौ । ५ "न्त" प्र. । ६ नवं–नवं–नवीनम् । ७ भृशं पुनः पुनर्वा पठतीति पापठीति । यङ्लुगन्तमिदम् । ८ "शिवं" प्र. ।

વિબુધવિમલસૂરિ–વિજ્ઞપ્તિ પત્ર.

[આ નીચે આપેલું વિજ્ઞપ્તિપત્ર, વડોદરાની સેન્ટ્રલ લાઇબ્રેરીના સંસ્કૃત વિભાગના અધ્યક્ષ અને 'ગાયકવાડસ્ ઓરિએન્ટલ સીરીઝ'ના સંસ્થાપક સદ્ગત સાક્ષર શ્રીયુત ચિમનલાલ ડાહ્યાભાઈ દલાલ, એમ, એ. પાસેથી અમને મળ્યું હતું. એ વિજ્ઞપ્તિપત્ર ઔરંગાબાદ (દક્ષિણમાં નીઝામના રાજ્યમાં આવેલું એક પ્રસિદ્ધ શહેર) ના સંઘે સંવત્ ૧૮૧૦ ના વર્ષમાં વિબુધવિમલસૂરિને ગાંધલી બંદરે લખેલું છે.

—સંપાદક]

श्रीपार्श्वदेवजी

स्वस्तिश्रीभवनं मनोज्ञवचनं त्रैलोक्यलोकावनं
विद्यावल्लिवनं महष्टभवनं सौभाग्यभूवावनं ।
कल्पतोनोलवनं शिवाध्वजवनं श्रियो वनीजीवनं
पायाग्वेपवनं भृसानिधुवनं पार्श्वं स्तुवे पावनम् ॥ १ ॥

स्वतिश्रीमकरं सरोद्वहकरं गाम्भीर्यरत्नाकरं
श्यामाश्यामकरं जगद्दिनकरं कीर्त्याजितोपाकरम् ।
ध्वस्ताराातिकरं विदांस्तसु(मु)करं श्रीपद्मपद्माकरं
बुद्धाङ्गिमकरं शामाब्धीमकरं पार्श्वं भजे शंकरम् ॥२॥

स्वस्तिश्रीरमणस्तनोतु सततं प्रीते सतां सन्तति
श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वरः कमलीने ने तव पङ्केरुहाम् ।
मोक्तेवायत चक्षुषो जलरुचां वीथीव भोगीद्विपां
सिन्धुनां रजनीसीतेव सरसी जश्मेवबुध्यान्धसाम् ॥ ३ ॥

એવં શ્રીમંતં શ્રી આદિજિનં પ્રણુંમ્ય. શ્રી પાર્શ્વજિનં પ્રણુંમ્ય. શ્રી શાંતિજિનં પ્રણુંમ્ય. શ્રી વીરજિનં પ્રણુંમ્ય. સકલ દેશનગર શિરોમણિ, નરશમુદ્ર, વાપી કૂપ તડાગાદિ વાડી વનખંડ આરામ સુશોભિતે, શ્રી જિનપ્રસાદ શેખર કલશ ધ્વજા મનોહર શ્રેણિ સંશોભિતે, ઉપાશ્રય સાધર્મિક જિન સહિતે ધર્મ જૈન નિત્યોત્સવં સંયુક્તે, ન્યાય પ્રવીણ નરપતિ નગર ઉત્તમ, શ્રી પૂજ્ય ચરણકમલ ન્યાસરેણુ પવિત્રિતે શ્રી ગાંદલીબંદીરમહાનગરે પૂજ્યારાધ્યતમોતમ પરમપૂજ્યાર્ચનીયાત્ પરમપૂજ્ય શ્રી ચારિત્રપાત્રચુડામણી સકલસાધુ શિરોમણી વિદ્વજ્જન મુકુટાયમણી સરસ્વતી કંઠાભરણ સકલ કલા સંપૂરણ ઇત્યાદિક ગુણે કરી અલંકૃત્ય. એક શ્રી જિનઆજ્ઞા પ્રતિપાલક, દ્વિવિધ ધર્મના પ્રકાસક, ત્રિણુ તત્ત્વના આરાધક, ચતુર્ગતિનિવારક, પંચમગતિ સાધક, ખટ કાય રક્ષક, સપ્તભય નિવારક, અષ્ટ મદ ચૂરક નવવિધ બ્રહ્મચર્યધારક, દશવિધ યતિધર્મ પ્રરૂપક, ઇગ્યારે અંગનાં જાણ, બારે ઉપાંગના ઉપદેશક, તેરે કાઠિયાંના રૂપક, ચઉ

વિદ્યાનિધાંન, પનરેં ભેદેં સિદ્ધના પ્રરૂપક, સોલ કલા સંપૂર્ણું શશીવદન, સત્તર ભેદ પૂજાના ઉપદેશક, અષ્ટાદશ સહશ્ર સિલાંગરથ ઉપદેશક, ઓગણીસ કાયોત્સર્ગ દોષ નિવારક, વીસ થાંનક તપ આરાધક, ઇકવીસ ગુણ શ્રાવકના પ્રકાશક, બાવીસ પરીસહના જીપક, તેવિસ સુગડાંગ અધ્યયનના જ્ઞાયક, ચઉવિસ શ્રી જીનેશ્વરની આજ્ઞા પ્રતિપાલક, પંચવીસ ભાવનાના ભાવિક, છવીસ દશાકલ્પ વ્યવહાર આરાધક, સત્તાવિસ અણગાર ગુણના પ્રકાશક, અઠાવીસ લબ્ધિગુણના પ્રકાસક, ઓગણતિસ પાપશ્રુતપ્રસંગ નિવારક, ત્રીસ મહા મોહની સ્થાનકના પ્રરૂપક, ઇગતીસ સિદ્ધગુણના જ્ઞાયક, બત્રીસ લખણેં કરી શોભિત, તેંત્રીસ આસાતના ટાલણહાર, ચઉત્રીસ અતિસય શ્રી તીર્થંકરના ઉપદેશક,

ચઉપઇ

કુંથુ જિણંદ ગણધર સડતીસ, ઉદ્દેશા ખુડીયા અડતીસ;
ગુણચ્યાલીસ કુલગિર નરખિત્ત, ચાલિશ ધણુ શાંતિપવિત. ૧
ઇગયાલીસ ધર્યા યોગી યોગ, દોષ બયાલીસ રહીત લઇ ભોગ;
તિગચાલીસ વિપાકાધ્યયન, ચોથે વર્ગે ચમાલીસ તિમ. ૨
ધર્મતણુ ધણુ પણિયાલ, બંભી લીપી અક્ષર છગ ચયાલ;
અગ્નિભૂત ગૃહ વર્ષ સગયાલ, ધર્મનાથ ગણધર અડયાલ. ૩
ગુણ પંચાસ તે દિગ્આય, ધનુષ પંચાસ અનંત જિનકાય;
ભેદ વિનયના ઇકાવન, મોહનીના નામ છે બાવન્ન ૪
વીર શીખર અનુતર તેપન, તિમ છઉમથાદિન ચઉપન્ન
વીર કહેં અધ્યયન પણપન્ન, વિમલનાથ ગણધર છપન્ન. ૫
ત્રિણ અધ્યયન પીટક સગવન્ન, પંચકર્મ પ્રકૃતિ અઠાવન્ન;
ચંદસંવત્સર દિન ગુણસાઠ, વિમલનાથ તણ ધણુષજ સટ્ઠ. ૬
જોયણ ભઉઇ ઇગસઠ્ઠી ભાગ, બાસઠિ જોયણ ગંગાનો લાગ;
પૂરૂષ સીલાકા પ્રસિદ્ધ ત્રેસઠ, ચોંસઠ સુંદરીના ગુણ લધ્ધઠ. ૭
સૂરમંડલેં નિખધે પણસઠ્ઠિ, તંદુલ આયુ સાગર છાસઠ્ઠ;
શ્રી શ્રેયાંસ ગણધર સડસઠ્ઠ, ધાતકીઇ ગુરૂ જાણ અડસઠ્ઠિ ૮
ગુણ સત્તરિ પયડી વિણ મોહ, સત્તર ધણુ તણુ બારસ જિન સોય;
ઇગસત્તરિ પૂર્વલખ અજિત ગૃહવાસ, શ્રી ગુરૂ બહોત્તર કલાનિવાસ. ૯
એગ અસં તિગસત્તરિ ભાય, ચૌહોત્તર વર્ગે અગ્નિભૂતનો આય;
પંચોતર ઈગભાગ જાણ, મધ્યમ મંડ છિહુંત્તરનેં ઠાંણ. ૧૦
લવ સત્યોત્તરિ મુહુરત થાય, વર્ષ અઠોત્યર અકંપિત થાય;
પોલિ પોલ એક અંતર માંન, સહસ ઓગણયાસી જોયણપ્રમાણ. ૧૧
અસી ધણુષ શ્રેયાંસ પ્રમાંણ, મુની પડિમા ઇકયાસી દિનમાંણ;
બ્યાસી દિન શ્રી વીરજિણંદ, દેવાનંદા કુખવ સંદ ૧૨
સુલસી ગણધર પ્રથમજિનતણા, પઢમ અંગેં પચ્યાસી ઉદ્દેસા ગણ્યા;
સુવિધી તણા છ્યાસી ગણધાર, સગસિ પ્રકૃતિ પટ કર્મ નિધારિ ૧૩
અઠયાસી અહ કીધા વસ, નવ્યાસ અતિક્લ તિસ;
નેઉ ધણુ સીતલ જિનતણું, એદમાંન આગમમાંસુંણું ૧૪

આયુ ગોત્ર વિણુ ખટકર્મની, પ્રકૃતિ એકાણું ઓઘે સુણી;
બાણુ વર્ષ ગોતમનો આય, ત્રાણુ મણુચંદ્રપ્રભ થાય. ૧૫
ચોરાણું ગાથાંનો ભેદ, પંચાણુ ગણુ અજિત જિનદેવ,
છન્નુ લાખ ભવ અતિ ભલા, વાસુ કુમાર તણુ નિરમલા. ૧૬
ઉત્તર પ્રકૃતિ સત્તાણુ સાખિ, આઠ કર્મની ઓઘે દાખિ;
અઠાણુ ભાઈ ભરતના, સહસ નિવાણું જોયણુ મેરૂના. ૧૭
પાર્શ્વનાથ સતવર્ષજ આય, એકાધિક સતત સમુદાય;
બીડુત્તર સત્ત ભાષા ભેદ, વિદ્યા ચઉદ તણા લહો વેદ. ૧૮
દોધક ભેદ તણા મંડાણ, તિડોત્તર સતના તુહ્મિ જાંણ;
રાગ ભેદ ચિડોત્તર ભલા, દોધક ભેદ પંચસત નિરમલા. ૧૯
છડોત્તર સત્ત રાગ મૂર્છના, સાત અધિક સત તસ આમના;
માલા મણીયા એકસો આઠ, તિણ જપેં સૂરિમંત્રનો પાઠ. ૨૦
સહસ લાખનેં કોડ વિચાર, ઇણિપરિજ્ઞાપક વિવિધ પ્રકાર;
સુરગુરૂ સમસેં અવતાર, તપાગછ મુની તું આધાર. ૨૧
ગચ્છનાયક ગચ્છાધિપ સાર, સુંદર મૂરતિ મોહનગાર;
કરતો ભવિજનનેં ઉપગાર, જિમ વરસે પૂષ્કર જલધાર. ૨૨
ઇત્યાદિક ગુણુ નહિં મણા, છભ એકકિસ કહિઇ ઘણા;
શ્રી વિબુધ વિમલ સૂરીશ્વરરાય, સાંપ્રત જેહનો સુજસ ગવાય. ૨૩

શ્રી ઇત્યાદિક ગુણેં કરી વિરાજમાંન, ઇત્યાદિ બહુ વિજ્ઞાપક, શ્રી શ્રી પૂજ્યજી, જાઇ સંપન્ને, બલસંપન્ને, કુલસંપન્ને, રૂવ સંપન્ને, દંસણ સંપન્ને, ચારિત્ર સંપન્ને ઉયંસી, તેયંસી, જસંસી, જિઅકોહે, જિઅમાંણે, જિઅમાએ, જિઅલોહે જિઅપરીસહે જિઅ ઇંદીએ, ઇત્યાદિ ગુણેં કરી અલંકૃત. વાદીગજસીંહ વાદી કદલી કૃપાણ, વાદિ મુખભંજણ, સકલ ભૂપાલ રંજણ, વાદિ તિમિર ભાસ્કર, વાદિ રાવણરાંમ, વાદિ તારાચંદ, વાદી પર્વતઇંદ, સરસ્વતી લબ્ધ પ્રસાદ, શ્રી જિનસાસન ઉદ્યોતકારક, ધંન્ય તે રાજારાણા યુવરાજ્ય ઇસર ઇભ્ય વિવહારિયા જેહે શ્રી પૂજ્યજીના ચરણકમલ વાંદ્યા અને વાંદે ધન્ય તે શ્રાવક ધન્ય તે શ્રાવિક જેહ શ્રી પૂજ્ય નિરંતર અમૃતમય દેશના સાંભલેં. સમુદ્રપરિં ગંભીર, મેરૂની પરિંઅચલ, ભારંડ પંખિની પરેં અપ્રમત્ત, કુંજરની પરિ સૌંડીર, સીંહ જિમ દુર્ધ્ધર, તિમ કર્મની લેપેં કરી રહિત, પરમબંધવ, પરમસ્નેહી, પરમઉપગારિ, જંગમતીર્થ, પંડિતજિન લલાટ ચુડામણિ ગચ્છાધિપતિ, ગચ્છમંડણ, ગચ્છનાયક, ધરમ ભાર ધુરંધર વાચ્યા અવિચલ. કિંબહુના—

દૂહા

ગયણંગણુ કાગલ કરૂં, લેખણ કરૂં વન રાય;
મહીયલ સઘલી મસકરૂં, તોહિ ગુણુ લખ્યા જાય; ૧
અહ હીયડું દાડિમ કલી, ભરીયો તુહ્મ ગુણુ ગેહ,
અવગુણુ એક ન સાંભરે, વિસારીઇં જેહ. ૨
દિપડા તે કિમ વિસરેં, જે સદગુરુ સુવિચાર;
દિનદિન પ્રતેં સાંભરેં, જિમ કોયલ સહકાર. ૩

વિસાર્યાં નવિ વીસરેં, જે સદ્‌ગુરૂ કિમ કિમ ન વિસરેં;
સમર્યાં ચિત્ત ન મોય, જ્યે વિણ્ ઘડી ન જાય. ૪

દૂહા

સરસતિ કંઠાભરણ, તપ તેજેં દિનકાર;
ચારિત્ર પાત્ર ચૂડામણી, ભવિજન તારણ હાર. ૧

શ્રી શ્રી શ્રી અતિ ઘણી, એકસો આઠ અભિરાંમ;
શ્રી શ્રી વિબુધવિમલ સૂરજી, સપરિવાર ચરણાન. ૨

આગ્યા કારિ ગુરૂપદેં, પંકજ રેણ્ સમાંન;
દાસ ભાવ કરી આપણો, લિખેં લેખ સિરનાંમ. ૩

કુલદીપક કુલઉદ્દ્યોતકારક, કલિકાલ કલ્પદ્રુમ; જિમ દેવનાં માંહેં ઇંદ્ર, તારામાંહેં ચંદ્ર, ગિરમાંહિ મેરૂ, વાજિત્રમાંહેં ભેરૂ, પર્વમાંહિ શ્રીપર્યુષણાપર્વ, હસ્તિમાંહિ એરાવણ, સૂત્રમાંહિ શ્રી કલ્પસૂત્ર, મંત્રમાંહી નવકાર, રતનમાંહિ ચિન્તામણી, તિમ ગચ્છમાંહિ શ્રીતપગચ્છ, તેમાંહિ શ્રી ભટ્ટારકનેં ગુણેંકરી સુસોભિત છો, શ્રી શ્રી પૂજ્યજીના ગુણ અનંત એક મુખેં એક જીભેં કિમ વરણવાય. જો સરસ્વતી પ્રસન્ન થાય તોહિ લિખ્યા ન જાય. સાધુ મંડલી સોભીત પરમ ઉપગારી શિરોમણી, ભવ્ય જીવનેં સમકિત દાતાર ઇત્યાદિ સર્વ ઉપમા જોગ્ય, પરમપૂજ્ય પરમગુરૂ શ્રીમત્તપાગચ્છાધિરાજ સકલભટ્ટારક પરંપરા પુરંદર, ગુરૂ ભટ્ટારક શિરોમણી ભટ્ટારક શ્રી ૧૦૮ શ્રી શ્રી શ્રી શ્રી શ્રી વિબુધવિમલસૂરીસર સપરિવારન્ ચરણકમલાન્ શ્રી બરાનપૂર નગરાત્ સદાસેવક આગ્યાકારિ ચરણસેવક આગ્યા પ્રતિપાલક, દીપાસા મોતિચંદસા, તથા ગોકલદાસ, ગોપાલદાસ, વણારસીદાસ, ગુલાબદાસ, દુલભદાસ, વધુસા, હર્ષચંદસા, કચરાસા, વધુ, સોની ભોજસા ઉદાસા, ડુંગરસા મેઘાસા, ઝવેરચંદ, ઝવેરસોની, નાલચંદ, ધનાસા, રાયચંદસા, ફીકાસા, પ્રતાપમોદિ, ખેતાસા, જીવણદાસ, હઠીસંગ, સોભાગસા; રૂપાસા, સંકલસા, કપૂરસા, દેવચંદસા, તારાચંદસા, ગલાલસા, હેમચંદસા, ગલાલસા, પ્રમુખ સમસ્તસંઘની વંદના ૧૦૮ વાર અવધારયોજી, ઇહાં શ્રી પૂજ્યજીનેં વાંદવાનેં સંઘનેં ઘણી ઉત્કંઠા છેં, તે દિવસ કેહવો હસેં જે શ્રીના મુખની દેસના સાંભલશું એહવી અમને ઘણી ઉત્કંઠા છેં, ઇહાં શ્રીજીનેં પ્રસાદેં કરી પજુસણ પરવ નિર્વિઘ્નપણેં થયા છેં, અઠાઇ તથા છઠ અઠમાદિક ઘણો તપ થયો છે. ઇહાં શ્રીજીના સેવક આગ્યાકારિ પં. માંનવિમલજી, પં. તિલકવિમલજીની વંદના ૧૦૮ વાર અવધારયોજી. ઇહાં શ્રીજીનો પરિવાર જથા જોગ્ય જોઇઇ તેહવો છે, શ્રીજી એકવાર ચોમાંસું ઉત્તરે દેવયાત્રા કરવા પધારયોજી. આંહિનો સંઘ શ્રીજીની દેસના સાંભલવાનેં ઘણો હર્ષ રાખે છેં, ઇહાં શ્રીજી સંઘ ઉપર સ્નેહ રાખો છો તેહથી વિશેષ રાખયોજી, તુહ્મારા ગુણ અહર્નિશ નીરંતર સાંભરેં છેં જી. તુહ્મને સંઘ ધર્મકરણિવેલા અવસરેં નીત્ય સંભારેં છેં જી. તે માટે એકવાર પતિતપાવન કરવા પધારયોજી સંઘ દેવયાત્રા અવસરેં નિત્ય સંભારેં છેં જી. તુહ્મ્યે પણ શ્રી બરાનપૂરના સંઘનેં સંભારવોજી. શરિરનાં જતન કરયોજી. બાઇ જમકુ બાઇ નંદકુંઅર, બાઇ સામકુંઅર, બાઇ મેંઢીબાઈ, માનકુંઅરબાઈ, હેજબાઇ, બાઇ ફીલાં, સમસ્ત શ્રાવીકાની વંદના ૧૦૮ વાર અવધારયોજી. સંવત ૧૮૧૦ આસો સુદિ ૧૫ સંઘેં શ્રીજીનેં વંદના લખી છેં જી તે જાણવુંજી સંઘ ઉપર કૃપાદ્રષ્ટી રાખો છો તેહથી વિશેષ રાખવીજી. શ્રીજી જે જે દેશનાં દેવ જૂહારેં તિહાંથી બરાનપૂરના સંઘનેં સંભરાવોજી. ઇતિ શ્રેયોઽસ્તુ મંગલં.

અથ ઢાલ રસીયાની

પ્રથમ તીર્થંકર પયકમલેં નમું, સમરૂં સરસ્વતિ માય; સુ.
પંચમ આરે હો મુનીવર પ્રગટીઓ, ભેટયા ભવ દુખ જાય સુ. ૧
વિશુધ વિમલસૂરી વંદો ભાવસું, નિકંદો કરમની કોડિ; સુ;
ગુણેં કરી અમૃત ભર્યો, કુંણુ કરે એહની હોડિ. સુ. ૨
ગુણ છત્તિસેં અંગે ઓપતા, ગોપતા મન વચકાય; સુ.
પંચસુમતિ મહાવ્રત પાલતા, પંચાચાર પણ કહેવાય. સુ. ૩
આગમ પસ્તાલીસ જસ મુખ વસેં, અષ્ટ મહાવ્યાકર્ણું પંચકાવ્યિ; સુ.
અનેર અનોપમ ગ્રંથ ગુણેં ભર્યા, ન્યાય ચિંતામણી ભાવિ. સુ. ૪
તપ તીક્ષણતાં અંગેં આદરેં, અનુભવ રસને ભંડાર; સુ.
વિશુધવિમલસૂરિ શાસન સોભતા. અઘહર દિનકર જિમ અંધકાર. સુ. ૫
માતા રહિયાંબાઈ કુખેં અવતર્યો, પીતા ગોકલ ગુણવંત; સુ.
પ્રાગવંસ પૂન્યવંત અજુઆલીઓં, મહીમા મેર મહંત સુ. ૬
તુમ પદ પંકજ અંમ મન મધુકર, ધન ચાતુકની રે પ્રીતિ; સુ.
... ...એહ અમારી રે પ્રીતિ. સુ. ૭
ધન ધન ક્ષેત્ર સીરોમણ ગાંદલી, ધન ધન ગીરૂઆરે પાસ; સુ.
ધન ધન સંઘ શ્રાવક નેં શ્રાવિકા, અવિચલ ધરમ ઉલાસ. સુ. ૮
બરાનપુરના સંઘની વંદના બ્યાંચજો એકર જોડિ; સુ.
... ...ગાંદલી નવ નીધ કોઠી કલ્યાણ સુ. ૯

વિશુધવિમલસૂરીસર સ્વાધ્યાય સંપૂર્ણ.



विमलपादभृत्श्रीआनन्दाभिधानमुनीश्वराः
सुविहितवराः सद्गीतार्थास्तपागणमण्डनं
कृतनिजहितास्तेषां पट्टप्रभाकरशेखराः
विजयपदयुक्श्रीदानाख्या युगे शुभसूरयः ॥ १३७ ॥

વ્યાખ્યા. અથ ગુરૂ પરંપરાની પ્રશસ્ત લિખીએ છે જે સિદ્ધાંતના અર્થ પરંપરાગત હોય તેહ સત્ય જાણવા તેહજ ગુરૂની પરંપરા જે છે તેહ સમ્યક્ત્વનું મૂલ કારણ છઇ તે માટે ગુરૂપરંપરાની પ્રશસ્તિ લિખવી યોગ્ય છે.

જે શ્રીવર્ધમાન સ્વામી તો સકલ ગુરૂપરંપરાનું કારણ છે, તેહ માટે પ્રથમ પટ્ટોધર છે તે થી સુધર્મા સ્વામી થકી શ્રી હેમવિમલ સૂરીશ્વર પર્યંત । પંચાવણ પાટ સુધી પપ સુદ્ધ પરંપરા ચાલી આવી છે । તેહને પાટેં । છપ્પનમેં પાટેં ૫૬ । વિમલપદ ભૃત્ । શ્રી આનંદાભિધાન મુનીશ્વરા ક૦ । વિમલપદના ધરનાર્યા શ્રીઆણંદવિમલ મુનીશ્વરા એ હવા આચાર્ય પટ્ટોધર । સુવિહિતવરા ક૦ ક્રિયાવંત સાધુમાંહી વરા પ્રધાન સદ્ગીતાર્થાઃ ક૦ ઉત્તમ ગીતાર્થ બહુ શ્રુત તપાગણમંડનં તપાગચ્છના મંડનભૂત નિજહિતા ક૦ ।

પોતાને કર્યું છે હિત જેહનેં એહવા શ્રી આણંદ વિમલ સૂરીશ્વર તિહકાલે લુંકાનો મત ઘણો વિસ્તર્યો છે । તેહ ગુરૂની આશાં થકી । સંવત્ ૧૫૮૨ । શ્રી આનંદ વિમલસૂરીશ્વરઈ ક્રિયા ઉદ્ધાર કરીને ઘણા જીવનેં પ્રતિબોધ્યા તેહ પાટે શ્રી વિજયદાનસૂરીશ્વર સત્તાવન પાટનેં વિષે થયા । તેષાં પટ્ટપ્રભાકર શેખરા ક૦ તેહના પાટને વિષે પ્રભાકર ક૦ સૂર્યનઇ વિષે શેખરા મુકુટ સરખા યુગનેં શુભ સૂરય: ઉત્તમ સૂરિ છે । ૧૩૭

तेषां पट्टवियत्तले शविजया श्रीहीरसूर्योपमाः
क्षित्यामक्बरसाहिना द्युतिमता विख्यातसत्कीर्त्तयः ।
श्रीसेनाद्विजयाख्यसूरिसुभगाः पट्टे सपादास्पदं
सूरिश्रीविजयादिदेवमुनयो गच्छे तपानामनि ॥ १३८ ॥

વ્યાખ્યા—તેષાં ક૦ તેહ **વિજયદાનસૂરીશ્વરનેં** પટ્ટરૂપ આકાશ તલનેં વિષે વિજય પદ સહિત શ્રી હીરસૂર્યોપમા ક૦ અઠાવન્નમા પાટનેં વિષે શ્રી **હીરવિજયસૂરીશ્વર** થયા । તેહ સૂર્યમાન પ્રતાપી થયા , ક્ષિત્યાં ક૦ પૃથિવીને વિષે અકબરસાહિના દ્યુતિમતા ક૦ જ્યોતિવંત તેહને પ્રતિબોધવ્યે કરીને સત્કીર્ત્તય: ક૦ ભલી છે કીર્ત્તિ તેહની । ૫૮ । શ્રીશેનાદ્રિજયાખ્યસૂરિસુભગા ક૦ । ઓગુણસાઠમેં પાટઇ શ્રી **સેનવિજયસૂરિ** નામા થયા પટ્ટે સપાદાસ્પદં શ્રી હીરવિજયસૂરીશ્વરનેં પાટેં સવાઇ થયા સૂરિશ્રી વિજયાદિદેવ મુનયો ક૦ સાઠમેં પાટેં શ્રી **વિજયદેવસૂરીશ્વર** થયા ગચ્છે તપાનામનિ ક૦ તપાગચ્છને વિષે થયા । ૬૦ । ૧૩૮ । કાવ્યાર્થ:

तेषां पट्टे प्रभाख्या विजयपदयुताः सूरिमुख्या बभूवुः
तत्पट्टे ज्ञानसूरिप्रवरसविमलाः साधुसंविज्ञसंज्ञाः ।
श्रीसौभाग्याभिधाना जलधिपदयुजः सूरिसंपत्प्रयुक्ता—
स्तेषां पट्टे तपस्वी सुमतिजलनिधिसूरिसंज्ञान्वितोऽभूत् ॥ १३९ ॥

વ્યાખ્યા—એકસઠિમેં પાટે શ્રી **વિજયપ્રભસૂરિ** થયા. બાસઠિમેં પાટઇ શ્રી **જ્ઞાનવિમલસૂરીશ્વર** થયા. સાધુસંવિજ્ઞસંજ્ઞા ક૦ સાધુમાંહિ **સંવેગની સંજ્ઞાવંત** આચાર્ય થયા તિહાં ઢુંઢિયાનો મત વિશેષેં પ્રવર્ત્યો તિહાં સંવેગી સાધુના શ્રી પૂજ્ય થયા । શ્રીસૌભાગ્યભિધાના જલધિપદયુજ: સૂરિસંપત્પ્રયુક્તા:—બાસઠિમઇ ૬૨. પાટઈ થયા તેહ શ્રી **જ્ઞાનવિમલ** સૂરીશ્વર નઇ પાટે ત્રેસઠિમેં પાટેં શ્રી **સૌભાગ્યસાગર** સૂરિ થયા તેહ સૂરિની સંપદાસહિત થયા: । તેષાં પટ્ટે તપસ્વી૦ તેહશ્રી સૌભાગ્યસાગરસૂરીશ્વરને પાટઇ. ચૌસઠિમેં શ્રી **સુમતિસાગર** સૂરીશ્વર થયા । તેહ સુમતિસાગરસૂરીશ્વર કેહવા છે તપસ્વી૦ ક૦ મહાતપસ્વી । શ્રી વર્ધમાન તપસ્યાના કરનાર્યા એક ઘીની વિગઇ વિના પંચ વિગઇના પચ્ચખાણ કરનાર્યા । ૧૩૯ । કાવ્યાર્થ: ।

धत्ते न्याययशा यशोविजयतां श्रीवाचको नामनि
साहाय्याद् बुध ऋद्धिनामविमलः संवेगमार्गास्थितः ।
तच्छिष्यो गुरुकीर्तिकीर्तिविमलो बुद्धो गुरुस्तच्छिशुः
सूरिश्रीविबुधाभिधानविमलो ग्रन्थं व्यधत्तेमकं ॥ १४० ॥

વ્યાખ્યા—પૂર્વ જે કહી તેહ શ્રીઆનંદવિમલસૂરીશ્વર થકી ગુરૂની પરંપરા કહી તેહ આચાર્યપદની પરંપરા જાણવી જે ગ્રંથકર્તા વિબુધવિમલસૂરી । તેહના આચાર્યપદના દાતા શ્રી સુમતિસાગર સૂરીશ્વર

થયા. દીક્ષાગુરૂ તો પંડિત શ્રી**કીર્તિવિમલ** ગણિ પંન્યાસપદ ધારી । તેહના ગુરૂશ્રી **ઋદ્ધિવિમલ** ગણિ મહાપુરૂષ મહાતપસ્વી સંવેગી થયા તે । સંવત્ **૧૭૧૦** વર્ષે ગૂજ્જરાતમધ્યે ધાણધારમધ્યે શ્રી **પાલણપુર** ને પાસે **ગોલાગ્રામ** મધ્યે શ્રી **મહાવીર** સ્વામીની સાનિધ્યેં ક્રિયા ઉદ્ધાર કર્યો । તેહ કાલેં શ્રીયશોવિજય ઉપાધ્યાય કાશિમાંહિ । ન્યાયશાસ્ત્ર ભણીને ઇહાં પધાર્યા છે । તેહ સંવેગપક્ષી બહુશ્રુત વિચરતા હતા તેહની સાહાય્યઇ । શ્રી **ઋદ્ધિવિમલ** ગણિ ક્રિયા પાલતા હવા । તેહના શિષ્ય પં । શ્રી કીર્તિવિમલ ગણિ થયા તે ગુરૂકીર્તિ ક૦ મોટી છે કીર્તિ જેહની । અનેક ભવ્ય જીવને પ્રતિબોધીને દીક્ષા દીધી છે । જેહના ગુણ ઘણા વિખ્યાત છે જગત્રયમાંહિ છે । તેહ બુધ્ધ ક૦ બહુશ્રુત ગુરૂ ક૦ ગ્રંથકર્ત્તાના ગુરૂ છે । તચ્છિશુઃ ક૦ તેહના જે શિષ્ય તેહ ગ્રંથકર્ત્તા સૂરિશ્રી વિબુધાભિધાન વિમલો ક૦ । શ્રી સુમતિસાગર સૂરીશ્વર સંવત **૧૭૯૮ વર્ષે વૈશાખ સુદિ ત્રીજે સૂરિપદની** સ્થાપના શ્રી **શંખેશ્વર** ગ્રામ મધ્યે કરી તિહાં એક સ્થાપના કરી છે ગ્રંથં વ્યધત્તેમકં ક૦ । તેહ ગ્રંથ કર્ત્તાઈ ઇમિકં ઇમિમેવ ઇમકં ગ્રંથં ક૦ સમ્યકત્વપરીક્ષા રૂપગ્રંથં પ્રતિવ્યધત્ત ક૦ કરતા, હતા. । ૧૪૦ ।

> नौरंगावादपुर्यां प्रथितजिनगृहश्राद्धवर्गान्वितायामाचार्यो यौवराज्ये स विमलमहिमा सूरिनाम्ना प्रसिद्धः ।
> इत्याद्यैः सारशिष्यैः शुभपरिकरितो ग्रंथरूपं त्वकार्षीत्
> भव्यानां धर्महेतोः स विबुधविमलः शुद्धसम्यक्परीक्षम् ॥ १४१ ॥

વ્યાખ્યા—જે નૌરંગાબાદ સહર નગરને વિષે તેહ પુરી કેહવી છે પ્રથિત૰ પ્રથિતાનિ કારિતાનિ જિનગૃહાણિ યૈસ્તે શ્રાદ્ધવર્ગાસ્તૈરન્વિતા યુક્તા—જે નગરિને પ્રથિત ક૦ કરાવ્યા છે જિનના ગૃહ ક૦ શ્રી તીર્થંકરદેવના દેહર્યાં જે શ્રાદ્ધના સમૂહ એહવા ઘણા શ્રાવક છે જૈનના દેહર્યાં પ્રતિમા પ્રતિષ્ઠા દીક્ષા મહોત્સવના કરનાર્યાં દ્રવ્ય સ્તવરૂપઈ કરીને સમ્યકત્વ નિર્મલ કરતા થકા એહવ્યા શ્રાવક ઘણા છે. તેહ શ્રાદ્ધવર્ગા સહિત એહવી પુરી તેહને વિષે । માચાર્યો યૌવરાજ્યે સ વિમલમહિમા સૂરિ નામ્ના પ્રસિદ્ધ ક૦ તેહ નગરીને વિષે નવો એહવ્યો છે તેહને વિષે શ્રી શાંતિનાથ ભગવંતના દેહરા મધ્યે **સંવત્ ૧૮૧૩ ના વર્ષે ફાગુણ સુદિ પંચમીને** દિનેં સા કર્પૂરચંદ મોતીચંદ । તથા સા દેવચંદ લાલજી પ્રમુખ સંઘે ઘણ્યો મહોચ્છવ કરીને આચાર્યપદની સ્થાપના કરી । તેહ શ્રી **મહિમાવિમલસૂરિ** રિતિ નામઈ કરીને પ્રસિદ્ધ છે । ઇત્યાદ્યૈઃ સારશિષ્યૈઃ શુભપરિકરિતો ગ્રંથરૂપં ત્વકાર્ષીત ક૦ । જેહ એહ ગ્રંથ **કર્ત્તા છે તેહના શિષ્યઃ મુખ્ય શ્રીમહિમાવિમલસૂરિપ્રમુખૈઃ** સાર શિષ્યૈં ક૦ પં શ્રી ક્ષાંતિવિમલ પ્રમુખ અનેક શિષ્યઈ શુભ પરિકરિતઃ । શુભ પરિવારઈ પરવર્યો એહવ્યો ગ્રંથકર્ત્તા ગ્રંથરૂપં ત્વકાર્ષીત્ ક૦ તુ પુનઃ । ગ્રંથ રૂપ પ્રતિ અકાર્ષીત્ ક૦ કરતા હવા । તેહ ગ્રંથ રૂપ કેહવ્યો છે । સમ્યક્પરીક્ષં ક૦ । યથાર્થ સત્ય છે પરીક્ષા જેહને વિષે સ સમ્યક્પરીક્ષં । ૧૪૧

> यत्राराध्या जैन्यः प्रतिमा सम्यग्दृष्टिभिः श्राद्धैः
> ग्रंथो विबुधविमलगणिकृतः स सम्यक्त्वपरीक्षेति ॥ १४२ ॥

વ્યાખ્યા—યત્રારાધ્યા જૈન્ય ક૦ જેહ ગ્રંથને વિષે આરાધ્યા ક૦ આરાધવા યોગ્ય પૂજવા યોગ્ય છે જૈન્યઃ ક૦ જૈનની પ્રતિમા સમ્યગ્દૃષ્ટિભિઃ શ્રાદ્ધૈઃ ક૦ । સમ્યગ્દૃષ્ટિ શ્રાવકઇ શ્રીવીતરાગની પ્રતિમા પૂજવા યોગ્ય કહી છે । તેહ ગ્રંથો સ૦ ક૦ તેહ **સમ્યક્ત્વ પરીક્ષેતિ** એહવ્યું નામ છે । ૧૪૨ આર્યાઃ

शाके नंद ९ वार्द्धि ७ रस ६ चंद्र १ मिते १६७९ संवत्सरे ज्येष्ठमासि।
वह्नि ३ विधु १ पर्वत ८ चंद्रमिते १८१३ वीरसंवत्सरे शुभे ॥ १४३ ॥

શાકે ક૦ શ્રી શાલિવાહન રાજાઈ પ્રવર્ત્તાવ્યો જે શાક સંવત્સર **સંવત ૧૬૭૯ ના વર્ષે** વહ્નિ ક૦ ત્રિણુ ૩ વિધુ ક૦ એક ૧ પર્વત ક૦ આઠ એટલ્યે **સંવત્ ૧૮૧૩ ના વર્ષે જ્યેષ્ટ માસિ** ક૦ જ્યેષ્ટ માસને વિષે । એહ વીર સંવત્સરને ક૦ વીર વિક્રમાદિત્યના સંવચ્છરને વિષે એહ ગ્રંથ સંપૂર્ણ થયો । ૧૪૩ । આર્યાર્થઃ

शुक्लपक्षत्रयोदश्यां समाप्तोऽयं ग्रंथः स भानुविमलसाध्वर्थे ।
बालावबोधो भाविजीवसुखकृत् ॥ १४४ ॥

વ્યાખ્યા—શુકલ પક્ષ ત્રયોદસ્યાં૦ શુકલ પક્ષને વિષે શુદને વિષે શુદ તેરસીનેં વિષે સ ગ્રંથઃ । સમાપ્તોયં ક૦ । એહ પ્રત્યક્ષ ગતઃ । સમ્યક્ત્વપરીક્ષારૂપ ગ્રંથ સમાપ્તઃ સંપૂર્ણ થયો ભાનુવિમલ સાધ્વર્થે ક૦ । સાધુ ભાનુવિમલના આગ્રહ થકી એહ ગ્રંથ કર્યો બાલાવબોધો ક૦ । બાલકનેં અવબોધનું કારણ છે । ભવિજીવસુખકૃત્ ક૦ જે ભવિ મોક્ષગામી જીવને તો સુખકૃત્ ક૦ સુખનો કરનાર્યો એહ ગ્રંથ છે । કદાચ કોઇક અરૂચિ જીવને । એહ ગ્રંથ દુઃખદાયી પણ હર્યે । તેહના દોષને ઉદયઇ કરીને પણ એહ ગ્રંથનો દોષ ન જાણુવ્યો. જ્યો ઉત્તમ જીવને સુખદાયી છે । તો મહા કલ્યાણનું કારણ છે । ૧૪૪ । આર્યાર્થઃ ।

यत्किंचित् सिद्धान्तविरुद्धं लिखितमनुपयोगेन
तत् शोधनीयं विद्वद्भिर्वा मिथ्यादुष्कृतं मेस्तु । १४५ ।

વ્યાખ્યા—યત્કિંચિત્ ક૦ જે કાંઇ સિદ્ધાંત વિરૂદ્ધ ક૦ શ્રી આવસ્યક પ્રમુખ સિદ્ધાંત થકી જે કાંઇ વિરૂદ્ધ વિપરીત લિખિતં ક૦ । જે કાંઇ વિરૂદ્ધ લિખાણ્યું હોએ । અનુપયોગેન ઉપયોગ રહિત પણે કાંઈ વિરૂદ્ધ લિખાણું હોએ તત્ શોધનીયં વિદ્દદ્ભિ ક૦ તેહ શોધવ્યું વિદ્દદ્ભિ ક૦ પંડિતઈ એહ ઉપકાર કરવ્યો પંડિત તેહજ નઈં કહીએ । જે પર ઉપગાર કર્યે વા ક૦ અથવા મે ક૦ મુઝને મિથ્યા દુઃકૃતં ક૦ જે દુઃકૃત જે પાપ જે ઉત્સૂત્ર કાંઇ અણુપયોગઇં લિખાણ્યું હોએ । તેહનું જે પાપ મિથ્યા ક૦ ફોકટ અસ્તુ ફોકટ થાજ્યો જે ઇહાં ગ્રંથને વિષઈ જાણીને તો સિદ્ધાંત વિરૂદ્ધ લિખ્યું નથી । પણ અજાણતાં કાંઇ લિખાણ્યું હોએ તો તેહ વિચારીનઇ શોધજ્યો પંડિત હોય તેહ મુઝને તો મિચ્છામિ દુક્કડ હોજ્યો । મંગલમસ્તુઃ । ૧૪૫ । આર્યાર્થ ॥ ઇતિ શ્રી સમ્યક્ત્વપરીક્ષા. સમાપ્ત । સંવત ૧૮૧૪ ના વર્ષે ફાગુણ વદિ ૭ । વાર બૃહસ્પત દિને લિખિતં ॥ શ્રી નૌરંગાબાદ મધ્યે ॥

આજીવિક સંપ્રદાય.

[મૂળ લેખક એ. એફ. આર. હોઅર્ન્લે]

(અનુવાદક શુ. પુ. બારોટ)

[ડૉ. એ. એફ. આર હૉઅર્ન્લે એ જાણીતા યુરોપીયન સ્કોલરમાંના એક છે તેઓનો પરિચય જૈનસાહિત્ય સંશોધક પ્રથમ ખંડના ચોથા અંકમાં થોડો આપવામાં આવેલો છે. તેથી અહિં તેની પુનરુક્તિ આવશ્યક નથી. અહિં માત્ર એટલું જ જણાવવું બસ થશે કે આ ઇંગ્રેજીમાં તેમણે લખેલો 'આજીવક' વિષયક એક નિબંધ 'ઇન્સાઇક્લોપીડિયા ઑફ રિલિજીયન્ એન્ડ એથિક્સ'ના વૉ. પહેલાના પૃ. ૨૫૯ ઉપર પ્રસિદ્ધ થએલો છે. જેનો ગૂજરાતી અનુવાદ નીચે આપવામાં આવે છે.

આ નિબંધ અનેક દૃષ્ટિએ ઉપયોગી છે. તેમાં આજીવક સંપ્રદાય અને તેના નેતા ગોશાળક વિષે પુષ્કળ માહિતી બૌદ્ધ અને જૈન ગ્રંથો ઉપરથી એકત્ર કરવામાં આવી છે. નિબંધ વાંચતાં જ લેખકના વિશાળ વાચન, મનન અને પૃથક્કરણ કૌશળની છાપ પડયા વિના રહેતી નથી. એમાંની કેટલીક અટકળો કલ્પિત હોવાનો સંભવ છે. પણ ખરા અભ્યાસીએ સાહિત્ય ઉપરથી તટસ્થભાવે વસ્તુ કેમ તારવવી એનો સચોટ દાખલો આ નિબંધ પૂરો પાડે છે.

પશ્ચિમીય વિદ્વાનોની અભ્યાસપદ્ધતિ, અને વિચારસરણિથી માહિત થવા ઇચ્છનાર એક મુનિશ્રી માટે મૂળ ઇંગ્રેજી નિબંધનો ગૂજરાતી અનુવાદ કરવામાં આવેલો પણ એ અનુવાદ બીજા જિજ્ઞાસુઓને પણ ઉપયોગી થાય એવી ધારણાથી તે મુનિશ્રીની સમ્મતિથી એ અનુવાદ અત્રે પ્રસિદ્ધ કરવામાં આવે છે.

આ અનુવાદ કેવળ ભાવાનુવાદ ન હોતાં મુખ્યપણે શાબ્દિક અનુવાદ છે. મૂળ સાથે મેળવનારને સગવડ પડે એવી દૃષ્ટિથી અનુવાદ કરવામાં આવેલો તેથી ક્વચિત્ ક્વચિત્ વાક્ય રચના ગૂજરાતી ઢબને બંધ ન બેસે તેવી જણાશે છતાં કાળજી પૂર્વક વાંચનારને તેમાંથી અર્થબોધ થવામાં કશી જ અડચણ આવે તેમ નથી. આ નિબંધમાં વપરાયેલા પુસ્તકોના સંકેતોનું સ્પષ્ટીકરણ નિબંધના અંતમાં આપવામાં આવે છે.

સંપાદક.]

૧ ઉપોદ્ઘાત—બૌદ્ધોના[૧] અને જૈનોના, બન્નેના પવિત્ર ગ્રંથો ઉપરથી આપણે જાણીએ છીએ કે ઇ. સ. પૂર્વે છઠ્ઠા સૈકાના પ્રાયઃ અંત ભાગમાં બૌદ્ધ અને જૈન ધર્મની સ્થાપના સમયે આજીવિક નામનો એક સમકાલીન ભિક્ષુસમૂહ હસ્તી ધરાવતો હતો. અમુક જૈન શાસ્ત્રોમાં આપણને વિશેષ માહિતી મળે છે કે આ સમૂહનો સ્થાપનાર ગોસાલમંખલીપુત્ત[૨] નામનો માણસ હતો. સપ્તમાંગમાં[૩] ગોસાલે એક જણને–સદ્દાલપુત્તને–આજીવિકસમૂહમાં સ્વીકાર્યાનું કહેવાયું છે. અને ભગવતી સૂત્ર નામના પંચમાંગમાં આપણને એ સમૂહે મુખી તરીકે સ્વીકારેલ ગોસાલનો વૃત્તાંત મળે છે. બુદ્ધે ઉપાલંભાર્થે વીણી કાઢેલા ૭ ભિક્ષુસંઘોના નેતાઓમાંના એક તરીકે અનેકવાર બૌદ્ધ પવિત્ર ગ્રંથો[૪] ગોસાલ મંખલીપુત્તનો ઉલ્લેખ કરે છે; છતાં સ્પષ્ટ રીતે, આજીવિકો સાથે સંબંધ ધરાવનાર તરીકે એઓ એનો કદિ ઉલ્લેખ કરતા નથી. પરંતુ બન્ને (જૈન અને બૌદ્ધ) એને સ્વતંત્ર ઇચ્છાશક્તિના અને નૈતિક જવાબદારીના નિષેધનો ધાર્મિક તાત્ત્વિક સિદ્ધાંત–નિયતિવાદ–ધરાવનાર તરીકે લખે છે એ હકીકત દર્શાવે છે કે આ બાબતમાં બૌદ્ધ પરંપરા જૈનથી યથાર્થ રીતે જુદી પડતી નથી.

---

૧. અં. નિ. ૩, ૨૭૬; ડા. પૃ. ૭૨, ૨૨૦ ૨. પાલી मंखलीपुत्त, સંસ્કૃત मस्करीपुत्र; ૩. ઉ. દ. ૨. ૧૩૩
૪. મ. નિ. ૧, ૧૯૮, ૨૫૦, ૫૧૫ સં. નિ ૧, ૬૮; ૩૯૮; ૪ દી. નિ. ૧, ૫૨, જા, ૫. ૨૪૬

આજીવિક નામના ચોક્કસ અર્થ વિષે આપણને કશી માહિતી નથી. સંસ્કૃત શબ્દ **आजीव** એટલે કોઇ પણ અમુક વર્ગના લોકોનો જીવનમાર્ગ વા વ્યવસાય–પછી તે સંસારી ગૃહસ્થ તરીકેનો હોય વા ત્યાગી પરિવ્રાજક તરીકેનો હોય. આમ **सम्यग्–आजीव** એ બૌદ્ધ પદ્ધતિમાં પરિવ્રાજકના આઠ ફરજીયાત 'માર્ગો'માંનો એક માર્ગ હતો. **आजीविक** શબ્દ **आजीव**માંથી આવેલો હોઈને એનો અર્થ પોતાના વર્ગને યોગ્ય પ્રકારનું જીવન ગુજારનાર એવો થાય છે. આપણે હવે પછી જોઈશું કે કર્મનાં બંધનોથી મુક્ત થએલા ભિક્ષુઓના આજીવ પરત્વે ગોસાલ વિચિત્ર અભિપ્રાયો ધરાવતો હતો એમ માનવાને કેટલાંક કારણો છે. સંભવતઃ આજ કારણોએ કરીને એ અને એના અનુયાયીઓ આજીવિકો અથવા આજીવનો વિશિષ્ટ સિદ્ધાંત ધરાવનાર તરીકે ઓળખવામાં આવ્યા. આપણી પાસે જે જે સૂચનો છે તે તમામ એમ બતાવે છે કે આવા દાખલાઓમાં બહુધા હોય છે એમ એ નામ એમણે પોતે પાડેલું ન હોતું પરંતુ એમના પ્રતિપક્ષીઓએ પોતાનો તિરસ્કાર સૂચવવા માટે પાડેલું હતું. આપણે જોઇશું એ પ્રમાણે ભિક્ષુપણાને મોક્ષના સાધન તરીકે નહિ પણ ગુજરાનના સાધન તરીકે, માત્ર વ્યવસાય તરીકે, અનુવર્તીને ગોસાલે પોતાની જ વર્તણુકથી ઢોંગનો આક્ષેપ વહોરી લીધો હતો. એમ જણાય છે કે આજીવિક નામ મૂળે ગોસાલ અને એના અનુયાયીઓને 'ધંધો લઇ બેઠેલા' તરીકે બદનામ કરવાના અર્થમાં યોજાયું હતું; જો કે નિઃશંકપણે, પાછળના કાળમાં જ્યારે તે એક પરિવ્રાજક સંઘનું વિશિષ્ટ નામ થયું ત્યારે એ દુઃખ લાગે એવો અર્થ લુપ્ત થયો હતો.

૨ ગોસાલનો અંગત ઇતિહાસ—સામાન્યતઃ ભગવતી સૂત્ર તરીકે ઓળખાતું જૈનોનું પંચમ અંગ ગોસાલના જીવનનો આપણને ઠીક ઠીક સંબદ્ધ અને વિગતવાર વૃત્તાંત[૫] આપે છે. આ વૃત્તાંત પ્રમાણે ગોસાલનો પિતા એક પ્રકારનો **मंख** અર્થાત્ ધંધાર્થી માગણ હતો અને એનું નામ મંખલી હતું. આથી કરીને એ **मंखलीपुत्त** વા મંખલીપુત્ર તરીકે ઓળખાતો હતો. એનું બીજું નામ ગોસાલ પડયાનું કારણ એ હતું કે એનો જન્મ ગૌશાળામાં (ગોસાલમાં) થયો હતો જ્યાં અમુક વરસાદની ઋતુ દરમિયાન અન્ય કોઇ આશ્રયસ્થાન નહિ મળવાથી એનાં માબાપે આશરો લીધો હતો. એ મોટો થયો ત્યારે એણે પોતાના બાપનો ધંધો ગ્રહણ કર્યો. લગભગ એજ સમયે મહાવીરે નિગ્ગન્થ[૬] તપસ્વી તરીકે પરિક્રમણ શરૂ કર્યું હતું. પોતાના ભ્રમણ દરમિયાન ગોસાલને વારંવાર એમનો ભેટો થયો. લોકો મહાવીરને જે મહાન પૂજ્ય ભાવથી જોતા એ જોઈને એણે એમની સાથે જોડાવાનો નિશ્ચય કર્યો. પ્રથમ પાછો કાઢવામાં આવ્યા છતાં પોતાની અતિયાચનાથી આખરે એ મહાવીરના શિષ્ય તરીકે સ્વીકૃત થવામાં ફાવ્યો. પરંતુ આ બે માણસો ચારિત્ર્યમાં અને સ્વભાવમાં એટલા ભિન્ન હતા કે છ વર્ષ પછી ગોસાલની દગાબાજી અને ફંદફેલના કારણે એમના સહચારનો અંત આવ્યો. હવે ગોસાલે હરિફ નેતા બની આજીવિક નામનો જુદો પંથ જમાવ્યો અને પોતાના અનુયાયીઓ સાથે સાવત્થી (શ્રાવસ્તી) નામના ગામમાં ગયો અને ત્યાં એક કુંભારણના મકાનના ભાગમાં પોતાનું મથક કર્યું. ત્યાર બાદ સોળ વર્ષ દરમિયાન મહાવીર કદિ પોતાના પૂર્વ સહચારીને ભેગા થયા હોય એવું જણાતું નથી. એટલા ગાળા પછી (એક દિવસ) મહાવીર પરિક્રમણ કરતા કરતા સાવત્થીમાં આવી ચડયા. અને ગોસાલનો ત્યાં કેવો પ્રભાવ પ્રવર્તે છે એ એમના સાંભળવામાં આવ્યું. પ્રસંગોપાત્ત પોતાને તપસ્વી તરીકે ઓળખાવનારનો જુઠો વેશ એમણે ઉઘાડો પાડયો. એ વાત કાને આવતાં ગોસાલે વેર લેવાની ધમકી આપી અને એકદમ પોતાના અનુયાયીઓને લઇને મહાવીર જ્યાં પોતાના નિગ્ગન્થો સાથે ઉતર્યા હતા તે તરફ ઉપડયો. ત્યાં એણે એક વિચક્ષણ દલીલ આગળ કરીને ઝઘડો માંડયો. 'એણે કહ્યું: મને ઓળખવામાં મહાવીરે ભૂલ કરી છે. વાસ્તવમાં એક સમયે મહાવીરના સહચારી તરીકે જાણીતા થએલા ગોસાલથી હું સંપૂર્ણતયા ભિન્ન માણસ છું' આ વાક્છળને મહાવીરે તિરસ્કાર-

૫. ઉ. દ: પરિશિષ્ટ ૧ માંનું ભ. સૂ. ૧૫ નું ભાષાંતર ૬. એની જોડણી निगण्ठ પણ થાય છે, જુઓ જૈ. સૂ. પૃ. ૧૪ પાદનોંધ.



ગૂજરાત પુરાતત્ત્વ મંદિર (અમદાવાદ)ની પ્રબંધસમિતિ

ખુરશી ઉપર બેઠેલાઃ (ડાબી બાજુથી) પં. સુખલાલજી; અ. રામનારાયણ વિ. પાઠક; આચાર્ય જિનવિજયજી;
અ. ધર્માનંદ કોસંબી; મૌલવી અબુઝફર નદવી; અ. હરિનારાયણ આચાર્ય.
જમીન પર બેઠેલાઃ (ડાબી બાજુથી) પં. બહેચરદાસજી; મંત્રી રસિકલાલ છો. પરીખ; અ. ગોપાલદાસ પટેલ.
પાછળ વચ્ચે ઉભેલાઃ ચુનીલાલ પુ. બારોટ, પુસ્તકાલય સંરક્ષક.



જર્મન પ્રો. ડૉ. વ્હ્યુ શુબ્રિંગ પી.એચ. ડી. ગયા શિયાળામાં અમદાવાદ આવેલા ત્યારે જૈન સાહિત્ય સંશોધક કાર્યાલય તરફથી તેમને આપવામાં આવેલી પાર્ટીના સમયે લીધેલો ફોટોગ્રાફ.

સૂત્રના ફકરા સિવાય, કયાંય જોવામાં આવ્યો નથી અને હું અનુમાન કરવાનું સાહસ કરું છું કે એ ખાસ ઉપજાવી કાઢેલો જ છે. તદુપરાંત અનુમાનાશ્રિત એ मंख શબ્દનો અર્થ જુના ટીકાકારોને નિશ્ચિતપણે જ્ઞાત ન હોતો. આમ, અભયદેવ (આશરે ૧૦૫૦ ઈ. સ.) ભગવતીસૂત્ર ઉપરની પોતાની ટીકામાં એનો અર્થ 'જ્યાં ત્યાં, પોતાની સાથે રાખેલા (ફીનાખોર) દેવોનાં ચિત્રો બતાવી લોકોની પાસેથી દાન પડાવતો ભીખારી' એવો કરે છે, ત્યારે હેમચંદ્ર (આશરે ૧૧૪૦ ઈ. સ.) અભિધાન ચિંતામણિ ઉપરની પોતાની ટીકામાં[૮] કહે છે કે એ સુપ્રસિદ્ધ શબ્દ માગધ-બંદીજન-નો પર્યાય શબ્દ છે. સત્ય, નિઃશંકપણે, એ છે કે नायपुत्त, 'નાયવંશનો માણસ' (મહાવીરનું વિશેષણ) એ શબ્દની જેમ મંખલીપુત્ત એ પણ સાધિત શબ્દ (Formation) છે. એ એમ વર્ણવે છે કે ગોસાલ, મૂળ, મંખલી વા મસ્કરિન્ નામના ભિક્ષુવર્ગનો માણસ હતો. ભારતમાં આ ભિક્ષુવર્ગનું ઘણું પૂર્વકાલીન અસ્તિત્વ એ હકીકતથી સાબીત થાય છે કે સુવિખ્યાત વૈયાકરણ પાણિનિ (આશરે ૩૫૦ ઇ. સ. પૂર્વે) પોતાના વ્યાકરણમાં (૬, ૧, ૧૫૪) આ નામ કેમ પડયું તે સમજાવે છે. એના કહેવા પ્રમાણે મસ્કરિન્ નામ પડવાનું કારણ એ હતું કે એ લોક પોતાના હાથમાં વાંસદંડ (मस्कर) રાખતા. દંડ રાખવાના આ અભ્યાસને લીધે એ एकदंडिन् તરીકે પણ ઓળખાતા હતા. પાણિનિના લખાણ ઉપરના પોતાના ભાષ્યમાં[૯] પતંજલિ આગળ સમજાવે છે કે આ પ્રકારનો પરિવ્રાજક મસ્કરિન્ કહેવાતો એનું કારણ વિશેષે કરીને એ હતું કે એણે સર્વ પ્રવૃત્તિઓનો ત્યાગ કરવાની પ્રતિજ્ઞા કરેલી હતી, નહિ કે એ દંડ રાખતો. આ બે લખાણોમાંથી એક હકીકત તરી આવે છે અને તે એ કે આ મસ્કરીઓના વા એકદંડીઓના બે પ્રકારો હતા. ઉતરતી શ્રેણિનો તપસ્વી ભિક્ષાપાત્ર અને કટિબંધન ઉપરાંત સાથે એક યથાર્થ દંડ રાખતો જ્યારે પરમહંસની ઉચ્ચતર શ્રેણિમાં એ આ ત્રણે વસ્તુના અધિકારનો ત્યાગ કરતો અને નિતાન્ત ત્યાગ રૂપી દંડનો જ[૧૦] આશ્રય લેવાનો દાવો રાખતો.

પ્રાચીન ભારતમાં ઘરબાર વિનાના પરિવ્રાજક તપસ્વીનું જીવન અંગીકાર કરવાનું વલણ એક સમયે ઘણું પ્રચલિત હોવાનું જણાય છે. ઘણી વાર આ જીવન સાચા ધાર્મિક હેતુઓથી ગ્રહણ કરવામાં આવતું; પરંતુ સંભવતઃ એટલી જ વાર કેવળ રખડેલપણાંના શોખને લીધે અને પ્રામાણિક કામ કરવાની અનિચ્છાને લીધે પણ એમ કરવામાં આવતું. કોઇ અમુક વર્ગના લોકોમાં જ એમ હતું એવું નથી; પરંતુ સંભવતઃ નીચલા વર્ગોમાં એનો વિશેષ પ્રચાર હતો. ઉપલા વર્ગોમાં (કહેવાતા દ્વિજોમાં) બ્રાહ્મણ સ્મૃતિકારોએ આનું નિયમન કરવાનો પ્રયત્ન કરેલો. એમણે એવો ધારો બાંધેલો કે ઉગતી અવસ્થાના વર્ષો વિદ્યાસેવનાર્થે અર્પણ કરવાં, વચલી અવસ્થાનાં વર્ષો કુટુંબપાલન અને વ્યવસાય સેવનાર્થે ખર્ચવાં અને તપસ્વીજીવનાર્થે કેવળ ઉતરતી અવસ્થાનાં વર્ષો સમર્પણ કરવાં. પરંતુ આ પથ્ય નિયમનનો ભારતીય સમાજમાં કયારે ય પણ ઝાઝો અમલ થતો હતો એ તો શંકાસ્પદ જ ગણાય; કારણ પરિવ્રજ્યાર્થે સમગ્ર જીવન સમર્પણ કરવાની વૃત્તિ લોકોમાં અતિ પ્રબળ હતી. નિયમ તરીકે મસ્કરીન્ એકાંત જીવન ગુજારતો. આ પ્રકારનું જીવન અંગીકાર કરવાના ઘણા ગંભીર દુરૂપયોગો થવાનો ભય હતો. એથી કરીને પ્રભાવશાળી વ્યક્તિત્વવાળા માણસોએ તપસ્વી જીવન પ્રત્યેના વલણનું શાસન કરવાના કાર્યનો વિચાર કર્યો–એનો પ્રતિબંધ કરીને વા એ માટે જીવનની અમુક કાલ-મર્યાદાનું બંધન મુકીને નહિ, પરંતુ વર્તનના કડક નિયમોના શાસનવાળા સંઘોમાં પરિવ્રાજકોનું સંગઠન કરીને. આવા લોકો તે બૌદ્ધ અને જૈન ધર્મના સંસ્થાપકો. બધા અહેવાલો જોતાં ગોસાલ ભાગ્યેજ એ પ્રકારનો આદમી હતો. પ્રકૃતિથી જ એ પરિવ્રાજકપણાના બ્હાને સ્વચ્છંદી જીવન ગુજારતા ઉતરતા પ્રકારનો

૮. બો. અને રથુ. ૭૬૫ મું પદ. ૯ કી. ગ. ૩. ૯૬. ૧૦. રે. ઇ. સ્ટ્ડ. ૨. ૧૭૪–૧૭૫.

મસ્કરીઓમાંનો હોય એમ જણાય છે. આ હલકા પ્રકારના ભિક્ષુઓના પ્રાચીન ભારત વિષેના અસ્તિત્વની લોકમાન્યતાનો Folk-lore એક વિચિત્ર ટુકડો સાક્ષી પુરે છે, એ તિત્તિર[११] જાતકમાં આવે છે. બૌદ્ધ જાતકોમાં આવતાં પદ્યોમાં પ્રાચીનમાં પ્રાચીન-ખુદ બૌદ્ધ ધર્મ કરતાં પણ ઘણા પ્રાચીન-સમયની લોકમાન્યતાઓ સમાયેલી છે. એ जातक ના બારમા અને તેરમા પદ્યોમાં હલકા પ્રકારના એક ભિક્ષુને અન્ય વસ્તુઓ સાથે એક વાંસદંડ (वेताचार) રાખતો વર્ણવ્યો છે, જે બતાવે છે કે એ એકદંડી વા મસ્કરીના નામથી ઓળખાતા ભિક્ષુવર્ગનો મનુષ્ય હોવો જોઇએ. પરંતુ આ બાતમીને વિશિષ્ટ અર્થ અર્પનાર તો એ છે કે ઘણા પાછળના સમયનું એના ઉપરનું ભાષ્ય એ ભિક્ષુને આજીવિક તરીકે ઓળખાવે છે. સ્પષ્ટ છે કે બૌદ્ધોના મુખમાં 'આજીવિક' એ અધમ પ્રકારના મસ્કરિન્ વા એકદંડિનને લાગુ પડતો ઠપકાનો શબ્દ હતો. બૌદ્ધો અને જૈનો બન્ને ગોસાલને મંખલી અને આજીવિકોનો આગેવાન શા કારણે કહે છે એ આથી સમજાતું જણાય છે; અને ઘણો સંભવ છે કે એ પોતે જ મંખલી હતો એટલું જ નહિ પણ જૈનો કહે છે એમ મંખલીનો અનૌરસ પુત્ર હતો.

મહાવીર સાથે સંબંધ બાંધવામાં ગોસાલ શા હેતુથી પ્રેરાયો હતો એ નક્કી કરવું મુશ્કેલ છે. એમ હોય કે એ ધર્મોત્સાહીના સંબંધથી ગોસાલની પ્રકૃતિની શુભતર વૃત્તિઓ અલ્પકાળ માટે જાગૃત થઇ હતી; વા, જૈન વૃત્તાંત સૂચવે છે એમ 'પોતાના વેપારની' વધુ પ્રબળ 'કળકુંચીઓ' મહાવીર પાસેથી શીખવાની મળશે એવી પણ એણે આશા રાખી હોય. પ્રથમ વિકલ્પાનુસાર મહાવીરના સંસર્ગની એના ઉપર કોઇ કાયમી અસર ન પડી. ગોસાલે પોતાનો મઠ કુંભારણના મકાનમાં થાપ્યો હતો એ જૈન લખાણ વિષે ગંભીરપણે પ્રશ્ન ઉઠાવવાનું કાંઇ કારણ જણાતું નથી. ધાર્મિક ભિક્ષુઓના કડકમાં કડક નિયમોમાંના એકની આ ઉઘાડી અવજ્ઞા બુદ્ધની ગોસાલ વિષેની સુપ્રસિદ્ધ જુગુપ્સાથી દ્દઢ પ્રમાણ થાય છે એ જોતાં ગોસાલના જીવનના અંતિમ દૃશ્યમાં નિઃશંક કૈંક કરૂણ છે. એના પોતાનાં શિષ્યો અને ગામલોકોની મોંઢામોંઢ મહાવીરે ઉઘાડાં પાડેલાં એનાં કલંકો અને એથી નીપજેલું એનું ગાંડપણ તથા અંતકાળ વખતનો એનો ક્ષણિક પશ્ચાત્તાપ કરૂણ છે. પરંતુ દયાની એ લાગણીના માપનો આધાર ગોસાલના યથાર્થ ચારિત્ર્ય વિષે આપણે કેવો અભિપ્રાય બાંધેલો છે એના ઉપર છે.

ભગવતીસૂત્ર[१२] લખે છે કે મહાવીર ગોસાલ પછી સોળ વર્ષ સુધી જીવ્યા. એમાં એમ પણ લખ્યું છે કે એક અસાધારણ હાથીના[१३] કબ્જા માટે વૈશાલીના રાજા ચેડગ સાથે મગધના રાજા કુણીય (અજાતશત્રુએ) કરેલો વિગ્રહ ગોસાલના મૃત્યુનો સમકાલીન હતો. આ બે લખાણો ઉપરથી ગોસાલના મરણના વર્ષનો આશરો નક્કી કરી શકાય. શ્રુતપરંપરા પ્રમાણે મહાવીરના અવસાનનું વર્ષ ઈ. સ. પૂર્વે ૫૨૭ છે. આ પ્રમાણે ગોસાલના મરણની સાલ ઈ. સ. પૂર્વે ૫૪૩ ની આવશે. પરંતુ એ સાલ ખરૂં પુછો તો અતિ પૂર્વકાલીન છે. ઉપર્યુક્ત હાથી મગધના રાજા સેણીય (બિંબિસાર) તરફથી પોતાના પાટવી પુત્ર કુણીયના ચઢીઆતા દાવાની અવજ્ઞા કરીને કનિષ્ઠ પુત્ર વેહલ્લને અપાયો હતો. એ નિશ્ચિત છે એમ માની શકાય કે એ હાથીના કબ્જા માટે વિગ્રહની શરૂઆત કરવા કુણીય પોતાના રાજસત્તાપ્રવેશની જ વાટ જોતો હતો. હવે, ધીમા ભુખમરાથી કુણીએ પોતાના પિતાનો ઘાત કર્યો ત્યાર પહેલાં કેટલાંક વર્ષોથી એણે એને ગાદી સોંપી દીધી હતી. આ ઘાત ઈ. સ. પૂર્વે ૪૯૦ માં વા બુદ્ધના નિર્વાણની આઠ વર્ષ પહેલાં ગયો; કારણ, હવે વ્યવહારિક રીતે નક્કી છે એ પ્રમાણે, એ બનાવ (નિર્વાણ) ઈ. સ. પૂર્વે ૪૮૨ માં બન્યો. મહાવીર બુદ્ધ કરતાં કેટલાક સમય-કેટલા લાંબા તે જણાયેલ નથી-પૂર્વે નિર્વાણ પામ્યા. પરંતુ ગોસાલ મહાવીર પૂર્વે સોળમા વર્ષમાં-વિગ્રહના વર્ષમાં-ગુજરી ગયો અને એ વિગ્રહ કુણીય

---

११ જા. ૩. ૫૪૨ માં નં. ૪૩૮. १२ પૃ. Fol. १२५० a, १२६६ a; १३ ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૧ પૃ ૭

રાજસત્તાને આસને આવ્યો એ વર્ષમાં જ બન્યો હોવો જોઇએ. હવે એ રાજ્યારોહણ સેણીયના ઘાત કરતાં ઘણા લાંબા સમય પૂર્વે સુસ્થાપિત કરી શકાય એમ નથી. મહાવીર બુદ્ધ પૂર્વે બે વર્ષ ઉપર ઇ. સ. પૂર્વે ૪૮૪ માં નિર્વાણ પામ્યા અને એથી કરીને ગોસાલનું મૃત્યુ અને વિગ્રહનું બનવું મહાવીરના નિર્વાણ પૂર્વે ૧૬ વર્ષ ઉપર અને સેણીયના ઘાત પૂર્વે ૧૦ વર્ષ ઉપર ઇ. સ, પૂર્વે ૫૦૦ માં થયું એમ માની લેવાથી સર્વ શરતો ઉત્તમ રીતે સંતોષાય છે.

૩. ગોસાલના આચારવિચાર—ગોસાલ કે એના આજીવિક અનુયાયીઓમાંના કોઇ પોતાના આચારવિચારોની નોંધ મુકી ગયા નથી. એથી કરીને આ બન્ને બાબતો વિષે ફરજીયાતપણે એમના હરિફો અર્થાત્ જૈનો અને બૌદ્ધોનાં લખાણોમાંના પ્રસંગવશાત્ કરાયેલા ઉલ્લેખો ઉપરથી જ આપણે અભિપ્રાય બાંધવાનો રહે છે. એમનાં કથનો, અલબત્ત, કેટલીક સાવચેતીથી સ્વીકારવાં જોઇએ; પરંતુ એમની સામાન્ય વિશ્વાસપાત્રતાની એમના તમામ આવશ્યક બાબતોમાંના મળતાપણાથી બાંહ્યધરી મળે છે. આ મળતાપણાનું ખાસ કરીને વધારે મૂલ્ય છે કારણ એ કથનો બે પરસ્પર વિરોધી સંપ્રદાયો તરફથી આવતાં હોઇ બાતમીનાં બે સ્વતંત્ર મૂલો નિર્માણ કરે છે.

બૌદ્ધ મજ્ઝિમનિકાયમાં[14] એક ઘણું બોધક કથન આવે છે. એમાં બુદ્ધને પોતાનાથી ભિન્ન પડતી તપસ્વીપદ્ધતિને અષ્ટ વર્ગમાં વહેંચી નાખતો વર્ણવ્યો છે. આમાંના ચારને એ અબ્રહ્મચર્યવાસ કરનાર તરીકે અપરાધી ઠરાવે છે; બીજા ચાર વિષે માત્ર એટલું જ કહે છે કે એ 'અસંતોષકારક' (**अनास्सासिक**) છે. પાછળના વર્ગમાં એ મહાવીરની પદ્ધતિને મુકે છે. ભેદ સ્પષ્ટ છે. બુદ્ધનો ગોસાલ વિષેનો વાંધો નૈતિક કારણોને લીધેનો હતો—ગોસાલ સિદ્ધાંતથી અને આચારથી અનીતિમાન સિદ્ધાંતો ધરાવતો હોવાથી એની પદ્ધતિ, ખરેખર, બુદ્ધે પરમ અપકારી[15] વિચારેલી, અને એના પ્રણેતાને એમણે (**मोघपुरिस**) 'ખળ પુરુષ'—માછીની જેમ માણસોને માત્ર એમનો નાશ કરવા અર્થે જ પકડતા 'ખળ પુરુષ' તરીકે જ કલંકિત કર્યો છે.

ગોસાલના મતનો મૂળભૂત સિદ્ધાંત, બૌદ્ધો અને જૈનો બન્નેના ધર્મગ્રંથોમાં, સહેજસાજ જુદી પડતી પરંતુ વસ્તુતઃ એકસરખી પરિભાષામાં લખાએલો છે. જૈન ઉવાસગ દસાઓ[16]માં એ નીચે પ્રમાણે રજૂ થાય છેઃ 'ઉદ્યમ વા પરિશ્રમ વા શક્તિ વા પૌરુષ વા' મનુષ્યબળ જેવી કોઇ વસ્તુ નથી; સર્વ વસ્તુઓ અપરિવર્તનીયપણે નિશ્ચિત થઇ ચુકેલી છે.' [17]બૌદ્ધ દીઘનિકાયમાં [18]ગોસાલના સિદ્ધાંતોનો સારાંશ સંપૂર્ણતરપણે નીચે પ્રમાણે વર્ણવેલો છે.

'પ્રાણીઓની ભ્રષ્ટતા માટે, નિકટનું વા દૂરનું કોઈ કારણ નથી; એઓ નિમિત્ત વા કારણ વિના ભ્રષ્ટ થાય છે. પ્રાણીઓના પાવિત્ર્ય માટે નિકટનું વા દૂરનું કોઇ કારણ નથી; એઓ વિના નિમિત્તે વા વિના કારણે પવિત્ર થાય છે. કશું જ આપણા પોતાના વા બીજાના પ્રયત્નો ઉપર અવલંબતું નથી; ટૂંકમાં કશું કોઇ માનવપ્રયાસ ઉપર અવલંબતું નથી; કારણ શક્તિ વા પૌરુષ વા મનુષ્ય પરિશ્રમ વા મનુષ્યબલ જેવી કોઇ ચીજ નથી. પ્રત્યેક સવિચાર વસ્તુ (અર્થાત્ ઉચ્ચતર પ્રાણીઓ), પ્રત્યેક સેન્દ્રિય વસ્તુ (અર્થાત્ અધમતર કોટિનાં પ્રાણીઓ), પ્રત્યેક પ્રજનિત વસ્તુ (અર્થાત્ પ્રાણીમાત્ર); પ્રત્યેક સજીવ વસ્તુ (અર્થાત્ તમામ રોપાઓ) બલ પ્રભાવ વા શક્તિથી રહિત છે. એમની ભિન્નભિન્ન અવસ્થાઓ—કોઇ પણ સમયની—વિધિવશાત્, સંજોગવશાત્ વા એમની પોતાની પ્રકૃતિવશાત્ છે; અને ષડ્‌વર્ગોમાંથી (જુઓ નીચે પૃ. ૩૪૨) એક વા બીજામાંની પોતાની સ્થિતિ પ્રમાણે જ મનુષ્યો સુખ-દુઃખના ભોક્તા બને છે.

---

૧૪. ૧, ૫૧૪. ff ન્યુ. રે, ૨, ૨૮૪. ૧૫ અં. નિ. ૧, ૨૮૬; બો. બુ. ૮૨, ૧૯૯, ઠા. ૭૧. ૧૬ ૧, ૯૭, ૧૧૫; ૨. ૧૧૧, ૧૩૨. ૧૭ સરખાવો સં. નિ. ૩, ૨૧૦; અં. નિ. ૧, ૨૮૬ ૧૮ પૃ. ૫૩, ઠા. ૭૧.

સિદ્ધાંતસ્વરૂપે આ પદ્ધતિની વિગતવાર વ્યવસ્થા કેવી કરી હતી તે આપણે જાણતા નથી. બૌદ્ધ અને જૈન ધર્મગ્રંથો આથી વિશેષ કશી માહિતી આપતા નથી. એમ છતાં એ સ્પષ્ટ છે કે સિદ્ધાંતની દૃષ્ટિએ એ એક પ્રકારનો હાડોહાડનો **નિયતિવાદ** હતો, જે મનુષ્યની સ્વતંત્ર ઇચ્છાશક્તિ વિષે અને કહેવાતા શુભાશુભ કર્મ વિષેના એના ઉત્તરદાયિત્વ વિષે નકાર ભણતો હતો. એ પણ એટલું જ સ્પષ્ટ છે કે જો આચારમાં ઉતારાય તો આ સિદ્ધાંત અત્યંત ઉપદ્રવકારક થઇ પડે. બૌદ્ધો અને જૈનો બન્ને સંમત છે કે ગોસાલે પોતાનો સિદ્ધાંત આચારમાં પણ ઉતારેલો જ. આગળ લખ્યા પ્રમાણે બુદ્ધે એના ઉપર અબ્રહ્મચર્યનો આરોપ મુકેલો. મહાવીરનું કથન પણ એટલું જ ભારપૂર્વકનું છે. 'તપસ્વી સ્ત્રીઓ સાથે સંભોગ કરે તો કશું પાપ કરતો નથી'[19]એવું શિખવવાનો મહાવીર એના ઉપર આરોપ મુકે છે. એ એના અનુયાયી ઉપર 'સ્ત્રીઓના ગુલામ'[20]હોવાનો આક્ષેપ કરે છે અને કહે છે કે 'તેઓ બ્રહ્મચર્યવાળું જીવન ગાળતા નથી.'[21]ગોસાલે પોતાનો મુખ્ય મઠ એક સ્ત્રીના મકાનમાં રાખવાનું પસંદ કરીને પોતાના જ કૃત્યથી પોતાના ઉપર આ આક્ષેપ વહોરી લીધો હતો.

મૂળ, ગોસાલ મહાવીરનો શિષ્ય હતો એમ જૈન ધર્મશાસ્ત્રો પ્રતિપાદન કરે છે એ હકીકત ઉપરથી જણાશે કે આ નિયતિવાદ અને એનો વ્યવહારમાં કરેલો પ્રયોગ બાદ કરતાં એના અને મહાવીરના સિદ્ધાંતોમાં મુખ્યત્વે કરીને કાંઇ ભેદ ન હતો. જૈન ભગવતીસૂત્રમાં જે એમ લખ્યું છે કે ગોસાલના સિદ્ધાંતો 'પુવ્વોના અંશરૂપ અષ્ટ મહાનિમિત્તોમાંથી લીધેલો છે' એના ઉપરથી પણ વળી આ અનુમાનનું સૂચન થાય છે.[22] આ પુવ્વો (પૂર્વો વા 'મૂલો') મહાવીરે પોતે પોતાના શિષ્યોને શિખવેલાં મૂલ પવિત્ર સૂત્રો હોવાનું મનાતું હતું.[23] 'સર્વ સત્ત્વો' ના વર્ગીકરણની વિચિત્ર યોજના જે બૌદ્ધ દીઘનિકાયમાં[24] ગોસાલની હોવાનું જણાવેલ છે તેથી ગોસાલના અને મહાવીરના સિદ્ધાન્તોના સામાન્ય મળતાપણાનું વિશેષ સમર્થન થાય છે. એ યોજના સમજવાનું અને જૈન ધર્મશાસ્ત્રોમાં સવિસ્તર દર્શાવવામાં આવેલા મહાવીરના સિદ્ધાન્તો સાથે એને અસરકારક રીતે સરખાવવાનું એની અતિસંક્ષિપ્ત લખાવટને લીધે મુશ્કેલ બને છે. પરંતુ બે અગત્યની વિગતો, જે જૈનો ખાસ કરીને મહાવીરના સિદ્ધાંતો હોવાનો દાવો કરે છે તેની એકરૂપતા ચોક્કસપણે સાબીત કરી શકાય છે.

આ સંબંધમાં એ નોંધવા યોગ્ય છે કે પોતાની વર્ગીકરણની યોજનામાંથી ફલિત કરેલા ગોસાલના ઉપદેશનો અપવાદ બાદ કરતાં એની એ જ યોજના બૌદ્ધ મજ્ઝિમનિકાય[25] અને સંયુત્તનિકાયમાં[26] ભિખ્ખુ **પકુધ કચ્ચાયનની** હોવાનું અને તિબેટી દુલ્વમાં[27] ભિખ્ખુ **અજિતકેસકમ્બલની** હોવાનું જણાવેલું છે. આ બે પુરુષો તથા ગોસાલ મંખલીપુત્ત, બુદ્ધે વારંવાર આગળ પડતી રીતે પોતાના હરીફ તરીકે જણાવેલા છ ભિક્ષુનેતાઓમાંના હતા. બીજા ત્રણ નેતા તે નિગ્ગન્થોનો નેતા **મહાવીર નાતપુત્ત, પૂરણકસ્સપ** અને **સંજય બેલટ્ઠીપુત્ત.** આથી કરીને જણાશે કે વર્ગીકરણની એ યોજના વાસ્તવમાં સર્વ છ ભિક્ષુનેતાઓને સામાન્ય હતી, પરંતુ પ્રત્યેક જણ એનો પોતાની વિશિષ્ટ રીતે પ્રયોગ કરતો. ગોસાલના દાખલામાં એ પ્રયોગે નિયતિવાદની સરણી ગ્રહણ કરી; અને, ખરેખર, દીઘનિકાયમાં આ યોજનાની સાથે જે નિયતિવાદી શિખામણ જોડેલી છે તેનાથી એ સ્પષ્ટપણે સૂચિત થાય છે. એ યોજનાની એક બાબતના સંબંધમાં—જે, પ્રશુદ્ધ આત્મા (**सण्णी सं. संज्ञी**) વિષેની છે—બૌદ્ધ ધર્મશાસ્ત્રો એના સામાન્ય મળતાપણાનો વિગતના તફાવતો સહિત, પ્રત્યક્ષપણે એકરાર કરે છે. દીઘનિકાય[28]ના કથનાનુસાર મજ્ઝિમનિકાયમાં[29]

૧૯. જૈ. સ. ર. ૪૧૧ ૨૦. જૈ. સ. ર, ર૭૦ ૨૧. જૈ. સ. ર,૨૪૫ ૨૨. ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૧ પૃ. ૪, ૨૩. ઇ. એં. ૧૭, ૨૮૦; ૨૦, ૧૭૦, ૧૭૧ ૨૪. પૃ. ૫૪; ડા. ૭૨ ૨૫ મ. નિ, ૧. ૫૧૭, ન્યુ. રે. ૨, ૨૮૯ ૨૬. સં. નિ. ૩, ૨૧૧, ૨૧૨ ૨૭. રૉ. લા. બુ. પૃ. ૧૦૩ ૨૮ પૃ. ૩૧. ડા. ૪૪, ૪૫ ૨૯. ૪, ૩૯૮

લખેલું છે કે બુદ્ધથી વિરૂદ્ધ જ્યારે સર્વ પણ્ભિક્ષુનેતાઓ એક સરખી રીતે બોધ કરતા કે 'પ્રબુદ્ધ આત્મા' નિર્વાણ પછી અસ્તિત્વ ધરાવવું જારી રાખે છે, જો કે એ અસ્તિત્વના ચોક્કસ પ્રકાર વિષે એમનામાં મતભેદ હતો. આત્મા 'રૂપી' છે એવો મત ગોસાલ ધરાવતો હોવાનું કહેવાય છે (બુદ્ધઘોષવડે) જ્યારે મહાવીર માનતા કે એ અરૂપી છે. પરંતુ આ પારિભાષિક શબ્દોનો ચોક્કસ અર્થ શો હતો તે આપણે જાણતા નથી.

વર્ગીકરણની યોજના નીચે મુજબ છે.[30] '૧૪૦૦૦૦૦ મુખ્ય પ્રકારના જન્મો છે, અને પુનઃ ૬૦૦૦ (અથવા કુલ્વ પ્રમાણે ૬૦,૦૦૦) અને પુનઃ ૬૦૦ બીજા છે. કર્મના ૫૦૦ પ્રકાર છે અને (પંચેન્દ્રિય પ્રમાણે) વળી પાંચ બીજા છે અને (મન, વાચા અને કર્મ પ્રમાણે વળી ત્રણ બીજા છે; અને આખું કર્મ અને અર્ધું કર્મ (પણ) છે.) (આખું કર્મ એટલે વાચા વા કર્મણા કરેલું કર્મ અને અર્ધું કર્મ એટલે કેવળ મનસા કરેલું કર્મ). વર્તણુકના ૬૨ પ્રકાર છે. આંતરકલ્પો (periods) ૬૨ છે; મનુષ્યોમાં ૭ વર્ગ (**अभिजाति**) છે; માનવ જીવનની ૮ અવસ્થાઓ છે; ૪૯૦૦ પ્રકારના "આજીવ" છે; ૪૯૦૦ પ્રકારના પરિવ્રાજકો છે; નાગલોકથી વસાયેલા ૪૯૦૦ પ્રદેશો છે; ૨૦૦૦ શક્તિઓ (Faculties) છે; ૩૦૦૦ પાપમોચનસ્થાનો છે; ૩૬ ધૂળરાજિઓ છે, 'પ્રબુદ્ધ (**संज्ञी**) આત્માઓ'માંથી સાત પેદાશો (productr) છે, ions અસંજ્ઞી પ્રાણીઓમાંથી છે અને ૭ (શેરડીની) બે ગાંઠો વચ્ચેના ભાગોમાંથી છે; ૭ પ્રકાર દેવોના છે, ૭ મનુષ્યોના છે, ૭ પિશાચોના છે, સાત સરોવરોના છે; સાત મોટા અને સાતસો નાના પ્રપાતો છે, સાત અગત્યનાં અને સાતસો બીનઅગત્યનાં સ્વપ્નો છે; ૮૪૦૦૦૦૦ મહાકલ્પો છે જેમાં બાલ અને પંડિત બન્ને એક સરખી રીતે સંસારમાં આથડી આથડીને આખરે પોતાના દુઃખનો અંત આણશે' આ યોજનાને અંતે ગોસાલને પોતાનો નિયતિવાદી ઉપદેશ પરિશિષ્ટરૂપે જોડતો વર્ણવ્યો છે: 'જો કે પંડિતો અમુક શીલે કરીને, વ્રતે કરીને તપે કરીને, વા બ્રહ્મચર્યે કરીને (વારસામાં મળેલાં) અપરિપક્વ કર્મોથી પરિપક્વ કરવાની આશા રાખશે અને બાલો એ જ સાધનોથી પરિપક્વ થએલાં કર્મમાંથી છૂટવાની આશા રાખશે પરંતુ બેમાંથી એક પણ ફાવી શકવાનો નથી; જાણે માપથી માપી આપેલાં ન હોય એવાં સુખદુઃખો સંસાર દરમિયાન બદલી શકાવાનાં નથી; એમાં નથી વધારો થઇ શકવાનો કે નથી ઘટાડો. જેમ એક દોરીનો દડો ફેંકો તો બરાબર એની લંબાઇ સુધી ઉકેલાશે, જરાય વધારે નહિ, તેમ બાલ અને પંડિત બન્ને એક સરખી રીતે નિયત સમય સુધી સંસારમાં ભ્રમણ કરશે અને ત્યાર પછી જ, કેવળ ત્યાર પછી જ, એમના દુઃખનો અંત આવશે.'

ઉપલી યોજનામાંની બે બાબતો જે જૈન[31] સિદ્ધાંતોમાંની બાબતો સાથે ચોક્કસપણે મેળવી શકાય એમ છે તે આ છે; (૧) સર્વ સજીવ પ્રાણીઓનું ઇંદ્રિયોના પ્રમાણમાં એક, બે, ત્રણ, ચાર અથવા પાંચ ઇંદ્રિયો ધરાવનાર તરીકેનું વર્ગીકરણ જે જૈન ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં સંપૂર્ણતયા અપાયેલું છે. અને (૨) મનુષ્ય જાતિનું ષટ્ અભિજાતિઓમાં વર્ગીકરણ. પાછળનું, ગોસાલના મત પ્રમાણેનું વર્ગીકરણ બુદ્ધઘોષે બૌદ્ધ દીઘનિકાય[32] ઉપરના પોતાના ભાષ્યમાં સમજાવેલું છે. આ દૃષ્ટાંત પ્રમાણે ગોસાલ આ ષડ્-વર્ગોને ૭ વર્ણો વડે ઓળખતો-કૃષ્ણ, નીલ, લોહિત, હારિદ્ર, શુક્લ અને પરમ શુક્લ. કૃષ્ણાભિજાતિ એટલે શિકારીઓ, કસાઇઓ, ખુનીઓ, ચોરો ટુંકમાં તમામ ક્રૂર ધંધા કરનારા મનુષ્યો. નીલા-

૩૦. દી. નિ. ૫૪: ડા, ૭૨; સરખાવો ઉ. દ., પરિશિષ્ટ ૨. પૃ. ૧૭-૨૯ ૩૧ જૈ. સૂ. ૨. ૨૧૩, ૨૧૯; વળી જૈ. સૂ. ૧. ૩ પાદનોંધ બીજી ૩૨. સુ. વિ. ૧૬૨, ૯. દ. ના પરિશિષ્ટ ૨ પૃ. ૨૧ માં અનુવાદિત

ભિજાતિ એટલે ભિખ્ખુઓ અર્થાત્ બૌદ્ધ ભિક્ષુઓ. લોહિતાભિજાતિ એટલે નિગ્ગન્થો જે (કંઈ નહિ તો) એક લંગોટી તો પહેરતા જ. હરિદ્રાભિજાતિ એટલે સર્વવસ્ત્રત્યાગી અચેલકના ગૃહી અનુયાયીઓ. શુક્લાભિજાતિ એટલે આજીવિકો અને આજીવિનિયો (સ્ત્રી આજીવિકો) અને પરમ શુક્લાભિજાતિ તે આજીવિકનેતાઓ–નંદવચ્છ, કિસ્સ સંકિચ્ચ અને ગોસાલ મંખલીપુત્ત.

મહાવીરની યોજનામાં પણ આ ષડ્વર્ગો, જેને એ લેશ્યા કહે છે તે સહેજસાજ જુદા પડતા છ વર્ણો પ્રમાણે ઓળખવામાં આવેલા છે :—કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત (ભુખરો), તેજો (રાતો), પદ્મ (પીળો) અને શુક્લ.[33] પ્રથમ દષ્ટિએ આ વર્ણોની વ્યાખ્યાની બાબતમાં બન્ને યોજનાઓમાં ઘણો ફરક હોવાનું જણાય છે. પરંતુ સૂક્ષ્મ નિરીક્ષણે અંતર્ભૂત સિદ્ધાંત એક જ છે એમ જણાય છે. મહાવીરના મત પ્રમાણે જે સઝ્વ પ્રાણીઓને ઇજા કરે છે અર્થાત્ જૈન સિદ્ધાંતના પાંચ વ્રતોમાંના પ્રથમ વ્રત (અહિંસા) નું ઉલ્લંઘન કરે છે તે કૃષ્ણ છે. જે લોભ વા કામવાસનામાં રત રહે છે અર્થાત્ જે ચોથા અને પાંચમા (અકિંચન અને બ્રહ્મચર્યનાં) વ્રતોનું ઉલ્લંઘન કરે છે તે નીલ છે. જે કપટી અને ચોર છે અર્થાત્ બીજા અને ત્રીજા વ્રતોનું (સત્ય અને અસ્તેય) ઉલ્લંઘન કરે છે તે કાપોત કહેવાય છે. જે વ્રતપાલનાર્થે સંયમી અને પ્રયત્નવાન છે અર્થાત્ ગૃહી અનુયાયીઓ છે તે તેજો કહેવાય છે. જેઓ દૃઢ સંયમી છે અર્થાત્ યથાર્થ ભિક્ષુઓ છે તે પદ્મ કહેવાય છે. સ્વયં મહાવીર જેવા જિનકલ્પિક જેમણે નિતાંત આત્મસંયમ સાધ્યો છે તેઓ શુક્લ કહેવાય છે.[34] ગોસલની વ્યાખ્યા પણ વ્યવહારતઃ એ જ છે. અપવાદ એ છે કે એ લાક્ષણિક દાખલાઓ (types) ટાંકીને પોતાનો અર્થ સ્પષ્ટ કરે છે. આમ એને મતે બૌદ્ધો અર્થાત્ ભિખ્ખુઓ નીલાભિજાતિના છેઃ કારણ એમના હરિફોમાં બૌદ્ધોની ખ્યાતિ પુષ્ટિમાર્ગ[35] પ્રત્યે પ્રેમ રાખનાર 'સુખવાદી' (सातवादिन्) તરીકેની હતી. નિગ્ગન્થો લોહિતાભિજાતિના નમુનારૂપ હતા; કારણ તેઓ સુખનો ત્યાગ કરવાની બાબતમાં બૌદ્ધો કરતાં ચઢીઆતા હતા. પરંતુ લંગોટીને વળગી રહેવાની બાબતમાં આજીવિકો કરતાં ઉતરતા હતા. એના પોતાના અર્થાત અચેલકના વા 'નરાતાળ નાગડા' નેતાના ગૃહી અનુયાયીઓ હારિદ્રાભિજાતિના (મહાવીરના તેજો વર્ગના) નમુના હતા. પોતાના ખાસ અનુયાયીઓ, કહેવાતા આજીવિકો જેઓ દેખીતી રીતે નરાતાળ નાગા ફરતા તે શુક્લાભિજાતિના (અથવા મહાવીરના પદ્મ-વર્ગના) નમુના હતા. આ સંબંધમાં એ નોંધવું રસભર્યું છે કે ગોસાલના વર્ગીકરણનો બુદ્ધઘોષનો અર્થ અંગુત્તરનિકાય[36] ઉપરથી રચેલો છે, છતાં ત્યાં (અંગુત્તરનિકાયમાં) એ, ભિક્ષુનેતા પૂરણકસ્સપનો હોવાનું લખેલું છે.' જો આ કેવળ પાઠપરત્વેનો પ્રમાદ ન હોય તો અત્યાર આગમચ ક્યારનું ય જે એમ કહ્યું છે કે આ વર્ગીકરણની યોજના બુદ્ધના આગળ પડતા તમામ ષડ્ પ્રતિસ્પર્ધીઓને સામાન્ય હતી તેનું એ સમર્થન કરે છે[37]

ઉપર ક્યારનું કહેવાઈ ચુક્યું[38] છે કે મહાવીર અને ગોસાલ વચ્ચે મુખ્યપણે કોઇ સિદ્ધાંતભેદ ન હતો. એમ છતાં, એક મુદ્દો એવો હતો જેના વિષે જૈન પરંપરા પ્રમાણે એમની વચ્ચે નાગીચો ભેદ હતો. તે બન્ને કહેવાના પુબ્વો અથવા મૂળ કથનોનો સ્વીકાર કરતા હતા. પાછળથી એને દષ્ટિવાદ વા જૈનોના બારમા અંગનું સ્વરૂપ આપવામાં આવ્યું. 'આ અંગના પ્રથમ અંશને પરિકમ્મ અર્થાત્ 'મહાવીરના સિદ્ધાંતોનો અર્થ બરાબર ગ્રહણ કરવા માટે જોઇતી તૈયારીઓ' કહે છે.[39] આ પરિકમ્મ બાબત

33 જૈ. સૂ. ૨. ૧૯૬ 34. જૈ. સૂ. ૨, ૧૯૯, ૨૮૦; 35 જૈ. સૂ. ૨, ૨૬૬, પાદનોંધ ૩: અને ધી. ઓ. જ. ૩, ૩૩૨ પાદનોંધ ૨. 36 ૩, ૩૮૩ 37. સરખાવો મહાભારત ૧૨, ૨૮૦, ૬, ૩૩ ff 38 પૃ. ૧૪; 39 ઇ. એં. ૨૦, ૧૭૩.

આપણને કહેવાયું છે કે કેટલાક એના છ સમૂહ (group) ગણાવતા જ્યારે બીજાઓ સાત ગણાવતા, પ્રથમ ગણના ચુસ્ત જૈનોની હતી, જ્યારે પાછલી ગણના અમુક આજીવિકો અથવા તેરાસિયો નામના અમુક ફાંટાપાડુઓની હતી, જેઓ અભયદેવ[૪૦] સમજાવે છે તે પ્રમાણે ગોસાલે સ્થાપેલા પાખંડી સંપ્રદાયના હતા. આ લોકોનો સર્વે વસ્તુઓને ત્રયાત્મક–સત્, અસત્ વા સદસત્–લેખવાનો આચાર હતો. તે ઉપરથી તેઓનું નામ તેરાસિય (સં. त्रैराशिक) પડ્યું હતું. આમ એ લોકો કહેશે કે અમુક વસ્તુ સત્ હોય, અસત્ હોય વા સત્ અને અસત્ બન્ને હોય. પરિભાષા પ્રમાણે સ્યાદ્વાદના નામે ઓળખાતો આ મત સામાન્ય રીતે જૈનોનો વિશિષ્ટ વાદ છે. ફલિત થાય છે કે તેરાસિયોએ એનો કોઈ ખાસ તરેહનો ઉપયોગ કર્યો હોવો જોઈએ અને આ ખાસ રીત એ એમનો સપ્તમ પરિકમ્મસમૂહ બન્યો હશે. આગળ વધીને એમ પણ અટકળ કરાય કે આ સપ્તમ સમૂહ મનુષ્યના આજીવ વા ધંધા પરત્વેનો હતો; અને આ કારણને લીધે તેરાસિયોનું બીજું નામ આજીવિકો વા ધંધાદારીઓ પડ્યું હતું. આ વિષય પરત્વેના એમના ઉપદેશનો સાર શીલાંકે[૪૧] સમજાવ્યો છે તે પ્રમાણે એ છે કે (મહાવીરે સ્વીકારેલી) મનુષ્યની બે અવસ્થાઓ (૧) કર્મબદ્ધ અને (૨) કર્મમુક્ત—ઉપરાંત એની એક ત્રીજી અવસ્થા છે જેમાં એ યથાર્થ બદ્ધ પણ નથી તેમ યથાર્થ મુક્ત પણ નથી.[૪૨] બંધનયુક્ત અવસ્થાના મનુષ્યો તે સંસારી લોકો. (મહાવીરની જેમ) સંસારનો ત્યાગ કર્યો હોય તે (ત્રીજી) દશાના મનુષ્યો. આ લોકો પોતાના આધ્યાત્મિક આર્હત્વને લીધે યથાર્થ રીતે મુક્ત નથી હોતા. યથાર્થવિમુક્તિની અવસ્થા જે મેં પ્રાપ્ત કરી છે એમ ગોસાલ કહેતો હતો તેને પામતાં પહેલાં આ લોકોને હજી અસંખ્ય જન્મમરણની ઘટમાળમાંથી પસાર થવાનું હતું. ભગવતીસૂત્રમાં ગોસાલ સ્વમુખે દેહાંતરનો પોતાનો સિદ્ધાંત નીચે પ્રમાણે સમજાવે છે.[૪૩]

એ કહે છેઃ ' મારા સિદ્ધાંત પ્રમાણે જે જે પૂર્ણ થયા છે, અત્યારે થાય છે અને ભવિષ્યમાં થવાના છે તે તમામને ૮૪૦૦૦૦૦ મહાકલ્પ પુરા કરવા પડશે એ મહાકલ્પો દરમિયાન એમને અંતરીક્ષમાં (संजूह) સાત વાર દેવ તરીકે અને પૃથ્વી ઉપર સાત વાર ' જ્ઞાનવાન પ્રાણી ' (सण्णीगब्भ) તરીકે નિયમિત રીતે વારાફરતી જન્મવું પડવાનું છે અને અંતમાં વળી પોતાવડે સાત ભિન્ન ભિન્ન દેહો પુનરુજ્જીવિત કરી પૂર્ણાહુતિ કરવી પડશે; અને આ પુનર્જન્મો દરમિયાન અનુક્રમે પાંચ પ્રકારના કર્મોની અને, ત્રણ પ્રકારના કર્મોની, અને કર્મનાં રાશિભાગની અસરોથી અનુક્રમે (૮૪૦૦૦૦૦ મહાકલ્પના) ૧૦૦૦૦૦ અને ૬૦૦૦૦ અને ૬૦૦ ના પ્રમાણમાં પોતાની જાતને મુક્ત કરીને તેમને અંતિમ પૂર્ણતા પ્રાપ્ત કરવી પડશે. '

આ પરિપાટીમાં અંતર્ગત થતા સમયની અમાપ લંબાઇનો ખ્યાલ આપવા ગોસાલ ઉમેરે છેઃ—

ગંગાનદીનું તળીયું ૫૦૦ યોજન લાંબુ, અર્ધો યોજન પહોળું અને ૫૦ ધનુષ્[૪૪] ઉંડું છે. પોતાની પૂર્વેની ગંગાથી સાત ગણી એવી એવી અનુક્રમે સાત ગંગાશ્રેણીઓ લઇએ તો છેલ્લી ગંગા આપણી ૧૧૭૬૪૯ ગંગાઓ બરાબર થાય. હવે જો પ્રત્યેક સો વર્ષે એક રેતીનો કણ દૂર કરીએ તો આ સાતે ગંગા નદીઓની રેતી ખાલી કરતાં એક सरस् (સરોવર) કલ્પ જેટલો સમય જાય; અને આવા આવા ૩૦૦૦૦૦ सरस् કલ્પો એકત્ર થાય ત્યારે એક મહાકલ્પ થાય '[૪૫]

૪૦ આશરે ઇ. સ. ૧૦૫૦ ૪૧. આશરે ઇ. સ. ૮૭૬ ૪૨ જે. સૂ. ૨, ૨૪૫. પાદનોંધ ૨, ૪૩. fols ૧૨૩૭–૧૨૫૨, હે, લા, યુ, ૫, ૨૫૩; ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૨. પૃ. ૧૮ વળી જુઓ ટી. ૭૨ ૪૪. યોજન–૪ુ માઇલ; ધનુ–૬ ફીટ ૪૫. ઉ, દ, પરિશિષ્ટ. ૨, પૃ. ૨૭, પાદનોંધ ૨૧

પૃથ્વી ઉપરના છેલ્લા ભાનપૂર્ણ અસ્તિત્વ દરમિયાન જીવને પુનરુજ્જીવન દ્વારા સાત દેહાંતરમાં થઈ પસાર થવાનું છે. એટલે કે જીવ વારા ફરતી સાત જુદા જુદા માણસોના મૃતદેહમાં પ્રવેશ કરે છે અને એમ એને પુનઃ સજીવન કરે છે. પોતાનો દાખલો આપી ગોસાલ સમજાવે છે કે પોતે ઉદાઇ કુણ્ડિયાયણીયના દેહનો રાજગૃહ ગામની નજીકમાં ત્યાગ કર્યો અને એનેજ્જગના દેહમાં પ્રવેશ કર્યો. આ દેહને પોતે ૨૨ વર્ષ સુધી સજીવન રાખ્યો. એનેજ્જગ મરણ પામ્યો ત્યારે પોતે મલ્લરામના દેહમાં પ્રવેશ કર્યો અને એ દેહને ૨૧ વર્ષ પર્યંત સજીવન રાખ્યો. એવી જ રીતે એણે એક પછી એક એમ મણ્ડિય, રોહ, ભારદ્દાઇ અને અજ્જુણગ ગોયમપુત્તના દેહો અનુક્રમે ૨૦, ૧૯, ૧૮ અને ૧૭ વર્ષ પર્યંત પુનર્જીવિત કર્યા. ગોસાલ આગળ ચાલુ રાખતાં કહે છે કે 'છેવટ સાતમા દેહાંતરથી મેં કુંભારણના મકાનમાં અજ્જુણગનો દેહ છોડયો અને ૧૬ વર્ષની મુદત માટે ગોસાલ મંખલીપુત્તના દેહમાં પ્રવેશ કર્યો, એથી કરીને મારા સિદ્ધાંત પ્રમાણે ૧૩૩ વર્ષની દરમિયાનમાં હું સાતે દેહાંતરો પરિપૂર્ણ કરી ચુક્યો છું.

પુનરુજ્જીવનકરણનો સિદ્ધાંત એનો પોતાનો હોવાનો ગોસાલનો આ આગ્રહ સવિશેષ અગત્યનો છે. જૈન પરંપરા પ્રમાણે એના જીવનના અમુક પ્રસંગોના સંબંધમાં ઉદ્ભૂત થયેલા એના વિશિષ્ટ સિદ્ધાંતોમાંનો જ આ એક છે. અને એ ગોસાલની ખાસ વિચિત્રતા છે. સ્પષ્ટ રીતે, એ ગોસાલે કરેલી દેહાંતરના પોતાના સામાન્યવાદની કંઇક અનુપપન્ન પૂર્તિરૂપ જ છે. એ વિશિષ્ટ હેતુથી ઉમેરાયેલી હોવી જોઇએ અને એ કયો તે વ્યવહારિક રીતે ગોસલે પોતે કબૂલ કરેલું છેઃ એટલે કે મહાવીરે એના ચારિત્ર્ય વિષે કરેલા આક્ષેપોનું નિવારણ કરવાનો. ભગવતી સૂત્રમાં[૪૬] આપણને જણાવેલું છે કે સાવત્થીમાં મહાવીર સાથે થયેલા એના છેલ્લા વિગ્રહ વખતે ગોસાલ એમને કહે છે કેઃ—

'તમે મને તમારો શિષ્ય કહો છો પરંતુ એ તમારો શિષ્ય ગોસાલ મંખલીપુત્ત તો લાંબો સમય થયાં મૃત થયો છે અને દેવલોકમાં પુનર્જન્મ પામ્યો છે. હું તો ખરી રીતે ઉદાઇ કુણ્ડિયાયણીય છું અને સાતમા દેહાંતરમાં જ ગોસલનું સજીવન કરેલું શરીર જે હું અદ્યાપિપર્યંત ધારણ કરી રહ્યો છું તેમાં પેઠો છું.'

મંખલીપુત્ત ગોસાલપણાનો ઇન્કાર નિશ્ચિતપણે એમ સૂચવતો જણાય છે કે આ બે જણના પૂર્વકાલીન સાહચર્યનો ભંગ કેવળ અવ્યવહારિક અને સૈદ્ધાંતિક મતભેદને કારણે ન હોતો જેટલો મહાવીર તેમ જ, સામાન્ય રીતે લોકો જેને અપયશકર્તા અને તપસ્વીને અયોગ્ય ગણતા એવા કોઇ વર્તનને લીધે હતો.

પુનઃસજીવનકરણનો સિદ્ધાંત જો કે ગોસાલે પોતાની એકરૂપતાનો ઇન્કાર કરવાના ઇરાદાથી પ્રયોજ્યો હતો પરંતુ ભગવતી સૂત્રના[૪૭] કથનાનુસાર જે પ્રસંગે ગોસાલને એ સિદ્ધાંત સુઝાડયો તે (પ્રસંગ) ગોસાલના મહાવીર સાથેના સાહચર્યના કાલમાં બન્યો હતો.

એક સમયે સિદ્ધત્થ ગામથી કુમ્મગામ સાથે સાથે પરિક્રમણ કરતા કરતા આ બે પુરુષો પૂર્ણ ફાલેલા એક મોટા તલના ઝાડવા પાસે થઇને પસાર થયા, એને જોઇને ગોસાલે મહાવીરને પૂછ્યુંઃ "આ ઝાડવું નિર્જીવ થશે કે નહિ અને એનાં બીજ પુનઃ ક્યારે નજરે પડશે? મહાવીરે કહ્યુંઃ 'એ ઝાડવુ નિર્જીવ જશે પરંતુ એ જ ઝાડવાની શીંગોમાં બીજ બનશે.' ગોસાલને આ કથન ગમ્યું નહિ; માટે મહાવીરને જુઠા પાડવાનો વિચાર કરીને એ ચુપચાપ પેલા ઝાડવા પાસે પાછો ગયો, અને એને સમૂળું ઉખેડી નાંખીને દૂર ફેંકી દીધું. પરંતુ દૈવયોગે ત્યાર પછી વરસાદનું એક ઝાપટું પડયું. અને

૪૬. fol. ૧૨૩૭; ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૧ પૃ. ૫   ૪૭ fol. ૧૨૧૪ ff; ઉ. દ. પરિશિષ્ટ. ૧ પૃ. ૩

એના પરિણામે એ ફરીથી મૂળ નાખી શકયું અને એથી કરીને આખરે એને શીંગો બેઠી અને તેમાં બીઆં થયાં. તે દરમિયાન એ બન્ને જણ કુમ્મગામ પહોંચી ગયા હતા. કેટલાક વખત પછી પાછા વળતાં એઓ એ તલના છોડવા આગળ થઈને પસાર થયા. અને એને જોઈને ગોસાલે મહાવીરને એની ભવિષ્યવાણી યાદ કરાવી અને કહ્યું 'સ્પષ્ટ છે કે છોડવો નથી મરી ગયો અને બીઆં નથી બંધાયાં.' મહાવીરે જવાબ આપ્યો: 'મારી ભવિષ્યવાણી ખરી પડી છે; કારણ તેં પોતે એને સમૂળો ઉખેડી દૂર ફેંકી દીધો હતો તે જોતાં છોડવો મરી ગયો હતો પરંતુ વખતસર વરસાદ પડવાથી એ છોડવો પુનઃ સજીવન થયો અને એને શીંગો બેઠી અને બીઆં થયાં.' એમણે ઉમેર્યું કે 'આવી જ રીતે સર્વ છોડ સજીવન થઈ શકે એવા છે' ગોસાલે હજી એ વાત ન માની અને છોડવા પાસે જઈને એની શીંગો તપાસી; પરંતુ એ ફોલનાં મહાવીરનું કહેવું ખરૂં હતું એમ જણાવાથી એણે આગળ વધીને એમ અનુમાન કર્યું કે કેવળ છોડવાઓ જ નહિ પરંતુ વાસ્તવમાં સર્વ સજીવ પ્રાણીઓ પુનઃ જીવિત થવા શક્તિમંત છે. જો કે પુનરુજ્જીવનના સિદ્ધાંતને આમ સામાન્ય રૂપ આપવા વિષે મહાવીર તો સંમત ન જ થયા.

° આ બાબતમાં એક બીજો મત જે ભગવતીસૂત્રમાં[૪૮] ગોસાલના અનુયાયીઓનો તદ્દન વિશિષ્ટ મત હોવાનું જણાવેલું છે તેનો ઉલ્લેખ કરી શકાય. એ '**अट्ठचरमाइं**' (આઠ અંતિમતાઓ) ના નામે ઓળખાય છે. તે આ પ્રમાણે : છેલ્લું પીણું. છેલ્લું ગીત, છેલ્લું નૃત્ય, છેલ્લી (પ્રેમ) યાચના, છેલ્લો વંટોળીઓ, છંટકાવ કરતો છેલ્લો હાથી, મોટા પથ્થરો રૂપી અસ્રો વડે કરેલો છેલ્લો વિગ્રહ અને છેલ્લો તીર્થંકર અર્થાત્ મંખલીપુત્ત પોતે. આ સિદ્ધાંતને ઉપસ્થિત કરનાર પ્રસંગો તે ગોસલના જીવનના અંતિમ દિવસોમાં બનેલા પ્રસંગો. પહેલી ચાર '**चरमाइं**' તે એના પોતાના જીવનની વાતમાં કયારનાં ય વર્ણવાઈ ચુકેલાં[૪૯] એના પોતાનાં અંતિમ કૃત્યો. ત્યાર પછી ત્રણ તે ગોસલના મૃત્યુ–સમયની બરાબર લગભગમાં બનેલા જાણવા જેવા બનાવો હોવાનું કહેવાય છે. છેલ્લો વંટોળીઓ, એ પ્રસંગોપાત હજી પણ બંગાળાની મુલાકાત લેતા, પરંતુ ઉત્તર હિંદના અન્ય ભાગોમાં લગભગ અજ્ઞાત એવા ધોધમાર વરસાદ સાથે થતા પ્રચંડ વાવાઝોડાના એકાદા તોફાનને ઉદ્દેશીને છે. 'છંટકાવ કરતો હાથી,' તે રાજકીય અંતઃપુરની સન્નારીઓના ગંગાસ્નાનને સમયે તેમના મનોરંજનાર્થે કેળવેલું એક પ્રકારનું જંગી જનાવર હોવાનું કહેવાય છે; જેના કબ્જા દાવા માટે આગળ જણાવ્યા પ્રમાણે મગધ અને વૈશાલીના નરેશો વચ્ચે વિગ્રહ ઉત્પન્ન થયો હતો. આ વિગ્રહમાં એવાં પથ્થરનાં અસ્રો વપરાયાં હોવાનું કહેવાય છે કે જે દેખીતી રીતે કોઈ પ્રકારની જબ્બર ગોફણો વડે ફેંકાયાં હોવાં જોઈએ.[૫૦] આ વિચિત્ર સિદ્ધાંતના અસ્તિત્વનું કારણ, નિઃશંકપણે, એ છે કે પોતાના ગુરુના સંદિગ્ધાર્થ મૃત્યુને વિષે, એમની પુનઃ પ્રતિષ્ઠા કરે એવી કોઈ પ્રકારની ઇંદ્રજાલનું આરોપણ કરવાની ગોસાલના શિષ્યોને જરૂર લાગી હતી.

ગોસાલના અવસાન સમયે બનેલા પ્રસંગોએ ભગવતી સૂત્રમાં[૫૧] નિવેદન કરેલ બીજા વિચિત્ર સિદ્ધાંતને ઉપસ્થિત કર્યો. એણે પોતાની તાવલી ઉશ્કેરણીમાં પોતાના હાથમાં એક કેરી ધારણ કર્યાનું અને કુંભારના મકાનમાં હમેશાં હાજર હોય છે એ માટીવાળા પાણીથી પોતાની જાતને ભીંજવ્યાનું કહેવાય છે. આ ક્રિયાએ 'ચાર પેયો અને ચાર અપેયો' (**चत्तारी पाणगाइं चत्तारी अपाणगाइं**) નો સિદ્ધાંત સુઝાડયાનું કહેવાય છે. (ચાર પેયો એટલે ચાર વસ્તુઓ જે પીણા તરીકે વપરાય અને ચાર અપેયો એટલે ચાર વસ્તુઓ જેનો સ્પર્શ કરાય પણ જે પીવાય નહિ) ચાર પેયો તે ગોમૂત્ર,

૪૮. fols ૧૨૫૪, ૧૨૫૫, ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૧. પૃ. ૭. ૪૯. પૃ. ૪. ૫૦: નિ. સુ. ઙ. ૧૭ ff. ૫૧. fol, ૧૨૫૫' ff: ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૧ પૃ. ૮, ૯,

હાથથી મેલું કરેલું પાણી, અર્થાત્ (કુંભારના વાસણમાંનું પાણી), સૂર્યથી તપેલું પાણી; અને ખડકમાંથી ટપકતું પાણી. ચાર અપેયો જે પાણીના બોટવા, કેરીઓ, કુંડોળ (શીંગો) વગેરે જેવી વસ્તુઓને ઉદ્દેશીને છે.

આજીવિકોના આચારો સંબંધી આપણી પાસે બૌદ્ધ મજ્ઝિમનિકાયમાં એક બોધપ્રદ કથન છે. ૩૬ મા પ્રકરણમાં[૫૨] નિગ્ગન્થ સંઘના સાધુ સચ્ચકને બુદ્ધસમક્ષ ગોસાલ મંખલીપુત્ત તથા એના મિત્રો નંદ વચ્છ અને કિસ્સ સંકિચ્ચના અનુયાયીઓમાં પળાતા આચારો સમજાવતો દર્શાવ્યો છે. આપણે જોયું છે[૫૩] તે પ્રમાણે આ ત્રણે પુરુષો આજીવિકોના આગેવાનો હતા. એમના અને એમના અનુયાયીઓના સંબંધમાં સચ્ચક કહે છેઃ—

'એઓ સર્વ વસ્ત્રોનો પરિત્યાગ કરે છે (**अचेलक**); એઓ સર્વ શિષ્ટાચારો (**मुत्ताचार**) કોરે મુકીને વર્તે છે. એઓ પોતાનો ખોરાક પોતાના હાથમાંથી ચાટી ખાય છે (**हत्थापलेखण**)[૫૪] એઓ ભિક્ષા માટે આવવાની વા રાહ જોવાની કોઈની હાક સાંભળતા નથી; તેઓ પોતાને માટે ખોરાક ખાસ તૈયાર થવા દેતા નથી; વા આમંત્રણથી જમવા જતા નથી. તેઓ જે વાસણમાં વા પેણામાં (Pan) ખોરાક રંધાયો હોય તેમાથી—તેના મુખમાંથી—કોઇ ખોરાક સ્વીકારતા નથી. તેમજ ઉમરાની અંદર મુકાયેલો અથવા ખાંયણીઆમાં ખંડાવા મુકાયેલો (શબ્દશઃ—મુસળો વચ્ચે મુકાયેલો) અથવા ચૂલા ઉપર ચડેલો ખોરાક સ્વીકારતા નથી, તેમજ સહ ભોજન કરતા યુગલ પાસેથી અથવા સગર્ભા સ્ત્રી પાસેથી અથવા ધાવણા છોકરાવાળી સ્ત્રી પાસેથી અથવા પુરુષ સાથે સંભોગ કરતી સ્ત્રી પાસેથી તેઓ ખોરાક સ્વીકારતા નથી. તેમજ (દુકાળના સમયમાં) ક્ષીણ થયેલો ખોરાક તેઓ લેતા નથી. તેમજ પાસે કુતરૂં ઉભું હોય ત્યારે, વા માખો બણબણતી હોય ત્યાંથી તેઓ ખોરાક સ્વીકારતા નથી; મચ્છી વા માંસ તેઓ નહિ ખાય, તેમજ ચોખામાંથી બનાવેલો દારૂ વા મૈરેય (?) (મહુડાનાં ફુલો–Wood Jordia Jloria hunda) માંથી બનાવેલો દારૂ અથવા છોડાં છતાં જવની બનાવેલી ખાટી રાબ તેઓ નહિ પીએ. એમનામાંના કેટલાક કેવળ એક ઘરે જ ભિક્ષા માગે છે અને એક મુઠ્ઠી અન્ન જ સ્વીકારે છે. બીજા સાત ઘરે માગે છે અને સાત મુઠ્ઠી સ્વીકારે છે; કેટલાક એક અન્નોપહાર ઉપર ગુજારો કરે છે, બીજા બે અને વળી બીજા સાત અન્નોપહાર સ્વીકારે છે; કેટલાક કેવળ એક ટંક જમે છે, બીજા દર બે દિવસે માત્ર એકવાર ભોજન કરે છે; બીજા દર અઠવાડીએ માત્ર એકવાર જમે છે અને વળી બીજા દર પખવાડીએ કેવળ એક ભોજન લે છે; આ રીતે તેઓ ઉપવાસનાં નાના પ્રકારનાં વ્રતોનું પાલન કરે છે

જીવન ટકાવી શકે છે કેમ ? સચ્ચક તિરસ્કારથી જવાબ આપ્યો કે અલબત્ત, બીજા સમયોમાં તેઓ પુષ્કળ અને ઉત્તમ ખાન પાનોનો ભોગ કરે છે અને એમ શારીરિક શક્તિ પુનઃપ્રાપ્ત કરે છે અને જાત (શરીર) વધારે છે. ગોસાલ અને એના આજીવિકોની સચ્ચાઈની એમના સમકાલીનોમાં કેટલી કીર્તિ હતી તે વિષેનું આ સૂચક કથન છે. ઘણી ગંભીરતર સ્ત્રીવિષયક બાબતમાં ગોસાલના દંભની શંકા, જે એની અને મહાવીરની વચ્ચેના કલહનું કારણ હતું એમ માનવાને કારણ છે તેનું આ હકીકત કેવળ સમર્થન કરે છે.

' પરિકમ્મ 'ના સપ્તમ સમૂહને લગતા એમના વિચિત્ર સિદ્ધાંત વિષે અને તેરાસિયો વા આજીવિકો વિષે જે કથન કરવામાં આવેલું છે એની શૈલી ઉપરથી એ સ્પષ્ટ છે કે તેઓ નિગ્ગન્થ સમાજના વર્તુલ બહારના લેખાતા ન હોતા. એમનો સિદ્ધાંત મોટા સમૂહને સ્વીકરણીય નહિ હોય, એ ફાંટાફાડુ પણ હોય પરંતુ એ મિથ્યાદષ્ટિવાળા તરીકે નિંદી કઢાયેલો તો નહોતો જ. એ એનું પ્રતિપાદન કરનાર ગોસાલની અને એનો અસ્વીકાર કરનાર એના સહચારી મહાવીરની વચ્ચે ભલે ઘર્ષણકારક નિવડયો હોય પરંતુ એ બે જણના પૂર્વ સહચારને સ્થાને જે સંપૂર્ણ વિશ્લેષ અને ગાઢ શત્રુતા સ્થપાયેલી આપણે જોઈએ છીએ તે એ (સિદ્ધાંતને) કારણે ન હોય. સ્પષ્ટપણે આ પરિવર્તન માટે તેરાસિય અથવા આજીવિક સિદ્ધાંત સાથે તત્ત્વતઃ અયુક્ત એવું, કોઈ ખાસ કારણ હોવું જોઇએ. આ કારણ શું હતું તે આપણને સ્પષ્ટતયા કયાંય કહેવામાં આવેલું નથી. બૌદ્ધો આ બાબત વિષે નિઃશબ્દ છે. આપણે જાણીએ છીએ કે બુદ્ધને ગોસાલ પ્રત્યે અણગમો હતો, પરંતુ એ એની સાથે કદિ અંગત પરિચયમાં આવેલા ન હોતા અને ગોસાલના મહાવીર સાથેના કલહમાં એમને વા બૌદ્ધોને ઝાઝો રસ પડેલો નથી. મહાવીરના સંબંધમાં મામલો જુદો હતો. એમના તપસ્વી જીવનના પૂર્વકાલીન વર્ષોમાં એ અને ગોસાલ સહચારીઓ હતા. પાછળનો ભેદ અને સંપૂર્ણ જુદાઇ જૈનોને મન અગત્યની બાબત બન્યા સિવાય રહી શકે નહિ. એમ છતાં, એમનાં શાસ્ત્રોમાં પણ–અત્યારે આપણે એમને જાણીએ છીએ ત્યાં સુધી–એ વિશ્લેષનું કોઇ સ્ફુટ કારણ લખાયેલું નથી. કેટલાંક આડકતરાં સૂચનો ઉપરથી આપણે અનુમાનો દોરવાનું રહે છે; અને આ સૂચનો પોતાની વ્યંજકતાના વિષયમાં જરા યે દુર્બોધ નથી. કુંભારણના મકાનમાં ગોસાલે પોતાનો મુખ્ય વાસ પસંદ કર્યાની વાત અને પોતાની એકરૂપતા ના કબુલ કરવાનો એનો પ્રયત્ન સ્પષ્ટપણે વિશ્લેષના સૈદ્ધાન્તિક નહિ પણ વ્યાવહારિક કારણનો, ગોસાલની વર્તણુકમાંના કોઇ કલંકિત સ્વરૂપનો નિર્દેશ કરે છે. આ સ્વરૂપ શું હતું તે સૂત્રકૃતાંગમાં[૫૮] પૂરતી રીતે સાફ સાફ દર્શાવેલું છે. ' મહાવીર જેવા સંસારત્યાગ કરનારાઓ મધ્યમાવસ્થાના માણસો છે અને શુદ્ધ કરેલું જળ જેમ પુનઃ અશુદ્ધ થાય છે તેમ તેઓ હજી કર્માવગુંઠનશીળ છે. જ્યારે ગોસાલ પોતે સંપૂર્ણ મુક્તિને પામેલો છે ' એ ગોસાલના કથનનો ઉત્તર આપતાં મહાવીર ગોસાલ અને એના અનુયાયીઓની વર્તણુકનો નિર્દેશ કરતાં કહે છે કે ' આ માણસો બ્રહ્મચર્યવાળું જીવન ગુજારતા નથી. ' અર્થાત્ આ હકીકત ગોસાલના વિવાદની સત્યાસત્યતા વિષે [કોઇ પણ] ' ડાહ્યા પુરુષ 'ને સંતોષ આપવા પૂરતી હોવી જોઇએ. આ સંબંધમાં એ નોંધવા જેવું છે કે ભગવતી સૂત્રમાં[૫૯] મહાવીરને, ગોસાલનો પુનર્જન્મનો સિદ્ધાંત વક્રોક્તિમાં એને જ લાગુ પાડતા વર્ણવ્યા છે. યથાર્થ મુક્તિની અવસ્થામાં હોવાને બદલે ગોસાલને ખરી પૂર્ણતા પ્રાપ્ત કરતાં પહેલાં પોતાના અવસાન પછી કેવી રીતે પુનર્જન્મની અનંત ઘટમાળમાં થઇને પસાર થવાનું છે તે મહાવીરે ત્યાં દર્શાવ્યું છે. એ ઘટમાળનાં અનેક પગથીઆંનો એ નામ સાથે

૫૮. જૈ. સૂ. ૨. ૨૪૫. ૫૯. fols ૧૨૭૫-૧૨૯૧; ઉ. દ. પરિશિષ્ટ ૧, પૃ. ૧૧-૧૪

निर्देश करे छे. એમ છતાં સૂત્રકૃતાંગમાં એક વધુ વ્યંજક ફકરો આવે છે. એમાં ગોસાલના મહાવીર ઉપરના આક્ષેપો સંબંધી મહાવીરના અનુયાયી આર્દ્રકે એની સાથે જે વાદવિવાદ કરેલો તે આલેખાયેલો[60] છે. એ આક્ષેપો તે આ: પહેલો આક્ષેપ મહાવીરની અસંગતાનો અર્થાત્ પહેલાં એ એકાકી સાધુ તરીકે ભ્રમણ કરતો પણ પાછળથી એણે પોતાની જાતને અનેક સાધુઓથી પરિવૃત કરી; બીજો આક્ષેપ અસ્થાને કડકાઇ કરવાનો અર્થાત્ ગોસાલ જે ચતુર્યામનો અસ્વીકાર કરતો હતો તેનો મહાવીર આગ્રહ કરતા. અને ત્રીજો આક્ષેપ આધ્યાત્મિક અહં અને આધ્યાત્મિક ભીરૂતાનો. ચતુર્યામ નીચેની બાબતોને અનુલક્ષીને છે.

(૧) ઠંડુ પાણી પીવું
(૨) (રાંધ્યા વિનાનાં) બીજો ખાવાં
(૩) ખાસ તૈયાર કરેલી વસ્તુઓ સ્વીકારવી
(૪) સ્ત્રી સંભોગ કરવો

મહાવીર આ ક્રિયાઓને પાપપૂર્ણ લેખી એનો નિષેધ કરતા. પરંતુ ગોસાલ પ્રતિપાદન કરતો કે એ ક્રિયાઓ કરવામાં તપસ્વી કશું પાપ કરતો નથી. એના એ જ ચાર નિયમો એજ સૂત્રકૃતાંગમાં[61] બીજે સ્થળે લખેલા છે જો કે નોંધવા જોગ ભેદસહિત. એ નીચે પ્રમાણે:—

(૧) ઠંડુ પાણી પીવું
(૨) (રાંધ્યા વિનાનાં) બીજો ખાવાં
(૩) ખાસ તૈયાર કરેલી વસ્તુઓ સ્વીકારવી
(૪) માંદા ભાઇને ગૃહીના વાસણમાં લવાયેલો ખોરાક ખવરાવવો

સ્ત્રી સંભોગની નૈતિક બાબતનું સ્થાન અહીં ગૃહી અનુયાયીના વાસણમાંથી ખાવાની વૈધિક બાબતે લીધું છે. આ ભેદનો અર્થ હવે પછી સમજાવવામાં આવશે. આ જગોએ માત્ર એટલું જ ધ્યાનમાં રાખવાનું છે કે તકરારનો કોઇ પણ વિષય સિદ્ધાંતને લગતો નથી; એ બધા વર્તણુકને લગતા છે.

ચર્ચાનો વિષય ધાર્મિક તપસ્વીઓની વર્તણુકનો હતો એ વિચારતાં સૌથી વિસ્મયકારક તકરારી મુદ્દો તે સ્ત્રીસંભોગ સંબંધીનો છે. વસ્તુ સ્થિતિ સમજવા માટે આપણે યાદ રાખવું જોઇએ કે મહાવીરના પૂરો ગામી પાર્શ્વે પોતાના અનુયાયીઓને માત્ર ચાર વ્રતો પાલન કરવાનો આદેશ આપ્યો હતો.[62] (૧) અહિંસા, (૨) સુનૃત અથવા સત્ય, (૩) અસ્તેય (૪) અપરિગ્રહ વા અકિંચન અર્થાત્ પાર્શ્વે દયા, સત્ય, પ્રામાણિકતા અને નિર્ધનતાનાં વ્રતોનો આદેશ આપ્યો હતો. મહાવીરે આમાં બ્રહ્મચર્યનું[63] પાંચમુ વ્રત ઉમેર્યું. આ ઉમેરો કરવાનું એમનું કારણ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં[64] સમજાવેલું છે. મહાવીરની પૂર્વે એ અધ્યાહાર હતો કે બીજાં વ્રતોથી બ્રહ્મચર્ય ગર્ભિત રીતે આદિષ્ટ છે; પરંતુ વાસ્તવમાં એથી એમાં છૂટકબારી રહેલી હતી. વધૂ એક પ્રકારની મિલ્કત ગણાતી હોવાથી નિર્ધનતાના વ્રતાનુસાર લગ્ન નિષિદ્ધ હતું; અને પરદારગમન પ્રામાણિકતાના વ્રતથી નિષિદ્ધ હતું. પરંતુ વેશ્યાગમનનું ઊંડુ ઉઘાડું હતું. એટલે એ માર્ગે પાર્શ્વે સ્થાપેલા નિગ્ગન્થ સમાજના બૌદ્ધિક વા નૈતિક નિર્બળતાવાળા સભ્યોમાં ધીરે ધીરે નીતિશૈથિલ્ય પેઠું. મહાવીરનું બ્રહ્મચર્યનું પંચમ વ્રત એ દોષની સુધારણાર્થે યોજાયેલું હતું. આ મુદ્દા ઉપર એમના સહચારી ગોસાલે પ્રતિરોધ કર્યો. એ, શિથિલ ટોળી પ્રત્યે સહાનુભૂતિ ધરાવતો હતો. અને યથાર્થ રીતે ' મુક્ત ' થયેલો તપસ્વી કોઇ પાપ કરી શકે નહિ અને સ્વતંત્ર ઇચ્છા શક્તિનો

૬૦. જૈ. સૂ. ૨. ૪૦૯–૪૧૩. ૬૧. જૈ. સૂ. ૨. ૨૬૭. ૬૨. જૈ. સૂ. ૨. ૧૨૧. ૬૩. જૈ સૂ. ૨. ૬૧, ૧૦૬, ૧૩૯, ૨૦૪. ૬૪. જૈ. સૂ. ૨. ૧૨૨, ૧૨૩

મભાવ હોવાથી નૈતિક જવાબદારી છેજ નહિ એ બેવડી દલીલથી એણે પોતાના અને બીજાઓના ીતિશૈથિલ્યને નિર્દોષ ઠરાવ્યું હોય એમ જણાય છે. ખરેખર, માનવાને સારૂ કારણ છે કે ગોસાલની ર્તણુકની આ શિથિલતા એજ મહાવીરને પાંચમુ વ્રત દાખલ કરવાનો અને એમ ગોસાલને નીકળી જવાની ફરજ પાડવાનો પ્રસંગ આપ્યો. ઉપર ટાંકેલા ચાર નિયમોના બે ઉતારાઓમાં પહેલા ત્રણ નિયમો ામાન્ય છે જ્યારે ચોથાની બાબતમાં એ ઉતારા જુદા પડે છે. આ એ ત્રણ વ્રતોમાંની કોઇ વિશિષ્ટ ાસ્તુનો નિર્દેશ કરે છે. હવે, સૂત્રકૃતાંગમાં[૬૫] એક સ્થળે ફક્ત ત્રણ ખાસ નિયમો (ઠંડુ પાણી, બીજ બને ખાસ તૈયાર કરેલો ખોરાક નહિ સ્વીકારવા બાબતના)જ લખેલા છે અને આચારાંગ ાૂત્ર[૬૬]માં મહાવીરને આપણે નિયમત્રય **यामातिण्णि** આદેશનાર 'ડાહ્યા પુરુષ' તરીકે વર્ણવેલા જોઇએ છીએ. બીજી બાજુએ બૌદ્ધ દીઘનિકાયમાં[૬૭] મહાવીરને પોતાની જાતને 'ચાર નિયમોવાળા ાુરુષ (**चतुर्याम**) તરીકે વર્ણવતા દર્શાવ્યા છે. આ તફાવતની સમજુતી જે સ્વતઃ સૂચવાય છે તે એ કે મહાવીરે પોતાના અનુયાયીઓને મૂળ માત્ર ત્રણ નિયમોનો આદેશ કરેલો અને પાછળના સમ-યમાં જ્યારે ગોસાલ જોડે એમને તકરાર થઇ ત્યારે એમણે ચોથો નિયમ દાખલ કરેલો. સ્ત્રીસંભોગને લગતો આ ચોથો યામ વાસ્તવમાં મહાવીરનું બ્રહ્મચર્યનું પંચમ વ્રત છે જે ક્યારનું ઉલ્લેખાઇ ચુકયું છે. એ પ્રમાણે પાર્શ્વના ચાર યામોમાં કરેલો મહાવીરનો ઉમેરો છે. ચોથા યામની એટલે કે મહાવીરની યોજનાના પંચમ વ્રતની સ્થાપના માટેનો પ્રસંગ ગોસાલે જ પુરો પાડેલો એ અટકળ જો બરાબર હોય તો, એ મહાવીર સાથેના ગોસાલના વિશ્લેષનું ખરૂં કારણ એનું નીતિશૈથિલ્ય હતું એ વિધાન એથી ઘણે અંશે સાબીત થાય છે. સ્ત્રી સંસર્ગ વર્જવાના તપસ્વીના ધર્મ વિષે બોલતાં મહાવીરને ગોસાલ સંબંધે સૂત્રકૃતાંગમાં[૬૮] આમ કહેતા દર્શાવ્યા છે: 'સાધુઓની સભામાં એ પવિત્ર શબ્દો ઉચ્ચારે છે છતાં છૂપી રીતે એ પાપ કર્મો કરે છે; પરંતુ 'ડાહ્યા પુરુષો' જાણે છે કે એ પ્રપંચી અને 'બેરો બદમાશ છે.' સ્ત્રી સંગને લગતી વર્તણુકના વિષયમાં ગોસાલના **બગભગત** વેડા જ મહાવીર અને એની વચ્ચેના તડનું કારણ હતું.

મુખ્ય કારણ આ હોય છતાં નિશંકપણે એ બે જણ વચ્ચેનું સંઘર્ષણ તીવ્ર કરનારાં બીજાં સહકારી કારણો હતાં. એ ઠંડા પાણી, અને રાંધ્યા વિનાનાં બીજોના વપરાશ તથા ખાસ તૈયાર કરેલાં ભોજનના સ્વીકારને લગતા યામત્રય વિષેનાં હતાં. આ દેખીતી રીતે નજીવા વિષયોનાં મહત્વનો સાક્ષા-ત્કાર કરવા માટે આપણે યાદ રાખવું જોઇએ કે સર્વ ભારતીય તાપસોમાં કર્મવિરતિ એ વર્તનનો સર્વો-પરિ નિયમ હતો, કારણ આત્માને જન્મ મરણની ઘટમાળમાં બાંધનારી વસ્તુ કર્મ છે. પરંતુ આ નિયમને એક અપવાદ હતો: અને તે એ કે મોક્ષ પ્રાપ્તિ કરાવનાર સમગ્ર વિધિનું પાલન દેહ વિના કોઇથી થઇ શકે નહિ એથી કરીને દેહ ટકાવી રાખવા માટે આવશ્યક હોય એવાં કર્મો[૬૯] અર્થાત્ અન્ન ભિક્ષા અને ભોજન અનપકારી છે અને બંધન કર્તા નથી.[૭૦] પ્રત્યેક વ્રત વા યામ આ નિયમ અને એના અપવાદને વગર કહ્યે વશ વર્તતું ગણાતું હતું. આમ, જ્યારે બધા એક મત હતા કે ખોરાકનો સંઘરો કરવાની મના છે પરંતુ પોતાનો રોજંદા નિર્વાહ પુરતો ખોરાક માગવાની છૂટ છે ત્યારે કેટલાક તપસ્વીઓ એ છૂટને પણ અમુક યામોથી મર્યાદિત કરતા. રખેને કોઇ જીવની હિંસા થાય એ કાળજીથી મહાવીરે ઠંડા પાણીના અને પ્રાકૃતિક અવસ્થામાં પડેલાં બીજોના વપરાશની મના કરી; એકને ઉકાળ્યા પછી અને બીજાને રાંધ્યા પછી વા જીવરક્ષણની અન્ય ક્રિયાઓ કર્યા પછી જ ઉપયોગ કરવો. (એમ કહ્યું)

૬૫ જૈ. સૂ. ૨. ૩૧૩. ૬૬ જૈ. સૂ. ૧. ૬૩. ૬૭ પૃ. ૫૭; ડા ૭૪. ૬૮ જૈ. સૂ. ૨ ૨૭૩. ૬૯ સૂ. કૃ. ૨, ૬ § ૭ની ટીકામાં धर्म-आधार-शरीररक्षणाय, જૈ. સૂ. ૨, ૪૧૧ માં. ૭૦ જુઓ ભા. રિ૦ પૃ. ૯૪, ૯૯.

રખેને ભિક્ષાનો ખાસ અધિકાર અસંયમના પતનને પામે એ કાળજીથી એમણે વળી ભિક્ષુઓ માટે ખાસ તૈયાર કરેલા ભોજનના સ્વીકારનો પણ નિષેધ કર્યો. બીજા પક્ષે ગોસાલે આ ચામત્રયનો ઈન્કાર કર્યો.

વળી, જ્યારે સર્વ તાપસો એક મત હતા કે દેહ ઉપરાંત કોઇ પણ અન્ય મિલ્કત તાપસે ન રાખવી જોઇએ ત્યારે મહાવીરે ભિક્ષાન્નના સ્વીકાર માટે ભિક્ષાપાત્ર રાખવાની છૂટ રાખી. આ છૂટના ન્યાયીપણાનો ગોસાલે નિષેધ કર્યો, કારણ તાપસ એ હેતુ માટે પોતાના હાથનો ઉપયોગ કરી શકે અને કરવો જોઈએ. ખોરાક[૭૧] એ હાથ જોડીને બનાવેલા ખોબારૂપી પાત્રમાં સ્વીકારવો જોઈએ અને આ કુદરતી પાત્રમાંથી ચાટી જવો જોઇએ. આથી કરીને આ કડકતર નિયમ પાળનાર તપસ્વીઓ 'હાથ ચાટુ' (**हत्थापलेखन**)[૭૨]ના નામે ઓળખાતા. એમ છતાં જો માંદા સાધુ માટે અન્ન જોઇતું હોય તો એ ગૃહીના વાસણમાં લઈ જવાતું હતું. મહાવીરે આ વર્તન વિષે વાંધો લીધેલો કારણ એથી ગૃહીના વાસણમાંના કોઇ જીવની હિંસા થવાનો ભય હતો[૭૩]

આ સંબંધમાં વસ્ત્રના પ્રશ્નના નિરૂપણનો ઉલ્લેખ કરવા જેવો છે. (પાર્શ્વ જેવા) કેટલાક તાપસો આવરણ વાપરવાની પરવાનગી આપતા; બીજા કેવળ કમી ન કરી શકાય એવા લઘુતમ કટિબંધનની જ પરવાનગી આપતા; જ્યારે વળી બીજાઓ સદંતર નાગા ફરતા. મહાવીરના નિકટના અનુયાયીઓ[૭૪] વા નિગ્ગન્થો બીજા વર્ગમાં આવતા જણાય છે. તદનુસાર ગોસાલે એમને 'એક ચિંદરડાવાળા માણસો' **एकसाटक** કહ્યા છે અને પોતાના લોહિત વર્ગમાં મુકયા છે.[૭૫] પોતાના નિગ્ગન્થોને લંગોટ, વસ્ત્રની છૂટ આપતાં મહાવીરે પોતાને માટે સર્વ વસ્ત્રનો પરિત્યાગ કરેલો હતો. આ બાબત વિષે એમની અને ગોસાલની વચ્ચે કંઇ ભેદ ન હોતો; બન્ને અચેલક અથવા 'નવસ્ત્રા' વર્ગના ભિક્ષુઓ હતા. ખરેખર, એ પ્રાયઃ સંભવિત છે કે આ બાબતને વિષે મહાવીર ઉપર ગોસાલનો પ્રભાવ પડયો હોય. કારણ જૈન ધર્મશાસ્ત્રોમાં આપણને કહેવામાં આવ્યું છે કે પ્રથમ જ્યારે મહાવીરે તપસ્વી જીવનનો અંગીકાર કર્યો ત્યારે એ પાર્શ્વના સવસ્ત્રા સમાજમાં દાખલ થયા હતા; એ જીવનના બીજા વર્ષમાં જ એમને ગોસાલનો સમાગમ થયો. લગભગ તેજ કાલે એમણે નિતાંત નગ્નતાના કડકમાં કડક પાલનનો સ્વીકાર કર્યો. એ સંયોગ સૂચવે છે કે મહાવીરે એ આચારને ગોસાલ પાસેથી અંગીકાર કર્યો અને ગોસાલના ઢંગે કરીને પાછળથી છેવટનો વિશ્લેષ ઉત્પન્ન ન હોતો થયો ત્યાં સુધીના એમના સાહચર્યની ગાંઠ બનેલી તે આજ બીના. એમ છતાં એ સંભવિત જણાય છે કે નિગ્ગન્થ સમાજમાં સામાન્ય નિયમ લંગોટી પહેરવાનો હતો અને નિતાન્ત નગ્નતાનો સંપ્રદાય ગોસાલની ટોળી જેણે **પરિક્કમના**[૭૬] સામ સમૂહમાં રચેલ આજીવ વિષેનો ગોસાલનો સિદ્ધાંત અંગીકૃત કર્યો હતો અને જે એથી કરીને આજીવિક તરીકે ઓળખાતી હતી, તેનામાં જ પ્રવર્તમાન હતો.

આ મુદ્દા ઉપર બૌદ્ધ વિનયપિટકમાં[૭૭] એક બોધદાયક વાર્તા કહેલી છે. એક સમયે જ્યારે બુદ્ધ સાવત્થીમાં રહેતા હતા ત્યારે એમને અને એમના ભિક્ખુઓને વિશાખા નામની એક ધનવાન સ્ત્રીએ પોતાને ઘેર ભોજન લેવાનું આમંત્રણ કર્યું હતું. ભોજન તૈયાર થતાં એણે પોતાની દાસીને અતિથિઓ બોલાવી લાવવા મોકલી. રસ્તામાં વરસાદનું એક સખત ઝાપટું પડયું અને બુદ્ધના નિવાસે પહોંચતાં એણે જોયું તો ભિક્ખુઓ નવસ્ત્રા થઇ વરસાદની મઝા માણતા હતા. કંઇ ભૂલ થયેલી ધારીને એ પોતાની શેઠાણીને ખબર આપવા પાછી ગઇ અને કહ્યું કે મને દર્શાવવામાં આવેલી જગાએ કોઈ ભિક્ખુઓ નથી; ત્યાં તો આજીવિકો છે. અલબત્ત આ ગેરસમજુતી દૂર કરવામાં આવેલી; પરંતુ સાવત્થીમાં

૭૧ જૈ. સૂ. ૧, ૫૭ પાદનોંધ ૨, અને ૨, ૨૬૭, પાદનોંધ ૨. ૭૨ દી० નિ० ૧૬૬; ડા ૨૨૭; ૭૩ જૈ. સૂ. ૨. ૩૦૩. ૭૪ જૈ. સૂ. ૧. ૭૩. ૭૫ પૃ. ૧૯. ૭૬. પૃ. ૨૧. ૭૭. પૃ. ૧ ૨૯૧; વિ. પિ. તરજુમો ૨. ૨૧૬ ff

બનેલો બનાવ બતાવે છે કે આજીવિકો નગ્ન ભિક્ષુઓ હતા અને ગોસાલના અનુયાયીઓ હતા, જેણે કે આપણે જોઈ ગયા તે પ્રમાણે મહાવીરથી છૂટા પડયા પછી પોતાનું મુખ્ય મથક સાવત્થીમાં થાપેલું હતું. ગોસાલે પાડેલા મનુષ્યના ષટ્વર્ગોથી[૭૮] આ જ મુદ્દો દૃષ્ટાંત સહિત સમજાવવામાં આવ્યો છે. એમાં શુક્લાભિજાતિ એટલે પોતાની જ ટોળી—નગ્ન આજીવિકો—એમ બતાવવામાં આવ્યું છે. જ્યારે લોહિતાભિજાતિના નમુના તરીકે એક ચીંદરડાવાળા નિગ્ગન્થો અર્થાત્ મહાવીરના પક્ષકારોને ગણાવ્યા છે. એમ છતાં, નિતાંત નગ્નતા એ નિગ્ગન્થોમાં આખા આજીવિકપક્ષનું ચિહ્ન હોવું જોઇએ; કેવળ ગોસાલ સાથે નોખા પડી ગયેલા અંશનું જ નહિ કારણ, હવે પછી જણાશે એમ પાછળના કાળમાં દિગંબર સંપ્રદાય ઉત્પન્ન થયો[૭૯] તે નિગ્ગન્થો સાથેનો સંબંધ રાખી રહેનાર બાકીના આજીવિક પક્ષરૂપી બીજમાંથી.

ગોસાલે મહાવીર સામે કરેલા બીજા બે આક્ષેપો વિચારવાનું હવે બાકી રહે છે. આમાંના પહેલામાંનો ઉલ્લેખ તદ્દન સ્પષ્ટ નથી. મહાવીર સામે આક્ષેપ કરેલો છે કે એ પ્રથમ એકાકી સાધુ તરીકે અટન કરતા પણ પાછળથી એમણે 'પોતાની જાતને અનેક સાધુઓથી પરિવૃત કરી'[૮૦] બીજા પક્ષે ગોસાલ 'એકાકી અને નિ:સંગ રહેવા' નો[૮૧] દાવો કરે છે, એમ છતાં, વાસ્તવમાં, ગોસાલ પણ આજીવિકો તરીકે ઓળખાતા અનેક સાધુઓથી પરિવૃત હતો. એથી કરીને સ્પષ્ટ છે કે નેતા અંગત શિષ્યોના સાથમાં પર્યટન કરે અથવા રહે એ દોષ નહોતો ગણાતો. ગોસાલની નજરે, મહાવીરની કાર્યપ્રણાલિ સામેની એની ફરિયાદનું મુખ્ય કારણ એ હોવાનું જણાય છે કે બુદ્ધની જેમ મહાવીરે સાધુસંઘની સ્થાપના કરી. મહાવીરના અનુયાયીઓ નાના વા મોટા સમૂહોમાં વિવિધ સ્થળોએ વિખરાયેલા હતા. પરંતુ એ બધાને એક ધર્મ અને એક નેતા (મહાવીર) વાળા સમાજ તરીકે સંગઠિત કરેવામાં આવ્યાં હતા. ગોસાલના અનુયાયીઓનો નાનો સમૂહ હતો અને એ સર્વદા પોતાના અગ્રેસરના સાથમાં રહેતો. ખરેખર, એવીજ સંદિગ્ધ પ્રકૃતિના અન્ય સાધુસમૂહો હતા જેમનું નામ પણ આજીવિકો હતું, પરંતુ તેઓ જુદા જુદા આગેવાનો સાથે જુદા રહેતા હતા. એ આગેવાનોમાંના બેનાં નામ, બૌદ્ધ ધર્મશાસ્ત્રોમાં[૮૨] લખાયેલાં છે તે પ્રમાણે કિસ્સ સંકિચ્ચ અને નંદ વચ્છ છે. પરંતુ આ અનિશ્ચિત પ્રકારના આજીવિકો, જેમને પાછળના આજીવિક જથાના સાધુઓથી જુદા જાણવા જોઇએ[૮૩] તેમનો નિગ્ગન્થો (જૈનો) અને બૌદ્ધોની જેમ સંગઠિત સંઘ ન હતો. સ્પષ્ટ છે કે ગોસાલ અને એની વિચાર સરણિના અન્ય પુરુષોના અનીતિમય આચાર વિચારો વિસ્તૃત જાહેર સંઘની સ્થાપનામાં કુદરતી વિઘ્નની ગરજ સારે એમ છે. આ બાબતમાં પોતાની અશક્તિના ભાને કરીને જ પોતાના સફળતર પ્રતિસ્પર્ધી સામેના ગોસાલના આક્ષેપો પ્રેરાયેલા હોય એમ પણ હોય.

મહાવીર સામેના બે આક્ષેપોમાંનો બીજો એના ઉપર આધ્યાત્મિક અહમ્ અને ભીરૂતાનો આરોપ મુકે છે. આ આક્ષેપમાં મનુષ્યની ત્રણ આધ્યાત્મિક અવસ્થાઓના[૮૪] ગોસાલના સિદ્ધાંતનો ઉલ્લેખ છે. એ પ્રમાણે મહાવીર વચલી અવસ્થામાં હતા; એમનો આત્મા કર્મથી અલિપ્ત હોવા છતાં યથાર્થ રીતે મુક્ત નહોતો કારણ મારી પદ્ધતિ જ એકલી બરાબર છે અને મારાથી જુદા પડનારા બધા તિરસ્કારને પાત્ર છે એમ વિચારવામાં મહાવીર આધ્યાત્મિક અહંકારથી ભરેલો હતો.[૮૫] એ આધ્યાત્મિક ભીરૂતાથી પણ ભરેલો હતો. કારણ પ્રાકૃત જનતામાં ધર્માન્તર કરનારાઓ મેળવવા એ આતુર હતો; પરંતુ પોતાના

૭૮ પૃ. ૧૯. ૭૯ પૃ. ૪૬. ૮૦ જૈ. સ. ૨. ૪૦૯-૪૧૦. ૮૧. જૈ. સ. ૨. ૪૧૧. ૮૨ મ. નિ. ૧ ૨૩૮, ૫૨૪; અં, નિ, ૩. ૩૮૪. ૮૩ હવે પછીનું પૃ. ૫૫. ૮૪ - પૃ. ૨૨. ૮૫. જૈ. સ. ૨. ૪૧૧§§ ૧૧-૧૪ અને સૂ. ૧૦ ઉપરની શીલાંકની ટીકા ૧. ૧, ૩ § ૧૨. જૈ. સૂ. ૨. ૨૪૫

મતનું ખંડન કરે એવા પંડિતોને મળતાં એ ડરતા હતા.[૮૬] મહાવીરનો પક્ષકાર જવાબ આપે છે કે પ્રથમ, મારા ગુરુ બીજાઓ કરે છે એમ પોતે જેને સત્ય માને છે એનો કેવળ બોધ કરે છે અને પાખંડી મતોનો તિરસ્કાર કરતાં છતાં એઓ એ મતો ધરાવનારને તિરસ્કારતા નથી બીજું એઓ પ્રામાણિક અને યોગ્ય પ્રતિપક્ષીઓને મળવાની કદિ ના પાડતા નથી અને પોતાના મત માટે લોકોનાં દિલ જીતવાનો પ્રયત્ન કરતાં જાતે દંભરહિત છે.

૪. આજીવિકોનો ઇતિહાસ—આજીવિકોનો પૂર્વતમ ઉલ્લેખ ગયા પાસેના બર્બર નામના ડુંગરા ઉપરની ખડકમાં કોતરી કાઢેલી બે ગુફાઓની દિવાલો ઉપર કોતરેલા એક ટુંકા લેખમાં આવે છે. એમાંનાજ લખાણ પ્રમાણે એ મહારાજા અશોકના રાજ્યના તેરમા વર્ષમાં અર્થાત્ ઇ. સ. પૂર્વે ૨૫૨ ની સાલમાં કોતરાયેલો છે. તે આમ છે. 'રાજા પ્રિયદસ્સીએ, પોતાના રાજ્યના તેરમા વર્ષમાં આ ગુફા આજીવિકોને અર્પણ કરી'

બીજો ઉલ્લેખ એના એ જ મહારાજા અશોકના સુવિખ્યાત શાસન-સ્તંભોમાંના સાતમા ઉપર ઈ. સં. પૂર્વે ૨૩૬ એટલે કે એના રાજ્યના ૨૮ મા વર્ષમાં કોતરેલા લેખ[૮૭]માં આવે છે. એ આમ છે; 'મેં યોજ્યું છે કે મારા ધર્મમહામાત્રો બૌદ્ધ સંઘના તેમજ બ્રાહ્મણોનાં આજીવિકોનાં, નિગ્રન્થોના અને વાસ્તવમાં જુદા જુદા તમામ પાખંડોનાં કાર્યોમાં વ્યાપ્ત થઇ જશે.'

એક બીજો પૂર્વકાલીન ઉલ્લેખ, નાગાર્જુનની ડુંગરા ઉપરની ખડકમાંથી કોતરી કાઢેલી ત્રણ ગુફાઓની દિવાલો ઉપર અશોકના ઉત્તરાધિકારી દશરથના રાજ્યના પ્રથમ વર્ષમાં અર્થાત્ ઇ. સ. પૂર્વે ૨૨૭ ની સાલમાં કોતરાયલા શિલાલેખમાં[૮૮] આવે છે. એ આમ છે. 'આ ગુફા મહારાજા દશરથે ગાદીએ આવ્યા પછી તરત જ, ચંદ્ર સુરજ તપે ત્યાં સુધી નિવાસસ્થાન તરીકે વાપરવા માટે સંમાન્ય આજીવિકોને અર્પણ કરી હતી.'

આ પછી ઇ. સ. ના છઠ્ઠા સૈકા પર્યંત આજીવિકોનો કોઇ ઉલ્લેખ આપણને મળતો નથી. એ સૈકામાં, પ્રાયઃ ઇ. સ. ૫૫૦ ની સાલમાં વરાહમિહિર પોતાના બૃહજ્જાતક[૮૯] અને લઘુજાતક[૯૦] નામના જ્યોતિષના ગ્રંથોમાં સાત પરિવ્રાજક વર્ગોમાંના એક તરીકે એમનું નામ લે છે. એ સાત તે આ: (૧) શાક્યો વા રક્તપટો (રાતા ઝભ્ભાવાળા પુરૂષો), (૨) આજીવિકો વા વ્યાખ્યાકાર ભટ્ટોત્પલ[૯૧] સમજાવે છે એમ એકદંડીઓ; (૩) નિર્ગન્થો વા જૈન સાધુઓ, (૪) તાપસો વા વન્યાશનો (વનફળ ખાનારા) અર્થાત વાનપ્રસ્થ તરીકે રહેતા ત્રીજા આશ્રમવાળા બ્રાહ્મણો; (૫) ભિક્ષુઓ અર્થાત્ ઘરબાર વગર પરિવ્રાજક તરીકે ફરતા અને ભાષ્યકારના કહેવા પ્રમાણે મીમાંસા પદ્ધતિને અનુસરનારા ચતુર્થાશ્રમના બ્રાહ્મણો (૬) વૃદ્ધ શ્રાવકો; અને (૭) ચરકો, જે પણ બે પ્રકારના પરિવ્રાજક સન્યાસીઓ હોવાનું જણાય છે. વરાહ મિહિર કહે છે કે મનુષ્ય પોતાની કુંડળીના સૂચન અનુસાર આમાંના એકાદા વર્ગમાં દાખલ થવા નિર્માયેલો છે એ હકીકત ઉપરથી સ્પષ્ટ છે કે એના સમયમાં આ સાતે વર્ગના તપસ્વીઓ અને એથી કરીને આજીવિકો પણ વાસ્તવિક રીતે અસ્તિત્વમાં હતા.

નવમા સૈકામાં આજીવિકોનું અસ્તિત્વ ચાલુ હતું એ વિષે આપણી પાસે મહાન જૈન ટીકાકાર શીલાંકની[૯૨] સાક્ષી છે અને આજીવિકોની અને દિગંબર જૈનોની એકરૂપતાની રસ પડે એવી હકીકત અહીં આપણને પહેલીવાર મળે છે. મહાવીરના ચતુર્યામોને વિષે સૂત્રકૃતાંગમાં[૯૩] કેટલાકોએ લીધેલા

૮૬ જૈ. સુ. ૨. પૃ. ૪૧૨, §§ ૧૫-૧૮ અને પૃ. ૪૧૩ §§ ૧૯-૨૫ ૮૭, ઇ, એ, ૨૦, ૩૬૧ ff; રમી. એ ૧૫૫; ૮૮ ઇ૦ એ૦ ૨૦, ૩૬૧, ff રમી૦ અ૦ ૧૪૫; ૮૯. ૧૫. ૧, ૯૦. ૯. ૧૨, ૯૧ આશરે ઇ. સ. ૯૫૦ ૯૨. આશરે ઇ. સ. ૮૭૬ ૯૩. જૈ. સુ. ૨. ૨૧૭

વાંધા બાબત ટીકા કરતાં શીલાંક લખે છે કે ત્યાં આજીવિકો વા દિગંબરોનો ઉલ્લેખ છે. એના એ જ ગ્રંથના બીજા ફકરા[૯૪] ઉપરની પોતાની ટીકામાં એ ગોસાલના અનુયાયીઓને અર્થાત્ આજીવિકોને અને તેરાસિયોને (सं. त्रैराशिको) એકરૂપ જણાવે છે એ જોતાં ફલિત થાય છે કે શીલાંકના મતે ગોસાલના અનુયાયીઓ, આજીવિકો, તેરાસિયો અને દિગંબરો ત્રણે એક જ પ્રકારના પરિવ્રાજકો હતા.

દશમા સૈકામાં આજીવિકો અને દિગંબરોની એકરૂપતાની આપણને વધુ સાક્ષી મળે છે. હલાયુધ[૯૫] પોતાના અભિધાનરત્નમાલા[૯૬] નામના શબ્દકોષમાં શ્વેતાંબર અને દિગંબર અથવા, એ કહે છે તે પ્રમાણે, શ્વેતવાસ અને દિગ્વાસ નામના બે જૈન વિભાગોનાં નામોની મોટી સંખ્યા ગણી બતાવે છે. એ કહે છે કે દિગ્વાસ આજીવના (જે માત્ર આજીવિકનું સંક્ષેપરૂપ જ છે.) નામે પણ ઓળખાય છે.

અંતમાં ૧૩મા સૈકામાં અમુક દેવાલયોના લખાણોનાં આપણને ઉલ્લેખ મળે છે કે આજીવિકો એ કાળમાં એક સમૂહ તરીકે દક્ષિણ ભારતમાં યથાર્થ રીતે અસ્તિત્વમાં હતા. આ લખાણો તે વિરિંચિપુરમ્ પાસેના પોયગૈ આગળ આવેલાં પેરુ માલના દેવાલયની દિવાલો ઉપરના લેખો.[૯૭] એ ઇ. સ. ૧૨૩૮, ૧૨૩૯, ૧૨૪૩, ૧૨૫૯માં ચોલરાજ રાજે મંદિરને કરેલાં ભૂમિદાન અને આજીવિકો ઉપર નંખાયેલાં કરવેરા. ને ઉદ્દેશીને છે. આ શિલાલેખોના સંપાદકે આધુનિક તામિલ શબ્દકોષોના આધારે આ આજીવિકો એટલે જૈનો એમ જણાવેલું છે. આ, અલબત્ત જૈનોનો દિગંબર સમાજ જ સમજવાનો. કારણ, જેનું મુખ્ય મથક એ કાળમાં દક્ષિણ ભારતમાં હતું અને જેનાં સંસ્થાનો અદ્યાપિ પર્યંત ત્યાં જોવામાં આવે છે એ આ જ સમાજ.[૯૮] તામિલ શબ્દકોષોમાંનાં તદ્વિષયક લખાણો તામિલ સાહિત્યના[૯૯] અને સંભવતઃ આધુનિક વાપરના આધારે કરાયેલાં છે. પ્રાચીનતર તામિલ સાહિત્યમાં આજીવિક શબ્દ જૈનો અર્થાત દિગંબરોના અર્થમાં વપરાયલો છે એ નિશ્ચિત છે. એથી કરીને, નિઃશંકપણે ઈ. સ. નાં છઠ્ઠા સૈકામાં જ્યારે વરાહમિહિરે એ શબ્દ વાપર્યો ત્યારથી એ નામથી જૈનોનો દિગંબર સમાજ સૂચિત થયેલ છે.

વરાહમિહિરના એ શબ્દપ્રયોગ પરત્વે એ નોંધવાનું છે કે એનો વ્યાખ્યાકાર ભટ્ટોત્પલ (આશરે ઈ. સ. ૯૫૦) એમ જણાવે છે કે આજીવિકો એટલે એકદંડીઓ. કાલકાચાર્ય નામના જૈન લેખકની એણે ટાંકેલી એક પ્રાકૃત ગાથાને આધારે આ એક રૂપતા (આજીવિકો-એકદંડીઓ) દર્શાવેલી છે. એ લેખક જે ઇ. સ. ૪૫૦ની આસપાસમાં અર્થાત્ વરાહમિહિર પૂર્વે પ્રાયઃ એક સૈકા ઉપર થઇ ગયો તે તપસ્વીઓના સપ્તવર્ગોનાં નામ આપે છે, જેમાં અપવાદ એટલો છે કે આજીવિકોને સ્થાને એ એકદંડીઓ લખે છે. ભટ્ટોત્પલ પોતે ઉમેરે છે[૧૦૦] કે એકદંડીઓ અથવા આજીવિકો નારાયણ અર્થાત વિષ્ણુના ભક્તો છે. બીજી પક્ષે શીલાંક અન્ય સંબંધમાં એકદંડીઓ વિષે બોલતાં એઓ શિવના ભક્તો[૧૦૧] હોવાનું જણાવે છે. આ દેખીતો વિરોધ ઉપરથી સ્પષ્ટ છે કે આ બન્ને વ્યાખ્યાકારોના મનમાં હતો તે અદ્યાપિ પર્યંત દંડી તરીકે ઓળખાતો તપસ્વી વર્ગ જ. આ તપસ્વીઓ સામાન્યરીતે હિંદુઓના શૈવ સંપ્રદાયના હોવાનું લખાય છે; પરંતુ એઓ ખરું પૂછો તો ઉદારમતવાદી હોય છે કારણ એઓ નારાયણ તરીકે માત્ર શિવનું જ નહિ પરંતુ વિષ્ણુનું પણ આહ્વાન કરે છે. એઓ રોચે લાલાશ પડતા રંગના કપડાનો કકડો લગાડેલો દંડ ધારણ કરે છે અને કેવળ લંગોટી પહેરે છે વા સંપૂર્ણતઃ નગ્ન ફરે છે. એમને એકલ જીવન ગુજારવાની આજ્ઞા હોય છે. એઓ વેદાંતી મતો ધરાવે છે;[૧૦૨] અને જ્ઞાતિનો વા

---

૯૪ જૈ. સૂ, ૨, ૨૪૫. ૯૫ આશરે ઇ. સ. ૯૫૦. ૯૬ ૨. ૧૮૯, ૧૯૦. ૯૭ સા. ઇ. ઇન્સ્ક્રીપ્શન્સ. ૨. ૮૮, ૮૯, ૯૨, ૧૦૮ ૯૮ ઇ. એ. ૨૨. ૪૫૯. જ. ઓ. સો. ૩૮ ૧૭. ૯૯ tesce રો. પેપ ૧૦૦ ટ્રા. કો. ઓ. ૩. ૨ પૃ. ૫૫૩. ૧૦૧ જૈ. સૂ. ૨. ૨૪૫, ૪૧૭. ૧૦૨ ઓં. ગે. ૯. ભા. ૬. ૫૪૨.

ા જ્ઞાતિનો કોઇપણ માણસ એમનામાં જોડાઇ શકે છે. એમને દશનામી દંડીઓ સાથે સેળભેળ ન l કેવા જોઇએ. દશનામી દંડીઓ તો સરખામણીમાં આધુનિક વર્ગના સન્યાસીઓ છે. સુધારક કરાચાર્ય અને એમના શિષ્યોએ ઇ. સ. ના ૯મા સૈકામાં એમની તો સ્થાપના કરી, એ મઠવાસી અને સંઘપ્રવેશની બાબતમાં જ્ઞાતિ ઉપર કેટલુંક ધ્યાન આપે છે.[૧૦૩]

ગોસાલ, મંખલીપુત્ત વા મંખલી (मस्करिन्) અર્થાત્ વાંસદંડ રાખનાર પુરુષ કહેવાય છે એ હકીકત પરથી સ્પષ્ટ છે કે મૂળે એ એકદંડી (વા દંડી) સન્યાસીના વર્ગનો હતો; અને જો કે પાછળથી એ હાવીર સાથે ભળ્યો અને એની પદ્ધતિ સ્વીકારી તોપણ એ પોતાના કેટલાક વિશિષ્ટ મતો અને પોતાની ાચીન વિશિષ્ટ સંજ્ઞા, વાંસદંડ, પણ રાખી રહ્યો હતો. આ ભેદોને લીધે નિગ્ગન્થ સમાજમાંની એની ાળા તેરાસિય વા આજીવિક અને દેખીતી રીતે એકદંડીના નામે પણ ઓળખાતી હતી.[૧૦૪] ત્યાર પછીના કાળમાં ગોસાલના અસાધુ જીવનની ખબર પડતાં મહાવીરે એ કારણને લીધે એને નિગ્ગન્થ સમાજમાંથી બહિષ્કૃત કર્યો. એમ જણાશે કે એની સાથે આજીવિક પક્ષમાંના કેટલાક બીજા માણસો જે એના ગાઢ મિત્રો હતા અને એના પાપાચારોના ભાગી હતા. તેમને પણ બહિષ્કૃત કરવામાં આવ્યા હતા. બૌદ્ધધર્મશાસ્ત્રો આમાંના બે મિત્રોનાં નામ આપે છે, કિસ્સ સંકિચ્ચ અને નંદવચ્છ,[૧૦૫] આ આ ત્રણ પુરુષોએ, મહાવીરથી જુદા પડયા પછી સમવિચારના નાના નાના સમૂહોની સરદારી કરીને સાવત્થીમાં સરખામણીમાં એકાંત જીવન ગુજાર્યું હોય એમ જણાય છે. પરંતુ એમ માનવાને કશું કારણ નથી કે આ કાળા મોંઢાંને કાઢી મુકયા પછી નિગ્ગન્થ સંઘમાં આજીવિકો વા તેરાસિયોનું પક્ષ તરીકેનું અસ્તિત્વ મટી ગયું હતું. વાસ્તવમાં, જે કાંઈ પુરાવો મોજુદ છે તે એથી ઉલટી દશા સૂચવે છે. આમ, આ સંબંધમાં ' ચતુર્યામ 'ના બે અહેવાલો વચ્ચેનો ભેદ જે આપણે કમારનો નોંધી મુકયા છીએ[૧૦૬] એ ખાસ મહત્વનો છે. સ્ત્રીસંગના દોષનો ઉલ્લેખ એ અહેવાલમાં આવે છે કે જે પ્રધાનતરપણે ગોસાલ અને એના પક્ષ જોડે સંબંધ ધરાવે છે, જ્યારે બીજો અહેવાલ જેમાં એની જગાએ ગૃહીના પાત્રના વપરાશનો ઉલ્લેખ છે. તે ટીકાકાર શીલાંકના કથનાનુસાર આજીવિકો વા દિગંબરો સંબંધીનો છે. એ બે અહેવાલોમાંનો ભેદ એમ સૂચવે છે કે નિગ્ગન્થ સંઘમાં આજીવિક પક્ષનો એક એવો વિભાગ હતો કે જે ગોસાલના તદ્દના નીતિવિરોધી સ.ધે સામેલ ન હતો. વાસ્તવમાં આજે પણ દિગંબરો એ ચતુર્યામમાં વિવક્ષિત થતા મુદ્દાઓને વિષે શ્વેતાંબરોથી જુદા પડે છે. આમ ઠંડાં પાણી અને કુદરતી બીજોના ઉપયોગ સંબંધીના યામોનો ઉદ્દેશ કોઇપણ પ્રકારના જીવ પ્રત્યેની આત્યંતિક કાળજીને દ્દીભૂત કરવાનો હતો; પરંતુ દિગંબરો 'પ્રાણીઓના જીવને વિષે માત્ર મધ્યમસરની કાળજી રાખનારા ' કહેવાય છે જ્યારે શ્વેતાંબરો અતિકાળજી રાખનારા કહેવાય છે.[૧૦૭] ચતુર્થ યામના સંબંધમાં બન્ને મતવાળા બ્રહ્મચર્યવ્રતનો આગ્રહ કરતાં છતાં ભિક્ષાપાત્રના અધિકારના સંબંધમાં ભિન્ન અભિપ્રાયો ધરાવે છે. ભિક્ષાપાત્ર એ શ્વેતાંબર સાધુઓના નિયમિત ઉપકરણસંભારનું અંગ છે જ્યારે દિગંબરોને એ રાખવાની પરવાનગી નથી; એમણે પોતાની ભિક્ષા પોતાના ખોબામાં જ સ્વીકારવાની હોય છે.[૧૦૮] નગ્નપણાની બાબતમાં એ બે સંપ્રદાયો વચ્ચેનો ભેદ એમના નામોથી પૂરતી રીતે સૂચવાયેલો છે.

નિગ્ગન્થ સમાજમાં પાછળથી ફરી ઉગળેલા તેરાસિયોના ઝઘડાથી, અને દિગંબરોમાં આજ દિન સુધી દંડની વિશિષ્ટતાસૂચક જે સંજ્ઞા રખાઇ રહી છે એથી એ જ દિશામાં વધુ પુરાવો મળે છે.

૧૦૩ J. B. A. S.પૃ. ૫૫, પાદનોંધ, ૧૦૪ પૃ. ૩૨. ૧૦૫ પૃ ૨૯ ૧૦૬ પૃ. ૩૧ ૧૦૭ ઇ. એ. ૩૨. ૪૬૦. ૧૦૮ એજન, પૃ. ૧૬૧.

આપણને કહેવામાં આવેલું છે કે પ્રવેશ પ્રસંગે "જૈનધર્મશાસ્ત્રોમાં જેની અનુજ્ઞા અપાયેલી છે એવી વસ્તુઓ અર્થાત્ પાંચફુટ લાંબો એક કાળો દંડ વગેરે નવા સાધુને આપવામાં આવે છે અને એ સાધુ વા (પાકો સાધુ) હમેશાં તે દંડ પોતાની પાસે રાખે છે."[૧૦૯]

ત્યારે મામલો આમ આવી રહ્યો છેઃ એક દંડી એ અમુક તાપસવર્ગનું સામાન્ય નામ છે. એ વર્ગની બે પ્રશાખાઓ છે, ચુસ્ત શૈવ દંડીઓ અને પાખંડી જૈન આજીવિકો વા દિગંબરો. એકદંડી શબ્દથી જૈન લેખક કાલકાચાર્ય, અલબત્ત, દિગંબરો સૂચવવા માગતો હતો; અને વરાહમિહિરે એટલા માટે એની જગાએ ગેરસમજનો સંભવ દૂર કરવા નિશ્ચિતતર આજીવિક શબ્દ મુકયો. ચુસ્તધર્મિ વ્યાખ્યાકાર ભટ્ટોત્પલે વસ્તુસ્થિતિની ખોટી સમજથી પાખંડ મતવાદી આજીવિકોને ચુસ્તધર્માનુગામી દંડીઓ સાથે સેળભેળ કરી દીધા.

ભદ્રબાહુ જે સંયુક્ત નિગ્ગન્થ વા જૈન સમાજનો છેલ્લો અગ્રણી થયો હોવાનુ જણાય છે તેના જીવન દરમિયાન, દિગંબરોની પરંપરા પ્રમાણે એમના પોતાના અને શ્વેતાંબરોના પક્ષો વચ્ચે તીવ્ર વિરોધ ઉભો થયો.[૧૧૦] એના અવસાન પછી અલ્પકાળમાં ઇ. સ. પૂર્વે ૩૧૪ ની સાલની આજુબાજુમાં એ બે પક્ષો વચ્ચેના ભેદોએ આગળ વધીને અંતિમ અને નિશ્ચિત અણગમાનું સ્વરૂપ પકડયું, જેનું કારણ કલ્પસૂત્રમાંની શ્વેતાબરપરંપરા[૧૧૧] પ્રમાણે છલુક રોહગુપ્ત નામનો પુરુષ હતો. આ માણસ ઈ. સ. પૂર્વે ૨૬૯ થી ૨૩૯ સુધી શ્વેતાંબરોનો અગ્રેસર હતો. એ મહાગિરિનો શિષ્ય હોવાનું કહેવાય છે. તેરાસિય તડ પાડનાર કહેવાય છે તે આ જ માણસ. આપણે જોઈ ગયા છીએ એમ તેરાસિયો એટલે આજીવિકો અને આજીવકો એટલે દિગંબરો. એથી કરીને ફલિત થાય છે કે ઇ. સ. પૂર્વે ૨૫૧–માં જ્યારે અશોકે બર્બર ડુંગરની ગુફા આજીવિકોને અર્પણ કરી ત્યારે આજીવિક વા દિગંબર સંઘ ક્યારનો ય અસ્તિત્વમાં હતો. અશોકના ઉત્તરાધિકારી દશરથ (વા જૈનો કહે છે એ પ્રમાણે સંપ્રતિ) વિષે આપણને સાફ કહેવામાં આવેલું છે કે એને જૈનમતનો કરવામાં આવ્યો હતો. એ સાચું છે કે શ્વેતાંબરો એવો દાવો કરે છે કે ઉપર્યુક્ત મહાગિરિના[૧૧૨] સહાગ્રણી અને સમકાલીન[૧૧૩] એવો સુહસ્તી[૧૧૪] નામના પોતાના અગ્રેસરે દશરથને જૈનમતાવલંબી બનાવ્યો હતો. પરંતુ, દશરથે ઇ. સ. પૂર્વે ૨૨૭ માં નાગાર્જુની ડુંગરની ગુફાઓ આજીવિકોને અર્પણ કરી છે એ હકીકત ઉપરથી ખરૂં પૂછો તો એના ધર્માન્તરનો યશ કદાચ દિગંબરોને આપવો ઘટે છે; જો કે, અલબત્ત, પોતાના પુરોગામી અશોકની જેમ એણે પોતાના સમયના મુખ્ય મુખ્ય સાધુસંઘોને અર્થે નિષ્પક્ષપાતપણે પણ પોતાના અનુગ્રહની વ્યવસ્થા કરી હોય એમ બની શકે છે, અશોકના સાતમા શાસનસ્તંભ ઉપરથી આપણે જાણીએ છીએ કે અશોકે બૌદ્ધોને, નિગ્ગન્થોને, આજીવિકોને અને બ્રાહ્મણોને એક સરખી રીતે આશ્રય આપ્યો હતો. જે કહેવાઇ ચુકયું છે એના ઉપરથી હવે સ્પષ્ટ છે કે નિગ્ગન્થ અને આજીવિક એ શબ્દો આપણને શ્વેતાંબરો અને દિગંબરો તરીકે જાણીતા એવા બે જૈન સંઘોનો નિર્દેશ કરે છે. એમ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યું છે[૧૧૫] કે શાસનમાંનો બ્રાહ્મણશબ્દ આજીવિકોને લાગુ પડે છે અને એથી એઓ 'બ્રાહ્મણીય' સંઘના હોવાનું વર્ણન છે. એ પૂર્વ સમયમાં બૌદ્ધ અને જૈન (નિગ્ગન્થ) ના જેવો

૧૦૯. બો. ગે. ૯. ભા. ૧. પૃ. ૧૦૭. ૧૧૦. જ. જ. એ. સો. ૩૮. ૧૪: ૪૦, ૯૨; ઇ. એ. ૨૧. ૫૯. ૧૧૦. અર્થાત્ ઈ. સ. પૂર્વે ૪૮૪ માં થયેલા મહાવીરના અવસાન પછી ૧૭૦ વર્ષે જુઓ. પૃ. ૧૫ ૧૧૧ જૈ. સૂ. ૧. ૨૯૦; ૧૧૨. જ. જ. એ. સો. ૩૭. ૫૦૧. ૧૧૩. ઇ. સ. પૂર્વે ૨૬૬-૨૨૩; ૧૧૪. ક. સૂ. ૧૦; જૈ. સૂ. ૧. ૨૯૦. ૧૧૫. પ્રોફેસર હર્ન અને બુહલર એ. ઈ. ૨. ૨૭૪; ઇ. એ. ૨૦. ૩૬૨.

કોઇ ચુસ્ત બ્રાહ્મણીય સંઘ અસ્તિત્વમાં હતો કે નહિ એ મુશ્કેલી બાજુ ઉપર મુકીએ તો પણ શાસનમાં તો 'બ્રાહ્મણો' વિષે કથન છે. એ શબ્દનો અર્થ 'કોઇ રીતે બ્રાહ્મણવાદ સાથે જોડાયેલો પુરુષ' એવો નથી થતો. એ શબ્દ તો બ્રાહ્મણવર્ણનો પુરુષ એવો અર્થ લક્ષીભૂત કરે છે. અને શાસનનો પૂર્વાપર સંબંધ જોતાં એનો અર્થ 'બ્રાહ્મણ તપસ્વી' અર્થાત્ ચોથા બ્રાહ્મણીય **आश्रम**નો સ્વીકાર કરનાર બ્રાહ્મણ વર્ણનો મનુષ્ય એવો થાય છે. આવો મનુષ્ય પરિવ્રાજક સન્યાસી તરીકેનું ઘરબાર વગરનું જીવન ગુજારવાનું વ્રત લેતો. ભટ્ટોત્પલના લખાણનું પ્રમાણ લેવાની વાત, ક્યારનું જણાવાઇ ચુક્યું છે એ પ્રમાણે નિરર્થક[116] છે. વૈષ્ણવ વા શૈવ સન્યાસી ગમે તે ન્યાતનો હોઇ શકે (વા ખરૂં પૂછો તો પૂર્વાશ્રમમાં એ ગમે તે ન્યાતનો ભલે હોય)[117] બ્રાહ્મણીય દેવોના ભક્તો હોવાનું માન્ય કરતા હોવાથી આ માણસોને બ્રાહ્મણીય તપસ્વીઓ ભલે કહેવાય પરંતુ કોઇ પણ હિંદી એમને 'બ્રાહ્મણો' નહિ કહે. 'બ્રાહ્મણો' એ શબ્દ **ब्राह्मण** શબ્દથી જુદો તદ્દન વિદેશીય એવો પાશ્ચાત્ય ખ્યાલ વ્યક્ત કરે છે.

આજીવિકોના ઇતિહાસનો સંક્ષેપમાં નીચે મુજબ સાર અપાયઃ ગોસાલે પોતાનું તપસ્વી જીવન મંખલી વા મસ્કરિન્ તરીકે અર્થાત્ વાંસદંડ રાખતા વિશિષ્ટ અને સુપ્રસિદ્ધ પ્રાચીન પરિવ્રાજક તરીકે શરૂ કર્યું. કેટલાક કાળ પછી એણે મહાવીર જે પાર્શ્વનાથના અનુયાયીઓ એવા નિગ્ગન્થ વા **कर्म**ના બંધનથી નિર્મુક્ત, નામના અન્ય પરિવ્રાજક વર્ગના હતા તેમની ઓળખાણ કરી. તાપસિક ધર્મોની (**अचेलक**ના મુદ્દાવિષેની) કડકાઇ પરત્વે સમાન વિચારો ધરાવનાર આ બે પુરુષો ભેગા મળ્યા અને એક સામાન્ય પદ્ધતિ ઘડી કાઢી, જેમાં, એમ છતા, ગોસાલે પોતાની કેટલીક વિગતો ઉમેરી, એમના અનુયાયીઓમાં બન્નેને પોતપોતાના પક્ષકારો હતા. અને ગોસાલનો પક્ષ પરિવ્રાજકોના **आजीव** પરત્વે પોતાના આગેવાનોના ખાસ અભિપ્રાયો ધરાવતો હોઇ, આજીવિક 'ધંધાર્થી' તરીકે ઓળખાતો. કાળના વહેવા સાથે ગોસાલમાં નીતિ વિરુદ્ધની વૃત્તિઓનો પ્રાદુર્ભાવ થયો, અને આથી એ બે સહચારીઓ વચ્ચે માઠી લાગણીઓ ઉત્પન્ન થઇ. અંતે એનું પરિણામ સંપૂર્ણ મૈત્રીભંગમાં આવ્યું. ગોસાલ, આજીવિક પક્ષના જે માણસો પોતા પ્રત્યે સાક્રય સહાનુભૂતિ ધરાવતા હતા તેમને લઇને દૂર થયો. આમ જુદા પડનારાઓનો સમૂહ મોટો હતો અથવા તો સમૂહ તરીકે એઓ એમના નેતા ગોસાલના અવસાન પછી જીવન્ત રહ્યા એમ માનવાને કંઈ કારણ નથી. ગોસાલના નીતિવિરુદ્ધના આચારવિચારોના ભાગીદાર નહોતા એવા આજીવિકપક્ષના અન્ય માણસો નિગ્ગન્થ સંઘમાં જ રહ્યા; પરંતુ સંપૂર્ણ નગ્નતા, ભિક્ષાપાત્રનો ત્યાગ, અહિંસા વિષેની અપૂર્ણ કાળજી, દંડની વિશિષ્ટ સંજ્ઞા અને સંભવતઃ અન્ય બાબતો વિષેના પોતાના વિચારો તેઓ રાખી રહ્યા. આ ભેદોને કારણે આજીવિક પક્ષ અને બાકીના નિગ્ગન્થ સમાજ વચ્ચે નિઃશંકપણે અમુક પ્રમાણમાં સંઘર્ષણ તો હતું જ. ખાસ કરીને ભદ્રબાહુ, જે ખરૂં પૂછો તો આજીવિકો પ્રત્યે સહાનુભૂતિ ધરાવતા હોવાનું જણાય છે, તેના સમયમાં એ બહાર આવ્યું. પરંતુ એ સંઘર્ષણ ઈ. સ. પૂર્વેના ત્રીજા સૈકાના પૂર્વતર ભાગમાં જ પરાકાષ્ઠાએ પહોંચ્યું અને તેરાસિય (त्रैराशिक) તરીકે ઓળખાતો પક્ષ નિશ્ચિતપણે અને છેવટને માટે જુદો પડ્યો તથા એનો વિશિષ્ટ સંઘ રચાયો, જે અત્યારે દિગંબર તરીકે ઓળખાય છે. દિગંબર અને શ્વેતાંબર એવા જૈન વિભાગોના મૂળનો ઉદ્ગમ આમ જૈનધર્મની છેક શરૂઆત સુધીમાં જણાય છે. કારણ એનું અસ્તિત્વ, પરોક્ષ રીતે, એ પરસ્પર વિરોધી વિભાગોના પ્રતિનિધિરૂપ મહાવીર અને ગોસાલ નામના બે સહચારી અગ્રેસરોના વૈમનસ્યને આભારી છે.

હવે, બૌદ્ધ ધર્મશાસ્ત્રોમાં અને અન્ય સ્થળે આવતા આજીવિક સાધુઓ વિષેના પણ માત્ર છૂટા

116. પૃ. ૪૮. 117. વી. મો હિ. પૃ. ૫૯ ff ૮૩. ff.

છવાયા ઉલ્લેખો જ લક્ષમાં લેવાનું બાકી રહે છે. વિનયપિટક[૧૧૮] અને મજ્ઝિમનિકાયમાં[૧૧૯] કહેલું છે કે બુદ્ધના બુદ્ધ થવા પછી તરત જ કેવી રીતે એમને ઉપક નામના આજીવિકનો ભેટો થયો અને એણે એમના આધ્યાત્મિક અનુભવોના અહેવાલની કેવી તિરસ્કારપૂર્વક બરદાસ્ત કરી. મજ્ઝિમનિકાયમાં [૧૨૦] વળી આજીવિક પણ્ડુપુત્તની વાત છે, જે પૂર્વે એક રથ બનાવનારો હતો અને જેને બુદ્ધે પોતાના મતનો કર્યો હતો. વિનયપિટકમાં[૧૨૧] વળી એક નનામા આજીવિક સાધુ વિષે કથન છે, જેણે બૌદ્ધ સાધુ કસ્સપને એના ગુરુદેવના અવસાનની પ્રથમ ખબર આપી. આ ત્રણ જણ સંભવતઃ નિગ્ગન્થ સમાજમાંના આજીવિક પક્ષના સભ્યો હતા. બીજે સ્થળે વિનયપિટકમાં[૧૨૨] એક પ્રસંગે અમુક આજીવિકોને છત્રી ઓઢીને ચાલતા કેટલાક બૌદ્ધ સાધુઓનો મેળાપ થતાં એમણે પોતાના હરિફોની આ અતાપસિક વર્તણુકની કેવી મજાક કરી હતી તે વર્ણવાયલું છે. મહાવંશમાં[૧૨૩] આશરે ઇ. સ. પૂર્વે ૪૨૬ માં રાજા પણ્ડુકભયના સમયમાં લંકામાં હસ્તિ ધરાવતો 'એક આજીવિક સમૂહ, જેને માટે એ રાજાએ એક મકાન (गह) બંધાવ્યાનું કહેવાયું છે. તેની વિચિત્ર બાતમી છે. એમ છતાં આ બાતમી, જે પૂર્વકાલીન સમયને લગતી છે, તે જોતાં ઘણા સંકોચ સાથે સ્વીકારવી જોઇએ. આજીવિકોની બીજી ઘણી વિચિત્ર બાતમી સદજિરો સુગિઉર (Sadajiro Suguira) ' હિંદુલૉજિક એઝ પ્રીઝર્વ ઇન ચાઈના એન્ડ જપાન[૧૨૪] નામના નાના ગ્રંથમાં આવે છે.

ઉપોદ્ઘાતના પૃ. ૧૬ ઉપર ગ્રંથકર્તા કહે છે કે ચીની અને જાપાની ગ્રંથકર્તાઓ વારંવાર એ મહાન સંપ્રદાયોમાં (અર્થાત્ સુપ્રસિદ્ધ ૭ ભારતીય સંપ્રદાયોમાં) બે વિશેષ સંપ્રદાયોનો સમાવેશ કરે છે. એ નિકેન્દબ્રી અને અશિબિકના નામે ઓળખાય છે અને એક બીજાને તદ્દન મળતા આવે છે. એ બન્ને માને છે કે પાપી જીવનનો દંડ મોડો વહેલો ભરવો જ પડે છે; અને એમાંથી બચવું અશક્ય હોવાથી એ દંડ જેમ બને તેમ વહેલો ભરવો એ બહેતર છે કે જેથી ભાવી જીવન આનંદમાં નિર્ગમન કરવાની છૂટ રહે. આમ એમના આચારો તાપસિક હતાઃ ઉપવાસ, મૌન, અચલ-આસન, અને આ કંઠ પોતાની જાતને દાટેલી રાખવી એ એમની તપસ્યાનાં બોધક હતાં. સંભવતઃ એ સંપ્રદાયો જૈન વા કોઈ અન્ય હિંદુ સંપ્રદાયની પ્રશાખાઓ હતા.

આ લખાણમાંના 'નિકેન્દબ્રત્ર અને આશિબિક' સ્પષ્ટતઃ નિગ્ગન્થો અને આજીવિકો અર્થાત્ શ્વેતાંબર અને દિગંબર જૈનો છે.

[**વાઙ્મય**—આજીવિકો વિષે કોઇ સંકલિત અહેવાલ અસ્તિત્વમાં નથી; પરંતુ ઉપરના લખાણોમાં ઉલ્લેખાયલા ગ્રંથો ઉપરાંત એ સંપ્રદાય વિષેના છૂટા છવાયા ટુંક ઉલ્લેખો નીચેના ગ્રંથોમાં આવે છેઃ— બુહ્લર, Epigraphia Indica (Calcutta, 1894), ii, 272, 274, 323 અને ઇ. એ. ૨૦. ૩૬૧ ff.) બુરનૌફ, Lotus de la bonne loi (Paris, 1852) ગ્રીમબ્લોટ, Sept suttas Palis' ઇ. એ. (બોમ્બે, ૧૮૭૬) ૮, ૩૧૨; યાકોબી, Jaina sutras, સે. બુ. ઇ, વૉ. ૨૨ અને ૪૯. (ઓક્સફર્ડ, ૧૮૮૪-૯૫) ભાગ. ૧. પૃ. ૧૬, ૧૮, ભા. ૨. પૃ. ૧૯, ૨૨-૨૬, ૨૯-૩૨ અને ઇ. એ. ૯. ૧૬૧ ff; એચ. કર્ન, Hist.. de Bouddhisme, ૧. (પેરીસ, ૧૯૦૧-૩),

૧૧૮. ૧. ૮., સે. બુ. ઇ. ૧૩. ૯૦. ૧૧૯. ૧. ૭૦; ન્યુ. રૈ. ૧. ૨૭૧, ૨. ૪૫૪. ૧૨૦. ૧. ૩૧; ન્યુ. રૈ. ૧. ૪૫. ૧૨૧. ૨. ૨૮૪; સે. બુ. ઇ. ૨૦. ૩૭૦. ૧૨૨. ૨. ૧૩૦; વી. વિ. તરજુમો. ૨૦. ૧૩૨. ૧૨૩. ૨. મ. ૬૭. ૧૨૪. સંપાદક Mr. Eelgar A. Singer. Jr. યુનીવર્સીટી ઓફ પેન્સીલવેનીઆની ફીલોસોફીક સીરીઝનો નં. ૪.

૧૫, ૧૨૧, ૧૫૧, ૨. ૬, ૪૧, ૩૩૭, અને Manual of India Buddhism (સ્ટ્રાસબુર્ગ, ૧૮૯૬), પૃ. ૭૨. અને મ. ૨, ૭૪, ૮૨, ૧૧૨, ૧૧૬; લોયમાન, વી. ઓ. ૯. ૩. (વીએના, ૧૮૮૯), ૩૨૮ ff. Actes du Sixieme Congres or. ૧૮૮૩, ભા. ૩. પૃ. ૫૫૪ ff. અને Aupapāka Sutra (લીપઝીગ, ૧૮૮૩), ભા. ૧. પૃ. ૮૦, par. ૧૨૦, ઓલ્ડનબર્ગ, Buddha (ચોથી આવૃત્તિ ૧૯૦૩) પૃ. ૮૨, ૯૩, ૧૯૯; ઓ. શ્રેડર, Stand der Ind. Philosophie (સ્ટ્રાસબુર્ગ, ૧૯૦૨), પૃ. ૧૨, ૩૪. ff.; ર્‌હીઝ ડેવીડસ, Buddhist India (લંડન, ૧૯૦૩), પૃ. ૧૪૩, ૧૪૬, ૨૯૦, અને Diologues of the Buddha (લંડન, ૧૮૯૯), પૃ. ૭૧, ૨૧૫, ૨૨૦, ૨૨૭, ૨૩૨; રોકહીલ, Life of the Buddha (લંડન, ૧૮૮૪), પૃ. ૧૦૧, ૨૪૯ ff.; સેનાર્ટ, Insciptions de Piyadassi (પેરીસ, ૧૮૮૬), ૨. પૃ. ૨૦૯ ff.; વી. એ. સ્મીથ, Asoka (ઓક્સફર્ડ, ૧૯૧), પૃ. ૧૦૬, ૧૪૪ f.; વેબર, Catalogue of the Royal Library, બર્લીન ઇન્ડેક્સ, પૃ. ૧૨૮૦ (૧૮૯૨.)]

આ લેખમાં વપરાયેલા સંકેતોની સમજુતી.

અં. નિ.=અંગુત્તર નિકાય
આ.સુ.=આચારંગ સુત્ત.
બો. અને રયુ.=Bohtlingk and Rieri's edition of the Abhidhana Chintamani
બુ. સુ.=બુદ્ધિસ્ટ સુક્તસ્ સેક્રેડ બુકસ્ ઓફ ધી ઇસ્ટ વો. ૧૧
ભા. રિ.=Bhandarker's Report on the Search of Sanskrit Mss. 1883-84
ભ. સ. Bhagvati Sutra, Calcutta edition.
કો. બુ.=Bh. Coplestons' Buddhism.
દી. નિ.=દીઘનિકાય.
ડા.=Dialogues of the Buddha, trans. by T. W. Rhys Davids.
એ. ઈ.=Epigraphia Indica.
જૈ. સ.=જૈનસૂત્રો, ભા. ૧. અને ૨. સેક્રેડ બુકસ્ ઓફ ધી ઇસ્ટમાં વો. ૨૨ અને ૪૫.
જા.=Jatakas.
કી. મ.=Kielhorn's edition of the Maha Bhashya.
ક. સ.=Kalpa Sutra, ed. હર્મન યાકોબી.
મ. નિ.=મજ્‌ઝિમનિકાય.
ન્યુ. રે.=Neumann's Reelen Gotama Buddhas.
નિ. સ.=Niryavaliya Sutta, ed. Dr. S. Warren.
ઓ. બુ.=Oldenberg's Buddha.
ઓમન=The Mystics, Ascetics and Saints of India by J. C. Oman.
રો. લા. બુ.=Rockhill's Life of Buddha
સ્મી. અ.=Smith's As'oka in Rulers of India Series
સા. ઈ. ઇન્સ્ક્રીપ્સ=South Indian Inscriptions in Archæological Survey of India
સે. ઇન્સ્ક્રીપ. પિ.=Senart's Inscriptions de Piyadassi.

सू. कृ.=Sutra Kritanga in Jain Sutras, Part II.
सं. नि.=Sanyutta Nikaya.
सु. वि.=Sumangala Vilasini.
ट. म.=Turner's ed. of the Mahavamsha.
ट्रा. कॉ. ओ.=Transactions of the Sixth International Congress of Orientalists.
उ. द.=Uvāsaga Dasāo, ed. by R. Hoernle in Bibliotheca Indica.
वी. ओ. ज.=वीएना ओरीएन्टल जर्नल.
वि. पि. तरजुमो=Vinaya Pitaka, tr. in Secred Books of the East Vols. १३, १७ अने २०.
वे. इ. स्टु.=Weber's Indische Studien
वि. मो. हि=Wilkins Modern Hinduism.
से. बु. ई.=सेक्रेड बुक्स ओफ धी इस्ट.
ई. ऐ.=इन्डीयन एन्टीक्वरी.
ज. ज. ओ. सो.=जर्नल ओफ धी जर्मन ओरीएन्टल सोसाइटी.
बॉ. गे.= बोम्बे गेझेटीअर.

आनंदविमलसूरिए करेलुं यति–वंधारण.

संवत १५८२ ना वर्षे पत्तननगरे ज्येष्ठमासे श्री संघसमुदायमध्ये श्रीआणंदविमलसूरिभिर्लिख्यते:

१ गुरुने आदेसें विहार करवो।

२ वणिगने दिक्षा देवी बीजाने नही।

३ गीतार्थनी निश्राइ महासतीनें दिक्षादेवी बीजे पर्रे नही।

४ वेगला थकी गीतार्थ कन्हें कोइ एक दिक्षा-लिइं तो तेहनी परिक्षा करी वेस पलटाववो पण विधि गुरु पासे दिक्षा देवराववी, योग वहेवराववा।

५ पाटणमांहे गीतारथनो संघाडो एक रहे चोमासा मध्ये बीजे नगरें ६ ठाणुं चोमासुं रहे गामें ठाणु ३ चौमासुं रहे आठ बीजे पेरें रहे।

६ वेगला थको कागलें आदेस मंगाववो।

७ एकले माहात्में विहार न करवो।

८ एकलो विहार करतो आवे तो मांडले केणे न वेसारवो।

९ बीज पांचम आठम एकादशी चउदश अमावस्या पूर्णिमा एवं मासमध्ये १२ दिन विगई न वोहोरवी, उपवास आंबिल नीवी यथाशक्ति तप करवो।

१० तिथि वधे तिहां एकदिन विगय न विहरवी।

११ पात्रे रोगांन न देवो।

१२ पात्रां कालां काटुवां करवां ।

१३ योग वह्या विना सिद्धांत न वांचवां ।

१४ एक समाचारीना साधु केवारें बीजे उपासरे रह्या होय ते गीतारथ कर्नें आवी वांदणां देई सय्यातर पूछी हांड पूंछी विहरवूं ।

१५ दिवस मांही आठ थोई वार १ देव वांदवा ।

१६ दिवसमध्ये २५०० सज्झाय गण्यो जोइये न गणे तो जघन्य सझाय १०० सो गणवो ।

१७ वस्त्र पात्र कांबली ठामडा पूंठें बांधी न मुकवां, चालतां मेले उपाडवा, गृहस्थ पासें उपडाववां नहीं ।

१८ वरसमध्ये धोणि १, बीजी धोणि नहीं ।

१९ पोसालमांहे केंणें नहीं....।

२० पोसाले भणवा न जावूं ।

२१ एक सहस्र ग्रंथ टाली लेपक पासे न लपावूं ।

२२ द्रव्य अपावी केणे भटनी पासे न भणवुं ।

२३ जेणें गामें चोमासुं रह्या होई तिहां चोमासा ने पारणे मास २ मध्ये वस्त्र विहरवो न कल्पे ।

२४ अकालसझाइं आंबिल ।

२५ एकासणो सदैव ।

२६ छठादिकने पारणें जिम गुरु कहे तिम करवूं ।

२७ पारिठावणियागारेणं न करवुं ।

२८ आठम चउदस अजुवाली पंचमी ए ५ उपवास ।

२९ आठम चउदस विहार न करवो ।

३० एक निवीताई निवीतो न लेवो ।

३१ चौरासि गच्छ माहिलो माहात्मा गुरुना केहेण विना न राखवो ।

३२ गुरुने अणपूछे नवी परूपणा नवी समाचारी न मांडवी ।

३३ नवो निवास्युं न वावरवो ।

३४ सपर कोरुं लुघडो (न) वावरवो ।

३५ कोरा मांहें गोडिया भरवा अटांण साधु गीतारथ टाली न वावरवां ।

॥ इति पांत्रीसबोलसंपूर्णम् ॥

भूगोळ, खगोळ संबंधी केटलाक प्रश्नना खुलासा

વિચારકો આ લેખ પૂર્ણ વાંચ્યા શિવાય આગળથી કાંઇ પણ વિચાર ન કરી બેસે એવી આશા રાખું છું.

આજે લખ્યું છે તે બન્ને બાજુનો અભ્યાસ કર્યા પછી જે હકીકત સમજવામાં આવી છે તે લખું છું.

૧. જે અંગ્રેજો ને પશ્ચિમના લોકો આજે વિજ્ઞાન ક્ષેત્રમાં ઝૂકી રહ્યા છે, તે ત્રણ ચાર સૈકાથી વધારે ધસારો કરતા હોય એમ જણાય છે. કોલંબસ પ્રથમ વધારે પૃથ્વી શોધવા નીકળી પડયો, ત્યાં સુધી વધારે દુનિયા છે તેવું તેઓને ભાન ન હોતું. ત્યાર પછી તેઓએ એક પછી એક આ મધ્ય ખંડમાં આવી દુનિયાની મુસાફરી કરી. ડ્રેક, હોકિન્સ ને કુક જેવાએ દરિયામાં ચારે બાજુએ ચુડીના આકારે ગોળ મુસાફરી કરી. તે લોકોએ ઘણું સાહસ ખેડયું ને ઘણા આગળ વધ્યા. તેઓ માનવા લાગ્યા કે પૃથ્વી ગોળ છે. એ લોકો પોતાના સાહસના ને પરાક્રમના વૃત્તાન્તો એક પછી એક બહાર મૂકવા લાગ્યા. તેઓ સમજવા લાગ્યા કે ઘણું જ સત્ય આપણે શોધીએ છીએ. ત્યાર પછી કોપરનીકસે ૧૫૪૩ માં પૃથ્વી ફરે છે એ સિદ્ધાંત (Theory) દાખલ કર્યો, ત્યાં સુધી તે લોકો પૃથ્વી ફરે છે એવું માનતા ન હોતા. નવા જમાનાનો સુધારો વધવા લાગ્યો, ને એક ચીજ હતી તેને નવો વાઘો (ડ્રેસ) પહેરાવ્યો. તેઓ પોતાની જાતને ઘણા બુદ્ધિમાન ને શોધક માનવા લાગ્યા. ત્યાર પછી ખગોળ સંબંધી શોધમાં પૃથ્વીથી ચંદ્ર સૂર્ય વગેરે વગેરે આકાશીય પદાર્થો સાથે કેવું ને કેટલું અંતર છે, તે, તે લોકો યંત્રોથી અને સાધનોથી માપવા લાગ્યા. ત્યાર પછી ન્યુટન, બેકન, હાર્વે, ગેલીલીયો વગેરે વગેરેથી અનેક અનેક શોધો બહાર આવવા લાગી. આ પૃથ્વી એક ગ્રહ છે, એમ માની આકાશીય પદાર્થોની ગ્રહરૂપ હારમાલામાં પૃથ્વીરૂપ ગ્રહમણકાને પણ દાખલ કરી દીધો. આમ અનેક રીતે અનેક વિદ્વાનોની શોધખોળ જોતાં લોકોની દૃષ્ટિમાં એમ સિદ્ધ થયું છે કે પૃથ્વી ગોળ છે—તે દડા આકારે છે, ને તે સૂર્યની આસપાસ દૈનિક, વાર્ષિક ને બીજી અનેક ગતિથી ફરે છે; એમાં શક નથી.

૨. ઉપર્યુક્ત વિચાર અત્યારે આપણા દેશમાં જોસભેર ચાલી રહ્યો છે પણ એમ સંભળાય છે, ને કેટલીક ચોપડીઓથી સમજાય છે કે આ વિચાર યુરોપમાં સર્વત્ર માન્ય હોય એમ જણાતું નથી. ઘણો ભાગ પૃથ્વી ફરે છે તે બાજુમાં નથી. તે લોકો કહે છે કે (The earth is not Sphere) પૃથ્વી ગોળ નથી ને અસ્થિર પણ નથી (The Tarra Farmd) પણ પૃથ્વી સ્થિર છે.

૩ હવે આપણે એક બીજી બાજુ જોઇએ. અંગ્રેજો કે પશ્ચિમના લોકોએ જે જે શોધો કરી, તે તેઓનાં સાહસને પુરુષાર્થ છે પણ તે બધું સત્ય છે એમ કયી રીતે બુદ્ધિ કબુલ કરી શકે ? કારણ, તે પ્રજાને જોવા માટે, ને જાણવા માટે કાંઇ પણ સાધન હોય તો ચર્મદૃષ્ટિ કે ચર્મહૃદય છે. જે પ્રજા એમ કહે છે કે સૂર્ય એક અગ્નિનો ભડકો છે, અથવા પહેલાં કહેતા હતા કે તે એક રાક્ષસ છે, વળી કહે છે કે સૃષ્ટિની ઉત્પત્તિ અમૂક વર્ષ પછી થઇ; તે પહેલાં નહોતી; વળી કહે છે કે મર્કટમાંથી માનવજાતિ થઇ. આમ અનેકાનેક વાતોઓ તેઓ જે દૃષ્ટિથી કહે છે, તે દૃષ્ટિ કયી લેશો ? પૂર્વની પ્રજા ઉપર પશ્ચિમના લોકોની ધુંસરી પડી છે ને તે આજ સુધી છે. આ પ્રજા આજે વિકાસને પામી હોય તો પશ્ચિમની પ્રજાને આભારી છે, ને આજે કાંઇ પણ સમજતા લાગી હોય તો તેઓએ નાંખેલાં કેળવણીનાં મૂળ છે. હવે આ જ પ્રજા આજે કહે છે કે આપણે આજ સુધી પરતંત્રતામાં રહ્યા, પણ

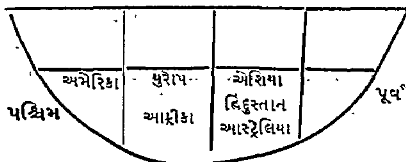
હવે પરતંત્રતા ન જોઇએ; એટલું જ નહી પણ આપણને આજ સુધી જે શિક્ષણ મળ્યું તે બધું ભૂલ-ભરેલું મળ્યું છે, ને ઘણું નુકશાનકારક છે. તે વસ્તુ ગમે તેવી હોય પણ લોકો એટલું તો સમજી શક્યા છે કે આપણી પૂર્વની ભૂમિની વિવિધતા કોઇ જુદી જ હતી. અનેક વિદ્યા, વિચાર, કલા, તત્ત્વ, ધર્મ વગેરેનું સાહિત્ય અધિકાધિક ને ઉચ્ચ હતું.

૪. બ્રાહ્મણ સાહિત્યમાં કે બૌદ્ધ સાહિત્યમાં કે જૈન સાહિત્યમાં પૃથ્વી ફરે છે ને સૂર્યાદિ નથી ફરતાં એવું પ્રમાણ છે ? વેદમાં ગમે તે વાતો હો, બૌદ્ધ સાહિત્યમાં ગમે તે વાત હો પણ જૈન સાહિત્યથી કાંઇક સમજાય તે જણાવવા યત્ન કરૂં છું. આપણી આર્ય પ્રજા એમ કહેશે કે સત્ય લાગે તે કેમ ન માનવું ? આપણી બુદ્ધિને તે બરાબર ગ્રાહ્ય છે તો કાં ગ્રહણ ન કરવું ? ભૂગોળ ને ખગોળ સંબંધી જ્ઞાન આજે આપણી શાળાઓમાં ચાલી રહ્યું છે; ગ્રેજ્યુએટ વિદ્વાનોએ આજ સુધીમાં ગુજરાતીમાં તે જ વિચારો ને વિવેચનો ને ભાષાંતરો બહાર પાડ્યાં છે ને લોકોને મારી મચડીને સમજાવવામાં આવે છે, અને ઘણા લોકો તે વિદ્યાના શોખીન પણ થઇ રહ્યા છે.

૫. આ સ્થળે એટલું કહેવું જોઇએ કે પૂર્વની પ્રજાએ પોતાની બુદ્ધિને પશ્ચિમની પ્રજાને ત્યાં ઘરાણે મૂકી છે; તે તો હવે નિકળે ત્યારે ખરી ? ન નીકળવાને કારણ એ છે કે પૂર્વની પ્રજા શું માનતી હતી તે કાં તો તેમને બરાબર સમજાયું ન હોય, અથવા સમજવાને જેવા જોઇએ તેવા સાધન તેમને મળ્યાં ન હોય; ગમે તેમ હો, પણ પૂર્વની પ્રજા ખરેખર ભૂલવણીમાં પડી છે. એકલી પૂર્વની પ્રજા ભૂલાવામાં પડી છે તેમ નથી પણ જૈન પ્રજા પણ ભૂલવણીમાં પડી છે. જૈનો કહે છે કે બીજું બધું ગમે તેમ હો પણ શ્રીમહાવીરના નામે ચડેલા જિનાગમોમાં તો આ બાબતની ખાસ ભૂલ છે. તો પછી એ શંકા થશે કે જ્યારે પૃથ્વી સંબંધીમાં મહાવીરે ભૂલ કરી છે, તો પછી તેમનાં કથેલાં શ્રુતધર્મ, ચારિત્ર ધર્મ ને દ્રવ્યાસ્તિકાયાદિ પદાર્થો વગેરે જે બાબતો છે તે સાચી હશે એ શા આધારે સમજવું ? પ્રાચીન સમયમાં શ્રીમહાવીર જેવા ઋષિઓ પાસે દિવ્યજ્ઞાન કે અતીન્દ્રિય જ્ઞાન હતું એમ દાવો આપણાથી કેમ થઇ શકશે ? અથવા તો તેનામાં સર્વજ્ઞત્વ તો નહિ જ એ ખુલ્લું થશે.

૬. જૈન-દર્શન પ્રમાણે જંબુદ્વીપના ભરતના દક્ષિણાર્ધના મધ્યખંડમાં આપણે રહીએ છીએ. એ ખંડ પશ્ચિમમાં આટલાંટિક મહાસાગર, ઉત્તરમાં ઉત્તર મહાસાગર, પૂર્વમાં પાસિફીક ને દક્ષિણમાં દક્ષિણ મહાસાગરની વચમાં રહ્યો છે. ચારે બાજુએ પાણી હોવાથી વચમાં જમીન ઉપસેલી દેખાય છે. ઉત્તરમાં ઉત્તર બાજુ ઉંચી છે. દક્ષિણમાં દક્ષિણ બાજુ નીચી છે. તેનાં પ્રમાણ એ છે કે પશ્ચિમ આટલાંટિક ને પૂર્વ પાસિફીક દરિયા જેવી નદીઓ, ઉત્તરથી દક્ષિણ ભણી જાય છે. નીચાણ હોય તે ભણી પાણીનો પ્રવાહ જાય છે, એ વાત જ સિદ્ધ છે. તે નદિયો (દરિયાઓ) ઉપર પ્રવાહમાં ઓછી છે, ને નીચે પ્રવાહમાં વિસ્તીર્ણ છે. આ ખંડના મધ્યમાંથી ઉત્તર ભણી જઇએ તો ઉત્તર ધ્રુવ (North-pole Star) ઉંચો ને ઉંચો દૃષ્ટિમાં (૪૫ અંશે) આવે છે; ને નીચાણમાં જઇએ તો અદૃશ્ય થાય છે. તેથી સમજાય છે કે દક્ષિણ નીચાણમાં છે. એ ખંડ તે જ કે જેમાં આપણે રહીએ છીએ, તે પૂર્વનો ગોળો કે જેમાં એશિયા, આફ્રિકા, યુરોપ ને આસ્ટ્રેલીયા છે. હવે સમજી લ્યો કે જે યુરોપીયનોએ મુસાફરી કરી છે, તે તે ગોળ ફરતા દરિયા વિષે; પણ બીજી રીતે નહીં. પણ એથી પૃથ્વી ગોળ છે એમ સિદ્ધ થતું નથી. હાલના આપણા અર્ધ પ્રાજ્ઞો તો ફૂલાઇને કહે છે કે ગોળ દડાની જેમ પૃથ્વી પર તેઓએ મુસાફરી કરી છે. હવે તમે કહેશો કે અમેરિકા ખંડ ત્યારે ક્યાં આવ્યો ? સમજો કે ભરતના પશ્ચિમમાં છેલ્લો ખંડ છે તે, કે જેને હાલમાં અમેરિકા કહેવામાં આવે છે.

ભરત ક્ષેત્ર



૭. હવે તમે ઉપરના નકશા તરફ જુઓ. આ મધ્ય ગોળો કે જેમાં આપણે રહીએ છીએ તે ઉપરથી (ઉપરની બાજુમાં) સાંકડો છે ને નીચેની બાજુમાં વિસ્તીર્ણ છે. એટલે એ ગોળો ગોળ છે એ બરાબર સિદ્ધ થતું નથી. બીજો ગોળો લગભગ ત્રિકોણાકારે છે; ને ઘણો પાણીવાળો છે. એટલે અત્યારે આટલી પૃથ્વી આપણી દષ્ટિમાં આવી છે. પૂર્વ પાસિફીક ચીરી જો પૂર્વમાં જાય તો જરૂર (કોલંબસે શોધી તેમ) પૃથ્વી પ્રાપ્ત થાય; પણ જઈ શકાતું નથી એમ અંગ્રેજો કહે છે.

૮. હવે આપણે પૃથ્વી ઉપર સિદ્ધા વર્તુલ ચક્રો પૂર્વથી પશ્ચિમ જતા જુઓ ! તે શું છે ? એ સૂર્યને ચાલવાના તેનો ગોળ (વર્તુલ) માર્ગો છે. જ્યારે પૃથ્વી ગોળ વર્તુલ માર્ગમાં ગતિ કરે છે ત્યારે સૂર્ય ફરતો માનો તો તે ગોળ વર્તુલ અર્ધચક્રમાં ધનુષ્યાકૃતિ આકારે ગતિ કરે છે. દષ્ટાન્ત–આપણે સીધા ઉત્તર બાજુમાં બરાબર ઉભા રહી જોઇએ તો બરાબર જુનની ૨૩–૨૪ તારીખે ઈશાનકોણમાંથી સૂર્ય નીકળતો જણાશે. તે વખતે, ઉત્તરાભિમુખ મકાન હોય ને તેને આગળ આંગણું કે બારણું હોય તો જોઈ શકશો કે સૂર્યનો તાપ (તડકો) તેના આંગણામાં ખુલ્લો પડેલો હશે. આ સૂર્ય ધીમે ધીમે ઉપર ચડતો આપણા માથા પર આવશે. માથાથી વાંકમાં ચાલતો અસ્ત થતો વાયવ્ય કોણમાં જતો આપણે જોઈશું. ચોવીસ કલાક પૂર્ણ કરી બીજા દિવસે તેની પાસેના બિન્દુમાં (બીજા વર્તુલમાં) આવેલો આપણને દેખાશે. આમ દરરોજ નવા નવા અક્ષાંશ કે વર્તુલમાં ચાલતો સૂર્યને જોઈશું. ને છેક છેલ્લા ૧૮૦ અક્ષાંશમાં (જૈનદર્શન ૧૮૪ કહે છે, જુઓ ચંદ્રપ્રજ્ઞપ્તિ ને સૂર્યપ્રજ્ઞપ્તિ એટલે ૩૬૬ દિવસના હિસાબે ૧૮૨ છે તે એ વર્તુલ અંકેક ૧૮૨ × ૨ = ૩૬૪ ને ૩૬૬ વખત ફરે છે એટલે ૩૬૬ થાય છે) ડીસેંબરમાં ૨૩–૨૪ મી તારીખે સૂર્ય અગ્નિકોણમાં ઉદય થતો ને વાંકમાં ગતિ કરતો ને નૈઋત્ય-કોણમાં અસ્ત પામતો જોઇશું. તે વખતે સૂર્યના માર્ગો બધા લવણસમુદ્ર (દરિયા)માં પડે છે. ત્યાં વસતિનો અભાવ છે. પણ તેનાં કિરણો–તાપ આપણ બધાને મળે છે. ફેર એ છે કે જ્યારે જેને સૂર્ય નજીક હોય છે ત્યારે જેટલો તાપ–કિરણો જેટલા વખત સુધી તેને મળે છે ત્યારે તેને છેટે જવાથી તેટલા વખત તાપ–કિરણો મળી શકતા નથી. આપણા દેશને, યુરોપને, તેમ જે જે ઉત્તર બાજુમાં પ્રદેશો છે, તેઓને સૂર્ય જેમ માર્ચ, એપ્રીલ એમ પાંચ ૭ માસ સુધી વધારે વખત રહે છે, તેમ સૂર્ય જ્યારે દક્ષિણાયનમાં દક્ષિણ બાજુમાં લગભગ ૭ માસ સુધી હોય છે ત્યારે સૂર્યનો તાપ તેટલો મળતો નથી કારણ સૂર્ય ઓછો વખત રહે છે. પણ તે વખતે દક્ષિણના લોકોને આપણા કરતાં તાપ વધુ વખત રહે છે. જ્યાં જેમ દિવસ (તાપ) વધારે વખત ત્યાં રાત્રિ અંધકાર વધારે વખત રહે છે, એ સહજ છે. હવે આપણે જો સૂર્યની જગાએ પૃથ્વીને મુકીશું તો તેમ જ ક્રિયા વા પ્રવૃત્તિ બને છે,

પણ બીજી પ્રવૃત્તિ થતી નથી. પૃથ્વીને માનીશું તો પૃથ્વી સૂર્ય ભણી દિવસ રાત્રિ કરવા ગતિ કરે છે. જ્યારે ઉત્તરાયણ સૂર્યને ઉત્તર બાજુમાં આવવાને-કહીએ છીએ, ત્યારે પૃથ્વી સૂર્ય પાસે જાય છે. જ્યારે દક્ષિણાયન થાય છે. ત્યારે પૃથ્વી સૂર્યથી દૂર જાય છે.

૯. સૂર્યની શોધ કરતાં શોધકોને સૂર્યની કલ્પના કાંઈ જુદી જ લાગી છે. બીજા બધા ગ્રહોની શોધ કરતાં ત્રાસ ને અસ્થિરતા જેટલાં તેમને નથી લાગ્યાં, તેટલાં ત્રાસ ને અસ્થિરતા સૂર્યને ચોક્કસ કરતાં થયાં છે. એક પછી એક શોધકોએ નવો નવો જુદો જુદો નિર્ણય સમજાવ્યો છે. પણ હજુ તેઓ જોઈએ તેવા નિર્ણય પર આવી શક્યા નથી. હજુ પણ જે જે શોધકો આગળ યત્ન કરશે, તેઓને આજ કરતાં કાંઇ જુદું જ સમજાશે.

૧૦. હવે કોઇ એમ પ્રશ્ન કરશે કે લોકો મકરવૃત્ત ને કર્કવૃત્તને ચીરીને આગળ જાય છે તેનો ઉત્તર એ જ કે આ વાત પ્રશ્ન કરનાર સમજ્યા હોય એવું જણાતું નથી. પૌરાણિક વાતોને નવા જમાનાએ ગપગોળા માન્યા છે, એ વાત ઠીક છે; પણ નવો જમાનો જે ગપગોળા હાંકે છે, તે બિચારી ઘેર બેસી રહેલી પ્રજા સાંભળી આભી જ બની જાય છે. એટલે, આ જમાનાને લાગે છે કે નવો જમાનો કેવાં કેવાં સત્ય શોધી આપે છે. સાચી વાત એ છે કે કર્કવૃત્તના એટલે તે વખતના સૂર્ય વર્તુલો યુરોપ ઉપર આવે છે, તે વાત ખરી છે પણ ત્યારપછી યુરોપ ઉપર આગળ વધતા ઉત્તર મહાસાગરમાં આવે છે કે જ્યાં અમુક ભાગ સુધી સ્ટીમરો વા વહાણો ચાલે છે જેમાં થઇ આટલાંટિકમાં આવી અમેરિકામાં જાય છે, પણ ઉપર આગળ વધી શકાતું નથી. કારણ ઉપર આગળ જવામાં ઘણા પ્રયત્નો થયા છે પણ લોકો પાછા આવ્યા છે ને મરણોન્મુખ પણ થયા છે. જ્યારે પૂર્ણ ભરતમાં જઈ શકાતું નથી ત્યારે યુગલક્ષેત્રને મહાવિદહક્ષેત્રમાં જવાની વાત જ શી કરવી ? વળી દક્ષિણ મહાસાગરમાં પણ આગળ અમુક હદ પછી જવાયું નથી. ઉત્તરમાં જવાની વાત આજથી કેટલાંક વર્ષ પહેલાં ગુજરાતીના દીવાળીના અંકમાં ને સાંજવર્તમાનના પતેતીના અંકમાં હતી ને પૃથ્વી ગોળ નથી આ વાત પણ આવી હતી, પણ તે અંકો યાદ નથી તેમ આજે તેને ઘણાં વર્ષ થઈ ગયાં છે.

૧૧. વળી એમ પ્રશ્ન થાય છે કે અમેરિકામાં અત્યારે તાર મુકતાં માલમ પડે છે કે અહીં જ્યારે મધ્ય દિવસ હોય ત્યારે ત્યાં મધ્ય રાત્રિ હોય, એ વાત સત્ય જણાતી નથી, તેમાં કયાં ભૂલ છે તે પરાશ્રિતતા હોવાથી માલમ પડતી નથી (એટલે તાર સંબંધી હકીકત ઘણી ગુંચવણવાળી છે) પણ અત્ર એક બીજો દાખલો લઇએ. એમ કહે છે કે લંડનને તેના આસપાસના પ્રદેશમાં (વિલાયતમાં) સૂર્ય લગભગ સોળ કલાક રહે છે, ને રાત્રિ આઠ કલાક રહે છે, તો વિલાયતમા અસ્ત થયા પછી અમેરિકામાં સૂર્યોદય થાય એમ આ પ્રશ્નથી સિદ્ધ થાય છે. આ ઉપરથી સમજાશે કે અમેરિકામાં નીચેના ગોળામાં સૂર્ય સોળ કલાક વિલાયતની જેમ રહેવાનો તો અહીં કે યુરોપમાં સોળ કલાકની રાત્રિ સૂર્યના અભાવે રહેવી જ જોઇએ. તે રહે છે ખરી ? આપણે એવું અનુભવ્યું છે કે સોળ કલાકના દિવસ પછી સોળ કલાકની રાત્રિ રહે ? આથી એમ પ્રશ્ન થશે કે પૃથ્વી સૂર્ય પાસે જવાથી સૂર્યાસ્ત થતો નથી. આમ હોય તો કોઇપણ દેશની પ્રજાને પૂછો કે તમારે સૂર્યોદય ને સૂર્યાસ્ત થાય છે કે નહીં ? વિલાયતમાં ઉપરના પ્રદેશમાં ઉભા રહી જુઓ, એશિયાના કોઇપણ ભાગમાં રહીને જુઓ, તેમ અમેરિકાના ભાગમાં રહીને જુઓ; તો પણ પશ્ચિમમાં સૂર્યાસ્ત થતો ને પૂર્વમાં સૂર્યોદય થતો જણાશે. આ ઉપરથી બંને ગોળા વચ્ચે રાત્રિ દિવસ જેટલો અંતર રહે છે કે નહીં તેનો વ્યાજબી ખ્યાલ આવી શકશે. નહીં તો માનવું પડશે કે ઉદયાસ્ત થનાર ને સ્થાયી રહેનાર સૂર્ય જુદા જુદા છે. નહીં તો ઉદયાસ્ત નથી થતો આવો અનુભવ સર્વ પ્રજાને થવો જોઇએ.

૧૨. આ પૃથ્વી ગોળ સ્થાલીની જેમ છે. તે આખા જંબુદ્વીપની સ્થિતિએ, નહિ કે આટલી આપણા આજના અનુભવમાં આવેલી પૃથ્વીની સ્થિતિએ. બીજ ત્રીજના ચંદ્ર માફક આ અર્ધ ભરતક્ષેત્ર છે. તેમાં ત્રણ ભાગ છે. તેમાં પૂર્વનો ભાગ પશ્ચિમ ભાગની જેમ (અમેરીકા) હાથ આવ્યો નથી.

૧૩. તાજુબી એ છે કે અંગ્રેજોએ પૃથ્વીને ગ્રહરૂપ મણકો ગણી આકાશીય પદાર્થોની માળામાં ગોઠવી દીધી. પણ ખ્યાલ એ થાય છે કે કયાં આકાશીય સ્વચ્છ–શુકલ પદાર્થો ને કયાં આ મલીમસી-માર્તિક (માટી સંબંધી) પૃથ્વી ! દૈનિક માસિક ને વાર્ષિક ગતિ કરવામાં સૂર્ય ને ચંદ્રને નક્ષત્રોની માલાની હાજરી જોઇએ છીએ. તે સિવાય સૂર્ય ચંદ્ર પોતાની ગતિનો ખ્યાલ લોકોને આપી શકતા નથી. તેમ આ પૃથ્વીને પોતાની ગતિમાં અનુકૂળ થનાર પૃથ્વીની કયી નક્ષત્રમાલા હાજર થશે ? સૂર્ય ચંદ્રાદિ આકાશીય પદાર્થોમાં આ પૃથ્વી પણ એક આકાશમાં લટકતો ગોળો છે, તે સમજવું કે માનવું એ શું ભ્રમજનક જ્ઞાન નથી ? કોઈ પણ શાન્ત સ્થિરસ્થાનમાં–વેધશાળામાં રહી જોતાં જ્યોતિષીઓને જ્યારે કોઈ પણ આકાશીય પદાર્થો પોતાની ગતિનું જ્ઞાન આપે છે. ત્યારે પૃથ્વી એ પ્રમાણે ફરે છે એવું જ્ઞાન કઇ વેધશાળામાં રહી જોતાં પ્રેક્ષકને થયું છે ? એમ કહેવામાં આવે છે કે અનુમાન પ્રમાણથી પૃથ્વી ફરવાનું જ્ઞાન થાય છે. પ્રત્યક્ષથી નહીં. ત્યારે ગ્રહોની ચાલ જોવામાં કાં અનુમાન નથી આગળ કરતા ? શા માટે પ્રત્યક્ષથી જુઓ છો ? પૃથ્વીને બરાબર પ્રત્યક્ષથી જુઓ, ખાત્રી થશે કે ' ભૂલ્યા છીએ ! ' વસ્તુતઃ સૂર્યની જગાએ પૃથ્વીને મૂકતાં દૃષ્ટિ વિપર્યય જ્ઞાન જણાય છે. માત્ર પૃથ્વી ને સૂર્ય વિષે છે એટલું જ નહીં પણ ન્યુટને –gravitation (ગુરુત્વાકર્ષણ) નિયમ શોધી કાઢ્યો તે પણ દૃષ્ટિ વિપર્યય છે. વૃક્ષ ઉપરથી ફળ નીચે પડયું, તે જમીનપર આવ્યું, ત્યારે તેને જોતાં વિચાર કર્યો, ને મનથી નિર્ણય કર્યો કે તે ફળ ઉપર કાં ન ગયું ? નીચે કેમ આવ્યું ? નિશ્ચય થયો કે જરૂર પૃથ્વીએ પોતા ભણી ખેંચ્યું, મોટી વસ્તુ હમેશાં નાની વસ્તુને ખેંચે છે એ સિદ્ધાંત (Theory) ચોક્કસ થયો. પણ જે વસ્તુ વજનદાર હોય તે નીચે આવે એ સહજ છે ને જે હલકી હોય તે ઉપર જાય. જેમ પાણીની વરાળ, અગ્નિનો ધૂમ. વળી એક ત્રીજો દાખલો લ્યો. આંખ ઉપર સૂર્યનાં કિરણો પડે છે તેથી આંખ પદાર્થ ને રંગને જોઈ પકડી શકે છે આમ નવો જમાનો કહે છે. નંદિસૂત્ર ને વિશેષાવસ્યક-ભાષ્ય કહે છે કે ચક્ષુઃઇન્દ્રિય ને મનઃઇન્દ્રિય ઉપર જો પદાર્થ પડે તો તે ઇન્દ્રિયો પદાર્થને પકડી શકે નહીં પણ તે બે ઇન્દ્રિયો સામી જાય છે ને પદાર્થને પકડે છે.

૧૪. એમ કહેવું પડશે કે પદાર્થોની શોધખોળ કરવામાં તેઓનું ઘણું સાહસ છે. પણ શોધમાં જે દિવ્યજ્ઞાન જોઇએ તે તેમની પાસે નથી જ. પરિણામ એ આવ્યું કે સૂર્ય જેવી ચીજને જુદા જુદા ખ્યાલોથી કલ્પના કરવામાં, મંગળ જેવા ગ્રહની સાથે અનેક વર્ષો થયા છતાં વાતો કરવામાં, ને ચંદ્ર ઉપર રહેલા વૃક્ષો જલાશયાદિ સમજવામાં, તેઓ કલ્પનાઓના હવાઈ કિલ્લાઓ ચણતા હોય એમ જણાય છે. ઇતિહાસમાં લખાએલ મનુષ્યો ને દેવો જેઓ વિદ્યાબળથી ને દૈવીબળથી આકાશમાં ઉડતા ને દોડતા હતાં; તેઓની સાથે આજની પ્રજા આધિભૌતિક સાધનોથી ધસારો કરતી ને તેઓની આગળ જવા યત્ન કરતી હોય એમ આજની પૂર્વની પ્રજાને લાગી રહ્યું છે.[1]

મુનિ હર્ષચંદ્રજી.

---

[1] કોઈ સાંપ્રદાયિક માન્યતાને સ્થાપિત કરવાનો પ્રયત્ન કરવો એમાં કાંઇ ખોટું નથી પણ જ્યારે તેની વિરુદ્ધ પ્રબલ દલીલો હોય ત્યારે તેવા પ્રયત્નની પાછળ સંગીન અભ્યાસ, બન્ને બાજુનું સમભાવપૂર્વક મેળવેલું જ્ઞાન, સચોટ દલીલો અને સબળ પ્રમાણો એ બધું આવશ્યક છે. ભૂગોળ ખગોળ જેવા વિષયમાં તો એ વસ્તુની વધારેમાં વધારે આવશ્યકતા છે. તેમ છતાં હમણાં હમણાં આ વિષય તરફ જે જૈન સમાજમાં વિચાર કરવાની વૃત્તિ અલ્પાંશે જાગૃત થઇ છે. તે ચાલુ રહે એવા હેતુથી આ લેખ અહીં પ્રસિદ્ધ કર્યો છે. છેલ્લી એકાદ લીટી કાઢી નાખીને આખો લેખ જેવો ને તેવો છાપ્યો છે.

નંદિસૂત્ર અને વિશેષાવશ્યકભાષ્યનું નામ લઇ જે ઈંદ્રિય અને મન વિષે કહેવામાં આવ્યું છે. તેનો અર્થ વસ્તુતઃ એવો છે કે ઇંદ્રિય અને મન એ બન્ને પ્રાપ્યકારી નથી તેથી પોતાના સ્થાનમાં રહીને જ દૂરવર્તિ એવા પણ વિષયભૂત પદાર્થને તે ગ્રહણ કરે છે. ગ્રહણ કરવા તે કાંઇ પદાર્થના સ્થાનમાં જતા નથી. –સંપાદક.

कलिंगना चक्रवर्ती महाराज खारवेलना शिलालेखनुं विवरण

[લેખકઃ-વિદ્યા મહોદધિ શ્રીકાશીપ્રસાદ જાયસવાલ એમ. એ. પટણા]

[પશ્ચિમ હિંદુસ્થાનમાં થએલ પરમાર્હત નરપતિ કુમારપાલ અને દક્ષિણ હિંદુસ્થાનમાં થએલ પરમાર્હત નરપતિ અમોઘવર્ષ એ સામાન્ય રીતે જૈન જનતામાં પ્રભાવક નરેશ તરીકે બહુ જાણીતા છે. કારણ કે જેમ તેઓ સમયથી નજીક છે તેમ તેઓની તથા તેઓના આશ્રિત વિદ્વાનોની મંદિર, સાહિત્ય આદિ સંબંધી વિવિધ કૃતિઓ ઉપલબ્ધ છે. પરન્તુ ઐતિહાસિક તેમ જ મહાપ્રભાવશાળી પરમાર્હત ખારવેલ નરપતિની બાબતમાં તેમ નથી. એ નરપતિને જાણનાર કહેવાતા જૈન વિદ્વાનોમાં પણ ગણ્યા ગાંઠયા જ મળશે. કારણ એ છે કે એ નરપતિ જેમ સમયથી દૂર છે તેમ તેના સંબંધનું સાહિત્ય પણ નહિંવત્ છે. આમ છતાં પણ સદ્ભાગ્યની વાત એ છે કે એ કલિંગ ચક્રવર્તિ ખારવેલે જ પોતે કોતરાવેલ એક શિલાલેખ મળી આવ્યો છે. અને તેના ઉપરથી તેને લગતી અનેક બાબતો ઉપર પ્રકાશ પડે છે.

એ શિલાલેખની ભાળ મળ્યા પછી તેને વાંચવા સમજવા વિગેરે માટે લગભગ સો વર્ષ થયાં દેશીય અને વિદેશીય વિદ્વાનો પ્રયત્ન કરતા આવ્યા છે. દેશીય વિદ્વાનોમાં વ્યાપારપ્રધાન ગૂજરાતના સાક્ષરોનું પણ સ્થાન છે. સદ્ગત ભગવાનલાલ ઇંદ્રજીતે વૈદ્યકપ્રિય પ્રશ્નોરા કુળમાં જન્મ્યા છતાં પણ એ પ્રાચીન શિલાલેખ વાંચવા અને તત્સંબંધી વિચાર કરવા આજથી ૪૦ વર્ષ અગાઉ ગૂજરાતી તરીકે ફાળો આપેલો છે. રાવબહાદુર કે૦ હ૦ ધ્રુવ અધ્યાપક તેમજ ઐતિહાસિક સાક્ષર છે એટલે એ વિષયમાં તેમનો ઉહાપોહ સ્થાને જ ગણાવો જોઇએ. પરન્તુ આશ્ચર્ય અને દુઃખની વાત એ છે કે બધી સાધન સંપત્તિ પ્રાપ્ત છતાં તેમ જ જ્ઞાન અને શોધખોળ પાછળ જોઇતો બધો વખત મેળવી શકનાર સેંકડો જૈન સાધુઓમાંથી આ બાબત ભાગ્યે જ કોઇનું ધ્યાન ગયેલું છે. પ્રસિદ્ધ અને પ્રાચીન એક જૈન નરપતિ વિષે જૈન વિદ્વાનોની અને ખાસ કરી જૈન સાધુમંડલની આટલી જિજ્ઞાસાશૂન્યતા એ ભાગ્યે જ ક્ષંતવ્ય ગણી શકાય. તેમ છતાં ખુશીની વાત એ છે કે પ્રસ્તુત પત્રના તંત્રી શ્રીમાન્ જીનવિજયજીએ આજથી અગીયાર વર્ષ અગાઉ પ્રાચીનજૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) એ નામેનું એક પુસ્તક બ્હાર પાડેલું. જેમાં એ ખારવેલનો શિલાલેખ અને બીજા ત્રણ લેખો આપેલા છે. સાથે સાથે તેઓશ્રીએ એ પુસ્તકમાં એ લેખને સમજવા અને તેની બધી વસ્તુઓ ઉપર પ્રકાશ પાડવા તે વખત સુધી પ્રસિદ્ધ થએલી બધી સામગ્રીનો ઉપયોગ કરી ખૂબ માહિતી પૂરી પાડી છે.

ખારવેલના એ શિલાલેખ પાછળ ઘણા વર્ષો થયાં સતત શ્રમ કરનાર શ્રીયુત જાયસવાલ મહોદયે છેલ્લામાં છેલ્લો ખારવેલના શિલાલેખ વિષે એક નિબંધ હિંદીમાં પ્રસિદ્ધ કર્યો છે. એ મહત્વનો હોવાથી નાગરીપ્રચારિણીપત્રિકાના ૧૯૮૪ના કાર્તિક માસના અંકમાંથી તેનો ગૂજરાતી અનુવાદ અત્રે આપવામાં આવે છે. આ લેખને વધારે સમજવા અને તેના અભ્યાસ માટે ઉંડા ઉતરવા માટે અમે અમારાં તરફથી કશું ન લખતાં પ્રાચીન જૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) વાંચવાની વાચકોને ભલામણ કરીએ છીએ. જો કે એ પુસ્તક ગૂજરાતી આશ્રમ માટે બહુ જ મહત્વનું છે, પણ અત્યારે તે સુલભ નથી. તેથી એ શિલાલેખનું તેમજ ખારવેલનું મહત્વ અને પ્રાચીનકાલમાં જૈનધર્મની જાહોજલાલી સમજાવવા પૂરતા થોડાક ફકરા એ પુસ્તકના ઉપોદ્ઘાતમાંથી અને અનુપૂર્તિમાંથી અહીં મૂકવામાં આવે છે. વિશેષ રસવૃત્તિવાળાઓ એ મૂળ પુસ્તક વાંચી લેશે તો તેને પ્રસ્તુત અનુવાદ સમજવામાં કિંમતી મદદ મળશે, અને જ્ઞાન સમૃદ્ધિ વધશે.

(ઉપોદ્ઘાતમાંથી પૃ. ૧-૨)

"જૈન ધર્મ સાથે સંબંધ ધરાવનારા જેટલા પ્રાચીન શિલાલેખો આજ સુધીમાં મળી આવ્યા છે તેમાં આ પુસ્તકમાં આપેલા "કટક નજીક આવેલી ઉદયગિરિની ટેકરી ઉપરના હાથીગુફા તથા બીજા ત્રણ લેખો" સર્વથી પ્રાચીન છે. હાથીગુફાવાળો મહામેઘવાહન રાજા ખારવેલનો લેખ જૈન ધર્મની પુરાતન જાહોજલાલી ઉપર અપૂર્વ અને અદ્વિતીય પ્રકાશ પાડનારો છે. શ્રમણભગવાન્ શ્રી મહાવીરદેવપ્રબોધિત પંથના અનુયાયિઓમાંના કોઇપણ પ્રાચીનમાં પ્રાચીન નૃપતિનું નામ જો શિલાલેખમાં મળી આવ્યું હોય તો તે ફક્ત એકલા આ પ્રતાપી નૃપતિ ખારવેલનું જ છે. જૈનધર્મના ઈતિહાસની દૃષ્ટિએ તો આ હાથીગુફાવાળો લેખ અનુપમ છે જ, પરંતુ ભારતવર્ષના રાજકીય ઇતિહાસની અપેક્ષાએ પણ આની ઉપયોગિતા અનુત્તર જ જણાય છે. લગભગ એક શતાબ્દી જેટલા લાંબા કાળથી આ લેખની ચર્ચા યુરોપીય અને ભારતીય પુરાતત્ત્વજ્ઞોમાં ચાલ્યાં કરે છે. અનેક લેખો અને પુસ્તકો આ લેખના વિષયમાં લખાયાં-છપાયાં છે. સેંકડો વિદ્વાનો આ લેખની મુલાકાત લઇ ફોટા વિગેરે ઉતારી ગયા છે-અને હજુ પણ એમજ ચાલુ છે. આવી રીતે ઐતિહાસિક વિદ્વાનોમાં આ લેખ એક મહત્ત્વનો અને પ્રિય થઇ પડયો છે. પરંતુ એ જાણીને સહને સાશ્ચર્ય ખેદ થાય છે કે જેમના ધર્મ સાથે આ મહત્ત્વના સ્થાનનો સીધો સંબંધ છે. જેમનો એક પ્રકારે આ કીર્તિસ્થંભ છે અને જેમની પ્રાચીન મહત્તાના પ્રકાશમય કિરણો આમાં અંકિત થએલાં છે તે જૈનોમાંથી હજી સુધી કોઇને એનું નામ પણ જણાયું-સંભળાયું નથી.

શ્રમણ ભગવાન્ શ્રી મહાવીરદેવના નિર્વાણ બાદ ઉદાયી, ચંદ્રગુપ્ત, સંપ્રતિ અને વિક્રમાદિત્ય આદિ નૃપતિઓ જૈનધર્મ પાળનારા અને જૈનશાસનની પ્રભાવના કરનારા થઇ ગયાના ઉલ્લેખો કેટલાક જૈનગ્રંથોમાં જોવામાં આવે છે, પરંતુ તે કથનની સત્યતા સિદ્ધ કરનાર એક પણ ઐતિહાસિક પ્રમાણ-કે જેને નિઃશંક રીતે સર્વ કોઇ સ્વીકારી શકે-આજ સુધીમાં ઉપલબ્ધ થયું નથી. જે ગ્રંથોમાં ઉપર્યુક્ત રાજાઓને જૈનધર્માનુયાયી જણાવ્યા છે તે ગ્રંથો ઘણા પાછળના સમયે લખાયા છે તેથી તેમના કથન ઉપર પુરાતત્ત્વજ્ઞો બહુ વિશ્વાસ નથી રાખતા. કારણ કે આવા ગ્રંથોક્ત વર્ણનોમાંથી ઘણા ખરા ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ નિર્મૂલ ઠર્યા છે, અને ઠરતા જાય છે. દૃષ્ટાંત તરીકે જે વિક્રમાદિત્ય નામના રાજાના વિષયમાં અનેક ચરિત્રો અને આખ્યાનો લખાયાં છે અને જેના નામથી આજે આખા ભારતવર્ષમાં (લગભગ ૧૨૦૦-૧૫૦૦ વર્ષથી) રાષ્ટ્રિય સંવત્ પ્રવર્તે છે તેના અસ્તિત્વ અને સમય સુધાં માટે પણ આજના અનેક ઐતિહાસિકો શંકાશીલ છે."

અનુપૂર્તિમાંથી પૃ. ૫૧ થી ૫૭ સુધી. ખારવેલના સંબંધમાં શ્રીયુત કે૦ હ૦ ધ્રુવનું કથન

"ઇ૦ સ૦ પૂર્વે ૧૬૫માં કલિંગના રાજા મહામેઘવાહન ખારવેલે મગધ ઉપર સ્વારી કરી. હાલ જેને ઓડિયા પ્રાંત કહે છે તે પ્રાચીન ઉત્કલ દેશની દક્ષિણે કલિંગ આવ્યો હતો. એ પૂર્વ સમુદ્રના કાંઠે ગોદાવરીના મુખ સુધી પસર્યો હતો. ત્યાંના લોક સાહસિક કહેવાતા હતા. પ્રજામાં બ્રાહ્મ બૌદ્ધ અને જૈન ત્રણે ધર્મનો પ્રસાર હતો. પરંતુ પરિબલ જૈનોનું હતું. પૂર્વે કલિંગ નંદરાજાના બહોળા સામ્રાજ્યનો ભાગ હતો. એના પછી થનાર મહાપ્રતાપી ચંદ્રગુપ્તે સમસ્ત દક્ષિણાપથ પાટલિપુત્રની છાયા નીચે આણ્યો હતો. ત્યારથી આશરે સો વરસ તે મૌર્યોના તાબામાં રહ્યો હતો. દરમીયાન ઇ૦ સ૦ પૂર્વે ૨૬૪ માં તેણે છૂટા થવાનો એક નિષ્ફળ પ્રયત્ન કર્યો હતો અને તેના બદલામાં અશોકને હાથે ભારે ખુવારી ભોગવી હતી. છેવટે મૌર્યો જ્યારે નબળા પડયા, ત્યારે ઇ૦ સ૦ પૂર્વે ત્રીજા શતકના છેલ્લા ચરણમાં ચેત [સં. ચૈત્ર] વંશના રાજા ક્ષેમરાજે પરતંત્રતાની ધસાઇ ગએલી બેડી તોડી નાંખી. તે જ અરસામાં આંધ્રદેશનો રાજા સિમુક પણ સ્વતંત્ર થયો. ત્યાર બાદ કલિંગના રાજાએ ઉત્તરમાં ઉત્કલ પશ્ચિમમાં કોશલ અને દક્ષિણમાં વેંગીમંડલનો પ્રદેશ જીતી લઇ રાજ્યમાં વધારો કર્યો. પશ્ચિમમાં આંધ્ર રાજાએ પણ નાસીક પર્યંત મુલક ઉત્તરના રાષ્ટ્રિકો પાસેથી જીતી લીધો. મહાનદીથી કૃષ્ણાના મુખ સુધી વિસ્તાર પામેલાં પૂર્વ રાજ્યમાં જ્યારે ક્ષેમરાજનો પૌત્ર ભિક્ષુરાજ ખારવેલ રાજા થયો. ત્યારે અર્ધી સદીની સ્વતંત્રતા અને સુવ્યવસ્થાના પ્રતાપે કલિંગની આર્થિક સ્થિતિ ઉત્તમ પ્રકારની હતી. રૈયત આબાદ અને ખજાનો તર હતાં. નવો રાજા પણ પ્રજાના સુખમાં, રાજ્યના અભ્યુદયમાં અને કુળની કીર્તિમાં વધારો કરે એવો હતો. એનાં પ્રશસ્ત લક્ષણથી સંતોષ પામી પ્રજાએ એને રાજપદ આપ્યું હતું. ખારવેલ અને એના પૂર્વજો જૈન હતા, એનો

कलिंगना चक्रवर्ती महाराज खारवेलना शिलालेखनुं विवरण

[લેખકઃ–વિદ્યા મહોદધિ શ્રીકાશીપ્રસાદ જાયસવાલ એમ. એ. પટણા]

[પશ્ચિમ હિંદુસ્થાનમાં થએલ પરમાર્હત નરપતિ કુમારપાલ અને દક્ષિણ હિંદુસ્થાનમાં થએલ પરમાર્હત નરપતિ અમોઘવર્ષ એ સામાન્ય રીતે જૈન જનતામાં પ્રભાવક નરેશ તરીકે બહુ જાણીતા છે. કારણ કે જેમ તેઓ સમયથી નજીક છે તેમ તેઓની તથા તેઓના આશ્રિત વિદ્વાનોની મંદિર, સાહિત્ય આદિ સંબંધી વિવિધ કૃતિઓ ઉપલબ્ધ છે. પરન્તુ ઐતિહાસિક તેમ જ મહાપ્રભાવશાળી પરમાર્હત ખારવેલ નરપતિની બાબતમાં તેમ નથી. એ નરપતિને જાણનાર કહેવાતા જૈન વિદ્વાનોમાં પણ ગણ્યા ગાંઠયા જ મળશે. કારણ એ છે કે એ નરપતિ જેમ સમયથી દૂર છે તેમ તેના સંબંધનું સાહિત્ય પણ નહિંવત્ છે. આમ છતાં પણ સદ્ભાગ્યની વાત એ છે કે એ કલિંગ ચક્રવર્તિ ખારવેલે જ પોતે કોતરાવેલ એક શિલાલેખ મળી આવ્યો છે. અને તેના ઉપરથી તેને લગતી અનેક બાબતો ઉપર પ્રકાશ પડે છે.

એ શિલાલેખની ભાળ મળ્યા પછી તેને વાંચવા સમજવા વિગેરે માટે લગભગ સો વર્ષ થયાં દેશીય અને વિદેશીય વિદ્વાનો પ્રયત્ન કરતા આવ્યા છે. દેશીય વિદ્વાનોમાં વ્યાપારપ્રધાન ગૂજરાતના સાક્ષરોનું પણ સ્થાન છે. સદ્ગત ભગવાનલાલ ઇંદ્રજીએ વૈદ્યકપ્રિય પ્રશ્નોરા કુળમાં જન્મ્યા છતાં પણ એ પ્રાચીન શિલાલેખ વાંચવા અને તત્સંબંધી વિચાર કરવા આજથી ૪૦ વર્ષ અગાઉ ગૂજરાતી તરીકે ફાળો આપેલો છે. રાવબહાદુર કે૦ હ૦ ધ્રુવ અધ્યાપક તેમજ ઐતિહાસિક સાક્ષર છે એટલે એ વિષયમાં તેમનો ઉહાપોહ સ્થાને જ ગણાવો જોઇએ. પરન્તુ આશ્ચર્ય અને દુઃખની વાત એ છે કે બધી સાધન સંપત્તિ પ્રાપ્ત છતાં તેમ જ જ્ઞાન અને શોધખોળ પાછળ જોઇતો બધો વખત મેળવી શકનાર સેંકડો જૈન સાધુઓમાંથી આ બાબત ભાગ્યે જ કોઇનું ધ્યાન ગયેલું છે. પ્રસિદ્ધ અને પ્રાચીન એક જૈન નરપતિ વિષે જૈન વિદ્વાનોની અને ખાસ કરી જૈન સાધુમંડલની આટલી જિજ્ઞાસાશૂન્યતા એ ભાગ્યે જ ક્ષંતવ્ય ગણી શકાય. તેમ છતાં ખુશીની વાત એ છે કે પ્રસ્તુત પત્રના તંત્રી શ્રીમાન્ જિનવિજયજીએ આજથી અગીયાર વર્ષ અગાઉ પ્રાચીનજૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) એ નામેનું એક પુસ્તક બ્હાર પાડેલું. જેમાં એ ખારવેલનો શિલાલેખ અને બીજા ત્રણ લેખો આપેલા છે. સાથે સાથે તેઓશ્રીએ એ પુસ્તકમાં એ લેખને સમજવા અને તેની બધી વસ્તુઓ ઉપર પ્રકાશ પાડવા તે વખત સુધી પ્રસિદ્ધ થએલી બધી સામગ્રીનો ઉપયોગ કરી ખૂબ માહિતી પૂરી પાડી છે.

ખારવેલના એ શિલાલેખ પાછળ ઘણા વર્ષો થયાં સતત શ્રમ કરનાર શ્રીયુત જાયસવાલ મહોદયે છેલ્લામાં છેલ્લો ખારવેલના શિલાલેખ વિષે એક નિબંધ હિંદીમાં પ્રસિદ્ધ કર્યો છે. એ મહત્વનો હોવાથી નાગરીપ્રચારિણીપત્રિકાના ૧૯૮૪ ના કાર્તિક માસના અંકમાંથી તેનો ગૂજરાતી અનુવાદ અત્રે આપવામાં આવે છે, આ લેખને વધારે સમજવા અને તેના અભ્યાસ માટે ઉંડા ઉતરવા માટે અમે અમારી તરફથી કશું ન લખતાં પ્રાચીન જૈનલેખસંગ્રહ (પ્રથમ ભાગ) વાંચવાની વાચકોને ભલામણ કરીએ છીએ. જો કે એ પુસ્તક ગૂજરાતી આલમ માટે બહુ જ મહત્વનું છે, પણ અત્યારે તે સુલભ નથી. તેથી એ શિલાલેખનું તેમજ ખારવેલનું મહત્ત્વ અને પ્રાચીનકાલમાં જૈનધર્મની જાહોજલાલી સમજાવવા પૂરતા થોડાક ફકરા એ પુસ્તકના ઉપોદ્ઘાતમાંથી અને અનુપૂર્તિમાંથી અહીં મૂકવામાં આવે છે. વિશેષ રસવૃત્તિવાળાઓ એ મૂળ પુસ્તક વાંચી લેશે તો તેને પ્રસ્તુત અનુવાદ સમજવામાં કિંમતી મદદ મળશે, અને જ્ઞાન સમૃદ્ધિ વધશે.

(ઉપોદ્ઘાતમાંથી પૃ. ૧-૨)

" જૈન ધર્મ સાથે સંબંધ ધરાવનારા જેટલા પ્રાચીન શિલાલેખો આજ સુધીમાં મળી આવ્યા છે તેમાં આ પુસ્તકમાં આપેલા " કટક નજીક આવેલી ઉદયગિરિની ટેકરી ઉપરના હાથીગુફા તથા બીજા ત્રણ લેખો " સર્વથી પ્રાચીન છે. હાથીગુફા વાળો મહામેઘવાહન રાજા ખારવેલનો લેખ જૈન ધર્મની પુરાતન જાહોજલાલી ઉપર અપૂર્વ અને અદ્વિતીય પ્રકાશ પાડનારો છે. શ્રમણભગવાન્ શ્રી મહાવીરદેવપ્રબોધિત પંથના અનુયાયિઓમાંના કોઇપણ પ્રાચીનમાં પ્રાચીન નૃપતિનું નામ જો શિલાલેખમાં મળી આવ્યું હોય તો તે ફક્ત એકલા આ પ્રતાપી નૃપતિ ખારવેલનું જ છે. જૈનધર્મના ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ તો આ હાથીગુફાવાળો લેખ અનુપમ છે જ, પરંતુ ભારતવર્ષના રાજકીય ઇતિહાસની અપેક્ષાએ પણ આની ઉપયોગિતા અનુત્તર જ જણાય છે. લગભગ એક શતાબ્દી જેટલા લાંબા કાળથી આ લેખની ચર્ચા યુરોપીય અને ભારતીય પુરાતત્ત્વજ્ઞોમાં ચાલ્યાં કરે છે. અનેક લેખો અને પુસ્તકો આ લેખના વિષયમાં લખાયાં-છપાયાં છે. સેંકડો વિદ્વાનો આ લેખની મુલાકાત લઇ ફોટા વિગેરે ઉતારી ગયા છે-અને હજુ પણ એમજ ચાલુ છે. આવી રીતે ઐતિહાસિક વિદ્વાનોમાં આ લેખ એક મહત્ત્વનો અને પ્રિય થઇ પડયો છે. પરંતુ એ જાણીને અહને સાશ્ચર્ય ખેદ થાય છે કે જેમના ધર્મ સાથે આ મહત્ત્વના સ્થાનનો સીધો સંબંધ છે, જેમનો એક પ્રકારે આ કીર્તિસ્થંભ છે અને જેમની પ્રાચીન મહત્તાના પ્રકાશમય કિરણો આમાં અંકિત થએલાં છે તે જૈનોમાંથી હજી સુધી કોઇને એનું નામ પણ જણાયું-સંભળાયું નથી.

શ્રમણ ભગવાન્ શ્રી મહાવીરદેવના નિર્વાણ બાદ ઉદાયી, ચંદ્રગુપ્ત, સંપ્રતિ અને વિક્રમાદિત્ય આદિ નૃપતિઓ જૈનધર્મ પાળનારા અને જૈનશાસનની પ્રભાવના કરનારા થઇ ગયાના ઉલ્લેખો કેટલાક જૈનગ્રંથોમાં જોવામાં આવે છે, પરંતુ તે કથનની સત્યતા સિદ્ધ કરનાર એક પણ ઐતિહાસિક પ્રમાણ-કે જેને નિઃશંક રીતે સર્વ કોઇ સ્વીકારી શકે-આજ સુધીમાં ઉપલબ્ધ થયું નથી. જે ગ્રંથોમાં ઉપર્યુક્ત રાજાઓને જૈનધર્માનુયાયી જણાવ્યા છે તે ગ્રંથો ઘણા પાછળના સમયે લખાયા છે તેથી તેમના કથન ઉપર પુરાતત્ત્વજ્ઞો બહુ વિશ્વાસ નથી રાખતા. કારણ કે આવા ગ્રંથોક્ત વર્ણનોમાંથી ઘણા ખરા ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ નિર્મૂલ ઠર્યા છે, અને ઠરતા જાય છે. દૃષ્ટાંત તરીકે જે વિક્રમાદિત્ય નામના રાજાના વિષયમાં અનેક ચરિત્રો અને આખ્યાનો લખાયાં છે અને જેના નામથી આજે આખા ભારતવર્ષમાં (લગભગ ૧૨૦૦-૧૫૦૦ વર્ષથી) રાષ્ટ્રિય સંવત્ પ્રવર્તે છે તેના અસ્તિત્વ અને સમય સુધાં માટે પણ આજના અનેક ઐતિહાસિકો શંકાશીલ છે. "

અનુપૂર્તિમાંથી પૃ. ૫૬ થી ૫૭ સુધી. ખારવેલના સંબંધમાં શ્રીયુત કે૦ હ૦ ધ્રુવનુ કથન

" ઇ૦ સ૦ પૂર્વે ૧૬૫માં કલિંગના રાજા મહામેઘવાહન ખારવેલે મગધ ઉપર સ્વારી કરી. હાલ જેને ઓડિયા પ્રાંત કહે છે તે પ્રાચીન ઉત્કલ દેશની દક્ષિણે કલિંગ આવ્યો હતો. એ પૂર્વ સમુદ્રના કાંઠે ગોદાવરીના મુખ સુધી પસર્યો હતો. ત્યાંના લોક સાહસિક કહેવાતા હતા. પ્રજામાં બ્રાહ્મ બૌદ્ધ અને જૈન ત્રણે ધર્મનો પ્રસાર હતો. પરંતુ પરિબલ જૈનોનું હતું. પૂર્વે કલિંગ નંદરાજાના બહોળા સામ્રાજ્યનો ભાગ હતો. એના પછી થનાર મહાપ્રતાપી ચંદ્રગુપ્તે સમસ્ત દક્ષિણાપથ પાટલિપુત્રની છાયા નીચે આણ્યો હતો. ત્યારથી આશરે સો વરસ તે મૌર્યોના તાબામાં રહ્યો હતો. દરમીયાન ઇ૦ સ૦ પૂર્વે ૨૬૪ માં તેણે છૂટા થવાનો એક નિષ્ફળ પ્રયત્ન કર્યો હતો અને તેના બદલામાં અશોકને હાથે ભારે ખુવારી ભોગવી હતી. છેવટે મૌર્યો જ્યારે નબળા પડયા, ત્યારે ઇ૦ સ૦ પૂર્વે ત્રીજા શતકના છેલ્લા ચરણમાં ચેત [સં. ચૈત્ર] વંશના રાજા ક્ષેમરાજે પરતંત્રતાની ધસાઇ ગએલી બેડી તોડી નાંખી. તે જ અરસામાં આંધ્રદેશનો રાજા સિમુક પણ સ્વતંત્ર થયો. ત્યાર બાદ કલિંગના રાજાએ ઉત્તરમાં ઉત્કલ પશ્ચિમમાં કોશલ અને દક્ષિણમાં વેંગીમંડલનો પ્રદેશ જીતી લઇ રાજ્યમાં વધારો કર્યો. પશ્ચિમમાં આંધ્ર રાજાએ પણ નાસીક પર્યંત મુલક ઉત્તરના રાષ્ટ્રિકો પાસેથી જીતી લીધો. મહાનદીથી કૃષ્ણાના મુખ સુધી વિસ્તાર પામેલાં પૂર્વ રાજ્યમાં જ્યારે ક્ષેમરાજનો પૌત્ર ભિક્ષુરાજ ખારવેલ રાજા થયો. ત્યારે અર્ધી સદીની સ્વતંત્રતા અને સુવ્યવસ્થાના પ્રતાપે કલિંગની આર્થિક સ્થિતિ ઉત્તમ પ્રકારની હતી. રૈયત આબાદ અને ખજાનો તર હતાં. નવો રાજા પણ પ્રજાના સુખમાં, રાજ્યના અભ્યુદયમાં અને કુળની કીર્તિમાં વધારો કરે એવો હતો. એનાં પ્રશસ્ત લક્ષણથી સંતોષ પામી પ્રજાએ એને રાજ્યપદ આપ્યું હતું. ખારવેલ અને એના પૂર્વજો જૈન હતા. એનો

એવા લેખોમાંથી જેટલા લેખો આજ સુધીમાં અહિં મળી આવ્યા છે તેમાં કલિંગ ચક્રવર્તી મહારાજ ખારવેલનો લેખ, જે "હાથીગુંફા લેખ"ના નામથી પ્રસિદ્ધ છે તે અગ્રગણ્ય છે. એથી જુનો, નાનકડા મૌર્ય લેખો બાદ કરીએ તો, ફક્ત મહારાજ અશોકવાળો શિલાલેખ "ધર્મલિપિ" છે અને ઐતિહાસિક ઘટના તેમ જ જીવનચરિત્રનું વર્ણન પૂરું પાડનાર ભારતવર્ષનો આ સૌથી પહેલો શિલાલેખ છે.

આ લેખ ઉડીસા (ઉત્કલ)ના ભુવનેશ્વર તીર્થની પાસે ખંડગિરિ–ઉદયગિરિ પર્વત ઉપર એક પહોળી ગુફા ઉપર કોતરવામાં આવેલો છે. પહાડમાં કોરી કોરીને અનેક ઓસરીવાળાં મકાનો–જૈનમંદિર તેમ જ જૈન સાધુઓ વાસ્તે ઉપાશ્રયરૂપ ગુફા–ગૃહ ત્યાં જુના વખતથી બનેલાં છે. એક એવો જ મહેલ પણ પર્વત કોરી બનાવવામાં આવેલો છે. એમાંથી કેટલાંક મકાનો ઉપર વિક્રમ સંવત પહેલાં લગભગ ૨૦૦ વર્ષના સંસ્કૃત અક્ષરો કે, જેને બ્રાહ્મી લિપિ કહેવામાં આવે છે, તેવડે પ્રાકૃતભાષામાં લેખો કોતરી કાઢેલા છે. એ બધા મકાનોને ત્યાં 'ગુંફા' અર્થાત્ ગુફા કહે છે. એક એવી બે માળની ગુફા (ખરી રીતે મકાન) ખારવેલની પટરાણીએ કરાવેલી છે. જેને તેઓ 'પ્રાસાદ' કહેછે. મહારાણીએ એ ગુફા કલિંગના શ્રમણો માટે કરાવી હતી. લેખમાં મહારાણીના પિતાનું નામ છે અને પતિશ્રી ખારવેલને "કલિંગચક્રવર્તી" કહેવામાં આવ્યો છે. હાથીગુંફા લેખમાં જે ઇતિહાસ આપવામાં આવ્યો છે, તે ઉપરથી મહારાજ ખારવેલ બરાબર ચક્રવર્તી સિદ્ધ થાય છે. તેથી જ મેં ઇંગ્રેજીમાં એઓને Emperor કહેલ છે અને પુરાતત્ત્વજ્ઞ ડૉક્ટર વિન્સેન્ટ સ્મીથે એ કથન સ્વીકારી લીધું છે.

હાથીગુંફા એ નામ આધુનિક છે. આ ગુફા કારીગીરી વિનાની બેડોળ છે. એમ જણાય છે કે તે ખારવેલના પહેલાથી હતી અને કોઇ કારણને લીધે વિશેષ માન્ય તેમ જ પ્રતિષ્ઠિત હશે, તેથી જ તેના ઉપર આ બહુ લાંબો પહોળો લેખ લખવામાં આવેલો. કેટલાક અંશોમાં લેખ ગળી ગયો છે. કેટલીક પંક્તિઓની શરુઆતના બારેક અક્ષરો પત્થરનાં ચપતરાં સાથે ઉડી ગયા છે, અને કેટલીક પંક્તિઓમાં વચ્ચે વચ્ચે અક્ષરો એકદમ ઉડી ગયા છે અને ક્યાંક પાણીથી ઘસાઇ ગયા છે. ક્યાંક ક્યાંક અક્ષરની કોતરણી વધી ગઇ છે; અને જલપ્રવાહ તેમ જ બીજા કારણોથી ભ્રમોત્પાદક ચિન્હો ઉત્પન્ન થઇ ગયાં છે. ક્યાં સુધી ટાંકણાની નિશાની છે અને ક્યાં કાલકૃત ભગ્ન–જાલ છે–એનો ઉકેલ કરવો એ જ આ લેખનું રહસ્ય છે. કાળ પત્થરને પણ ભરખે છે, અવતારોની પણ કીર્તિનો લોપ કરી દે છે. તેથી ખારવેલના ઇતિહાસનો થોડોક લોપ થઇ જાય તેમાં કાંઇ આશ્ચર્ય નથી. આશ્ચર્ય અને આનંદની વાત તો એ છે કે બે હજાર વર્ષ પછી પણ એ લેખ કોઈ પણ પ્રકારે અસ્તિત્વ ધરાવે છે, અને એ કે એમાં જોડાઇ જવાથી સરસ્વતીના પ્રસાદ વડે બીજક કાંઇક બોલવા માંડયું અને ચુપકી રાખનાર કાળબ્રહ્મ કાંઇક કહેવા લાગ્યા.

જો કે ઇતિહાસ સંશોધકને આ લેખની જાણ સો વર્ષ પહેલાં પણ હતી. પરન્તુ આ લેખ સન ૧૯૧૭ પહેલાં પૂરેપૂરો વાંચી શકાયો ન હતો. પાદરી સ્ટર્લિંગે આ લેખની